दूसरा अधिकार

समाचार नीतिका वर्णन

विषयसूची

अध्याय १ ला

तीसरा अधिकार

[दर्शनाचारका वर्णन]

चौथा अधिकार

[ज्ञानाचारका वर्णन]

छटा आधिकार

तप आचारका वर्णन

पांचवा अधिकार

चारित्राचारका वर्णन

सातवां अधिकार

वीर्याचारका वर्णन

आठवां अधिकार

शुद्धियोंका वर्णन

नौवां अधिकार

आवश्यकोंका वर्णन

दशवां अधिकार

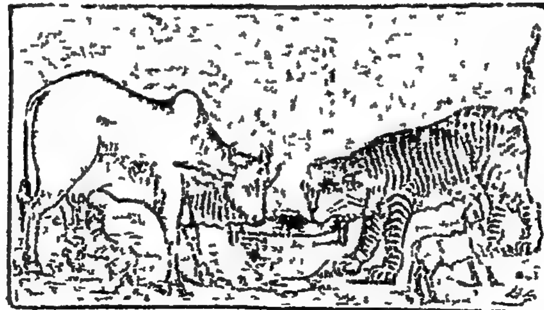
ध्यानका वर्णन

ग्यारहवां अधिकार

जीवकर्म प्ररूपण अधिकार

बारहवां अधिकार

शील और गुणोंका वर्णन



यह ग्रंथ श्री महावीर प्रिंटिंग प्रेस, नातेपुते [सोलापुर] में छापकर प्रसिद्ध किया।







श्री. सेठ शहा चंदुलाल जोतीचंद सराफ इनके छोटे भाई
चि. हीरालाल जोतीचंद बारामती (पुणें)

श्री १०८ आचार्य शांतिसागर महाराज







यद्यपि धर्म आत्माका स्वभाव है इसलिये वह शक्तिरूपसे प्रत्येक आत्मा मे विद्यमान है, परंतु परतंत्र इस संसारी आत्माको उस निज संपत्तिकी थोडीभी खबर नहीं है । प्रभो ! आपने अपनी सत्यनिष्ठा, ज्ञानसंपत्ति और तपोबलसे इन संसारी जनोंकी इस दुर्बलताका अनुभव कर भूले हुए उन आत्माओंको सन्मार्ग में लगाने के लिये जो महत्कार्य आरंभ किया है वही तो मुझ अल्पज्ञ के लिये प्रेरणा करता है कि आपकी साक्षात् चर्याको प्रतिपादन करनेवाला यह आचारसार ग्रंथ आप के ही करकमलों में समर्पित किया जावे ।

भवच्चरणसरोजभक्त

प्रकाशक.

ग्रंथ और ग्रंथकारका परिचय—

यह आचारसार नामका ग्रंथ श्री १०८ आचार्यवर्य वीरनंदि सैद्धान्तिक चक्रवर्तीका बनाया हुआ है। आचार्य वीरनंदिकी विलक्षण विद्वत्ता और सुदृढ रत्नत्रय इसीसे समझलेना चाहिये कि वे आचार्य मेघचन्द्रके पुत्र थे और उन्हींके शिष्य थे। आचार्य वर्य मेघचंद्र न्याय व्याकरण साहित्य आदि सब विषयों के उद्भट विद्वान् थे और सिद्धांत शास्त्रो के चक्रवर्ती विद्वान् थे आचार्य वीरनंदि भी अपने पिता वा गुरुके समान न्याय व्याकरण साहित्य आदि सब विषयों के उद्भट विद्वान थे और सिद्धांत शास्त्रों के अद्वितीय चक्रवर्ती विद्वान थे।

इस उपर्युक्त उल्लेखसे उससमयमें होनेवाला जैनधर्मका महत्व कितना उच्चतम प्रगट होता है। तथा यह सहज साबित हो जाता है कि उस समयके गृहस्थश्रावक अपने बालकोंको उच्चतम विद्वान् बनाते थे तथा न्याय व्याकरण आदि विद्याओं के साथ साथ सिद्धांतशास्त्रके सर्वोत्तम विद्वान् बना देते थे। इसप्रकार जैनधर्मका मर्म और तदनुसार निर्मल रत्नत्रय परंपरा-पूर्वक चला जाता था। यही कारण था कि वे रत्नत्रयको धारण करने-वाले विद्वान् श्रावक आचार्य मेघनंदि और आचार्य वीरनंदि के समान घरका भार अपनी सुयोग्य संतानको देकर निर्वाणदीक्षा धारण कर लेते थे और फिर आजन्म रत्नत्रयका पालन करते हुए मोक्षमार्गका प्रकाश करते रहते थे। उससमय यह परंपरा बडी उत्तमतासे चल रही थी यही कारण है कि आचार्य वीरनंदि से लगभाग सौ वर्ष बाद होनेवाले पंडित प्रवर आशाधरजी श्रावक होते हुए भी न्याय व्याकरण साहित्य और धर्मशास्त्रों के उच्च श्रेणी के महा विद्वान् थे और वे धार राज्यके परराष्ट्रसचिव का जिम्मेदार पूर्ण कार्य करते हुए मुनियोंतक को समस्त विषय पढाते थे और उन्होंने उनको धुरंधर विद्वान् बनाया था।

आचार्य वीरनंदि ने इस ग्रंथमें जो मुनिधर्म अंकित किया है वह बहुतही उत्तम ढंगसे अंकित किया है इसकी समाचार नीतिका वर्णन अत्यंत आवश्यक और चित्ताकर्षक है॥ इसप्रकार रत्नत्रय पंचाचार, शुद्धि, आवश्यक, सल्लेखना, ध्यान, और जीवकर्मप्ररूपणा आदि समस्त विषयोंका आवश्यक वर्णन बडी उत्तमताके साथ निरूपण किया है। जिससे यह ग्रंथ मुनियों के लिए अत्यंत आवश्यक बन गया है।

आचार्य वीरनंदि कितने जिनभक्त थे यह इसी से समझलेना चाहिये कि उन्होंने इस ग्रंथके बारह अध्यायों में आदि अंत दोनों स्थानों में मंगलाचरण करते हुए चौवसीं तीर्थंकरों को नमस्कार किया है।

शिलालेखों से सिद्ध होता है कि आचार्य वीरनंदि स्वामी वि. सं. की बारहवीं शताब्दी में हुए हैं।

जिनवचन सेवक—
लालाराम जैन शास्त्री.

प्रकाशकके दो शब्द ।

श्री परमपूज्य परमतपोनिधि श्री १०८ आचार्य शांतिसागर महाराज के चरणोंमें अनुपम भक्ति के फलस्वरूप हमारे अंतःकरणमें इस ग्रंथ के प्रकाशनकी भावना हुई इसलिये गुरुस्वरूप ऐसे महात्मा के सम्बन्ध में कृतज्ञता प्रगट करने के लिये हमारे पास शब्द नहीं है ऐसा लिखने में हमें कुछ भी अतिशयोक्ति नहीं मालूम पडती है। तथा श्रीमान् धर्मवीर पं. लालारामजी शास्त्रीने इस ग्रंथका अनुवाद करके जैनसमाजका जो उपकार किया उसके लिये हम उनके अत्यंत आभारी हैं। उसी-प्रकार श्रीमान् दानवीर सेठ रामचंद धनजी दावडा व पं. फूलचंदजी शास्त्री नातेपुते इन्होंने भी इस ग्रंथको श्री महावीर प्रिंटिंग प्रेस, नातेपुतेंसे जल्दी छापकर दिया इसलिये उनके भी हम अत्यंत आभारी हैं।

ग्रंथप्रकाशनका उद्देश्य ।

श्रीमान् पूज्य पिता जोतीचंद भाईचंद शहा बारामती इनके ज्ञानावरणीय कर्मके क्षयके लिये तथा अपने और दूसरोंके कल्याणके लिये मैंने अपने पूज्य पिताके नामसे श्रीआचारसारग्रंथका प्रकाशन किया है। आशा है स्वाध्यायप्रेमी इस ग्रंथका स्वाध्याय करके धर्मलाभ लेंगे।

आपका—

शहा चंदुलाल जोतीचंद,

बारामती (पूना).

आचार्यवर्य महाकवि

श्री वीरनंदि सिद्धांतचक्रवर्ति

प्रणीत

आचारसार

लक्ष्मीं वीरजिनेश्वरः पदनतानंतामराधीश्वरः
पद्मासद्मपदांबुजः परमचिल्लीलात्ततत्त्वव्रजः ।
विद्यानद्युदयाचलोऽमितबलः शांताखिलैनोमलो ।
दद्यान्नस्त्रिजगन्नतिं गुणमणिव्रातोज्ज्वलालंकृतिम् ॥ १ ॥

वर्द्धमानं जिनं वन्दे घातिसंघातनाशकम् ।
आचारसारसट्टीकां वक्ष्ये ग्रंथानुसारतः ।

जो श्री महावीर स्वामी अपने चरणकमलोंमें नमस्कार करते हुए असंख्यात देवोंके स्वामी हैं, जिनके चरणकमल ही लक्ष्मीके निवासस्थान हैं, अथवा जिनके चरणकमल मोक्षरूपी लक्ष्मीके निवासस्थान हैं –जिनके चरणकमलोंकी सेवा करनेसे मोक्षरूपी लक्ष्मी अवश्य प्राप्त होती है, जिन्होंने अपने परम चैतन्यस्वरूप आत्माकी

लीलासे ही समस्त द्रव्योंका समुदायरूप अपना अत्यंत शुद्ध आत्मतत्त्व प्राप्त कर लिया है, अर्थात्—वास्तवमें देखा जाय तो द्रव्य एक ही है और वह आत्मा ही है उसीमें समस्त द्रव्य अंतर्भूत हो जाते हैं। उस आत्मतत्त्वका शुद्ध स्वरूप उसी आत्माके स्वभावसे प्राप्त होता है। क्रोध मान माया लोभ काम मद मत्सर आदि आत्माके विभाव परिणाम हैं और क्षमा मार्दव आर्जव शौच ब्रह्मचर्य आदि आत्माके स्वभाव परिणाम हैं। विभाव परिणामोंसे कर्मोंका बंधन होता है और स्वाभाविक परिणामोंसे उन्हीं बंधे हुये कर्मोंका नाश होता है। विभावरूप परिणाम नष्ट होकर स्वाभाविक परिणामोंका होना आत्मा की लीला गिनी जाती है। क्यों कि स्वाभाविक परिणामोंमें कर्मका उदय नहीं रहता। कर्मोंके उदयसे वैभाविक परिणाम ही होते हैं। स्वाभाविक परिणाम कर्मोंके क्षय अथवा उपशमसे प्राप्त होते हैं। इसी लिये आचार्यने लिखा है कि जिन महावीर स्वामीने अपने आत्माकी लीलासे अर्थात् अपने आत्माके स्वाभाविक परिणामोंसे अपने आत्माकी परम शुद्ध अवस्था प्राप्त कर ली है। इसके सिवाय जो श्री महावीर स्वामी अनेक विद्यारूपी नदियोंको प्रगट करनेके लिये उदयाचल पर्वतके समान हैं। जिस प्रकार उदयाचलरूप छहों कुलाचलोंसे गंगा सिंधु आदि अनेक नदियां प्रगट हुई हैं उसीप्रकार श्री महावीर स्वामीसे भी अनेक छोटी विद्याएं और अनेक महाविद्याएं प्रगट हुई हैं। जो महावीर स्वामी अनंत बलको धारण करनेवाले हैं। यहांपर अनंत बलके कहनेसे अनंत चतुष्टय ही समझना चाहिये; क्योंकि अनंत बलके प्रगट होनेपर अनंत चतुष्टय अवश्य प्रगट होते हैं। वास्तवमें देखा जाय तो अनंत चतुष्टय परस्परमें अविनाभावी हैं। जहां एक होता है वहां नियमसे चारों ही होते हैं। अतएव जो भगवान् अनंत चतुष्टय का धारण करनेवाले हैं। और जिन महावीर स्वामीने अपने समस्त पापरूपी मैल शांत कर दिये हैं अर्थात जिनके समस्त पापकर्म नष्ट हो गये हैं तथा पापकर्मोंके नाश होनेसे राग द्वेष भूख प्यास आदि अठारह दोष भी नष्ट हो गये हैं। ऐसे समस्त दोषोंसे रहित, अनंत चतुष्टयको धारण करनेवाले, परम हितोपदेशी और समस्त इन्द्रोंके द्वारा पूज्य श्री भगवान् महावीर स्वामी हम लोगोंको ऐसी मोक्षरूपी लक्ष्मी देवें जिसे तीनों जगत् नमस्कार करता है और जो गुणरूपी मणियोंके समूहकी कांतिसे सुशोभित हो रही है। भावार्थ—संसारमें मोक्ष लक्ष्मी ही एक ऐसी लक्ष्मी है जिसे तीनों जगत नमस्कार करता है और जिस प्रकार गुण अर्थात डोरेमें पिरोई हुई मणियोंकी माला अपनी कांतिसे जगमगाती रहती है उसीप्रकार रत्नत्रयरूपी गुणोंसे मणियोंके समान शुद्धात्मतत्व जहां पर सदा दैदीप्यमान बना रहता है। ऐसी अनुपम मोक्षरूपी लक्ष्मी हम लोगोंको श्रीमहावीरसे प्राप्त हो ॥१॥

॥२॥

विनेयसस्योत्पलपुण्यवारिप्रस्यन्दनानन्दनमेघचंद्रः ।
श्रीवासुपूज्यो व्रतिवंद्यपादो वरप्रदः स्तान्मम योगिवर्गः ॥ २ ॥

जो शिष्यरूपी धान्य और कमलोंकी वृद्धिके लिये पुण्यरूपी जलकी वर्षा करनेमें मेघके समान हैं और आनंद देनेकेलिये चन्द्रमाके समान हैं, तथा जो वासु अर्थात् वासुकी वा नागकुमारजातिके इन्द्रोके द्वारा पूज्य हैं, अनेक व्रती लोग भी जिनके चरण कमलोंको नमस्कार करते हैं और जो योगियोंके समूहको प्रगट करनेवाले संघपति वा आचार्य हैं ऐसे मेरे गुरु श्री मेघचंद्र आचार्य मुझे अच्छा वर दें । अथवा जो शिष्यरूपी धान्य और कमलोंकी वृद्धिके लिये पुण्यरूपी जलकी वर्षा करनेमें मेघके समान हैं और आनंद देनेके लिये चंद्रमाके समान है तथा अनेक व्रती लोग भी जिनके चरणकमलोंको नमस्कार करते हैं और जो योगियोंके समूहको प्रगट करनेवाले, मोक्षमार्गके परमोपदेशक तीर्थंकर हैं ऐसे श्री वासु-पूज्य तीर्थंकर मुझे अच्छा वर दें ॥ २ ॥

संसारनीराकरमुत्तरीतुं तरिश्चरित्रं गुणरत्नपात्रम् ।
सद्दर्शनज्ञानसमेतमेतत् तत्पक्षलक्ष्माहमिहाऽस्य वक्ष्ये ॥ ३ ॥

संसारमें चारित्र ही धर्म है, संसाररूपी महासागरसे पार होनेके लिये यह चारित्र ही बडी नावके समान है और यह चारित्र ही गुणरूपी रत्नोंका पिटारा है । ऐसे इस सम्यक् चारित्रका स्वरूप सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के साथ साथ विस्तारके साथ कहूंगा । भावार्थ- सम्यक्चारित्र सम्यग्ज्ञानपूर्वक होता है और सम्यग्ज्ञान सम्यग्दर्शनपूर्वक होता है इसलिये मैं श्री वीरनंदी (आचार्य) पहले सम्यग्दर्शन का स्वरूप कहूंगा फिर सम्यग्ज्ञानका स्वरूप कहूंगा और फिर विस्तारके साथ सम्यक् चारित्र का स्वरूप कहूंगा ॥ ३ ॥

देहव्यूहमहीजराजिभयदे दुःखावलीश्वापदे
विश्वाशांतिकरालकालदहने शुष्यन्मनीषावने ।
नानादुर्णयमार्गदुर्गमतमे दृङ्मोहिनां देहिनां
जैनं दर्शनमेकमेव शरणं जन्माटवीसंकटे ॥ ४ ॥

॥३॥

यह जन्ममरणरूपी विकट वन अनेक शरीरोंके समूहरूपी पृथ्वीपर बुढापेरूपी युद्धका भय दिखानेवाला है, अनेक प्रकारके दुःखरूपी आपत्तियोंसे भरा हुआ है, संसारभरको अशांति उत्पन्न करनेवाले कराल कालरूपी अग्निसे जल रहा है, बुद्धिरूपी जलको सोख रहा है तथा अनेक दुर्जन वा मिथ्या नयरूपी कुमार्गोंसे अत्यंत दुर्गम हो रहा है। ऐसे इस संसाररूपी विकट बनमें दर्शनमोहनीयको धारण करनेवाले मिथ्यादृष्टी जीवोंको एक यह वीतराग सर्वज्ञदेव भगवान् अरहंत देवका कहा हुआ जैन दर्शन ही शरण है। भावार्थ—ये संसारी जीव जन्ममरणके दुःखसे अत्यंत दुःखी हो रहे हैं। अनेक दुःखोंसे घिरे हुए हैं, काल की अग्निसे सदा जलते रहते हैं और अनेक प्रकारके पाप करते रहते हैं। इस महा दुःखसे छूटनेका उपाय एक मात्र जैन दर्शन है। जैन दर्शन आत्माका स्वभावरूप है। अत एव इसके अनुसार चलनेसे यह जीव सदाके लिये उन दुःखोंसे मुक्त हो जाता है और अनंत सुखस्वरूप अविनश्वर मोक्षमें जा निवास करता है। इस संसाररूपी भयानक बनसे पार होनेके लिये इस जीवको जैन दर्शन धारण करनेके सिवाय और कोई उपाय नहीं है। संसारमें अन्य जितने धर्म हैं वे सब संसारपरिभ्रमण करानेवाले हैं। संसारसे पार कर मोक्षमें पहुंचानेवाला एक जैन धर्म ही है॥ ४॥

कायोऽयं रसरक्तमांसविसरो मेदोऽस्थिमज्जव्रजो
बीभत्सो विततांत्यधातुरुदितः शुक्रार्त्तवाभ्यां क्षयी।
जीवाश्लेषवशात्तकान्तिरखिलक्लेशैकनीडो जडः
संगोऽनेन सतां दुनोति हृदयं मोदोऽत्र लज्जास्पदम्॥ ५॥

देखो, यह शरीर वीर्य रुधिर और मांस के समूहसे बना है, मेदा हड्डी और मज्जाका समूह इसमें भरा हुआ है, अत्यंत घृणास्पद है। इसमें सब जगह वीर्य भरा हुआ है, माताकी रज और पिताके वीर्यसे बना हुआ है, इस का नाश होना अवश्यंभावी है। इसमें आकर जीव रहा है इसीलिये यह कांतिमान् वा तेजस्वी दीखता है। वास्तवमें यह जड है और समस्त क्लेशोंका एक घोंसला है। इसीलिये इसका संसर्ग वा संबंध भी सज्जन पुरुषोंके हृदयको दुःखी किया करता है। यदि ऐसे घृणास्पद और सब तरहसे दुष्ट वा दुःख देनेवाले शरीरको पाकर कोई प्रसन्न हो तो इससे बढकर और लज्जाकी बात कौनसी हो। सकती है। भावार्थ-यह शरीर घृणित और अस्पृश्य पदार्थोंसे उत्पन्न हुआ है

और घृणित तथा अस्पृश्य पदार्थोंसे ही बना है। केवल जीवके रहनेमात्रसे यह स्पृश्य माना जाता है। जीवके निकल जानेपर यह फिर अस्पृश्य हो जाता है। इसके सिवाय यह जड है और दुष्ट वा दुःखप्रद है। ऐसे शरीर को पाकर प्रसन्न होना सबसे अधिक लज्जाकी बात है ॥ ५ ॥

चेतस्त्वं किमिति व्रजस्यतितरां भ्रान्तिस्तवात्राऽस्ति किं
मोहोत्पादकमिन्द्रजालललिते कान्तैककान्तेऽक्षजे ।
सौख्यं ते विरसेऽभिमानसरसे कान्ताश्च तद्दर्पण-
प्रोल्लासिप्रतिबिंबडंबरभराः संमोहदाः केवलम् ॥ ६ ॥

हे मन तू अत्यंत चंचल क्यों हो रहा है, इन्द्रियोंके विषयोंमें क्यों दौड रहा है। क्या इस विषयमें तुझे भ्रम होगया है? देख, जिस इन्द्रियजन्य सुखको तू सुख मान रहा है वह सुख नहीं है किंतु इन्द्रजालके समान थोडी देर तक ही सुंदर जान पडता है। यद्यपि उसमें एक स्त्री ही मनोहर जान पडती है तथापि वह अत्यंत नीरस है। केवल अभिमानवश सरससा जान पडता है। ऐसा इन्द्रियोंसे उत्पन्न हुआ सुख केवल मोह उत्पन्न करनेवाला है। तथा इसका भी कारण यह है कि दर्पणमें देदीप्यमान होनेवाले प्रतिबिंबके समान आडंबरसे भरपूर स्त्रियां केवल मोह उत्पन्न करनेवाली हैं, सुख देने वाली नहीं हैं। भावार्थ–इन्द्रियजन्य सुख सुख नहीं है किंतु दुःख है। यदि इन्द्रियजन्य सुख सुख होवे तो उनके बार बार सेवन करनेपर भी कभी अरुचि नहीं होनी चाहिये। परन्तु बार बार सेवन करनेसे अरुचि भी होती है। एक ही पदार्थको बार बार खाते रहनेसे अरुचि भी होती है और दुःख भी होता है। इसलिये हे मन तू इन्द्रियजन्य सुखमें दौड मत लगा तथा उनमें सुख माननेका भ्रम छोड दे ॥ ६ ॥

मत्त्वैवं भवदेहभोगजनितक्लेशाग्निहृत्पोषण-
स्तच्छान्त्यै प्रगुणस्तदक्षयपदानन्दामृतान्वेषणः ।
शुश्रूषाश्रवणादिपुण्यधिषणः सद्भव्यताभूषण-
श्चार्वी चारु परीक्षितान्यसमयासाचारसद्दूषणः ॥ ७ ॥

॥५॥

युक्त्या युक्तं जिनोक्तं जिनवृजिनजिनं दत्तहस्तावलंबं
जन्मोदन्वन्निमज्जद्गुरुदुरितभरार्त्ताङ्गिनां तद्दयाढ्यम् ।
धर्मं स्वमोक्षशर्मप्रदमपि मुदितः प्राप्य दुष्प्रापमीशं
प्रीत्यै प्रीत्यर्त्तिपापप्रभवभवकरागारचारातिभीरुः ॥ ८ ॥
सन्नाथं परिपूर्णनिर्मलकलं सल्लक्ष्मलक्ष्मीकुलं
दोषासंगमनंगराजविजयं नित्यं सुवृत्तोदयम् ।
स्वान्तध्वान्तविनाशिनं कुवलयानन्दामृतस्यान्दिनं
प्रीत्योपेत्य मुनीन्द्रचन्द्रमपरं तत्पादसेवापरः ॥ ९ ॥
नत्वा तमीशं विनतार्त्तिनाशं विज्ञापितात्मीयमनोगतार्थः ।
संगानपेक्षां मम देहि दीक्षां दयामयीं भो यतिवल्लभेति ॥ १० ॥

इस प्रकार जो भव्य जीव ऊपर लिखे अनुसार शरीर और इन्द्रियजन्य सुखोंका स्वरूप समझकर संसार शरीर और भोगोंसे उत्पन्न हुए अनेक प्रकारके क्लेशरूपी अग्निसे जल रहा है और उस अनेक प्रकारके क्लेशरूपी अग्निको शांत करनेके लिये जो अनेक प्रकारके प्रयत्न कर रहा है तथा कभी न नाश होनेवाले मोक्षपदके आनन्दरूपी अमृतको ढूंढ रहा है, मुनि वा व्रतियोंकी सेवा शुश्रूषा करना वा शास्त्र श्रवण करना आदि पुण्यकार्योंसे जिसकी बुद्धि भरपुर है, जो भव्यतारूपी आभूषणसे सुशोभित है, अन्यमतके देव शास्त्र और चारित्रमें जिसने अनेक प्रकारकी सुंदर और मनोहर परीक्षाएं कर अनेक दोष जान लिये हैं और जो प्रेम दुःख आदि पापोंको उत्पन्न करनेवाले तथा संसारको बढानेवाले गृहकार्योंसे अत्यन्त भयभीत है तथा जो भव्य जीव ऐसे धर्मको पाकर अत्यंत प्रसन्न हो रहा है कि—जो धर्म युक्तिसे परिपूर्ण है; भगवान् जिनेन्द्र देवका कहा हुआ है, भगवान् तीर्थंकर परमदेव के भी पापोंको नाश करनेवाला है, जन्ममरणरूपी महासागरमें डूबते हुए बडे २ पापोंके

॥६॥

बोझसे दुःखी जीवोंको हस्तावलंबन वा सहारा देनेवाला है—उन दुःखी जीवों पर दया करने वाला है, स्वर्ग मोक्षका सुख देने वाला है, जो सबका स्वामी है और जो अत्यंत कठिनतासे प्राप्त होता है ऐसे धर्मको पाकर उसमें प्रेम बढाने के लिये जो अत्यंत प्रसन्न हो रहा है—ऐसा वह भव्य जीव अपूर्व चन्द्रमा के समान ऐसे मुनिराजोंके समीप पहुंचता है कि जो सज्जन पुरुषों के स्वामी हैं। चन्द्रमा रात्रिमें निकलता है तथा रात्रिमें चोर व्यभिचारी आदि लंपट पुरुष ही अपना काम करते हैं। इस हिसाबसे चन्द्रमा लंपट पुरुषोंका स्वामी है। परन्तु मुनिराज चन्द्रमाके समान आनन्दकारी होते हुए भी सज्जनोंके स्वामी हैं। जिस प्रकार चन्द्रमा पूर्ण निर्मल कलाओं को धारण करता है उसी प्रकार वे मुनिराज भी अपने संपूर्ण और निर्मल व्रत समिति गुप्ति आदि चारित्ररूपी कलाओंको धारण करनेवाले हैं। चन्द्रमा जिसप्रकार अपने हरिण आदिके चिन्ह और अपनी शोभासे सुशोभित रहता है उसी प्रकार वे मुनिराज भी अपने पीछी कमंडलु आदि चिन्होंको तथा परम दिगम्बर अवस्थारूप जिनलिंग को धारण करते हुए सदा मोक्षमार्गरूपी लक्ष्मीको प्रगट करते रहते हैं। चन्द्रमा दोषा अर्थात् रात्रिमें प्रगट होता है परंतु वे मुनिराज दोष अर्थात् क्रोध मान माया लोभ काम मद मात्सर्य आदि दोषोंसे सर्वथा रहित हैं। चन्द्रमाका उदय होनेपर कामदेव वृद्धिगत होता है परंतु वे मुनिराज कामदेवको सर्वथा जीतने वाले हैं। चन्द्रमा शामको उदय होता है और प्रातःकाल ही अस्त होजाता है। इस प्रकार चन्द्रमा अनित्य है परंतु वे मुनिराज सर्वथा नित्य हैं-अपने आत्माको अजर अमर और शुद्ध समझते हुए सदा उसीके स्वभावमें लीन रहते हैं। चंद्रमा प्रतिदिन पूर्ण गोलाकार नहीं निकलता किंतु प्रतिदिन एक एक रेखा घटता बढता रहता है परंतु वे मुनिराज सदा सुवृत्त अर्थात् अपने महाव्रत आदि चारित्रको निर्मल रीतिसे पालन करते हुए सुशोभित होते रहते हैं। चन्द्रमा बाहरके थोडेसे अंधकार को दूर करता है परंतु वे मुनिराज अपने अन्तःकरण के अज्ञान वा मोहरूपी अन्धकार को भी सर्वथा नाश करने वाले हैं। जिसप्रकार चन्द्रमा कु अर्थात कमोदिनियों के वलय अर्थात् समूहको—समस्त कमोदिनियों को—रात्रिमें खिलनेवाली कमोदिनियोंको आनन्द देता है, उनको प्रफुल्लित करता है तथा अमृत की वर्षा करता है उसी प्रकार वे मुनिराज भी कुवलय अर्थात समस्त पृथ्वीको—समस्त पृथ्वीपर रहने वाले जीवों को आनंदित करते हैं और समस्त जीवों के लिये हितोपदेशरूपी अमृत की वर्षा करते हैं। इस प्रकार अपूर्व चंद्रमाके समान मुनिराजके समीप जाता है, बडे प्रेम और भक्तिसे उनके समीप बैठता है और उनके चरणकमलोंकी सेवा करता है इस

॥७

प्रकार पापोंसे भयभीत, धर्मको पाकर प्रसन्न होनेवाला और मुनिराजके समीप जाकर उनकी सेवा करनेवाला वह भव्य जीव समस्त शिष्योंके दुःखोंको दूर करनेवाले और तीनों लोकोंके स्वामी ऐसे भगवान् मुनिराजको नमस्कार कर अपने मनका अभिप्राय उन मुनिराजके चरणकमलोंमें निवेदन करता है और ऊंचे स्वरसे इसप्रकार कहता है कि हे मुनिनाथ, आप मुझे समस्त परिग्रहोंसे रहित और दयामय ऐसी जिनदीक्षा दीजिये ॥ ७-१० ॥

प्राज्ञेन ज्ञातलोकव्यवहातिमातिना तेन मोहोज्झितेन
प्राग्विज्ञातः सुदेशो द्विजनृपतिवणिग्वर्णवर्योऽङ्गपूर्णः ।
भूभृल्लोकाऽविरुद्धः स्वजनपरिजनोन्मोचितो वीतमोह-
श्चित्रापस्माररोगाद्यपगत इति च ज्ञातिसंकीर्त्तनाद्यैः ॥ ११ ॥

तदनन्तर जो आचार्य लोकव्यवहारकी सब बातोंको जानने वाले हैं, जो मोहरहित और बुद्धिमान् हैं ऐसे आचार्यको सबसे पहले यह मालूम कर लेना चाहिये कि यह देश अच्छा है या नहीं, दीक्षा देने योग्य है वा नहीं अथवा मुनियोंके निर्वाह होने योग्य है वा नहीं, दीक्षा मांगनेवाला पुरुष ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य इन तीन प्रकारके द्विजोंमेंसे किस वर्णका है, वह कहीं शूद्र तो नहीं है अथवा पतित तो नहीं है अथवा बहिष्कृत तो नहीं है, उसके सब अंग पूर्ण हैं या नहीं हैं, कोई अंग भंग तो नहीं है, अथवा अपूर्ण तो नहीं है, वह राज्य और लोकके विरुद्ध तो नहीं है अर्थात् राज्य वा पंचोंका अपराधी वा दण्डित किया हुआ तो नहीं है, अथवा राज्यके विरुद्ध आन्दोलन करनेवाला तो नहीं है, क्योंकि ऐसा पुरुष दीक्षा लेनेका पात्र नहीं हुआ करता। अतएव दीक्षा लेनेवालेको देख लेना चाहिये कि वह किसीके विरुद्ध तो नहीं है। इसके सिवाय कुटुम्बी और परिवारके लोगोंने दीक्षा लेनेकेलिये उसे आज्ञा देदी है या नहीं। दीक्षा लेने वाले को अपने कुटुम्ब और परिवारसे दीक्षा लेनेके लिये आज्ञा अवश्य लेलेनी चाहिये ऐसी जिनाज्ञा है। इसके साथ साथ यह भी देख लेना चाहिये कि उसका मोह सब नष्ट होगया है या नहीं, उसे चित्र वा अपस्मार (मृगी) आदि का कोई रोग तो नहीं है। ये सब बातें उस दीक्षा लेने वालेके जाति तथा कुटुम्ब के लोगोंसे पूछकर आचार्यको जान लेना चाहिये ॥ ११ ॥

॥८॥

ततस्तदाज्ञामृतपानपुष्टो निर्बन्धगन्धद्विपवत्प्रहृष्टः ।
वाह्यान्तरंगं परिहृत्य संगं शस्ते मुहूर्त्ते स्थिरलग्नपूर्त्ते ॥ १२ ॥

फिर उन आचार्यके आज्ञारूपी अमृतको पीकर पुष्ट होनेवाले तथा बंधनसे छूटे हुए गंध जातिके मदोन्मत्त हाथीके समान प्रसन्न होनेवाले उस शिष्यको किसी स्थिर लग्न और शुभ मुहूर्तमें बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रहोंका त्याग कर देना चाहिये ॥ १२ ॥

प्रीत्या चैत्यगृहादिदक्षिणादिशि क्षोणीतले प्रासुके
प्राचीसम्मुखमुत्तरास्यमथवा कृत्वा सरोजासनम् ।
आसीनश्चिकुरोत्करं भवलतां वा दक्षिणावृत्तितः
प्रोत्पाद्याविकृतिं जगत्त्रयनतिं स्वीकृत्य जाताकृतिम् ॥ १३ ॥

तदनन्तर उस शिष्यको बडे प्रेमसे किसी चैत्यालय वा अन्य किसी धर्मायतन के दाहिनी ओर प्रासुक भूमिपर पूर्वकी ओर मुंह करके अथवा उत्तरकी ओर मुह करके पद्मासन लगाकर बैठ जाना चाहिये, और फिर संसाररूप लताके समान (संसारको बढानेवाले) केशोंके समूह को दाहिनी ओरसे प्रारम्भ कर बांई ओर को घुमाते हुए लोच कर डालना चाहिये। इस प्रकार समस्त परिग्रहोंका त्याग कर और केशलोच कर विकाररहित, और जिसे तीनों जगत् नमस्कार करता है ऐसी जातमुद्रा अर्थात् उत्पन्न होने के समयकी मुद्रा वा नग्नमुद्रा धारण कर लेना चाहिये ॥१३॥

प्रदक्षिणीकृत्य जिनेन्द्रगेहे प्रविश्य जैनप्रतिबिंबपार्श्वे ।
रम्ये स्थले वा व्रतिपाज्ञयैव क्रियां विधायात्तमहाव्रतादिः ॥ १४ ॥

तदनन्तर उस जिनेन्द्रभवन की प्रदक्षिणा कर उसके भीतर जाना चाहिये और उन आचार्य महाराज की आज्ञानुसार उस जिनभवनमें विराजमान श्री जिनप्रतिमाके समीप किसी मनोहर स्थानपर विराजमान होकर महाव्रत आदि व्रतोंको ग्रहण करनेवाली समस्त क्रियाएं करनी चाहिये ॥ १४ ॥

स्थित्वा ततः प्रमुदितो गुरुवामपार्श्वे श्रुत्वा प्रतिक्रमणमीडितयोगिवर्गः ।
योऽयं जिनोक्तविधिनाऽधिगतागमार्थश्चारित्रसंपदमुदंचाति तां गुणालीम् ॥ १५ ॥

इसके बाद प्रसन्न होकर उसे गुरुके बाईं ओर उनके समीप खडा होना चाहिये। वहीं खडे होकर प्रतिक्रमण सुनना चाहिये और फिर समस्त मुनियों के समूह की पूजा करनी चाहिये अर्थात सब मुनियों को नमस्कारादिक करना चाहिये। इस प्रकार भगवान् जिनेंद्र देवके कहे अनुसार जिसने शास्त्रों का अभिप्राय धारण किया है ऐसे उस शिष्यको समस्त गुणोंसे भरपूर ऐसी वह चारित्ररूपी संपदा प्राप्त होती है। भावार्थ—ऊपर लिखी विधिके अनुसार जो निःशल्य होकर आचार्यसे दीक्षा लेता है उसीके मोक्षकी साक्षात् कारण ऐसी सम्यक्चारित्ररूपी संपदा प्राप्त होती है ॥१५॥

युक्ताः पंचमहाव्रतैः समितयः पंचाक्षरोधाशयाः
पंचावश्यकषट्कलुञ्चनवराचेलक्यमस्नानता ।
भूशय्या स्थितिभुक्त्यदन्तकषणं चान्ह्येकभक्तं यता-
वेवं मूलगुणाष्टविंशतिरियं मूलं चरित्रश्रियः ॥ १६ ॥

मुनियोंके सम्यक् चारित्र रूपी जो लक्ष्मी प्राप्त होती है उसकी जड अट्ठाईस मूल गुण हैं। अट्ठाईस मूल गुणोंके धारण किये विना सम्यक् चारित्र कभी हो नहीं सकता। वे अट्ठाईस मूलगुण इसप्रकार है—पांच महाव्रत, पांच समिति, पांचो इंद्रियोंका निरोध, छह आवश्यक, केशोंका लोच करना, वस्त्र धारण नहीं करना (नग्न रहना), स्नान नहीं करना, भूमिपर शयन करना, खडे होकर भोजन करना, दंत धावन नहीं करना और दिनमें एकवार आहार ग्रहण करना। इस प्रकार ये अट्ठाईस मूलगुण हैं जो सम्यक् चारित्रको प्रगट और उत्पन्न करनेवाले है ॥ १६ ॥

अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यमसङ्गता ।
महाव्रतानि पंचैव निःशेषावद्यवर्जनात् ॥ १७ ॥

जिनमें समस्त पापोंका त्याग कर दिया जाय उनको महाव्रत कहते हैं। वे महाव्रत पांच है। उनके नाम अहिंसा महाव्रत, सत्यमहाव्रत, अचौर्य महाव्रत, ब्रह्मचर्य महाव्रत और परिग्रहत्याग महाव्रत। भावार्थ-संसारमें हिंसा

झूट चोरी कुशील और परिग्रह ये पांच पाप हैं। इनका त्याग कर देना ही पांच व्रत कहलाते हैं। जिन व्रतोंमें इन पांचों पापोंका त्याग पूर्ण रीतीसे हो जाता है उनको महाव्रत कहते हैं और वे ऊपर लिखे अनुसार पांच है ॥ १७ ॥

जन्मकायकुलाक्षाद्यैर्ज्ञात्वा सत्त्वततिं श्रुतेः।
त्यागस्त्रिशुद्ध्या हिंसादेः स्थानादौ स्यादहिंसनम् ॥ १८ ॥

शास्त्रोंके अनुसार जन्म काय कुल और इंद्रियादिकके द्वारा जीवोंके समूहको जान कर मनोयोग वचनयोग और काययोग इन तीनों योगोंकी शुद्धतापूर्वक हिंसादिके स्थानादिकोंमें हिंसाका त्याग करना अहिंसा महाव्रत कहलाता है। भावार्थ—शास्त्रोंमें चौरासी लाख योनियां बतलाई हैं। एकसौ सांडे सत्यानवे लाख कुल कोडि बतलाये हैं। पृथ्वीकायिक जलकायिक, तेजःकायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक और त्रसकायिक ये छह प्रकारके जीव बतलाये हैं। एकेंद्रिय दोइंद्रिय तेइंद्रिय चौइंदिय पंचेंद्रिय ऐसे इंद्रियोंके भेदसे पांच प्रकारके जीव बतलाये हैं। ये सब कहां कहां रहते हैं, कहां कहां उत्पन्न होते हैं वा कहां कहां उत्पन्न हो सकते हैं इन सब बातोंको जानकर मन वचन कायसे तथा कृत कारित अनुमोदनासे समस्त प्रकारके जीवोंकी हिंसाका त्याग कर देना अहिंसा महाव्रत है ॥१८॥

रागद्वेषादिजासत्यमुत्सृज्यान्याहितं वचः।
सत्यं तत्त्वान्यथोक्तं च वचनं सत्यमुत्तमम् ॥ १९ ॥

रागद्वेष आदि विकारोंसे उत्पन्न हुए असत्यको, दूसरेके अहित करनेवाले वचनोंको और तत्त्वोंके अन्यथा स्वरूपको कहने वाले वचनोंको छोडकर सदा सत्य वचन कहना उत्तम सत्य महाव्रत कहलाता है ॥ १९ ॥

बह्वल्पं वा परद्रव्यं ग्रामादौ पतितादिकम्।
अदत्तं यत्तदादानवर्जनं स्तेयवर्जनम् ॥ २० ॥

किसी गांवमें वा पर्वतपर किसीका द्रव्य गिरगया हो, रक्खा हो वा भूलसे रह गया हो ऐसे थोडे वा बहुत परद्रव्यको उसके विना दिये हुए ग्रहण करनेका मन वचन काय और कृत कारित अनुमोदनासे त्याग कर देना अचौर्य महाव्रत कहलाता है ॥ २० ॥

रागलोककथात्यागः सर्वस्त्रीस्थापनादिषु ।
माताऽनुजा तनूजेति मत्या ब्रह्मव्रतं मतम् ॥ २१ ॥

रागको बढानेवाली लौकिक कथाओंका त्याग करना, सब तरहकी स्त्रियोंमें तथा उनके चित्र आदि स्थापनाओंमें भी माता बहिन और पुत्रीकी बुद्धि रखना ब्रह्मचर्य महाव्रत कहा जाता है ॥ २१ ॥

चेतनेतरबाह्यांतरंगसंगाविवर्जनम् ।
ज्ञानसंयमसंगो वा निर्ममत्वमसंगता ॥ २२ ॥

चेतन अचेतन रूप बाह्य परिग्रहोंका तथा रागद्वेषादिक अन्तरंग परिग्रहोंका सर्वथा त्याग कर देना अथवा ज्ञान और संयममें लीन हो जाना वा ममत्वबुद्धिका सर्वथा त्याग कर देना परिग्रहत्याग महाव्रत कहलाता है ॥२२ ॥

ईर्याभाषैषणादाननिक्षेपोत्सर्गसंज्ञिकाः ।
व्रतत्राणाय पंचैताः स्मृताः समितयो यतेः ॥ २३ ॥

इस प्रकार संक्षेपसे पांचों महाव्रतोंका स्वरूप कहा । अब आगे पांचों समितियोंका स्वरूप कहते हैं । ईर्या समिति, भाषा समिति, एषणा समिति, आदान निक्षेपण समिति और उत्सर्ग समिति ये पांच समितियां कहलाती हैं । अपने पांचों महाव्रतोंकी रक्षा करनेके लिये मुनियोंको इन पांचों समितियोंका पालन करना चाहिये ॥ २३ ॥

पुरो युगान्तरेऽक्षस्य दिने प्रासुकवर्त्मनि ।
सदयस्य सकार्यस्य स्यादीर्यासमितिर्गतिः ॥ २४ ॥

जिन मुनिराजका हृदय दयासे परिपूर्ण है, जो केवल परोपकारके लिये अथवा मल मूत्रादिक करनेरूप आवश्यक कार्योंके लिये केवल दिनमें प्रासुक मार्गसे चलते हैं उनके सामनेकी चार हाथ भूमिको देख शोध कर गमन करनेको ईर्या समिति कहते हैं ॥ २४ ॥

भेदपैशुन्यपरुषप्रहासोक्त्यादिवर्जिता ।
हितमितनिःसन्देहा भाषा भाषासमित्याख्या ॥ २५ ॥

दूसरेके मनमें भेद डालनेवाले वचनोंको छोडकर वैमनस्य बढानेवाले चुगल खोरीके वचनोंको छोडकर कठोर वचनोंको छोडकर और हसी मिले हुए वचनोंको छोडकर सबका हित करनेवाले और थोडेसे, सन्देह रहित वचनोंका कहना भाषासमिति कहलाती है ॥ २५ ॥

षट्चत्वारिंशद्दोषोना प्रासुकान्नादिकस्य या ।
एषणासमितिर्भुक्तिः स्वाध्यायध्यानसिद्धये ॥ २६ ॥

स्वाध्याय और ध्यानकी सिद्धिके लिये छयालीस दोषोंसे रहित, प्रासुक अन्नादिकका आहार ग्रहण करना एषणासमिति कही जाती है ॥ २६ ॥

ज्ञानोपकरणादीनामादानं स्थापनं च यत् ।
यत्नेनाऽऽदाननिक्षेपसमितिः करुणापरा ॥ २७ ॥

शास्त्र पीछी कमंडल आदि ज्ञान और संयमके उपकरणोंको यत्नाचारपूर्वक देख शोधकर ग्रहण करना तथा यत्नाचारपूर्वक ही स्थापन करना सो करुणामें सदा तत्पर रहनेवाली आदाननिक्षेपण समिति समझनी चाहिये ॥२७॥

दूरगूढविशालाविरुद्धशुद्धमहीतले ।
उत्सर्गसमितिर्विण्मूत्रादीनां स्याद् विसर्जनम् ॥ २८ ॥

जो पृथ्वी यतियोंके आश्रमसे वा लोगोंके रहनेके स्थानसे दूर है, जो वृक्षादिकोंसे छिपी हुई है, जो विशाल वा लंबी चौडी है जिसपर जानेके लिये किसीका विरोध नहीं है, और जो शुद्ध है ऐसी पृथ्वीपर देख शोधकर मल मूत्र करना उत्सर्गसमिति कहलाती है ॥ २८ ॥

चक्षुःश्रोत्रघ्राणजिह्वास्पर्शाक्षगोचरे भिक्षोः ।
रत्यरतिचित्तवृत्ते रोधः स्यादक्षसंरोधः ॥ २९ ॥

इसप्रकार पांचों समितियोंका वर्णन किया । अब आगे पांचो इंद्रियोंका निरोध करना बतलाते हैं । चक्षु इन्द्रिय, कर्ण इन्द्रिय, घ्राण इन्द्रिय, जिव्हा इन्द्रिय और स्पर्शन इन्द्रिय ये पांच इंद्रियां कहलाती हैं । इन पांचों इन्द्रियोंके

विषयभूत पदार्थोंमें अपने हृदयसे राग द्वेष दूर करदेना—किसी भी पदार्थमें राग द्वेष न करना मुनियोंका इंद्रियविजय कहाजाता है। भावार्थ—चक्षुइन्द्रियका विषय रूप है, कर्ण इन्द्रियका विषय शब्द है, घ्राण इन्द्रियका विषय गंध है, जिव्हा इंद्रियका विषय रस है और स्पर्शन इन्द्रियका विषय स्पर्श है। ये इंद्रियोंके सब विषय दो प्रकारके होते हैं एक अपनी इन्द्रियोंको अच्छे लगनेवाले इष्ट पदार्थ और दूसरे अपनी इंद्रियोंको बुरे लगनेवाले अनिष्ट पदार्थ। इन दोनों प्रकारके विषयोंसे राग द्वेष दूर करना. अर्थात् अच्छे लगनेवाले इष्ट पदार्थोंमें राग नहीं करना और बुरे लगनेवाले अनिष्ट पदार्थोंमें द्वेष नहीं करना, सबको समान देखना, इन्द्रियनिरोध कहा जाता है ॥ २९ ॥

चेतनेतरवस्तूनां हर्षमर्षाकरक्रिया ।
वर्णसंस्थानभेदेषु चक्षूरोधोऽविकारधीः ॥ ३० ॥

चेतन वा अचेतन पदार्थोंकी हर्ष और विषाद उत्पन्न करनेवाली क्रियाओंमें तथा रूप रंग आकार आदिके भेदोंमें निर्विकार बुद्धि रखना–अच्छी लगनेवाली क्रियाओंमें वा रूप रंग आकारमें हर्ष नहीं करना तथा अच्छी न लगनेवाली क्रियाओंमें वा रूपादिकमें द्वेष नहीं करना चक्षु इन्द्रियका निरोध कहलाता है ॥ ३० ॥

जीवाजीवोभयोद्भूते चेतोहारीतरस्वरे ।
रागद्वेषाविलस्वान्तदण्डनं श्रोत्रदण्डनम् ॥ ३१ ॥

जीव अजीव अथवा मिश्रित पदार्थोंसे उत्पन्न होनेवाले तथा चित्तको बुरे लगनेवाले स्वरोंमें राग द्वेष नहीं करना, ऐसे स्वरोंको सुनकर अपने हृदयमें राग द्वेष रूप मलिनता न होने देना कर्ण इन्द्रियको सब तरहसे वशमें रखना कर्ण इंद्रियका निरोध कहलाता है ॥ ३१ ॥

प्रकृतिप्रयोगगन्धे जीवाजीवोभयाश्रये ।
शुभेऽशुभे मनःसाम्यं घ्राणेन्द्रियजयं विदुः ॥ ३२ ॥

जीव अजीव अथवा दोनो मिले हुए पदार्थोंमें स्वाभाविक अथवा किसीके द्वारा उत्पन्न किये हुए शुभ अशुभ गंधमें—सुगंध वा दुर्गंधमें मनको समान रखना, सुगंधमें राग नहीं करना और दुर्गंधमें द्वेष नहीं करना सो घ्राण इंद्रियका विजय समझना चाहिये। भावार्थ—सुगंध वा दुर्गंध किसीमें स्वाभाविक होती

है और किसीमें की हुई होती है । दोनों प्रकारकी सुगंध वा दुर्गंधमें राग द्वेष नहीं करना घ्राण इंद्रियका निरोध कहा जाता है ॥ ३२ ॥

गृहिदत्तेऽन्नपानादावदोषे समतायुतम् ।

गात्रयात्रानिमित्तं यद्भोजनं रसनाजयः ॥ ३३ ॥

अपने शरीरकी यात्राके लिये—शरीर द्वारा चारित्र पालन करनेका काम लेनेके लिये गृहस्थोंके द्वारा दिये हुए निर्दोष अन्न पानको अथवा किसी भी भोजनको समतापूर्वक ग्रहण करना रसना इन्द्रियका जय कहलाता है । भावार्थ—मुनि तप और ध्यान करनेके लिये ही शरीरकी आवश्यकता समझते हैं और इसी लिये उसको स्थिर रखनेके लिये आहार लेना उचित समझते हैं । परन्तु वह आहार जैसा मिल जाता है उसीको राग द्वेष रहित ग्रहण कर लेते हैं । इष्ट पदार्थोंमें राग नहीं करते और अनिष्ट पदार्थोंमें द्वेष नहीं करते । इस प्रकार वे रसना इन्द्रियका विजय करते हैं ॥३३॥

जीवाजीवोभयस्पर्शे कर्कशाद्यष्टभेदके ।

शुभेऽशुभेऽतिमध्यस्थं मनः स्पर्शाक्षनिर्जयः ॥ ३४ ॥

जीव अजीव अथवा मिले हुए पदार्थोंके रूखा, चिकना, नरम, कठोर, ठंडा, गर्म, हलका भारी इन आठों स्पर्शके शुभ अशुभ भेदोंमें मनको अत्यन्त मध्यस्थ रखना—किसीमें राग द्वेष न करना स्पर्शन इन्द्रियका विजय कहलाता है ॥ ३४ ॥

आवश्यकक्रियाषट्कं समतास्तववंदनम् ।

सप्रतिक्रमणं प्रत्याख्यानं कायविसर्जनम् ॥ ३५ ॥

इस प्रकार पांचों इन्द्रियोंका विजय बतलाया । अब आगे छह आवश्यकोंको कहते हैं । समता, स्तुति, वंदना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग ये छह मुनियों की आवश्यक क्रियाएं कहलाती हैं ॥ ३५ ॥

लाभालाभसुखक्लेशप्रमुखे समतामतिः ।

स्वायत्तकरणस्वान्तज्ञानिनः समता मता ॥ ३६ ॥

इंद्रिय और मनको अपने वशमें रखने वाले ज्ञानी मुनियोंके लाभ अलाभ वा सुख दुःख आदिमें समतारूप बुद्धिका होना समता कही जाती है। भावार्थ—लाभ अलाभमें वा सुख दुःखमें हर्ष विषाद वा राग द्वेष नहीं करना दोनोंमें अपने परिणामोंको समान रखना समता है ॥ ३६ ॥

कृत्वा गुणगणोत्कीर्तिनामव्युत्पत्तिपूजनम् ।
वृषभादिजिनाधीशस्तवनं स्तवनं मतम् ॥ ३७ ॥

भगवान् जिनेन्द्र देवके गुणोंके समूहका वर्णन करना, अथवा श्रीजिनेन्द्र देवके नामोंकी व्युत्पत्तिपूर्वक पूजन करना अथवा वृषभदेव आदि चौवीसों तीर्थकरोंकी स्तुति करना स्तुति कहलाती है ॥ ३७ ॥

जैनैकतीर्थकृत्सिद्धसाधूनां क्रिययान्वितम् ।
वन्दनं स्तुतिमात्रं वा वन्दनं पुण्यनन्दनम् ॥ ३८ ॥

श्री अरहंत देवकी, वा किसी एक तीर्थकर की, अथवा सिद्ध परमेष्ठीकी वा साधु परमेष्ठीकी विधिपूर्वक क्रियासहित वन्दन करना अथवा इनकी स्तुति करना सो पुण्यको उत्पन्न करनेवाली वन्दना कही जाती है ॥३८॥

निंदनं गर्हणं कृत्वा द्रव्यादिषु कृतागसां ।
शोधनं वाङ्मनःकायैस्तत्प्रतिक्रमणं मतं ॥ ३९ ॥

द्रव्यादिकोंमें—द्रव्य क्षेत्र काल भावोंमें अपना किसी प्रकारका अपराध वा दोष हो जाने पर अपने आत्माकी निंदा करके तथा आत्माको धिक्कार देकर मन वचन कायके द्वारा उसको शुद्ध करना, लगे हुए दोषका प्रायश्चित्त लेना प्रतिक्रमण कहलाता है ॥ ३९ ॥

यन्नामस्थापनादीनामयोग्यपरिवर्जनम् ।
त्रिशुद्ध्याऽनागते काले तत्प्रत्याख्यानमीरितम् ॥ ४० ॥

मन वचन कायकी शुद्धतापूर्वक आगामी कालके लिये भी अयोग्य नाम स्थापना आदिका त्याग कर देना प्रत्याख्यान कहा जाता है ॥ ४० ॥

॥१६॥

स्तवनादौ तनुत्यागः श्रीमत्पंचगुरुस्मृतिः ।
व्युत्सर्गः स्याच्छुतप्रोक्तोच्छ्वासावसरलक्षणः ॥ ४१ ॥

स्तुति वन्दना आदि क्रियाओंमें शरीरसे ममत्वका त्याग करना वा अन्तरंग बहिरंग लक्ष्मीसे विभूषित पच परमेष्ठियोंका स्मरण करना, अथवा शास्त्रोंमें लिखी हुई विधिके अनुसार श्वासोच्छ्वासको विश्राम देना, कुंभक पूरक रेचकके द्वारा पंच परमेष्ठीका जप करना व्युत्सर्ग वा कायोत्सर्ग कहलाता है ॥ ४१ ॥

कूर्चस्मश्रुकचोल्लुञ्चो लुंचनं स्यादमी यतः ।
परीषहजयाऽदैन्यवैराग्यासंगसंयमाः ॥ ४ ॥

इस प्रकार छहों आवश्यकोंका निरूपण किया । अब आगे केशलोच आदि सात गुणोंको अनुक्रमसे कहते हैं । दाढी मूछ और मस्तकके केशोंका लोच करना केशलोच कहलाता है । केशलोच करनेसे परीषहें जीती जाती हैं, किसीसे दीनता नहीं करना पडती, वैराग्य बढता है, परिग्रहोंका त्याग दृढ होता है और संयमका पालन होता है ॥ ४२

यच्चतुस्त्रिद्विमासेषु सोपवासे विधीयते ।
जघन्यं मध्यमं ज्येष्ठं सप्रातिक्रमणे दिने ॥ ४३ ॥

इसलिये जघन्य चार महिने के भीतर, मध्यम लोच तीन महिनेके भीतर और उत्तम लोच दो महिनेके भीतर करना चाहिये । वह केशलोच दिनमें उपवास और प्रतिक्रमण पूर्वक करना चाहिये । जब केशलोच करना हो उस दिन उपवास अवश्य करना चाहिये और प्रतिक्रमणके दिन प्रतिक्रमण सहित या और दिनोंमें भी अवश्य करना चाहिये ॥ ४३

वल्कलाजिनवस्त्राद्यैरंगासंवरणं वरम् ।
आचेलक्यमलंकारानंगसंगविवर्जितम् ॥ ४४ ॥

पत्तोंकी छाल, चमडा और वस्त्र आदिकोंसे शरीरको न ढकना ही अच्छा है अतएव अलंकार परिग्रह और कामके विकारसे रहित नग्न अवस्था धारण करना मुनियोंका तेईसवां मूलगुण कहलाता है ॥ ४४ ॥

संयमद्वयरक्षार्थं स्नानादेर्वर्जनं मुनेः ।
जल्लस्वेदमलालिप्तगात्रस्यास्नानता स्मृता ॥ ४५ ॥

इन्द्रियोंको वशमें करना इन्द्रियसंयम है । और प्राणियोंकी रक्षा करना प्राणिसंयम है। इंद्रिय-संयम और प्राणिसंयम इन दोनों प्रकारके संयमोंकी रक्षा करनेके लिये मुनियोंको स्नान आदि करनेका त्याग करना बतलाया है । अतएव मुनियोंको जल्ल (नाक आदिके मलको जल्ल कहते हैं) पसीना वा अन्य किसी मलसे मलिन शरीर होते हुए भी स्नान नहीं करना चाहिये। मुनियोंका यह स्नान न करना चौवीसवां मूलगुण है ॥४५॥

प्रसन्नप्रासुकाऽनात्मसंस्कृतेलाशिलादिषु ।
एकपार्श्वेन कोदण्डदण्डशय्या महीशयः ॥ ४६ ॥

मुनियोंको शुद्ध प्रासुक और अपने हाथसे जिसका कोई किसी प्रकारका संस्कार नहीं किया गया है ऐसी पृथ्वी अथवा शिला आदिके ऊपर एक ही करवटसे धनुपदंडके समान शयन करना चाहिये । यह भूमिशयन नामका पचीसवां गुण है ॥ ४६ ॥

स्वपात्रदातृशुद्धोर्व्यां स्थित्वा समपदद्वयम् ।
निरालंबं करद्वन्द्वभोजनं स्थितिभोजनम् ॥ ४७ ॥

शुद्ध पृथ्वीपर दोनों पैरोंको समान अन्तरसे रखकर निराधार खडे होकर द्रव्य दाता और पात्र तीनोंकी शुद्धतापूर्वक दोनों हाथोंसे भोजन करना स्थितभोजन कहलाता है । भावार्थ—मुनियोंको दोनों पैरोंमें चार अंगुलका अन्तर देकर खडे होना चाहिये । तथा दोनों हाथोंको मिलाकर न छूटे ऐसा संबंध रखकर भोजन करना चाहिये। संबंध छूटनेसे अंतराय समझा जाता है । इसप्रकार निराधार खडे होकर भोजन करनेको स्थितभोजन अथवा खडे होकर भोजन करना कहते हैं ॥ ४७ ॥

दशनाघर्षणं पाषाणांगुलीत्वङ्नखादिभिः ।
स्याद्दन्ताघर्षणं भोगदेहवैराग्यमंदिरे ॥ ४८ ॥

शरीर और भोगोंसे उत्पन्न हुए वैराग्यके भवनमें रहनेवाले आत्माको पत्थर, उंगली वृक्षोंकी छाल अथवा नख आदिकसे दांतोंको न घिसना— दंतधावन न करना दंताघर्षण अथवा दंतधावन न करना सत्ताईसवां मूलगुण कहा जाता है ॥ ४८ ॥

उदयास्तोभयं त्यक्त्वा त्रिनाडीभोंजनं सकृत् ।
एकद्वित्रिमुहूर्तं स्यादेकभक्तं दिने मुनेः ॥ ४९ ॥

सूर्य उदय होनेके तीन घडी बाद और सूर्य अस्त होनेके तीन घडी पहले तक दिनमें एकवार उत्तम एक मुहूर्ततक, मध्यम दो मुहूर्ततक और जघन्य तीन मुहूर्ततक भोजन करना एकभक्ति कहलाती है। भावार्थ—मुनिराज या तो सूर्य उदय होनेके तीन घडी बादसे लेकर सामायिकके समयके पहले पहले तक भोजन कर लेते हैं। अथवा सामायिकके बादसे लेकर सूर्य अस्त होनेके तीन घडी पहले तक भोजन करते हैं। जो श्रावकोंके भोजनका समय है वही मुनियोंके भोजन का समय है परन्तु यह नियम है कि मुनि लोग दिनमें एक ही बार भोजन करते हैं। ४९ ।

येषां भूषणतां गता गुणगणैकावल्यलं निर्मला
येयं विश्वनरामरेश्वरमिलिन्दानन्दिपादाम्बुजाः ।
ते यान्ति श्रमणाग्रगण्यपदवीगण्या वरेण्यं पदं
सिद्धिश्रीपरिरंभणामृतसुखास्वादास्पदं योगिनः ॥ ५० ॥

जिनके लिये यह गुणोंके समूहकी निर्मल माला सबसे उत्तम आभूषणका काम देती है, जिनके चरण कमल समस्त संसारके राजा महाराजा और इन्द्ररूपी भ्रमरोंको आनन्द देनेवाले हैं, तथा जो मुनियोंकी श्रेणीमें अग्रगण्य मुख्य हैं ऐसे योगीजन मोक्षरूपी लक्ष्मीके आलिंगनामृतरूपी सुखके आस्वादन करनेका स्थान ऐसे सबसे उत्तम मोक्ष पदको प्राप्त होते हैं। भावार्थ— जो मुनिराज इस प्रकार अट्ठाईस मूलगुणोंका पालन करते हैं वे अनन्त सुखसे भरपूर ऐसे मोक्षपदको अवश्य प्राप्त होते हैं ॥ ५० ॥

प्रोन्निर्यत्करनीलरत्नरुचिरोदाराङ्गचेतोहरः
पूर्णोदीर्णसदाश्रयान्तरमहाभोगास्पदाशोत्करः ।

गंभीरास्तसमस्तदोषमधुरध्वानोद्यदानन्दनः
सर्वोर्वीसुखसंपदेऽस्त्वमृतदो नेमिर्घनः पावनः ॥ ५१ ॥

आगे अन्तिम मंगल करते हैं। वर्षा ऋतुके श्याम मेघोंके समान शरीरको कांतिको धारण करनेवाले वे भगवान् श्री नेमिनाथ स्वामी हम लोगोंको समस्त पृथ्वीकी सुखरूपी सम्पदा देवें। जो भगवान् श्री नेमिनाथ स्वामी वर्षा ऋतुके मेघोंके समान हैं। जिस प्रकार मेघ खूब अच्छी तरह निकलती हुई किरणोंसे देदिप्यमान नीलमणि रत्नके समान सुन्दर होते हैं उसी प्रकार श्री नेमिनाथ स्वामीका शरीर भी खूब अच्छी तरह निकलती हुई किरणोंसे देदिप्यमान ऐसे नीलमणि रत्नके समान सुन्दर है। जिसप्रकार मेघ स्त्रियोंके हृदयको हरण करनेवाले होते हैं उसी प्रकार भगवान् नेमिनाथ स्वामी भी अपने पूर्ण ब्रह्मचर्यके कारण समस्त स्त्रियोंके हृदयको हरण करनेवाले हैं। जिस प्रकार बादल पूर्ण उदयमें आये हुए सत्पुरुषोंके आश्रयसे रहनेवाले महाभोगोंके स्थानकी आशाके समूहरूप होते हैं। मेघोंके होनेसे महा भोग प्राप्त होनेकी आशा लगी रहती है। उसी प्रकार जो श्री नेमिनाथ स्वामी पूर्ण उदयमें आये हुए और सज्जनोंके आश्रय रहनेवाले ऐसे महाभोगोंके स्थानोंकी आशाके समूहरूप हैं अर्थात् इंद्रादिक महाभोगोंके स्थानोंको देनेवाले हैं। तथा मेघ जिस प्रकार गम्भीर और समस्त दोषोंसे रहित ऐसे मधुर शब्दोंसे सबको आनन्दित करते हैं उसी प्रकार श्री नेमिनाथ स्वामी भी अपने गम्भीर और समस्त दोषोंसे रहित ऐसे दिव्य ध्वनि रूपी मधुर शब्दोंसे संसारके समस्त जीवोंको आनन्दित करते हैं। तथा मेघ जिस प्रकार पवित्र और अमृतके समान जलकी वर्षा करनेवाले हैं उसी प्रकार वे भगवान् नेमिनाथ स्वामी भी समस्त दोषोंसे रहित होनेके कारण अत्यन्त पवित्र हैं और अपनी दिव्य ध्वनिके द्वारा समस्त भव्य जीवोंके लिये जन्ममरणको दूर करनेवाले अमृतके समान मोक्षमार्गकी वर्षा करते हैं। ऐसे वे श्री नेमिनाथ स्वामी समस्त भूमंडलको सुख देनेवाली संपदा देवें ॥ ५१ ॥

इति श्रीवीरनन्दिसिद्धान्तिचक्रवर्त्तिविरचिते श्रीआचारसार-
नाम्नि शास्त्रे प्रथमोऽधिकारः ॥ १ ॥

इस प्रकार श्री वीरनंदि सिद्धांत चक्रवर्ती विरचित श्री आचारसार नामके शास्त्रकी चावली (आगरा)
निवासी 'धर्मरत्न' लालाराम शास्त्री द्वारा निर्मित सरल हिंदीभाषा
टीकामें प्रथम अधिकार समाप्त हुआ ॥१॥

॥२०॥

प्रवासावसरे कन्दरावासादेर्निषिद्धिका ।
तस्मान्निर्गमने कार्या स्यादाशीर्वैरहारिणी ॥ १२ ॥

मुनियोंको गुफा वसतिका अथवा और किसी स्थानपर ठहरते समय निषिद्धिका करनी चाहिये। और वहांसे जाते समय वैर तथा विरोधको दूर करनेवाले आशीर्वादके वचन कहने चाहिये॥ १२ ॥

ग्रंथारंभकचोल्लोचकायशुद्धिक्रियादिषु ।
प्रश्नः सूर्यादिपूज्यानां भवत्याप्रच्छनं मुनौ ॥ १३ ॥

किसी ग्रन्थका प्रारंभ करते समय, केशोंका लोच प्रारंभ करते समय, और कायशुद्धि आदि क्रियाओंके प्रारंभ करते समयसूरि आचार्य आदि पूज्य पुरुषोंसे पूछना, उनसे पूछकर प्रारंभ करना सो मुनिओंके लिये आप्रच्छन नामकी समाचार नीति कहलाती है॥ १३ ॥

यत्किंचन महत्कार्यं कार्यं पृष्ट्वा यतीश्वरान् ।
विनयेन पुनः प्रश्नः प्रतिप्रश्नः प्रकीर्तितः ॥ १४ ॥

जो कोई महाकार्य करना हो तो मुनियोंसे पूछकर करना चाहिये और बडी विनयके साथ पूछना चाहिये। इस प्रकार बार बार पूछनेको प्रतिप्रश्न कहते है॥ १४ ॥

पुस्तकादौ पुरा दत्ते नात्मार्थे यन्निवेदनम् ।
जिघृक्षायां पुनः सूरिप्रमुखेष्वानिमंत्रणम् ॥ १५ ॥

आचार्य आदि मुनियोंको जो पुस्तक आदि पहले दी है उसको लेनेकी इच्छा करनेवाले शिष्यको अथवा मुनिराजको उन आचार्यादिकसे प्रार्थना करनी चाहिये कि मैंने जो पहले पुस्तक आदि दी थी उसको लेनेकी मेरी इच्छा है, आपकी क्या आज्ञा है ? इस प्रकार पूछना आनिमंत्रण नामका समाचार कहलाता है॥ १५ ॥

विनयक्षेत्रमार्गाणां संश्रयः सुखदुःखयो ।
सूत्रस्य चेत्ययं पंचप्रकारः संश्रयः स्मृतः ॥ १६ ॥

तत्वोंका स्वरूप निरूपण करते समय अथवा उपदेश देते समय वा उपदेश सुनते समय, भगवान् जिनेन्द्रदेव
वीतराग और सर्वज्ञ हैं इसलिये उनके वचन कभी अन्यथा नहीं हो सकते, तत्वोंका स्वरूप जैसा उन्होंने कहा है
वैसा ही है, उसमें कभी भी अन्तर नहीं पड सकता–इस प्रकार भगवान्के वचनोंके लिये आदररूप वचन कहना सो
गुणोंका खजाना तथाकार समझना चाहिये ॥ ८ ॥

पूर्वात्तानशनातापयोगोपकरणादिषु ।
सेच्छावृत्तिर्गणीच्छानुवृत्तिर्या विनयास्पदा ॥ ९ ॥

पहले ग्रहण किये हुए अनशन (उपवास) आतापन योग्य अथवा उपकरणादिकोंमें विनयपूर्वक आचार्यकी
इच्छानुसार अपनी प्रवृत्ति रखना इच्छावृत्ति कहलाती है। भावार्थ–यहां इच्छा शब्दसे आचार्यकी इच्छा समझनी
चाहिये। आचार्यकी इच्छापूर्वक अपनी प्रवृत्ति रखना और उसको भी विनयपूर्वक पालन करना इच्छावृत्ति नामकी
समाचार नीति है ॥ ९ ॥

स्थिता वयमियत्कालं यामः क्षेमोदयोऽस्तु ते ।
इतीष्टाशंसनं व्यंतरादेराशीर्निरुच्यते ॥ १० ॥

" हम यहांपर इतने दिनतक रहे, अब जाते हैं, तुम लोगोंका कल्याण हो " इसप्रकार व्यंतरादिक देवोंको
इष्ट आशीर्वाद देना आशीर्वचन कहलाते हैं। भावार्थ–मुनिराज जिस गुफामें वा जिस वसतिकामें ठहरते हैं उसके
अधिकारी व्यंतरादिक देवसे पूछकर ठहरते हैं और जाते समय उनको आशीर्वाद दे जाते हैं ॥ ये दोनो ही मुनि-
योंकी समाचार नीति हैं ॥ १० ॥

जीवानां व्यंतरादीनां बाधायै यन्निषेधनम् ।
अस्माभिः स्थीयते युष्मद्दिष्टयैवेति निषिद्धिका ॥ ११ ॥

तुम्हारी कृपासे हम यहां ठहरते हैं। तुम किसी प्रकारका उपद्रव मत करना। इसप्रकार जीवोंको तथा
व्यंतरादिक देवोंको उपद्रवका निषेध करना निषिद्धिका नामकी समाचार नीति कहलाती है ॥ ११ ॥

॥२३॥

अथ द्वितीयोऽधिकारः ॥ २ ॥

श्रियः पदं सर्वविदः पदाम्बुजं नमन्निलिंपालिमिलिन्दमन्दिरम् ।
सन्मानसोल्लासिनखांशुकेसरं पार्श्वस्य नः स्ताद्वरदं जिनेशिनः ॥ १ ॥

दूसरा अधिकार.

भगवान् श्री पार्श्वनाथ स्वामीके जो चरणकमल लक्ष्मीके स्थान हैं, नमस्कार करते हुये देवोंके समूहरूपी भ्रमरोंके निवासस्थान हैं, जिनके नखोंसे प्रगट हुई किरणेंरूपी केसर उत्तम वा निर्मल हृदयको धारण करनेवाले भव्य जीवोंको प्रसन्न करती है, ऐसे सर्वज्ञ वीतराग तेईसवें तीर्थंकर परमदेव श्री पार्श्वनाथके वे चरणकमल हम लोगोंको वर देनेवाले हों ॥१॥

तनोति संपदं नीतिर्यद्वत् तद्वद् गणश्रियम् ।
सत्प्रियां या समाचारनीतिः सा कीर्त्यतेऽधुना ॥ २ ॥

जिसप्रकार नीतिसे सबसे अच्छी लगनेवाली संपदा प्राप्त होती है अथवा उत्तम स्त्री और सम्पदाएं दोनोंही प्राप्त होती हैं उसीप्रकार जिससे सबको अच्छी लगनेवाली गणलक्ष्मी अर्थात् मुनियोंके समूहकी शोभा प्राप्त होती है ऐसी समाचार-नीतिको अब आगे कहते हैं ॥ २ ॥

समः समानः सं सम्यगाचारो यः समैर्युतैः ।
आचार्यत इति प्राज्ञैः स समाचार ईरितः ॥ ३ ॥

सम और समान दोनोका समान वा एकसा अर्थ है। जो आचरण समानताके साथ सबके द्वारा समान रूपसे आचरण किये जाते है-पाले जाते हैं उनको विद्वान् लोग समाचार कहते हैं। अथवा सम् और सम्यक् इन दोनोंका एक अर्थ है। जो आचरण सम् अर्थात् बहुत अच्छीतरह पालन किये जायं-शास्त्रानुकूल श्रेष्ठ रीतिसे पालन किये जायं उनको भी विद्वान् लोग समाचार कहते हैं ॥ ३ ॥

एष संक्षेपविस्ताराद्द्विभेदो दशभेदगः ।
संक्षेपोऽनल्पभेदोऽन्य आदिभेदा इमे दश ॥ ४ ॥

यह समाचारनीति संक्षेप और विस्तारके भेदसे दो प्रकारकी है। अर्थात् इसके दो भेद हैं। एक संक्षेपसे होनेवाली समाचार नीति और दूसरी विस्तारसे होनेवाली समाचार नीति। इनमें भी संक्षेपसे होनेवाली समाचार नीतिके दश भेद है और विस्तारसे होनेवाली समाचार नीतिके बहुतसे भेद हैं। इन दोनों प्रकारकी समाचार नीतिमेंसे संक्षेपसे होनेवाली समाचार नीतिके जो दश भेद हैं उनको आगे बतलाते हैं॥ ४॥

इच्छामिथ्यातथाकारेच्छावृत्त्याशीर्निषिद्धिका।
आप्रच्छनं प्रतिप्रश्नश्चानिमंत्रणसंश्रयौ॥ ५॥

इच्छाकार, मिथ्याकार, तथाकार, इच्छावृत्ति, आशी, निषिद्धिका, आप्रच्छन्न, प्रतिप्रश्न, आनिमन्त्रण और संश्रय ये संक्षेपसे होनेवाली समाचार नीतिके दश भेद है॥ ५॥

पुस्तकातापयोगादेर्या याञ्चा विनयान्विता।
स्वपरार्थे यतींद्राणां सेच्छाकारः प्ररूपितः॥ ६॥

अपने लिये अथवा किसी दूसरेके लिये पुस्तक तथा आतापन योग आदि की याचना बड़ी विनयके साथ करना मुनिराजोंका इच्छाकार कहलाता है। भावार्थ—जो मुनिराज अपने गुरुसे वा आचार्यसे अथवा अन्य मुनियोंसे पुस्तक मांगते हैं अथवा आचार्यसे आतापन योग धारण करनेकी अथवा अन्य किसी व्रत उपवास आदि धारण करनेकी आज्ञा मागते हैं—यह उनकी इच्छाकार नामकी समाचार नीति कहलाती है॥ ६॥

यन्मया दुष्कृतं पूर्वं तन्मिथ्याऽस्तु न तत्पुरः।
करोमीति मनोवृत्तिर्मिथ्याकारोऽतिनिर्मलः॥ ७॥

अबसे पहले मैंने जो कुछ पाप किये हैं वे सब मिथ्या हों, अबसे आगे मैं कभी ऐसे पाप नहीं करूंगा इस प्रकार अपने मनकी प्रवृत्तिको अत्यंत निर्मल रखना मिथ्याकार नामकी समाचार नीति है॥ ७॥

तत्त्वाख्यानोपदेशादौ नान्यथा भगवद्वचः।
तत्तथेत्यादरेणोक्तिस्तथाकारो गुणाकरः॥ ८॥

॥२२॥

दशवां संश्रय नामका समाचार है. उसके पांच भेद हैं और वे ये हैं–विनय संश्रय, क्षेत्र संश्रय, मार्ग संश्रय सुख दुःख संश्रय और सूत्र संश्रय । इसप्रकार संश्रयके पांच भेद हैं ॥ १६ ॥

वीक्ष्याऽऽगन्तुकमायांतं यतिमुत्थाय संभ्रमात् ।
पदानि सप्त गत्वा च कृत्वा तद्योग्यवन्दनम् ॥ १७ ॥
मार्गश्रांतिमपोह्यासनप्रदानादियत्नतः ।
त्रिरत्नसुस्थितादिनां प्रश्नो विनयसंश्रयः ॥ १८ ॥ युग्मम् ।

यदि कोई नये मुनि अपनी ओर आते हुए दिखाई पडें तो बडी शीघ्रता और प्रसन्नताके साथ उठ खडा होना चाहिये तथा सात पेंड आगे उनकी ओर चलकर उनकी योग्यताके अनुसार उनकी वंदना करनी चाहिये । फिर उनकी मार्गके चलनेसे उत्पन्न हुई थकावट दूर करनी चाहिये अर्थात् उनके पांव दावना, हाथ दावना, शरीर दावना, शरीर पोंछना आदि करना चाहिये । और फिर उनको आसन देकर तथा और भी समयोचित कार्य कर रत्नत्रयकी स्थिरता आदि पूछना चाहिये । इसप्रकार आये हुए मुनियोंकी विनय करना विनयसंश्रय नामकी समाचार नीति कहलाती है ॥ १७—१८ ॥

त्यक्त्वा दुर्नृपमक्ष्मापं पापं पापिजनाकुलम् ।
देशं दीक्षोन्मुखापेतं दुर्भिक्षं क्लेशदायकम् ॥ १९ ॥
निर्बाधसस्यवद्यत्र वर्द्धते गुणमण्डलम् ।
क्षेत्रसंश्रयणं तत्राऽऽवासश्चेतःसुखावहः ॥ २० ॥

जिस देशमें दुष्ट राजा हो अथवा जहांपर कोई राजा न हो अथवा जो स्थान पापोंसे भरपूर हो, जो पापी लोगोंसे भरा हो, जिसमें कोई भी मनुष्य दीक्षा लेना न चाहता हो, जहां दुष्काल हो और जिसमें अनेक प्रकारके क्लेश उत्पन्न होते हुए दिखाई पडते हों ऐसे देशको छोडकर जिस देशमें बाधारहित, धान्यके समान रत्नत्रय रूपी गुणोंके समूह वढ सकते हों ऐसे सुभिक्षादियुक्त देशमें चित्तको सुख देने-

वाला–चित्तको प्रसन्न रखनेवाला निवास करना क्षेत्रसंश्रय है। भावार्थ—मुनियोंको ऐसे देशमें निवास नहीं करना चाहिये जहां का राजा दुष्ट हो, देश महापापी हो, जहां दुष्काल हो और जो क्लेश उत्पन्न करनेवाला हो। ऐसे देशको छोडकर अच्छे निर्बाध देशमें रहना चाहिये जहां रत्नत्रय–गुणोंमें वृद्धि होती रहे ॥ १९—२०

आगन्तुकमुनेर्मार्गयानागमनजातयोः ।
यः सुखासुखयोः प्रश्नः सोऽयं स्यान्मार्गसंश्रयः ॥ २१ ॥

जो मुनि कहीं बाहरसे आये हैं, उन्हे मार्गमें आने जानेसे उत्पन्न हुए सुख दुःखको पूछना वह मार्गसंश्रय कहलाता है ॥ २१ ॥

चौरक्रूरगदोर्वीशपीडिताद्यार्तिवर्त्तिनाम् ।
तोषोत्कर्षणमाहारभेषजायतनादिभिः ॥ २२ ॥
स्वात्मार्पणमहं तुभ्यमस्मीति च सुखेऽसुखे ।
यत्तच्चित्तप्रसादार्थं तत्सुखासुखसंश्रयः ॥ २३ ॥ युग्मम् ।

चोरकी पीडा, दुष्टोंकी पीडा, किसी रोगकी पीडा अथवा किसी राजाकी दी हुई पीडासे अत्यंत दुःखी यतियोंको संतोष देना, आहार, औषधि, आयतन आदिका प्रबंध कर उनको संतुष्ट करना, तथा और भी ऐसी ऐसी बातोंसे उनका चित्त प्रसन्न करनेके लिये उनके सुख दुःखमें पूर्णरूपसे शामिल होना, अपना आत्मा उनको समर्पण कर देना–उनकी सेवा चाकरीमें लगा देना सुखदुःखसंश्रय कहलाता है। भावार्थ—किसी दुःखी मुनिको देखकर उनके दुःख दूर करना, सब तरहसे उनको संतुष्ट करना, सुखदुःखसंश्रय कहलाता है ॥ २२–२३ ॥

पुरा स्वगुरुपादांते शास्त्रं श्रुत्वाऽखिलं पुनः ।
जिज्ञासायां स्वलोकान्यथा ग्रंथातिशये मुनिः ॥ २४ ॥
भक्त्योपेत्य गुरून् नत्वा युष्मत्पादप्रसादतः ।
अन्यन्मुनींद्रवृन्दं मे द्रष्टुं वांछा प्रवर्त्तते ॥ २५ ॥

॥२६॥

इत्येवं बहुशः पृष्ट्वा लब्ध्वाऽनुज्ञां गुरोर्व्रजेत् ।
व्रतिनैकेन वा द्वाभ्यां बहुभिः सह नान्यथा ॥ २६ ॥ त्रिकलम् ।

अब आगे सूत्रसंश्रय कहते हैं। जो कोई मुनि अपने गुरुके समीप समस्त शास्त्रोंका पठन पाठन करले तथा सब शास्त्रोंको सुनले, फिर उनकी इच्छा अन्य मुनियोंके दर्शन करनेकी हो अथवा अन्य ग्रंथोंके देखनेकी इच्छा हो वा अन्य ग्रंथोंके अर्थ जाननेकी इच्छा हो तो उनको बडी भक्तिसे गुरुके पास आकर नमस्कार कर प्रार्थना करनी चाहिये कि हे प्रभो आपके चरणकमलोंका प्रसाद हो तो अन्य मुनिराजोंके समूहके दर्शन करनेकेलिये मेरी इच्छा उत्पन्न हुई है। इस प्रकार अपने गुरुसे बार बार पूछकर तथा उनसे आज्ञा लेकर वे मुनि अन्य किसी एक व्रतीके साथ (एक मुनिके साथ) वा दो मुनियोंके साथ वा अनेक मुनियोंके साथ गमन करें। अकेले गमन न करें ॥ २४–२६ ॥

ज्ञानसंहननस्वांतभावनाबलवन्मुनेः ।
चिरप्रव्रजितस्यैकाविहारस्तु मतः श्रुते ॥ २७ ॥

इसका भी कारण यह है कि जो मुनि बहुत दिनके दीक्षित हैं और ज्ञान, संहनन तथा अपने अंतःकरणकी भावनासे बलवान् हैं ऐसे ही मुनि एका विहारी हो सकते हैं—अकेले विहार कर सकते हैं। अन्य साधारण मुनियोंको अकेले विहार नहीं करना चाहिये ऐसा शास्त्रोंमें लिखा है ॥ २७ ॥

एतद्गुणगणापेतः स्वेच्छाचाररतः पुमान् ।
यस्तस्यैकाकिता मा भून्मम जातु रिपोरपि ॥ २८ ॥

जिन मुनियोंमें ऊपर लिखे हुए ज्ञान संहनन और अंतःकरणका बल आदि गुण नहीं हैं और जो अपनी इच्छानुसार प्रवृत्ति करनेमें तत्पर हैं ऐसे मेरे शत्रुओंको भी कभी अकेले विहार नहीं करना चाहिये। भावार्थ—जिनमें ज्ञान आदिका बल नहीं है और इच्छानुसार प्रवृत्ति करते है वे मुनि यदि अकेल विहार करें तो अवश्य चारित्रसे भ्रष्ट होते है। इसलिये आचार्य कहते है कि इस प्रकारके हमारे शत्रुओंको भी अकेले विहार नहीं करना चाहिये। अकेले विहार कर चारित्रभ्रष्ट नहीं होना चाहिये। फिर भला साधर्मी मुनियोंको तो कभी अकेले विहार करना ही नहीं चाहिये ॥ २८ ॥

श्रुतसंतानाविच्छित्तिरनवस्था यमक्षयः ।
आज्ञाभंगश्च दुष्कीर्तिस्तीर्थस्य स्याद् गुरोरपि ॥ २९ ॥
अग्नितोयगराजीर्णसर्पक्रूरादिभिः क्षयः ।
स्वस्याप्यार्त्तादिकादेकविहारेऽनुचिते यतः ॥ ३० ॥ युग्मम् ।

आचार्योंने साधारण मुनियोंके लिये अकेले विहार करनेका निषेध लिखा है उसका कारण यह है कि साधारण मुनियोंको अकेले विहार करनेसे शास्त्रज्ञानकी परंपराका नाश हो जाता है, मुनि अवस्थाका नाश होता है, व्रतोंका नाश होता है, शास्त्र की आज्ञाका भंग होता है, धर्मकी अपकीर्ति होती है तथा गुरुकी अपकीर्ति होती है। इसके सिवाय अग्नि, जल, रोग, अजीर्ण, सर्प और दुष्ट लोगोंसे तथा और भी ऐसे ही अनेक कारणोंसे अपना नाश होता है, अथवा आर्तध्यान रौद्रध्यान और अशुभ परिणामोंसे अपना नाश होता है। इस प्रकार अनुचित अकेले विहार करनेमें इतने दोष उत्पन्न होते हैं। अतएव मुनियोंको अकेले विहार कभी नहीं करना चाहिये। संघमें ही रहना चाहिये। अथवा एक, दो, वा अनेक मुनियोंके साथ ही विहार करना चाहिये ॥ २९—३० ॥

गत्वातः सूर्युपाध्यायवर्त्तकस्थविरान्वितम् ।
गणं गणधरोपेतमुपेयादीदृशाश्च ते ॥ ३१ ॥

तदनन्तर अन्य मुनियोंके साथ विहार करके उन मुनिको किसी ऐसे संघमें पहुंचना चाहिये जिसमें आचार्य हों, उपाध्याय हों, वर्तक हों, स्थविर हों और गणधर हों ॥ ३१ ॥

संग्रहानुग्रहप्रौढो रूढः श्रुतचारित्रयोः ।
यः पंचविधमाचारमाचारयति योगिनः ॥ ३२ ॥
बहिःक्षिप्तमलः सत्त्वगांभीर्यातिप्रसादवान् ।
गुणरत्नाकरः सोऽयमाचार्योऽवार्यधैर्यवान् ॥ ३३ ॥ युग्मम् ।

आगे अनुक्रमसे उन आचार्य आदि का लक्षण कहते हैं। जो संग्रह अर्थात् निग्रह वा दंडित करनेमें चतुर हों, ज्ञान और चारित्रमें सदा लीन रहते हों और जो दर्शनाचार, ज्ञानाचार, चारित्राचार, तप आचार तथा वीर्य आचार इन पांचों आचारोंको अन्य मुनियोंसे पालन कराते हों, जिन्होंने अपनी समस्त मलिनता बाहर फेंक दी हो—मलिन परिणामों का सर्वथा त्याग कर दिया हो, जिनमें आत्मबल हो, गंभीरता हो, जिनका आत्मा निर्मल हो, जो प्रसन्नचित्त हों, गुणरूपी रत्नोंके समुद्र हों और जिनमें अनिवार्य धैर्य हो ऐसे उत्कृष्ट मुनिराज आचार्य कहलाते हैं ॥ ३२—३३ ॥

संसारज्वरसंतापच्छेदि यद्वचनामृतम् ।
पीयते भव्यलोकेन प्रीत्या नित्यं स देशकः ॥ ३४ ॥

संसाररूपी (जन्ममरणरूपी) ज्वरके संतापको नाश करनेवाले जिनके वचनरूपी अमृतको भव्य जीव बड़े प्रेमसे सदा पिया करते हैं ऐसे उपदेशक वा पाठक मुनिराजोंको उपाध्याय कहते हैं ॥ ३४ ॥

प्रभावनाधिकोऽबाधमन्नाद्यैः संघवर्त्तकः ।
जगदादेयवाग्मूर्तिर्वर्त्तकः कालदेशवित् ॥ ३५ ॥

जो मुनि प्रभावना अंगकोही सबसे अधिक पसंद करते हैं, जो विना किसी बाधाके अन्नादिकके द्वारा संघ की प्रवृत्ति कराते हैं, जो काल और देशके जानकार हैं, तथा जिनके वचन संसारभरमें ग्राह्य गिने जाते हैं—जिनके वचनोंको संसारके समस्त प्राणी मानते हैं, जिनकी शांत मूर्तिको सब चाहते हैं ऐसे मुनियोंको वर्तक मुनि कहते हैं ॥३५

समयस्थितिसद्गीतिः स्थविरः स्याद् गुणास्थिरः ।
गणरक्षाक्षमः सूरिर्गुणी गणधरः स्मृतः ॥ ३६ ॥

जो मुनि सिद्धांत और लोककी स्थितिको कहनेवाले हैं और जो अपने गुणोंसे अत्यंत स्थिर हैं ऐसे मुनियों को स्थविर मुनि कहते हैं। जो आचार्य संघकी रक्षा करनेमें समर्थ हैं तथा जो अत्यंत गुणवान् हैं उनको गणधर कहते हैं ॥ ३६ ॥

॥२९॥

तं प्राप्य तद्गणाधीशमभ्यायांतं सहात्मनः ।
गणेनाऽऽज्ञानतिस्वीकारेच्छावात्सल्यकारणैः ॥ ३७ ॥
प्रीत्या प्रेक्ष्यातिभक्त्या तं प्रणम्य गणमप्यथ ।
मार्गातिचारनियमं निवर्त्यान्याः क्रिया अपि ॥ ३८ ॥
वंदित्वा गणिनं गणमप्युचितक्रियया दिनम् ।
तद्विश्रम्य द्वितीयेऽह्नि तृतीये वासरेऽथवा ॥ ३९ ॥
गणिनं गुणिनं संघगुणसंघमवेत्य तम् ।
दयादमशमावश्यकक्रियाकरणादिषु ॥ ४० ॥
सूरिं संश्रित्या नत्वेष्टं स्वस्य विज्ञापयेच्छनैः ।
दत्वाऽस्मै चेतनाचेतनांतरालार्जितोपधिम् ॥ ४१ ॥

इस प्रकार जिस संघमें आचार्य उपाध्याय आदि सब हैं ऐसे संघमें पहुंचकर अपने साथमें आये हुए समस्त मुनियोंके साथ अपने सामने आये हुए उस संघके स्वामीकी—आचार्यकी आज्ञाका पालन करें; उनको नमस्कार करें, उनका आदर सत्कार करें शरीर और रत्नत्रयकी कुशल पूछें तथा वात्सल्यके समस्त कारणोंके साथ साथ उन आचार्यकी सेवामें उपस्थित हों। तदनन्तर उस संघमें रहनेवाले समस्त मुनियोंके बडी भक्ति और बडे प्रेमके साथ दर्शन करें तथा उन समस्त मुनियोंको नमस्कार करें। फिर मार्गमें लगे हुए अतिचारोंका नियम अर्थात् संशोधन करें तथा और जो क्रियाएं करनी हों उनको भी पूर्ण करें। तदनन्तर यथोचित क्रियाओंके द्वारा आचार्य तथा समस्त संघको वन्दना करें। फिर उस दिन विश्राम करें तदनंतर एक या दो दिन वहां रह कर जान लेवें कि वे आचार्य दया पालन करनेमें, इंद्रियोंको दमन करनेमें आवश्यक क्रियाओंके करनेमें और शांत परिणामोंको धारण करनेमें अत्यंत गुणी हैं तथा यह संघ संघमें होनेवाले समस्त गुणोंसे परिपूर्ण है। इन सब बातोंको जानकर दूसरे दिन अथवा तीसरे दिन उस संघके आचार्यके समीप बैठ उनको नमस्कार करें तथा मार्गमें जो चेतन रूप अचेतन रूप

उपकरण प्राप्त हुआ है, मार्गमें कोई नवीन शिष्य साथ हो गया है अथवा पीछी, कमंडलु वा शास्त्र आदि प्राप्त हुये हैं, उन सबको आचार्यके सामने समर्पण कर दें। फिर धीरे धीरे अपने इष्ट मनोरथको उनसे निवेदन करें ॥३७–४१॥

गुरुसन्तानचारित्रशुद्धो ग्राह्यो यदीतरः।
कृत्वा छेदमुपस्थापनादिशुद्धश्च नेतरः ॥ ४२ ॥

इस प्रकार नवीन मुनियोंके आनेपर आचार्य क्या करें सो कहते हैं। उन आये हुए मुनियोंमें यदि गुरुकी संतान दर संतान रूप परंपरासे चारित्रकी शुद्धि चली आ रही हो तब तो उनको अपने संघमें रहनेके लिये स्वीकारता देनी चाहिये। अथवा छेद नामका प्रायश्चित्त देकर शुद्ध कर लेना चाहिये अथवा उपस्थापनासे अर्थात् फिरसे दीक्षा देकर शुद्ध कर लेना चाहिये। यदि वे किसी प्रकार भी शुद्ध होने योग्य न हों तो फिर उनको कभी ग्रहण नहीं करना चाहिये ॥ ४२ ॥

शिलाभिन्नघटाजाविडालमृच्चालिनीशुकैः।
मशका चाहिमाहिषैरपि श्रोतॄन् समान् त्यजेत् ॥ ४३ ॥

यदि उन मुनियोंमेंसे शिला, फूटा घडा, बकरा, बिल्ली, मिट्टी, चालनी, तोता, मच्छर, सर्प और भैंसा समान श्रोता हों तो उनका त्याग कर देना ही अच्छा है ॥ ४३ ॥

---

१ जिनके परिणाम सदा कठोर रहते हैं जिनके हृदयमें जिनवाणी कभी प्रवेश नहीं कर सकती वे श्रोता शिलाके समान हैं। जिनके हृदयमें कोई उपदेश न ठहरे वे फूटे घडेके समान हैं। जो अतिशय कामी हैं वे बकरेके समान हैं। जिनके परिणाम शास्त्र श्रवण करते समय कोमल हो जांय परन्तु फिर सदा कठिन ही रहें वे मिट्टीके समान हैं। जो गुणोंको सर्वथा छोडकर अवगुण ग्रहण करें वे चालनीके समान हैं। जो स्वयं अज्ञानी हैं केवल दूसरेके कहे अनुसार चलते हैं वे तोतेके समान हैं। जिनकोअमृत पिलाया जाय और विष हो जाय अर्थात् जो सारको असार और सीधेको उलटा समझें वे सर्पके समान हैं। जो व्या- ख्यानमें उपद्रव करें वे श्रोता भैंसा के समान हैं। जो दुष्ट और घातक हैं वे बिल्लीके समान हैं। जो सभाको व्याकुल कर दें वे मच्छरके समान हैं।

॥३१॥

मोहादिना निषिद्धस्य श्रोतुर्मन्दमतेरपि ।
सति प्राज्ञैर्विनीतेऽस्मिन् यो व्याख्याति नराधमः ॥ ४४ ॥
भिन्नरत्नत्रयीयानपात्रोऽसौ भूरिगौरवात् ।
विधूतबोधिः संसारवारिराशौ निमज्जति ॥ ४५ ॥ युग्मम् ।

संसारमें अनेक विद्वान् श्रोता उपस्थित हैं उनके रहते हुए भी जो अधम मनुष्य किसी मोह आदिके कारण निषिद्ध और मंद बुद्धिवाले शिष्यको व्याख्यान देते हैं उनका रत्नत्रयरूपी जहाज टूटा हुआ ही समझो। ऐसे निषिद्ध पुरुषोंको व्याख्यान देनेवाले वक्ताओंका रत्नत्रय नष्ट हो जाता है और वे अपने भारी अभिमानके कारण अर्थात् रसगौरव बलगौरव वा ऋद्धिगौरव के कारण संसाररूपी समुद्रमें डूबते हैं। भावार्थ—जिस प्रकार बहुत से बोझसे जहाज टूट जाता है और डूब जाता है उसी प्रकार जो वक्ता निषिद्ध पुरुषोंको व्याख्यान देते हैं उनका रत्नत्रयरूपी जहाज भी रसगौरव बलगौरव वा ऋद्धिगौरव के बोझसे टूट जाता है और वे वक्ता रत्नत्रयरूपी जहाजके टूट जानेसे संसाररूपी समुद्र में डूब जाते हैं। गौरव शब्दका अर्थ अभिमान है रस बल वा ऋद्धियोंका अभिमान करना गौरव कहलाता है ॥ ४४—४५

संचिंत्येति स्थितस्थानं तपःकालं गुरुं कुलम् ।
पृष्ट्वा श्रुतं श्रुतं नाम स्वं प्रतिक्रमणादिकम् ॥ ४६ ॥
शयनाशनयानादौ प्रेक्ष्य वृत्तं दिनत्रयम् ।
निश्चित्य गुरुश्चारित्रशुद्धिं तत्सूरिसम्मतः ॥ ४७ ॥

तदनन्तर उन आचार्यको क्या करना चाहिये सो कहते हैं। ऊपर लिखीं सब बातोंको सोचकर आचार्य को उन शिष्योंका नाम पूछना चाहिये, उनके रहनेका स्थान पूछना चाहिये, तपश्चरण धारण करनेका समय पूछना चाहिये, गुरुका नाम तथा गुरुकुलका नाम पूछना चाहिये, जो शास्त्र उन्होंने पढे वा सुने हैं उनको पूछना चाहिये तथा उनका प्रतिक्रमण आदि सब पूछना चाहिये। तदनंतर तीन दिन तक उनके शयन, भोजन, आसन, गमन

॥३२॥

स्वशक्तिमुक्त्वा व्याख्यादौ तद्व्याख्यातं पठेच्छ्रुतम् ।
स्वस्येष्टं प्रश्रयादेतत्पठनं सूत्रसंश्रयः ॥ ४८ ॥ त्रिकलम् ।

आदि में होनेवाले आचरणोंको देखना चाहिये और इस प्रकार उनके गुरुपरंपरासे चली आई चारित्रशुद्धिका निश्चय कर लेना चाहिये और फिर उनको अपने संघमें रहनेके लिये स्वीकारता दे देनी चाहिये । इस प्रकार उन आचार्योंके द्वारा माने हुए उन मुनियोंको उचित है कि वे पठन पाठन वा व्याख्यान आदिकी अपनी शक्तिको उन आचार्यसे निवेदन करें तथा फिर वे आचार्य जो कुछ पढावें उसको बडी विनयके साथ पढें । अथवा जो अपने को इष्ट हों-जो ग्रंथ वा जो विषय पढना चाहते हों उनको उन आचार्योंसे बडी विनयके साथ पढें । इसप्रकार परसघमें जाकर उन आचार्योंसे पढनेको सूत्रसंश्रय कहते हैं ॥ ४६-४८ ॥

सविस्तारसमाचारनैकभेदोऽत्र वर्ण्यते ।
उदाहरणमात्रेण विश्वं को वक्तुमीश्वरः ॥ ४९ ॥

इसप्रकार संक्षेपसे होनेवाली समाचार नीतिके दश भेद बतलाये । अब आगे विस्तारसे होनेवाली समाचार नीतिके भेद बतलाते हैं । विस्तारसे होनेवाली समाचार नीतिके अनेक भेद हैं । उनमेंसे कुछ उदाहरण मात्र यहां संक्षेपसे कहते हैं; क्योंकि उन समस्त विस्तारसे होनेवाली समाचार नीतियोंको भला कौन कह सकता है । भावार्थ—विस्तारसे होनेवाली समस्त समाचार नीतियोंका वर्णन तो किसीसे हो नहीं सकता । इसलिये उनमेंसे थोडीसी नीतियोंको संक्षेपसे कह देते हैं ॥ ४९ ॥

रात्रिं दिवं यमिष्वार्यैर्यत्कर्माचर्यते वरम् ।
तद्विस्तारसमाचार इति येन जिनोदितः ॥ ५० ॥ युग्मम् ।

क्यों के जो आर्य पुरुष रातदिन संयमी पुरुषोंके लिये श्रेष्ठ आचरण करते हैं उनको विस्तार समाचार नीति कहते हैं ऐसा श्री जिनेन्द्र देवने कहा है ॥ ५० ॥

क्रियाकलापमल्पाल्पसूत्राण्याचारवर्णनम् ।
पठेदथ पुराणानि त्रिकलो स्थितिकीर्तनम् ॥ ५१ ॥
सिद्धांतं तर्कमंगांगबाह्यादेशार्थदेशनम् ।
स्वीयशक्त्यनुसारेण भक्त्या मोक्षैककांक्षया ॥ ५२ ॥ युग्मम् ।

समस्त मुनियोंको क्रियाकलापके ग्रंथ अर्थात् मुनि वा श्रावकोंके करने योग्य क्रियाओंको कहनेवाले ग्रंथ पढने चाहिये. अल्पाल्प सूत्र अर्थात् छोटे छोटे सूत्र ग्रंथ पढने चाहिये । मुनि और श्रावकोंके आचरणोंको कहनेवाले ग्रंथ पढने चाहिये, अथवा त्रेशठ शलाका पुरुषोंके चरित्रोंको कहनेवाले पुराणोंको पढना चाहिये । वा तीनों लोकोंके स्वरूप का वर्णन करनेवाले ग्रन्थ पढने चाहिये । अथवा उन मुनियोंको अपने हृदयमें एक मोक्ष प्राप्त होने की ही अभिलाषा करते हुए अपनी शक्तिके अनुसार भक्तिपूर्वक सिद्धांत ग्रन्थ पढने चाहिये । तर्क वा न्यायशास्त्रके ग्रन्थ पढने चाहिये । अंग, अंगबाह्य तथा समस्त पदार्थोंके स्वरूपको निरूपण करनेवाले बारह अंग, चौदह प्रकीर्णक सम्बन्धी शास्त्रोंको पढना चाहिये ॥ ५१–५२ ॥

रुचिश्चार्वी चरित्राणां शरणं शरणं सताम् ।
महत्त्वसत्त्वगांभीर्यधैर्यादिगुणभूषणः ॥ ५३ ॥
चिरप्रव्राजितो दांतः प्रव्यक्तसमयास्थितिः ।
दयावात्सल्यसाकल्यः शांतोऽयं गणितोचितः ॥ ५४ ॥
इति सूर्यर्पिताचार्यपदः सन् संघसम्मतः ।
प्रायश्चित्तादिशास्त्राणि रहस्यानि पठेदथ ॥ ५५ ॥

यदि मुनियोंमें कोई मुनि ऐसे हैं जिनके सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ही शरण है । अर्थात् जो रत्नत्रयको खूब अच्छी तरह पालन करते है, जो सज्जनोंको–भव्यजीवोंको शरणभूत हैं, जो बडप्पन, पराक्रम, गंभीरता और धैर्य आदि गुणोंको ही अपना आभूषण मानते हैं अर्थात् जिनमें ये सब गुण विद्यमान हैं, जो बहुत दिनके दीक्षित

हैं, जो इंद्रियोंको दमन करनेवाले हैं, जिनको सिद्धांतकी स्थिति बहुत अच्छीतरह प्रगट हो रही है, जो पूर्ण दयालु हैं और पूर्ण वात्सल्य गुणको धारण करनेवाले हैं, जो अत्यंत शांत हैं और जो सब तरहसे आचार्य पदको धारण करनेकी योग्यता रखते हैं। ऐसे मुनिराजको यदि संघके आचार्य आचार्य पद समर्पण करदें और जो समस्त संघको माननीय हों तो ऐसे मुनिराजको प्रायश्चित्तादिक शास्त्रोंको तथा और भी ऐसेही ऐसे एकांतमें पढे जाने योग्य गूढ शास्त्रोंको पढना चाहिये ॥ ५३–५५ ॥

यः शिष्यत्वमकृत्वैव सूरितां कर्तुमीहते ।
सः स्यादुन्मार्गगस्तीक्ष्णो वाऽशिक्षिततुरंगमः ॥ ५६ ॥

जो तीक्ष्ण मुनि विना सीखे घोडेके समान अपनेको शिष्य किये विना ही अर्थात् धर्मशास्त्र और प्रायश्चित्तादिक ग्रन्थोंको पढे विना ही आचार्य पद लेना चाहता है वह, जिस प्रकार विना सिखाया घोडा: कुमार्गमें ले जाता है उसीप्रकार अपने शिष्योंको अवश्य ही कुमार्गमें ले जायगा। अतएव निपुण शिष्यको सब बातें सिखाकर आचार्य पद देना चाहिये ॥ ५६ ॥

सर्वसत्त्वगुणिक्लेशिनिर्गुणेषु करोत्वलम् ।
मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थ्यानि यथाक्रमम् ॥ ५७ ॥

मुनियोंको समस्त जीवोंमें मैत्री भाव रखना चाहिये, रत्नत्रय गुणोंको धारण करनेवालोंको देखकर प्रमोद धारण करना चाहिये, दुखी जीवोंको देखकर करुणा करनी चाहिये और रत्नत्रयरहित मिथ्या दृष्टियोंमें माध्यस्थभाव रखना चाहिये ॥ ५७ ॥

जिनान् सिद्धान् गणाधीशानुपाध्यायाञ्जगद्गुरून् ।
साधून् धर्मं जगच्छर्मकरं वन्देत नेतरान् ॥ ५८ ॥

भगवान् अरहंत देवको, सिद्धपरमेष्ठीको, गणधर वा आचार्यको, उपाध्यायको, तीनों लोकोंके गुरु साधु परमेष्ठीको और तीनों लोकोंका कल्याण करनेवाले धर्मको ही नमस्कार करना चाहिये। इनके सिवाय और किसीको नमस्कार नहीं करना चाहिये ॥ ५८ ॥

॥३५॥

क्षुतार्ती भयजृंभेष्टार्थारंभस्खलने बुधैः ।
शयने विस्मयादौ च स्मर्तव्यो वृजिनो जिनः ॥ ५९ ॥

छींक आनेपर, कोई पीडा होनेपर, जंमाई आनेपर, किसी इष्ट कार्यके आरम्भ करनेपर, गिरपडनेपर, शयन करते समय तथा कोई आश्चर्यकी बात सुननेपर भगवान् वृषभदेवका स्मरण करना चाहिये ॥ ५९ ॥

सुखेनासीनमव्यग्रं सूरिं वंदेत सम्मुखम् ।
वंदेऽहमिति विज्ञाप्य हस्तमात्रांतरस्थितः ॥ ६० ॥
प्रमृज्य कर्तरीस्पर्शात्माष्टांगान्यवनीमपि ।
पश्वर्द्धशय्ययाऽऽनम्य सपिच्छांजुलिभालकः ॥ ६१ ॥ युग्मम् ।

१ कैंचीके समान अपने आत्माको स्पर्श करनेवाले उन मुनिराजको आचार्य की वंदना करनी चाहिये । उसकी विधि इसप्रकार है कि जो आचार्य सुखपूर्वक बैठे हों, जिनको किसी प्रकार की व्यग्रता वा आकुलता न हो, ऐसे आचार्यके सन्मुख जाकर तथा एक हाथ दूर बैठकर अपने सब अगोंको तथा भूमिको पीछीसे प्रमार्जन करना चाहिये और फिर पीछीको हाथमें लेकर मस्तकपर रखकर पश्वर्धशय्यासे नमकर तथा " मैं वंदना करता हूं " ऐसी सूचना देकर आचार्यकी वंदना करनी चाहिये ॥ ६०–६१ ॥

विगौरवादिदोषेण सपिच्छाजुलिशालिना ।
सदब्जसूर्याऽऽचार्येण कर्तव्यं प्रतिवंदनम् ॥ ६२ ॥

इस प्रकार मुनिराजके वन्दना करनेपर आचार्यको भी उन मुनियोंकेलिये प्रतिवन्दना करनी चाहिये । उसकी विधि इस प्रकार है कि जो आचार्य रसगौरवसे रहित हैं और सज्जन भव्य जीवरूपी कमलोंको प्रफुल्लित करनेकेलिये जो सूर्यके समान हैं ऐसे आचार्यको अपने हाथमें पीछी लेकर उन नमस्कार करनेवाले मुनियोंकेलिये प्रतिवंदना करनी चाहिये ॥ ६२ ॥

ये दोषान्वेषिणाऽन्येषां सद्गुणावर्णवर्णनाः ।
तपस्विनोऽपि पार्श्वस्था ये च वंद्या न ते यतेः ॥ ६३ ॥

जो मुनि दूसरोंके दोषोंको ही ढूंढने वाले हैं तथा उत्तम गुणोंका अवर्णवाद करनेवाले हैं ऐसे जो पार्श्वस्थ अर्थात् भ्रष्ट मुनि हैं उनकी वन्दना मुनियोंको नहीं करनी चाहिये। भावार्थ–भ्रष्ट मुनियोंके लिये न तो वन्दना करनी चाहिये और न प्रतिवन्दना करनी चाहिये ॥ ६३ ॥

पुरो गुरूणां स्थातव्यं न यथेष्टमकोपयन् ।
तानापृच्छेद्वचस्तेषां प्रतीच्छेत्तत्परो भवेत् ॥ ६४ ॥

गुरुओंके सामने अपनी इच्छानुसार (स्वतन्त्रतापूर्वक) नहीं बैठना चाहिये। जो कुछ उनसे पूछना हो सो विना क्रोध करते हुए शांत परिणामोंसे पूछना चाहिये। तथा उनके वचनोंको स्वीकार करना चाहिये और उनके वचनोंके अनुसार चलना चाहिये ॥ ६४ ॥

हस्तद्वयेन दातव्यं ज्येष्ठेभ्यः पुस्तकादिकम् ।
तत्तेद्देयं करद्वन्द्वेनादेयं विनयानतैः ॥ ६५ ॥

अपनेसे बडे मुनियोंको यदि कुछ पुस्तक आदि देनी हो तो बडी विनयसे नम्रीभूत होकर दोनों हाथोंसे देना चाहिये। तथा यदि वे आचार्य आदि बडे मुनि कुछ पुस्तक आदि देवें तो उसे बडी विनयके साथ नमस्कार कर दोनों हाथोंसे लेना चाहिये ॥ ६५ ॥

नमोऽस्त्विति नतिः शस्ता समस्तमतसंमता ।
कर्मक्षयः समाधिस्तेस्त्वित्यार्यार्यजने नते ॥ ६६ ॥

यदि आचार्य आदिके लिये मुनियोंको नमस्कार करना हो तो " नमोस्तु " इस प्रकार कहकर नमस्कार करना चाहिये। समस्त मतवाले ऐसे ही नमस्कारको प्रशंसनीय मानते हैं। प्रतिवंदनामें भी 'नमोस्तु' ही कहा जाता है। तथा यदि अर्जिका आ कर नमस्कार करे वा कोई क्षुल्लक आदि उत्तम श्रावक नमस्कार करे तो उसके लिये 'कर्मक्षयोऽस्तु' तुह्मारे कर्मोंका क्षय हो, अथवा 'ते समाधिरस्तु' अर्थात् तुह्मारे आत्मध्यान वा मरण समय समाधिकी प्राप्ति हो इस प्रकार कहना चाहिये ॥ ६६ ॥

धर्मवृद्धिः शुभं शांतिरस्त्वित्याशीरगारिणि ।
पापक्षयोऽस्त्विति प्राज्ञैश्चाण्डालादिषु दीयताम् ॥ ६७ ॥

यदि गृहस्थी श्रावक आ कर मुनिराजको नमस्कार करे तो उसके लिये 'धर्मवृद्धिरस्तु' तुह्मारे धर्मकी वृद्धि हो अथवा 'शुभमस्तु' तुह्मारा कल्याण हो, अथवा 'शांतिरस्तु' तुह्मारे शांतिलाभ हो इस प्रकार कहना चाहिये। यदि चांडाल आदि आ कर मुनिराजको नमस्कार करे तो उसके लिये विद्वान् मुनिराजोंको 'पापक्षयोस्तु' तुह्मारे पापोंका क्षय हो इस प्रकार कहना चाहिये ॥ ६७ ॥

मान्यः सद्दर्शनी ज्ञानी हीनोऽप्यपरसद्गुणैः ।
वरं रत्नमनिष्पन्नशोभं किं नार्घ्यमर्हति ॥ ६८ ॥

यह बात सदा ध्यानमें रखनी चाहिये कि सम्यक् चारित्र आदि अन्य श्रेष्ठ गुणोंसे रहित होनेपर भी सम्यग्दृष्टी पुरुष वा सम्यग्ज्ञानी पुरुष माननीय वा पूज्य समझे जाते हैं। क्योंकि हीरा आदि श्रेष्ठ रत्नोंका यदि शाणपर रखकर संस्कार न किया जाय-उसमें पहलू आदि न डाले जांय वा उसकी शोभा न बढाई जाय तो क्या वह बहुमूल्य नहीं रहता ? अर्थात् जिस प्रकार विना सुशोभित किया हुआ भी रत्न बहुमूल्य ही माना जाता है उसी प्रकार विना अन्य गुणोंके भी सम्यग्दृष्टी पुरुष माननीय वा पूज्य ही माना जाता है ॥ ६८ ॥

उक्तिः कार्या सहाचार्यैः कार्यार्थं शेषयोगिभिः ।
न मिथ्यादृष्टिभिर्भाज्या श्रावकैः स्वजनैश्च सा ॥ ६९ ॥

अन्य मुनियोंको किसी कामके लिये ही आचार्यके साथ बात चीत करनी चाहिये। तथा मिथ्यादृष्टियोंके साथ कभी बात चीत नहीं करनी चाहिये। तथा श्रावकोंके साथ वा अपने संघके अन्य लोगोंके साथ आवश्यकतानुसार बात चीत करलेनी चाहिये, यदि आवश्यकता न हो तो बात चीत नहीं करनी चाहिये ॥ ६९ ॥

स्पृष्टे कपालिचांडालपुष्पवत्यादिके सति ।
जपेदुपोषितो मंत्रं प्रागुत्प्लुत्याशु दंडवत् ॥ ७० ॥

यदि किसी कपाली वा चांडालका स्पर्श हो जाय वा किसी रजस्वला स्त्रीका स्पर्श हो जाय तो मुनियोंको सबसे पहले शीघ्रही दंडस्नान करना चाहिये। अर्थात् चोटीपरसे कमंडलुके जलकी धारा देनी चाहिये जो पैरतक आजाय। इसको दंड स्नान कहते हैं। फिर उस दिन उपवास करना चाहिये। यदि आहार ग्रहण करनेके अनंतर चांडालादिकका स्पर्श हुआ हो तो दूसरे दिन उपवास करना चाहिये। और फिर पंच नमस्कार मंत्रका जप करना चाहिये ॥ ७० ॥

संस्तरावासयोः प्रेक्षा कार्या कल्पास्तकालयोः।
प्रकाशे सूरिभिः सार्धं वृत्तिश्चावश्यकादिषु ॥ ७१ ॥

मुनियोंको आचार्यके साथ प्रातःकाल और सायंकाल दोनों समय प्रकाशमें ही रहनेके स्थानको तथा सोनेके स्थानको देख लेना चाहिये। तथा आचार्यके साथ ही आवश्यकादिक कार्योंमें अपनी प्रवृत्ति करनी चाहिये ॥७१॥

मुनिनैकेन नो वाच्यमेकार्या यदि पृच्छति।
गणमुख्यां पुरस्कृत्य पृष्टं ब्रूयात्तदीप्सितम् ॥ ७२ ॥

यदि कोई अकेली अर्जिका आकर कुछ पुछे तो अकेले मुनिको कोई उत्तर नहीं देना चाहिये। यदि कोई अर्जिका अपनी गणिनी को (अर्जिकाओंके समूहकी नायिकाको गणिनी कहते हैं) आगे रखकर पूछनेको आवे तो उसकी इच्छानुसार जो उसने पूछा हो सो कहना चाहिये। भावार्थ–मुनि अकेले हों और कोई अकेली अर्जिका कुछ पूछने आवे तो उन अकेले मुनिको कुछ उत्तर नहीं देना चाहिये। अर्जिका को यदि कुछ पूछना हो तो अपनी गणिनी को साथ लाना चाहिये और बात चीत करते समय गणिनी को ही आगे रखना चाहिये। इस प्रकार पूछनेपर मुनियोंको उत्तर देदेना चाहिये ॥ ७२ ॥

मालालापं कथाश्चार्याजनैः सार्द्धं यमी त्यजेत्।
तदाश्रयेऽशनं स्थानं व्याख्यानं शयनादिकम् ॥ ७३ ॥

मुनियोंको अर्जिकाओंके साथ बहुत बात चीत और बहुतसी कथाएं नहीं करनी चाहिये अथवा व्यर्थकी बातें और व्यर्थकी कथाएं नहीं करनी चाहिये। तथा अर्जिकाओंके स्थानमें आहार नहीं लेना चाहिये निवास नहीं करना चाहिये, व्याख्यान नहीं देना चाहिये और शयन नहीं करना चाहिये तथा और भी ऐसे ही कार्य नहीं करना चाहिये ॥७३॥

मुनिनैकाकिनैकान्ते न स्थातव्यं कदाचन।
योषिज्जनागमे काले सदाचारयशोऽर्थिना ॥ ७४ ॥

सदाचारको पालन करने और यशको बढानेकी इच्छा करनेवाले मुनिको अकेले किसी ऐसे एकांत स्थानमें जहां स्त्रियोंके आने जानेका समय हो, कभी नहीं रहना चाहिये ॥ ७४ ॥

नामाऽप्यानन्दनिष्यन्दि स्त्रीति लोचनगोचरम्।
तदंगमंगजस्फारशरोग्रं न करोति किम् ॥ ७५ ॥

'स्त्री' इस शब्दके सुननेसे ही लोगोंको आनद होता है फिर भला जिसमेंसे कामदेवके तीक्ष्ण बाण निकल रहे हैं ऐसा स्त्रीका शरीर यदि प्रत्यक्ष नेत्रोंके सामने दिखाई दे तो फिर वह क्या नहीं कर सकता है। अर्थात सब कुछ अनर्थ कर सकता है ॥ ७५ ॥

किंच, स्त्रीणां दर्शनमादरेक्षणमतो वार्त्तेष्टवार्त्ता मनाङ्—
नर्मोक्तिर्नतिनर्मरत्यनुगवाक् शृंगारसारं वचः।
स्वान्तस्योल्लसनं धृतेः क्षतिरतिप्रीतिर्मतिभ्रान्तता
तस्यां च स्मरवीरविशिखव्रातस्य लक्षः क्षणात् ॥ ७६ ॥

प्रथम ही स्त्रियोंका दर्शन होता है, दर्शन होते ही उसे आदरपूर्वक देखनेकी इच्छा होती है, फिर बात-चीत होती है, फिर इच्छानुसार अच्छी लगनेवाली बातचीत होती है। फिर कुछ क्रीडा हसी खेलके साथ बात चीत होती है, तदनंतर नम्रता और हसी खेलके साथ साथ कामक्रीडाको बढानेवाली बात चीत होती है। फिर शृंगारसे भरी हुई बात चीत होती है। फिर रागसे हृदय प्रफुल्लित होता है, फिर धैर्यका नाश होता है, तदनंतर अत्यंत प्रेम बढता है, फिर बुद्धि भ्रांत हो जाती है, तथा बुद्धिके भ्रांत हो जानेपर क्षणभरमें ही खा जानेवाले वा नाश कर देनेवाले कामदेवरूपी शूरवीरके बाणोंके समूहका निशाना बन जाता है। भावार्थ—स्त्रियोंको देखने मात्रसे अनुक्रमसे ऊपर लिखे विकार उत्पन्न होने लगते हैं और अन्तमें कामदेवके बाणोंका निशाना बनकर उसे मरकर नरकरूपी कुंडमें पड जाना पडता है। इसलिये स्त्रियोंका संसर्ग दूरसे ही त्याग कर देना योग्य है ॥ ७६ ॥

॥४०॥

चिरप्रव्राजितः सूरिः स्थविरः श्रुतपारगः ।
तपस्वीति यतो नास्ति गणना विषमायुधे ॥ ७७ ॥

यह मुनि बहुत दिनका दीक्षित है, यह आचार्य है, यह स्थविर मुनि है, यह द्वादशांगका पारगामी है और यह तपस्वी है ऐसा विचार कामदेवके कभी नहीं होता । भावार्थ—जो कामके वशीभूत हो जाता है उसको कामदेव नाश कर ही देता है। वह यह नहीं सोचता कि यह तपस्वी है या यह आचार्य है। इसको छोड़ूं। वह किसी को नहीं छोडता ॥ ७७ ॥

विधवां लिंगिनीं कन्यां स्वैरिणीं गणिकादिकाः ।
आसजन्नचिराद्भिक्षुरपवादैकमन्दिरम् ॥ ७८ ॥

जो साधु विधवा, तपस्विनी, कन्या, व्यभिचारिणी, वा वेश्या आदिका संग करता है वह साधु अवश्यही महा निंदा को प्राप्त होता है ॥ ७८ ॥

संवृतांगोऽतिगंभीरो जिताखिलपरीषहः ।
ज्ञानचारित्रवान् सूरिरार्याणां मितभाषणः ॥ ७९ ॥

आगे अर्जिकाओंकेलिये आचार्य कैसा होना चाहिये सो बतलाते हैं । जिसने अपने समस्त शरीरको संकुचित कर लिया है, जो अत्यन्त गंभीर है, जो समस्त परीषहोंको जीतता है, जो निर्मल ज्ञानी है, निर्मल चारित्रको धारण करनेवाला है और जो आर्य पुरुषोंके साथ बहुत थोडे और उसका हित करनेवाले वचन बोलता है वही अर्जिकाओंका आचार्य कहला सकता है ॥ ७९ ॥

आज्ञाभंगादिदोषार्हः करोति यदि सूरिताम् ।
मदोदयाद् गुणव्रातेनैतेन रहितो यतिः ॥ ८० ॥

जो मुनि इन ऊपर लिखे गुणोंसे रहित होकर भी अपने अभिमानके उदयसे आचार्यपना करता है वह शास्त्रोंकी आज्ञाका भङ्ग करता है इसलिये वह आज्ञाभंग आदि अनेक दोषोंको प्राप्त होता है ॥ ८० ॥

लज्जाविनयवैराग्यसदाचारादिभूषिते ।
आर्याव्राते समाचारः संयतेष्विव किन्त्विह ॥ ८१ ॥
द्व्याद्याः समं वसंत्यार्या गृहस्थासंकराश्रये ।
तद्गृहानतिदूरातिसमीपेऽवद्यवर्जिते ॥ ८२ ॥

जिस प्रकार यह समाचार नीति मुनियों के लिये बतलाई है उसी प्रकार लज्जा, विनय, वैराग्य, सदाचारादिसे सुशोभित होने वाली अर्जिकाओं को भी इन्हीं समस्त समाचार नीतियोंका पालन करना चाहिये । इन समाचार नीतियोंके साथ अर्जिकाओंकी समाचार नीतिमें यह विशेषता है कि अर्जिकाओंको सदा कमसे कम दो अर्जिकाओंको साथ रहना चाहिये । अर्जिकाको अकेली कभी नहीं रहना चाहिये । तथा अर्जिकाओंको ऐसे निर्दोष स्थानमें रहना चाहिये जो गृहस्थोंसे मिला हुआ न हो, और गृहस्थोंके रहनेके स्थानसे न तो अत्यन्त दूर हो और न अत्यन्त समीप हो ॥ ८१–८२ ॥

मौनेनाटंति भिक्षार्थं वृद्धार्यान्तरिता गृहान् ।
अन्योन्यपरिरक्षानुकूलवृत्तिपरायणाः ॥ ८३ ॥

उन अर्जिकाओंको परस्पर एक दूसरेकी रक्षा करनेकी अनुकूलताको लिये हुए आचरण धारण करने चाहिये तथा वृद्ध अर्जिकाओंके मध्यमें रहकर तथा मौन धारण कर भिक्षाके लिये घरोंमें जाना चाहिये ॥ ८३ ॥

अन्यदावश्यगन्तव्यं धर्मकार्यं गृहेऽस्ति चेत् ।
गणिन्यादेशतो यांति द्व्याद्याः सार्धं न चान्यथा ॥ ८४ ॥

यदि धर्मकार्य हो तो अर्जिकाएं भिक्षाकालके सिवाय अन्य कालमें भी गृहस्थोंके घर जा सकती हैं। परंतु उस समय भी अपनी गुराणी वा गणिनीकी आज्ञा लेकर जाना चाहिये और दो अर्जिकाओंको साथ साथ जाना चाहिये । अकेली अर्जिकाको कभी नहीं जाना चाहिये । ॥ ८४ ॥

॥४२॥

नमन्ति सूर्युपाध्यायसाधूनार्या यथाक्रमम् ।
पंचषट्सप्तहस्तान्तरालस्थाः पशुशय्यया ॥ ८५ ॥

अर्जिकाएं आचार्यको पांच हाथ दूर रहकर पशुशय्यासे नमस्कार करती हैं। उपाध्यायको छह हाथ दूर रहकर पशुशय्यासे नमस्कार करती है और मुनियोंको सात हाथ दूर रहकर पशुशय्यासे ही नमस्कार करती हैं।८५।

कर्मभूद्रव्यनारीणां नाद्यं संहननत्रयम् ।
वस्त्रादानाच्चारित्रं च तासां मुक्तिकथा वृथा ॥ ८६ ॥

कर्मभूमिमें उत्पन्न होनेवाली द्रव्यस्त्रियोंके पहलेके तीन उत्तम संहनन नहीं होते अर्थात् वज्रवृषभनाराच संहनन, वज्रनाराच संहनन और नाराच संहनन ये तीन उत्तम संहनन नहीं होते। तथा वे नग्न नहीं रह सकती। एक साडी ग्रहण करती हैं इसलिये उनके चारित्र अथवा महाव्रत नहीं हो सकते। अतएव स्त्रियोंको मोक्ष प्राप्त होनेकी बात कहना सर्वथा व्यर्थ है। भावार्थ—विना उत्तम संहननके और विना महाव्रतके मोक्षकी प्राप्ति होती ही नहीं है। स्त्रियोंके न तो महाव्रत होते हैं क्योंकि वह साडी ग्रहण करती हैं और न उनके उत्तम संहनन होते हैं। इसलिये स्त्रियों-को मोक्षकी प्राप्ति किसी भी प्रकार नहीं हो सकती है ॥ ८६ ॥

यदि त्रिरत्नमात्रेण सा पुंसां नग्नता वृथा ।
तिरश्चामपि दुर्वारा निर्वाणाप्तिरलिंगिता ॥ ८७ ॥

कदाचित् यहांपर कोई यह कहे कि मोक्षकी प्राप्ति तो रत्नत्रयसे होती है, उत्तम संहननोंके न होनेसे अथवा साडीके पहिन लेनेसे उसमें कोई बाधा नहीं आती ? तो इसका उत्तर यह है कि यदि केवल रत्नत्रयसे ही मोक्षकी प्राप्ति होती हो, उसके लिये निर्ग्रन्थ लिंग वा नग्न अवस्था धारण करनेकी आवश्यकता न हो तो आचार्योंने जो पुरुषोंको नग्न अवस्था धारण करनेका उपदेश दिया है वह व्यर्थ होता है। यदि केवल नग्न अवस्थासे ही मोक्षकी प्राप्ति मानी जाय, उत्तम संहनन वा रत्नत्रयकी आवश्यकता न मानी जाय तो नग्न रहनेके कारण तिर्यंचोंको भी मोक्षकी प्राप्ति किसीसे रोकी नहीं जासकती। भावार्थ–मोक्षकी प्राप्ति में रत्नत्रय भी कारण हैं और उत्तम संहनन तथा नग्न अवस्थाका धारण करना भी कारण है। इनके विना मोक्षकी प्राप्ति कभी नहीं हो सकती ॥ ८७ ॥

॥४३॥

मुक्तिश्चेदस्ति किं नासां प्रतिमाः स्तवनान्यपि ।
क्रियन्तेऽपूज्याश्चेत्तासां मुक्तेर्दत्तो जलांजुलिः ॥ ८८ ॥

जो लोग स्त्रियोंको मोक्ष होना मानते हैं वे भी उन मुक्त स्त्रियोंकी प्रतिमा बनाकर क्यों नहीं पूजते तथा उनकी स्तुति क्यों नहीं करते। यदि कदाचित् उन मोक्षमें जानेवालीं स्त्रियोंको अपूज्य मानते हों और अपूज्य मानकर ही उनकी प्रतिमा और स्तुति नहीं करते हों तो फिर उनके मोक्ष माननेमें भी जलांजलि देना ही समझलेना चाहिये। भावार्थ–यदि उनको अपूज्य मानते हैं तो फिर उनको मोक्षकी प्राप्ति कैसी[1] उनको मोक्षकी प्राप्ति मानना भी व्यर्थ है ॥ ८८ ॥

देशव्रतान्वितैस्तासामारोप्यन्ते बुधैस्ततः ।
महाव्रतानि सज्जातिज्ञप्त्यर्थमुपचारतः ॥ ८९ ॥

अरहंत देवके व्रतोंको धारण करनेवाले अत्यन्त विद्वान् गणधरदेवोंने उन अर्जिकाओंकी सज्जाति आदिको सूचित करनेके लिये उनमें उपचारसे महाव्रतका आरोपण करना बतलाया है। भावार्थ–साडी धारण करनेके कारण उन अर्जिकाओंमें देशव्रत ही होते हैं, महाव्रत नहीं होते। परन्तु जिन्होंने अर्जिकाओंके व्रत धारण किये हैं उनमें महाव्रतकी कारणभूत सज्जातिपना विद्यमान है। उनमें सज्जातिपनेका अभाव नहीं है। इसी बातको सूचित करनेके लिये गणधरादिक देवोंने उनके देशव्रतोंमें भी महाव्रतोंका आरोपण किया है, और वह भी उपचारसे किया है ॥ ८९ ॥

ऋतौ स्नात्वा तु तुर्येह्नि शुद्ध्यंत्यरसभुक्तयः ।
कृत्वा त्रिरात्रमेकान्तरं वा सज्जपसंयुताः ॥ ९० ॥

अर्जिका जब रजस्वला हो जाय तो चौथे दिन स्नान कर शुद्ध हो जानेपर उसे नीरस भोजन करना चाहिये। अथवा तेला करना चाहिये अथवा एकांतर करना चाहिये। ऐसी रजस्वला अर्जिकाओंको उत्तम जप करते रहना चाहिये ॥ ९० ॥

॥४४॥

१ स्त्रियोंको मोक्ष माननेवाले श्वेताम्बरलोग मल्लिनाथ तीर्थंकरको मल्लीबाई मानते हैं परंतु उनकी प्रतिमा स्त्रीके आकारकी नहीं बनाते और न स्त्रीरूपमें उनकी स्तुति करते हैं। प्रतिमा भी पुरुषाकार बनाते हैं और स्तुति भी उसी पुरुषाकार रूपमें करते हैं।

गानाक्रन्दनसन्मार्जनाद्यवद्यक्रियोज्झिताः ।
जातिकीर्त्यञ्चिताचाराश्चार्वीक्षान्त्यार्जवान्विताः ॥ ९१ ॥

अर्जिकाओंको गाना नहीं चाहिये, रोना नहीं चाहिये, बुहारी नहीं देना चाहिये तथा और भी ऐसी पापरूप क्रियाएं नहीं करनी चाहिये । अर्जिकाओंको अपनी जाति और कीर्तिके अनुसार योग्य आचरण धारण करना चाहिये, क्षमा और आर्जव वा सरलता गुणको धारण करना चाहिये और अपनी सब क्रियाओंमें प्रवीण होना चाहिये ॥ ९१ ॥

अविकारवस्त्रवेषाः स्वकीयकायेऽपि निःस्पृहा नित्यम्
पठनपरिवर्त्तनाऽऽख्यानादिश्रुतभावनानिरताः ॥ ९२ ॥

अर्जिकाओंको अपने वस्त्र और वेष विकाररहित निर्विकार धारण करने चाहिये । अपने शरीरमें भी सदा निस्पृह वा मोहरहित होना चाहिये । पढनेमें, पाठ करनेमें, व्याख्यान देनेमें तथा ऐसीही श्रुतज्ञानकी भावनाओंमें सदा तत्पर रहना चाहिये ॥ ९२ ॥

चरंति ये चारुचरित्रसंपदः पदं समाचारमिमं यमीशिनः ।
समाश्रयंतेऽभ्युदयप्रमोदिनः परां श्रियं ते कृतिलोकनंदिनः ॥ ९३ ॥

आगे समाचारकी महिमा बतलाते है । जो मुनिराज इस सुन्दर चारित्ररूपी संपत्तिके समाचाररूपी पदको धारण करते हैं अर्थात् निर्मल चारित्र पालन करनेके लिये इस ऊपर लिखी समाचार नीतिका पालन करते हैं, वे सम्यग्ज्ञानी पुरुषोंको संतुष्ट करनेवाले तथा महा विभूतियोंकी प्राप्तिसे अत्यन्त प्रसन्न होनेवाले मुनिराज सबसे उत्तम ऐसी मोक्षरूपी लक्ष्मीको प्राप्त होते हैं ॥ ९३ ॥

श्रीमान् जिनः संभृतधर्मचक्रः श्रुतैर्युतः सारगुणैरवक्रः ।
मनोरथाप्त्यै हतचक्रिचक्रो भूयादरः पालितधर्मचक्रः ॥ ९४ ॥

इति श्रीवीरनंदिसिद्धांतिचक्रवर्त्तिप्रणीते श्रीआचारसारनाम्नि
ग्रंथे द्वितीयोऽधिकारः ॥ २ ॥

जो अरनाथ भगवान् अनंत चतुष्टय तथा समवसरण आदि अन्तरंग और वाह्य लक्ष्मीसे सुशोभित हैं, जिन्होंने मोहनीय कर्म तथा ज्ञानावरण दर्शनावरण और अंतरायकर्म को नाश कर अरहंत अवस्था प्राप्त करली है, जिन्होंने उत्तम क्षमा आदि समस्त आत्मधर्मोंको—आत्माके निर्मल और स्वाभाविक गुणोंको धारण कर लिया है, जो सदा स्तुति करने योग्य ऐसे केवलज्ञानादिक गुणोंसे विभूषित हैं, जो सदा सरल हैं अथवा जो सदा स्तुति करने योग्य हैं और जो निर्मल गुणोंसे सदा सरल हैं, जिन्होंने समस्त धर्मोंके समूहको पालन किया है और जिन्होंने चक्रवर्तीके चक्र रत्नका भी त्याग कर दिया है ऐसे श्री अरनाथ अठारहवें तीर्थंकर हम लोगोंके मनोरथ की सिद्धि करें अर्थात् हम लोगोंके समस्त मनोरथ पूर्ण करें।

इस प्रकार श्री वीरनंदी सिद्धांतचक्रवर्ती विरचित श्री आचारसार नामके शास्त्रकी, चावली (आगरा)
निवासी ' धर्मरत्न ' लालाराम शास्त्री द्वारा निर्मित सरल हिंदीभाषा
टीकामें दूसरा अधिकार समाप्त हुआ ॥२॥

अथ तृतीयाधिकारः ॥ ३ ॥

श्रियः प्रियः संगताविश्वरूपः सुदर्शनश्छिन्नपरावलेपः ।
दद्यादनन्तः प्रणतामरेन्द्रो रमां ममाद्य परमां जिनेन्द्रः ॥ १ ॥

तीसरा अधिकार.

जो भगवान् श्री ऋषभदेव स्वामी मोक्ष लक्ष्मीके धारक हैं, जिन्होंने समस्त तत्त्वोंके स्वरूपको जान लिया है, जिन्होंने अपने निर्मल सम्यग्दर्शनके द्वारा अन्यमतियोंका अभिमान चूर चूर कर दिया है, जिनको समस्त देवोंके स्वामी इन्द्र भी नमस्कार करते हैं और जिनका कभी नाश नहीं होता है ऐसे प्रथम जिनेन्द्र श्री वृषभदेव स्वामी मुझे मोक्षरूपी उत्कृष्ट लक्ष्मी देवें। अथवा ऊपर लिखे समस्त गुणोंसे सुशोभित होनेवाले श्री अनंत नाथ स्वामी आज मुझे मोक्षरूपी उत्कृष्ट लक्ष्मी देवें ॥ १ ॥

दर्शनज्ञानचारित्रतपोवीर्यविशेषतः ।
पंचभेदांचिताचारे तावदाद्यो निगद्यते ॥ २ ॥

आचार्य जिन पंचाचारोंका पालन करते हैं वे आचार पांच ये हैं–दर्शनाचार ज्ञानाचार चारित्राचार तप आचार और वीर्याचार । इन पांचो आचारोंमेंसे पहले दर्शनाचार का स्वरूप कहते हैं ॥ २ ॥

रुचिराप्तागमार्थानां दर्शनं मूढवर्जितम् ।
प्रशमादियुगष्टांगं निसर्गाधिगमोद्भवम् ॥ ३ ॥

आप्त आगम और पदार्थोंका यथार्थ श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन कहलाता है । वह सम्यग्दर्शन तीन मूढता-रहित होना चाहिये, प्रशम संवेग अनुकंपा आस्तिक्य इन चारों गुणोंसे सुशोभित होना चाहिये, और निःशंकित आदि आठों अंगोंसे विभूषित होना चाहिये । ऐसा वह सम्यग्दर्शन निसर्गसे उत्पन्न होता है और अधिगमसे भी उत्पन्न होता है ॥ ३ ॥

व्यपेताऽशेषदोषो यः शरीरी तत्त्वदेशकः ।
समस्तवस्तुतत्त्वज्ञः स स्यादाप्तः सतां पतिः ॥ ४ ॥

जो क्षुधा, तृषा, जरा, रति, निद्रा, भय, रोग, राग, आश्चर्य, गर्व, विषाद, स्वेद, जन्म, मरण, खेद, मोह, स्मय, द्वेष इन अठारह दोषोंसे रहित वीतराग हों, जो परमौदारिक शरीरमें विराजमान हों, जो दिव्यध्वनिके द्वारा तत्त्वोंका उपदेश देनेवाले हों, जो समस्त पदार्थोंके यथार्थ स्वरूपको जानते हों अर्थात् जो वीतराग हों सर्वज्ञ हों और हितोपदेशी हों तथा इन्द्रादि सज्जन भव्य जीवोंके स्वामी हों ऐसे परमात्माको आप्त कहते हैं ॥ ४ ॥

आप्तोक्तिजार्थविज्ञानमागमस्तद्वचोऽथ वा ।
पूर्वापराविरुद्धार्थं प्रत्यक्षाद्यैरबाधितम् ॥ ५ ॥

आप्तके वचनोंके अनुसार उत्पन्न हुआ जो अर्थज्ञान है उसको आगम कहते हैं । अथवा जिनमें पूर्वापर अविरुद्ध पदार्थोंका निरूपण हो, और जिनमें प्रत्यक्ष वा परोक्ष प्रमाणसे किसी प्रकारकी बाधा न आवे ऐसे जो आप्तके वचन हैं—भगवान् अरहंत देवके वाक्य हैं उनको आगम कहते हैं ॥ ५ ॥

स्याज्जीवः पुद्गलो धर्मोऽधर्मः कालो नभोऽपि च ।
मानेनार्थ्यंत इत्यर्थस्तत्त्वं चार्थः स्वरूपतः ॥ ६ ॥

जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल ये छह द्रव्य कहलाते हैं। जिनका प्रत्यक्ष वा परोक्ष प्रमाणसे निश्चय किया जाय उनको अर्थ कहते हैं। प्रत्येक पदार्थमें रहनेवाले धर्मको तत्त्व कहते हैं। जिनका अपने स्वरूपसे निश्चय किया जाय अथवा उस उस पदार्थमें रहनेवाले धर्मके द्वारा जिनका निश्चय किया जाय उनको तत्त्वार्थ वा अर्थ कहते हैं। अथवा धर्मधर्मीमें कोई भेद नहीं है अतएव तत्त्वरूप जो अर्थ हैं उनको तत्त्वार्थ वा अर्थ कहते हैं ॥ ६ ॥

स्थित्युत्पत्तिव्ययात्मा द्रवति द्रोष्यत्यदुद्रवत् ।
स्वपर्यायानिति द्रव्यमर्थस्तांस्तान् विवक्षितान् ॥ ७ ॥

जो उत्पाद व्यय और ध्रौव्य सहित हो उसको द्रव्य कहते हैं। अथवा जो अपनी अपनी विवक्षित पर्यायोंको प्राप्त हो चुका है, प्राप्त होरहा है और प्राप्त होगा उसको द्रव्य कहते हैं। तथा उसीको अर्थ वा पदार्थ कहते हैं। भावार्थ—जो गुणोंकी अपेक्षासे प्रत्येक क्षणमें ध्रौव्यरूप बना रहे तथा पर्यायोंकी अपेक्षा जो प्रत्येक क्षणमें नष्ट होता रहे तथा उत्पन्न भी होता रहे उसको द्रव्य कहते हैं। अथवा जो अपनी अपनी पर्यायोंको प्राप्त होता है, प्राप्त हो चुका है और प्राप्त होगा उसको भी द्रव्य कहते हैं ॥ ७ ॥

गुणपर्ययवद् द्रव्यं स्याद् द्रव्यान्वयिनो गुणाः ।
निर्गुणाश्चेतनाद्यास्ते तद्विशेषास्तु पर्ययाः ॥ ८ ॥

अथवा जो गुण और पर्यायों सहित हो उसको द्रव्य कहते हैं। ऊपर जो उत्पाद व्यय और ध्रौव्य, द्रव्यका लक्षण बतलाया है उसीको सिद्ध करनेवाला यह वाक्य है। गुणकी अपेक्षा ध्रौव्यत्व रहता है और पर्यायोंकी अपेक्षा उत्पाद व्ययत्व रहता है। अतएव जो उत्पाद व्यय और ध्रौव्य कर सहित हो उसको द्रव्य कहते हैं अथवा जो गुण पर्याय सहित हो उसको द्रव्य कहते हैं। द्रव्यके ये दोनो लक्षण एक ही हैं, जुदे जुदे नहीं हैं। इसी प्रकार जो सदा द्रव्यके साथ रहें और जो स्वयं निर्गुण हों जिनमें अन्य कोई गुण न हो उनको गुण कहते हैं। जैसे आत्माका मुख्य चेतना गुण है। चेतना गुण सदा आत्मामें रहता है- तथा चेतनामें और कोई दूसरा गुण नहीं है। जो द्रव्यकी विशेष

अवस्थाएं हैं अथवा गुणोंकी विशेष अवस्थाएं हैं उनको पर्याय कहते हैं। इस प्रकार द्रव्य जीवादिक पदार्थोंके अलग लक्षण और भेद कहते हैं ॥ ८ ॥

जीवत्यजीवीज्जीविष्यतीति जीवश्चिदात्मना।
ज्ञाता द्रष्टा जगन्मात्रदेशोऽमूर्त्तश्च निर्वृतः ॥ ९ ॥

ऊपर लिखे चैतन्यगुणके द्वारा जो जीवित रहता है, पहले जीवित रहता था और आगे जीवित रहेगा उसको जीव कहते हैं। वह जीव ज्ञाता है, द्रष्टा है, लोकाकाशके प्रदेशोंके बराबर है ॥ ९ ॥

कर्त्ता स्वकर्मणो भोक्ता तत्फलस्योर्ध्वगः क्षयात्।
तस्य स्वगात्रमात्रश्च स्याद्विसर्पणसंहृतेः ॥ १० ॥

वह जीव अपने ज्ञानावरणादि कर्मोंका कर्ता है, उनके सुख दुःख आदि फलोंका भोक्ता है, तथा उन कर्मोंके नाश होनेपर स्वभावसे ही ऊर्ध्वगमन करनेवाला है, इस जीवके प्रदेशोंमें सकोच विस्तार होनेकी शक्ति है इस लिये अपने शरीरके आकार का उतना ही बडा हो जाता है ॥ १० ॥

मुक्तसंसारिभेदोऽयं मुक्तः कृत्स्नैनसोत्ययात्।
हेमोपलो मलोन्मुक्त्या हेम स्यादमलं यथा ॥ ११

इस जीवके दो भेद हैं, एक संसारी और दूसरा मुक्त। जिस प्रकार कीट कालिमासे रहित होनेपर सुवर्ण अत्यंत निर्मल हो जाता है उसी प्रकार समस्त पापोंके नाश हो जानेसे अर्थात् समस्त कर्मोंके क्षय हो जानेसे वह जीव मुक्त हो जाता है ॥ ११ ॥

अनादिकर्मसंतानसंश्लेषात् क्लेशभाजनम्।
संसारी स्यात्त्रसस्थावराद्यैर्भेदैरनेकधा ॥ १२ ॥

जो संतान दर संतान रूपसे अनादि कालसे लगे हुए कर्मोंके संबंधसे अत्यंत दुखी हैं उनको संसारी जीव कहते हैं। उन संसारी जीवोंके त्रस तथा स्थावर इत्यादि भेदसे अनेक भेद होते हैं ॥ १२ ॥

अणुश्च पुद्गलोऽभेद्यावयवः प्रचयशक्तितः ।
कायश्च स्कन्धभेदोत्थश्चतुरस्रस्त्वतीन्द्रियः ॥ १३ ॥
बिभ्रदेकं रसं गन्धं वर्णं शीतचतुष्टये ।
स्पर्शौ चाबाधकौ स्पर्शावेकदा सर्वदेहशः ॥ १४ ॥

आगे पुद्गल द्रव्यका स्वरूप कहते हैं। जिसका पूरण और गलन स्वभाव हो उसको पुद्गल कहते हैं। पूरणका अर्थ पूर्ण होना वा बढना है और गलनका अर्थ-कम होना वा घटना है। जो घटता रहे, बढता रहे उसको पुद्गल कहते हैं। उस पुद्गलके दो भेद हैं एक अणु और दूसरा स्कंध। उनमेंसे अणु अप्रदेशी होता है। उसके भीतर दूसरे कोई अवयव नहीं होते या यों कहना चाहिये कि उसके फिर टुकडे नहीं हो सकते अर्थात् वह एक देश मात्र ही होता है। उस पुद्गलपरमाणुमें स्निग्ध वा रूक्ष गुण होता है। इस लिये उसमें परस्पर मिलनेकी शक्ति रहती है। परस्पर मिलकर वह बहुप्रदेशी हो सकता है। अतएव उपचारसे वह एक अणु भी काय कहलाता है। यह परमाणु स्कधोंके भेद करनेसे उत्पन्न होता है। तथा चतुरस्र होता है अर्थात् लंबाई चौडाई सहित होता है। परमाणुका आकार षट्कोण है। षट्कोण पदार्थ में लंबाई चौडाई अवश्य माननी पडती है। इसके सिवाय, वह परमाणु अतीन्द्रिय है-इंद्रियगोचर नहीं है। उसका ज्ञान इंद्रियोंसे नहीं होता। उस परमाणुमें कोईसा एक रस होता है, कोईसा एक गंध होता है, कोईसा एक वर्ण होता है, और शीत उष्ण रूक्ष स्निग्ध इन चार प्रकारके स्पर्शोंमेंसे एक कालमें कोई भी अविरुद्ध दो स्पर्श रहते हैं। अर्थात् शीत उष्णमेंसे कोई एक स्पर्श गुण रहता है और स्निग्ध रूक्षमेंसे कोई एक स्पर्शगुण रहता है। इस प्रकार एक परमाणुमें एक समयमें पांच गुण रहते हैं। परमाणु सदा इसी रूपमें रहता है ॥ १३–१४ ॥

द्व्यणुकादिमहास्कंधपर्यन्तानंतपर्ययाः ।
परमाणोर्विभावाः स्युर्भेदसंघातसंभवाः ॥ १५ ॥

परमाणुओंके परस्पर मिलजानेसे या किसी महास्कंधके टुकडे हो जानेसे अथवा किसी परमाणुके किसी स्कन्धसे निकलकर उसी समयमें किसी अन्य स्कन्धमें मिल जानेसे इन्हीं परमाणुओंकी वैभाविक अनन्तानन्त पर्यायें हो जाती हैं। उनमेंसे कोई पर्याय दो परमाणुओंसे मिलकर बनती है, कोई पर्याय तीन परमाणुओंसे, कोई चार परमा-

णुओंसे, कोई संख्यात परमाणुओंसे, कोई असंख्यात परमाणुओंसे और कोई अनन्त वा अनन्तानन्त परमाणुओंसे मिलकर बनती हैं। इस प्रकार पुद्गलोंकी अनन्त पर्यायें होती हैं ॥ १५ ॥

स्निग्धरूक्षत्वतो बंधो जघन्यगुणवर्जिते।
गुणे समेऽसमे वाण्वोः सर्वत्र स्निग्धरूक्षयोः ॥ १६ ॥

इन परमाणुओंका बन्ध स्निग्ध और रूक्ष गुणके द्वारा होता है। परन्तु इतना विशेष है कि जघन्य गुणके साथ किसीका बन्ध नहीं होता। गुणोंमें स्निग्ध वा रूक्ष गुणका जब हानि होते होते एक अविभागी प्रतिच्छेद रहजाता है तब उसको जघन्य गुण कहते हैं। ऐसा जघन्य गुण जिस परमाणुमें होता है उसके साथ किसीका बंध नहीं होता। जब वृद्धि होनेपर उस गुणके अविभागी प्रतिच्छेद बढ जाते हैं तब वह परमाणु मिलनेकी पूर्ण योग्यता मिलनेपर किसी दूसरे परमाणुमें मिल सकता है। इसी प्रकार स्निग्ध और रूक्ष गुणको धारण करनेवाले परमाणु चाहे दोनो ही स्निग्ध स्निग्धरूप समान गुण धारण करनेवाले हों अथवा रूक्ष रूक्षरूप समान गुण धारण करनेवाले हों अथवा वे परमाणु असमान गुण धारण करनेवाले हों अर्थात् किसी भी एक परमाणुमें स्निग्ध गुण हो और दूसरे परमाणुमें रूक्ष गुण हो; दोनो हा अवस्थामें उन परमाणुओंका बन्ध हो सकता है। परन्तु जघन्य गुणमें बन्ध नहीं होता तथा दोनों परमाणुओंमें गुणोंके अविभागी प्रतिच्छेदोंकी संख्या समान होनेपर भी बन्ध नहीं होता। यह नियम सब जगह कायम रहता है ॥ १६ ॥

द्व्यविभागप्रतिच्छेदाविहीनेन तु बंधनम्।
स्निग्धाणुनास्य स्निग्धाणोः स्वजातै रूक्षयोस्तथा ॥ १७ ॥

एक परमाणुमें स्निग्ध वा रूक्ष गुणके जितने अविभागी प्रतिच्छेद हैं उन अविभागी प्रतिच्छेदोंकी संख्यासे यदि दो अविभागी प्रतिच्छेद कम वा अधिक दूसरे परमाणुमें अविभागी प्रतिच्छेद हों तो उन दोनोंका बंध हो जाता है। वह बंध स्निग्ध स्निग्धके साथ होता है, रूक्ष रूक्षके साथ होता है और स्निग्ध रूक्षके साथ भी होता है ॥ १७ ॥

स्कन्धदेशप्रदेशाणुभेदो वाऽखिलपुद्गलः।
स्कन्धो ज्येष्ठमहास्कन्धः स्यादन्यश्च धरादिकः ॥ १८ ॥

॥५१॥

अतो हीनाणुतो यावदर्द्धं देशस्ततः क्रमात् ।
हीनाणुर्द्व्यणुको यावत्प्रदेशोऽणुः पुरोदितः ॥ १९ ॥

इस प्रकार परमाणु परमाणुमें होनेवाले बंधका स्वरूप कहा । अब आगे पुद्गलके भेद कहते हैं । स्कन्ध, देश, प्रदेश और अणु इस प्रकार परमाणुके चार भेद हैं । इनमेंसे पृथ्वी आदिक सबसे बडा महास्कंध है जिससे बडा और कोई स्कंध नहीं है उसको स्कंध कहते हैं । जिन पुद्गल पिंडोंमें परमाणओंकी संख्या महास्कंधसे कम है परन्तु महास्कंधके परमाणुओंकी संख्यासे आधी संख्यासे अधिक हैं ऐसे पुद्गल पिंडोंको देश कहते हैं । जिन पुद्गलपिंडोंमें देश कहलानेवाले पुद्गलोंके परमाणुओंकी संख्यासे कम परमाणु हैं और कमसे कम द्विअणुक तकके पिंड हैं—जो दो परमाणुओंसे मिलकर बने हैं—उनको प्रदेश कहते है। भावार्थ—द्विअणुकसे लेकर महास्कंधके आधे परमाणुओंतकके पिंडोंको प्रदेश कहते हैं तथा जिन पिंडोंमें प्रदेशसे अधिक परमाणु हैं और महास्कंधसे एक भी कम परमाणु हैं उनको देश कहते हैं । परमाणुका स्वरूप पहले कह ही चुके हैं ॥ १८–१९ ॥

जीवपुद्गलजालस्य व्रजतः स्वेन हेतुना ।
धर्मो याननिमित्तं स्याज्जलं वा जलचारिणाम् ॥ २० ॥

इस प्रकार पुद्गलके चार भेद बतलाये । आगे अन्य द्रव्योंका लक्षण कहते हैं । जिस प्रकार चलनेकी शक्ति मछलीमें है तथापि जल उसके चलनेमें सहायक होता है उसी प्रकार जीव और पुद्गलोंमें चलनेकी शक्ति है । जब ये जीव वा पुद्गल अपने आप चलते है तब उनके चलनेमें जो सहायक होता है उसको धर्म द्रव्य कहते हैं ॥ २० ॥

स्वहेतुस्थितिमज्जीवपुद्गलस्थितिकारणम् ।
अधर्मोऽध्वनि खिन्नस्य ग्रीष्मे छायेव शीतला ॥ २१ ॥

जिस प्रकार ग्रीष्म ऋतुमें चलने के कारण खेदखिन्न हुए पथिकको ठहरनेमें शीतल छाया सहायक होती है उसी प्रकार अपने आप ठहरे हुए जीव वा पुद्गलोंको जो ठहरनेमें सहायक है उसको अधर्म द्रव्य कहते हैं ॥ २१ ॥

धर्माधर्मौ जगद्व्याप्यारूपिणौ सर्वदा स्थितौ ।
कालाणवो जगन्मात्राश्चैवं तु मणिराशिवत् ॥ २२ ॥

धर्म द्रव्य तथा अधर्म द्रव्य समस्त लोकाकाशमें व्याप्त हैं । ये दोनों ही द्रव्य अरूपी हैं और सदा काल लोकाकाशमें व्याप्त होकर ठहरे रहते हैं । कालके परमाणुओंकी संख्या लोकाकाशके प्रदेशोंके समान है। जिस प्रकार विना किसी व्यवधानके बराबर बराबर मणियां जडी होती हैं उसीप्रकार लोकाकाशके एक एक प्रदेशपर एक एक काल का अणु ठहरा हुआ है ॥ २२ ॥

ते प्रत्येकं विवर्त्तासिहेतवः सर्ववस्तुनः ।
गौणकालस्तु पर्यायस्थितिः स्यात्समयादिका ॥ २३ ॥

वे कालके परमाणु समस्त पदार्थोंकी पर्यायोंके परिणमन होनेमें कारण होते हैं । तथा उन कालके परमाणुओंकी जो समयादिक पर्याय हैं उनको गौणकाल वा व्यवहार काल कहते हैं ॥ २३ ॥

व्योमामूर्त्तं स्थितं नित्यं चतुरस्रं समं घनम् ।
भावावगाहहेतुश्चानंतानंतप्रदेशकम् ॥ २४ ॥

जो समस्त द्रव्योंके अवगाहनका कारण है अर्थात् जिसमें समस्त द्रव्य रहते हैं वा रह सकते हैं उसको आकाश कहते है । वह आकाश अमूर्त है, नित्य है, क्रियारहित है, चतुरस्र वा चौकोर है—चारो ओर समान घनाकाररूप है, और उसके अनंतानंत प्रदेश हैं ॥ २४ ॥

अस्तिकाया इमे कालं विना संतः प्रदेशिनः ।
कायवद्येन कालो प्रदेशप्रचयशक्तिमान् ॥ २५ ॥

इस प्रकार छह द्रव्योंका निरूपण किया । अब आगे पंचास्तिकायोंको दिखलाते हैं । जो अस्तित्वरूप हों अर्थात् जिनकी सत्ता विद्यमान हो और जो कायके समान बहुतसे प्रदेशवाले हों उनको अस्तिकाय कहते हैं । इन ऊपर लिखे छहों द्रव्योंमेंसे कालको छोडकर बाकीके पंच द्रव्य अस्तिकाय कहलाते हैं । कालके अणु यद्यपि लोकाकाशके

समान हैं तथापि उनमें मिलनेकी शक्ति नहीं है। कालके अणु मिलकर अनेकप्रदेशी नहीं बन सकते इसलिये काल को अस्तिकाय नहीं माना है ॥ २५ ॥

जीवाजीवौ तयोः पुण्यं पापमास्रवसंवरौ ।
निर्जराबन्धमोक्षाश्चेत्यर्था नवविधाश्च ते ॥ २६ ॥

आगे नौ पदार्थ बतलाते हैं। जीव अजीव आस्रव बन्ध संवर निर्जरा मोक्ष पुण्य पाप ये नौ प्रकारके पदार्थ कहलाते हैं और आस्रवादिक पदार्थ जीव अजीवके ही भेद हैं ॥ २६ ॥

जीवाजीवौ पुरा प्रोक्तौ सम्यक्त्ववृत्तज्ञानवान् ।
जीवः पुण्यं तु पापं स्यान्मिथ्यात्वादिकलंकवान् ॥ २७ ॥

इन नौ पदार्थोंमेंसे जीव अजीव का लक्षण तो पहले कह चुके हैं। जो सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्रको धारण करनेवाला आत्मा है वह पुण्यरूप है। और जो मिथ्यात्व आदिसे कलंकित है वह पापरूप है। भावार्थ—सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्रको धारण करना पुण्य है और मिथ्यात्वको धारण करना पाप है ॥ २७ ॥

स्यादजीवात्मकं पुण्यं पापं चाणुकदम्बकम् ।
शुभानामशुभानां च कर्मणां सुखदुःखदम् ॥ २८ ॥

पुण्य और पाप दोनों ही अजीवात्मक है। शुभ कर्मोंके परमाणुओंके समूहको पुण्य कहते हैं। यह पुण्य उदय होनेपर जीवोंको सुख देता है। तथा इसी प्रकार अशुभ कर्मोंके परमाणुओंके समूहको पाप कहते हैं। यह पाप उदय होनेपर जीवोंको दुख देता है ॥ २८ ॥

मिथ्याविरतिकषाययोगाः स्युरशुभास्रवाः ।
दयादमयमाद्यास्तु जीवात्मानः शुभास्रवाः ॥ २९ ॥

मिथ्यात्व अविरति कषाय और योग ये अशुभ आस्रव कहलाते हैं। तथा दया, दम अर्थात् इंद्रियदमन, और यम अर्थात् संयम आदिक धारण करना आत्माका शुभास्रव कहलाता है ॥ २९ ॥

उदयोदीरणाकर्मद्रव्यास्रवो यतः ।
स्यान्नूत्नद्रव्यभावैर्नो भावद्रव्यास्रवाः क्रमात् ॥ ३० ॥

उदय और उदीरणा रूप जो द्रव्य कर्म आता है उसको द्रव्यास्रव कहते हैं। क्योंकि कर्मोंका उदय या उदीरणा होना ही द्रव्यास्रवमें कारण पडता है। निश्चयसे द्रव्य और भावोंके द्वारा द्रव्यास्रव और भावास्रव क्रमसे होते हैं अर्थात् द्रव्यकर्मोंके द्वारा द्रव्यास्रव होता है और भावकर्मोंके द्वारा भावास्रव होता है ॥ ३० ॥

भावद्रव्यास्रवानल्पविकल्पेषु यदाऽऽत्मनि ।
यस्य यस्य निरोधः स्यात्तत्तत्संवरणं तदा ॥ ३१ ॥

आगे संवरका स्वरूप कहते है। भावास्रव और द्रव्यास्रवके अनेक भेद हैं। उनमेंसे आत्मामें जव जव जिन जिनका निरोध होता है तव ही तव उन उनका संवर हुआ करता है। भावार्थ—आस्रवका रुक जाना संवर है। जव जिस कर्मका आस्रव रुक जाता है तव उसी कर्मका संवर कहलाता है। अथवा भावास्रव का रुकना भावसंवर है और द्रव्यास्रवका रुकना द्रव्यसंवर है ॥ ३१ ॥

भावद्रव्यास्रवद्वन्द्वरोधात्संवरणं मतम् ।
द्रव्यभावास्रवद्वन्द्वस्यैतद्यत्नेन जन्यते ॥ ३२ ॥

भावास्रव और द्रव्यास्रव दोनोंका निरोध हो जाना संवर कहलाता है। अतएव द्रव्यास्रव और भावास्रव दोनोंका निरोध बडे प्रयत्नसे करना चाहिये ॥ ३२ ॥

गलनं निर्जरांशस्य स्याच्चिरंतनकर्मणः ।
सविपाकाऽविपाका च प्राप्तकाला विपाकजा ॥ ३३ ॥
परिणामविशेषोत्थाऽप्राप्तकालाऽविपाकजा ।
कालेनोपायजालैर्वा फलपाको वनस्पतेः ॥ ३४ ॥ युग्मम्

चिरकालसे लगे हुए कर्मोंके अंशका नाश होना–थोडे थोडे कर्मोंका नष्ट होते रहना निर्जरा है। वह निर्जरा

॥५५॥

दो प्रकारकी है एक सविपाक निर्जरा और दूसरी अविपाक निर्जरा। जो कर्मोंकी निर्जरा अपने समयानुसार होती है—कर्मोंकी स्थिति पूरी हो जानेपर जो कर्म फल देकर नष्ट हो जाते हैं उसको सविपाक निर्जरा कहते हैं। तथा अपनी स्थिति पूरी हुए विना ही परिणामोंकी विशेष निर्मलता होनेके कारण—तपश्चरणादिकसे—जो कर्म नष्ट हो जाते हैं उसको अविपाक निर्जरा कहते हैं। जिस प्रकार आम आदि वनस्पतियोंके फलोंका विपाक अपने समयानुसार भी होता है और अनेक उपायोंसे अर्थात् पालमें पकालेने आदि कारणोंसे, अपने नियत समयसे पहले भी पाक हो जाता है। उसी प्रकार स्थिति पूरी होनेपर कर्मोंका नष्ट होना सविपाक निर्जरा है और स्थिति पूरी होनेके पहले तपश्चरणादिकके बलसे कर्मोंका नष्ट हो जाना अविपाक निर्जरा है ॥ ३३—३४ ॥

रागादीनां विभावानां विश्लेषो भावनिर्जरा ।
आत्मनो गलनं द्रव्यकर्मणां द्रव्यनिर्जरा ॥ ३५ ॥

राग द्वेष आदि विभाव परिणामोंका नाश हो जाना भावनिर्जरा कहलाती है। तथा आत्माके साथ लगे हुए ज्ञानावरण दर्शनावरण आदि द्रव्य कर्मोंका आत्मासे संबध छूट जाना द्रव्यनिर्जरा कहलाती है ॥ ३५ ॥

सम्यक्त्वदेशचारित्रसंयमाऽयोगवृत्तयः ।
कारणं निर्जरायाः स्युः संवरस्यापि कर्मणः ॥ ३६ ॥

आगे संवर और निर्जराके कारण बतलाते हैं। सम्यग्दर्शन, देशचारित्र, संयम और मन बचन कायकी प्रवृत्तिका रुक जाना ये सब कर्मोंकी निर्जराके कारण है और संवरके कारण हैं ॥ ३६ ॥

द्रव्यास्रवजमिथ्यात्वयोगाविरमणादिभिः ।
नूतनैरात्मनः श्लेषो भावबन्धस्तदात्मता ॥ ३७ ॥

द्रव्यास्रवसे उत्पन्न हुए मिथ्यात्व योग अविरति आदिके साथ जो आत्माके प्रदेशोंकासंबंध हो जाता है—आत्माके साथ मिथ्यात्व आदिक मिल जाते हैं अथवा आत्मामें जो मिथ्यात्व अविरति आदि उत्पन्न हो जाते हैं, उसको भावबंध कहते हैं ॥ ३७ ॥

भावास्रवातितापात्मलोहस्वात्मैकदेहगम् ।
आदत्ते सर्वतोऽनंतानंतकर्माणुजीवनम् ॥ ३८ ॥
आत्मनस्तेन संश्लेषो द्रव्यबन्धश्चतुर्विधः ।
स स्यात्प्रकृतिप्रदेशानुभागस्थितिभेदतः ॥ ३९ ॥

जिस प्रकार अत्यंत संतप्त हुआ–अग्निके द्वारा लाल किया हुआ लोहेका गोला चारो ओरसे पानीको ग्रहण करलेता है उसी प्रकार रागद्वेषरूप भावास्रवसे अत्यंत संतप्त हुआ यह आत्मा चारो ओरसे अनंतानंत कर्मपरमाणुओंको ग्रहण करलेता है। उन ग्रहण किये हुए अनंतानंत कर्मपरमाणुओंसे जो आत्माका संबंध हो जाता है अर्थात् वे सब कर्म परमाणु आत्मामें आकर मिल जाते हैं उसको द्रव्यबंध कहते हैं। उस द्रव्य बंधके चार भेद हैं। प्रकृतिबंध स्थितिबंध अनुभागबंध और प्रदेशबंध ॥ ३८–३९ ॥

प्रकृतिप्रदेशयोः स्याद्योगात् स्थित्यनुभागयोः ।
बंधः कषायतोऽयोगे चाकषाये यतो न तौ ॥ ४० ॥

इन चारों प्रकारके द्रव्यबंधमेंसे प्रकृतिबंध और प्रदेशबंध योगसे होते हैं तथा स्थितिबंध और अनुभागबंध कषायसे होते हैं। यदि मन वचन काय तीनों योग अपने वशमें कर लिये जांय, मन वचन,–कायकी शुभ किंवा अशुभ रूप कोई भी क्रिया न की जाय तो प्रकृतिबंध और प्रदेशबंध नहीं हो सकते। तथा यदि कषाय उत्पन्न न किये जांय तो स्थितिबंध और अनुभागबंध भी नहीं हो सकते। इस प्रकार योग और कषायका अभाव होनेसे सब प्रकारके बंध का अभाव हो जाता है। भावार्थ–अयोगि गुणस्थानमें प्रकृतिबंध और प्रदेशबंधका अभाव हो जाता है और अकषाय ग्यारहवें बारहवें तेरहवें चौदहवें गुणस्थानोंमें स्थितिबंध और अनुभागबंध का अभाव हो जाता है ॥ ४० ॥

भावद्रव्यात्मकाशेषकर्मनोकर्मणां क्षयात् ।
भावद्रव्यात्मको मोक्षश्चारुचारित्रसम्पदा ॥ ४१ ॥

सुंदर चारित्ररूपी संपत्तिके द्वारा जो समस्त रागद्वेषादिक भावकर्मोंका नाश हो जाना है तथा समस्त

॥५७॥

ज्ञानावरणादिक द्रव्य कर्मोंका नाश हो जाना है और समस्त नोकर्मोंका (शरीरको बनाने वाले कर्मोंका वा शरीर का) नाश हो जाना है उसको मोक्ष कहते हैं। उस मोक्षके दो भेद हैं एक भाव मोक्ष और दूसरा द्रव्य मोक्ष। जिन परिणामोंसे समस्त कर्मोंका नाश होता है उन परिणामोंको भावमोक्ष कहते हैं। तथा उन समस्त कर्मोंका नाश हो जाना द्रव्यमोक्ष है ॥ ४१ ॥

अनंतज्ञानदृग्वीर्यसौख्यात्मस्वात्मलंभनम्।
सिद्धिर्नाभावचिन्मात्रानिःशेषात्मगुणक्षया ॥ ४२ ॥

अनंतज्ञान, अनंत दर्शन, अनंतवीर्य और अनंत सुखरूप अपने आत्माकी प्राप्ति हो जाना ही मोक्ष है। मोक्ष न तो अभावरूप है, न चैतन्य गुणके नाश होनेसे मोक्ष होती है और न अन्य समस्त गुणोंके नाश होनेसे मोक्ष होती है। किंतु ऊपर लिखे हुए अनंत चतुष्टयस्वरूप आत्माकी प्राप्ति होना ही मोक्ष है। भावार्थ–बौद्धमतमें दीपकनिर्वाणके समान आत्मनिर्वाणको ही मोक्ष माना है। वे कहते हैं कि जिस प्रकार तेलके नाश हो जानेसे दीपक बुझ जाता है और फिर वह न दिशाओंमें जाता है न विदिशाओंमें जाता है, केवल शांत हो जाता है। उसीप्रकार यह आत्मा मोहके क्षय हो जानेसे शांत हो जाता है; फिर दिशा विदिशाओंमें कहीं नहीं जाता, न पृथ्वी आकाशमें जाता है। इसीको बौद्ध लोग मोक्ष मानते हैं। परंतु उनका यह मत ठीक नहीं है। मोक्षका ऐसा स्वरूप मानना मिथ्या है यही बात दिखलानेके लिये आचार्यने कहा है कि वह मोक्ष अभावस्वरूप नहीं है। किंतु उसमें निर्मल ज्ञानस्वरूप आत्माका अस्तित्व रहता है। इसलिये मोक्ष भावस्वरूप है। इसी प्रकार सांख्य मतवाले चैतन्यशक्तिका ही अभाव मानते हैं। उनके मतमें कर्ता भोक्ता सब प्रकृति है। चैतन्यरूप आत्मासे उसका कोई संबंध नहीं है। इसी प्रकार मोक्ष अवस्थामें भी चैतन्यशक्ति कुछ उपयोगी या कार्यकारी नहीं होती। इस प्रकार मोक्षका मिथ्या स्वरूप सांख्यमतवाले मानते हैं उनका मिथ्यात्व दूर करनेके लिये आचार्य कहते हैं कि चैतन्य मात्रके अभाव होनेसे मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती किंतु अनंत चतुष्टयस्वरूप शुद्ध चैतन्यकी प्राप्ति होना ही मोक्ष है। योग मतवाले कहते हैं कि बुद्धि सुख दुःख इच्छा द्वेष प्रयत्न धर्म अधर्म संस्कार इन आत्माके विशेष गुणोंका नाश हो जाना ही मोक्ष है। परंतु आत्माके विशेष गुणोंका नाश माननेसे आत्मतत्त्वका ही नाश मानना पडता है। इसलिये योग मतवालोंने जो मोक्षका स्वरूप माना है वह भी

॥५८॥

मिथ्या है। इसी वातको दिखलानेके लिये आचार्यने कहा है कि आत्माके गुणोंका नाश हो जाना भी मोक्ष नहीं है किंतु अनंत चतुष्टयस्वरूप शुद्ध आत्माकी प्राप्ति हो जाना ही मोक्ष है ॥ ४२ ॥

सप्त तत्त्वानि चैतेऽर्थाः पुण्यपापद्वयं विना ।
तज्जीवाजीवद्रव्यान्तर्भूतं यन्नैगमान्नयात् ॥ ४३ ॥

आगे सप्त तत्त्वोंको बतलाते हैं। ऊपर जो नौ पदार्थ बतलाये हैं उनमेंसे यदि पुण्य और पाप अलग कर दिये जांय तो बाकी के सात पदार्थ सात तत्त्व कहलाते हैं। यदि नैगम नयसे विचार किया जाय तो ये सातों ही तत्त्व जीव अजीव इन दो तत्त्वोंमें ही अंतर्भूत हो जाते हैं। इस प्रकार छह द्रव्य, पांच अस्तिकाय, नौ पदार्थ और सातों तत्त्वोंका निरूपण किया ॥ ४३ ॥

लोकान्यदेवपाखंडिवेदाद्यासादितादलम् ।
मूढादपोढं सम्यक्त्वं वाढं दृढमिदं भवेत् ॥ ४४ ॥

अब आगे मूढताओंका त्याग तथा सम्यग्दर्शन के अंग आदिकोंका वर्णन करते हैं—

लोकमूढता, अन्य देव मूढता, पाखंडि मूढता और वेद मूढता आदि मूढताओंका त्याग कर देनेसे ही यह सम्यग्दर्शन अत्यंत दृढ होता है. भावार्थ—मूढता शब्दका अर्थ अज्ञानता है। लोकसे उत्पन्न होनेवाली अज्ञानता, कुदेवोंसे उत्पन्न होनेवाली अज्ञानता, पाखंडी भेषी कुगुरुओंसे उत्पन्न होनेवाली अज्ञानता और वेदसे उत्पन्न होनेवाली अज्ञानता। इस प्रकार अज्ञानता के अनेक भेद हैं। इन सब अज्ञानताओंमेंसे जबतक कोई भी अज्ञानता रहती है तब तक सम्यक्त्व की निर्मलता वा दृढता कभी नहीं हो सकती। इन सब अज्ञानताओंका त्याग करदेनेसे ही सम्यक्त्वकी निर्मलता वा दृढता होती है ॥ ४४ ॥

गेहभक्ताग्निभूस्वर्णरत्नास्त्राद्युपकारकम् ।
जनस्य वस्तु यत्तत्र वंद्यधीर्लोकमूढता ॥ ४५ ॥

आगे लोकमूढतादिको दिखलाते हैं। घर, भोजन, अग्नि, भूमि, सुवर्ण, रत्न और अस्त्र शस्त्र आदि मनुष्यों को जो जो उपकार करनेवाले पदार्थ हैं उनके लिये वंदना करनेकी, नमस्कार करनेकी बुद्धिका होना लोकमूढता कहलाती है ॥ ४५ ॥

ब्रह्मोमापतिगोविन्दशाक्येन्दुतपनादिषु ।
मोहकादंबरीमत्तेष्वाप्तधीर्देवमूढता ॥ ४६ ॥

जो मोहरूपी मद्यसे मदोन्मत्त हो रहे हैं ऐसे ब्रह्मा, महादेव, विष्णु, बुद्ध, चंद्रमा और सूर्य आदिको आप्त मानना देवमूढता कही जाती है ॥ ४६ ॥

पाखंडिमूढता दंडपात्रामत्रादिसंगिषु ।
सन्मतिः स्वागमाभासभ्रान्तस्वान्तान्यलिंगिषु ॥ ४७ ॥

जिनका हृदय अपने मिथ्या आगमसे भ्रांत हो रहा है अर्थात् अपने मिथ्या शास्त्रोंके पठनसे जिनका हृदय विपरीत श्रद्धान को धारण कर रहा है और जो वस्त्र दंड पात्र आदि अनेक प्रकारके परिग्रहको धारण करते हैं ऐसे कुगुरुओं को मानना, उनका आदर सत्कार करना पाषंडिमूढता कहलाती है ॥ ४७ ॥

पापोपदेशवेदान्यपुराणादिषु सन्मतिः ।
स्याद्वेदमूढता जंतोः संसृतिभ्रान्तिकारणम् ॥ ४८ ॥

पशुओंको होम करनेरूप महापापका उपदेश देनेवाले वेदोंमें तथा वेदोंके अनुसार कथन करनेवाले पुराणोंमें अपनी बुद्धि रखना, उनको मानना, सुनना आदि सब वेदमूढता कहलाती है। वह वेदमूढता जीवोंको संसारमें परिभ्रमणका कारण है। भावार्थ—जो इन वेद वा अन्य मतके भारत आदि पुराणोंको मानता है वह सदा संसारमें परिभ्रमण करता रहता है ॥ ४८ ॥

गुणाः प्रशमनिर्वेदसंवेगास्तिकतादयः ।
स्वदोषगर्हानिन्दाद्याः सम्यक्त्वमणिरश्मयः ॥ ४९ ॥

इसप्रकार मूढताओंका वर्णन किया। अब आगे सम्यग्दर्शनके गुण और अंगोंका वर्णन करते हैं। प्रशम, निर्वेद, संवेग, आस्तिक्य, स्वदोष गर्हा, निंदा, आदि सम्यग्दर्शनके गुण कहलाते हैं। जो कि सम्यग्दर्शनरूपी मणि की किरणोंके समान सुशोभित होते हैं। अपने परिणामोंका शांत रखना— राग द्वेष न करना प्रशम गुण है। संसार

॥६०॥

शरीर और भोगोंसे विरक्त होना निर्वेद है। धर्ममें वा धर्मके फलमें अत्यन्त प्रेम होना संवेग है। जीवादिक तत्त्वोंका यथार्थ श्रद्धान करना, तथा आत्मासे पर शरीरादिकसे मोहका त्याग कर देना और शुद्ध आत्म स्वरूपका ग्रहण करना आस्तिक्य है। गुरुके सामने अपने दोषोंकी निंदा करना स्वदोषगर्हा है। तथा अपने आप अपने आत्माकी निन्दा करना निंदा है। इस प्रकार ये सम्यग्दर्शनके गुण हैं॥ ४९॥

निःशंकत्त्वमकांक्षत्त्वं नैर्जुगुप्स्यममूढता।
उपगूहः स्थितीकारो वात्सल्यं च प्रभावना॥ ५०॥

आगे आठों अंगोंका निरूपण करते हैं।—

निःशंकित, निःकांक्षित, निर्जुगुप्सा, अमूढदृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना ये आठ सम्यग्दर्शन के अंग कहलाते हैं॥ ५०॥

इत्यष्टांगानि पुष्टानि सम्यक्त्वगुणसंपदे।
यद्वदंगानि सप्त स्युः प्राज्यसाम्राज्यसंपदे॥ ५१॥ युग्मम्

स्वामी वा राजा, मन्त्री, मित्र, भांडार, देश, गढ वा किला और सेना ये सात राज्य के अंग कहलाते हैं। जिस प्रकार राज्यके इन सातों अंगोंके पुष्ट होनेसे बहुत बडी साम्राज्य सम्पदा बढती है उसी प्रकार ऊपर लिखे इन आठों अंगोंके परिपुष्ट होनेसे सम्यग्दर्शन की गुणरूप संपदाएं अत्यंत वृद्धिको प्राप्त होती हैं॥ ५१॥

हेतुद्वयोत्थकार्यानुमेयेयं भवितव्यता।
दुर्लङ्घ्येति भयाऽभावो निःशंकत्वं भयोदये॥ ५२॥

जो होनहार होती है वह यद्यपि अंतरंग और वहिरंग कारणोंसे उत्पन्न होनेवाले कार्योंसे अनुमानके द्वारा जानी जा सकती है। तथापि वह दुर्लंक्ष्य है—किसीसे रोकी नहीं जा सकती। इसप्रकार विचार कर भयका उदय होनेपर भी भय नहीं करना—सदा निर्भय रहना निःशंकित अंग कहलाता है॥ ५२॥

भयमाकस्मिकं पारलौकिकं चैहलौकिकम्।
मृत्युगुप्तिरुजात्राणैः संजातमिति सप्तधा॥ ५३॥

संसारमें भय सात हैं—अकस्मात् होनेवाला आकस्मिक भय, परलोकके लिये होनेवाला पारलौकिक भय, इस लोकमें होनेवाला भय ऐहलौकिक भय, मृत्युसे होनेवाला मृत्युभय, रोगसे होनेवाला रोगभय, इस संसारमें मेरा कोई रक्षक नहीं है इसप्रकार उत्पन्न होनेवाला अरक्षाभय, और आत्माके नाश की शंकासे उत्पन्न होनेवाला अगुप्तिभय, इसप्रकार संसारमें सात भय माने जाते हैं ॥ ५३ ॥

किं स्यात्सत्यमिदं नो वेत्याप्तोक्ते संशयोज्झिता ।
मतिस्तत्त्वाचलप्रीतिः परा निःशंकिता मता ॥ ५४ ॥

भगवान् अरहंत देवके वचनोंमें "यह सत्य है अथवा नहीं है" इसप्रकारके संशयका सर्वथा त्याग कर देना तथा भगवान् अरहंत देवके कहे हुए तत्त्वोंमें निश्चल प्रेम वा अटल विश्वास करना उत्तम निःशंकित अंग कहलाता है ॥ ५४ ॥

वांछाऽभावोऽन्यदृग्ज्ञानवृत्तोत्कर्षेष्वकांक्षता ।
अत्राऽमुत्र च जाते वा नश्वरेन्द्रियजे सुखे ॥ ५५ ॥

आगे निःकांक्षित अंगको कहते हैं । अन्यमतोंके श्रद्धानसे उत्पन्न होनेवाले मिथ्यादर्शन मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्रकी वृद्धिको देखकर भी उसको धारण करनेकी इच्छा नहीं करना तथा इसलोक संबंधी वा परलोकसंबंधी सदा नाश होनेवाले इंद्रियजन्य सुखोंमें इच्छा न करना निःकांक्षित अंग कहा जाता है । भावार्थ— "संसारमें मिथ्यादृष्टी बहुत हैं और बहुत सुखी हैं" इसप्रकार विपरीत परिणमन देखते हुए भी मिथ्यादर्शन धारण करनेकी इच्छा नहीं करना, तथा इसीप्रकार मिथ्याज्ञान मिथ्याचारित्र और इन्द्रियजन्य सुखोंकी इच्छा नहीं करना सो निःकांक्षित अंग कहलाता है ॥ ५५ ॥

देवेन्द्रादिश्रियो यस्मिन्सत्यायान्ति स्वयं सताम् ।
सम्यक्त्वेऽनुपमे तस्मिन् किं तया परचिन्तया ॥ ५६ ॥

जिस सम्यग्दर्शनके प्राप्त होनेपर देवोंके इन्द्र और अहमिन्द्र वा चक्रवर्ती आदिकी उत्तमोत्तम संपदाएं सज्जन पुरुषोंको अपने आप आ उपस्थित होती हैं ऐसे उपमारहित सम्यग्दर्शनके प्राप्त हो जानेपर फिर मिथ्यादर्शनादिक की

वा इंद्रियजन्य सुखकी इच्छा करनेसे क्या लाभ होता है? अर्थात् कुछ भी नहीं। भावार्थ–सम्यग्दर्शन अनुपम है। इस के समान संसारमें और कोई सुख देनेवाला पदार्थ नहीं है। इसलिये ऐसे इस सम्यग्दर्शनको पाकर फिर अन्य किसीकी भी इच्छा करना व्यर्थ है॥ ५६॥

तीव्रं जैनतपस्तत्र निंद्यं चामज्जनादिकम्।
सम्यगन्यादिति स्वांतत्यागः स्यान्निर्जुगुप्सता॥ ५७॥
रत्नत्रयपवित्राणां छर्दिलालाद्यपोहने।
विचिकित्सात्ययो वा सा ज्ञात्वा गात्रापवित्रताम्॥ ५८॥

आगे निर्जुगुप्सा अंगको कहते हैं। "जैन धर्ममें कहा हुआ तप अत्यत तीव्र है। उसमें और तो सब बातें अच्छी हैं परन्तु मुनि लोक स्नान नहीं करते, दन्तधावन नहीं करते तथा ऐसी ही ऐसी कितनी ही बातें निंदनीय हैं" इस प्रकारके विचारोंका हृदयसे निकाल देना निर्जुगुप्सा अंग कहलाता है। भावार्थ– स्नान और दन्तधावन करनेसे अनेक जीवोंकी हिंसा होती है इसलिये परम निर्ग्रंथ मुनियोंके इनका त्याग होता है। मुनियोंका शरीर सदा पवित्र रहता है इसीलिये भी उनको स्नानादिक की आवश्यकता नहीं होती। यह शरीर स्वभावसे ही अपवित्र है, रुधिर मांस हड्डी मज्जा आदिसे भरा है ऐसा समझकर रत्नत्रय गुणसे पवित्र रहने वाले मुनियोंके यदि वमन हो जाय वा लार आजाय वा कफ नाक आदि मल आजांय तो उनके दूर करनेमें, पोंछनेमें, हटानेमें किसी प्रकारकी ग्लानि नहीं करना सो निर्विचिकित्सा अंग है। ५७–५८॥

बहिराचारचारूणि सौगतादिमतान्यलम्।
क्लेशादिमोहदान्येव स्युः किंपाकवदंगिनाम्॥ ५९।
तदन्यज्ञानविज्ञानप्रशंसाविस्मयोज्झिता।
युक्तियुक्ताजिनोक्ते या रुचिः साऽमूढता मता॥ ६०॥

आगे अमूढदृष्टी अंगको कहते हैं। बौद्ध आदिक मत बाहरसे ही सुन्दर दिखते हैं और जबतक उन

पर कुछ विचार नहीं किया जाता तभीतक वे सुन्दर दिखते हैं। विचार करनेपर उनमें कुछ भी सारे वा सुन्दरता दिखाई नहीं पडती । इसके सिवाय वे बौद्ध आदिक मत नरक निगोद आदिके अत्यन्त क्लेश देनेवाले हैं और अत्यन्त मोह उत्पन्न करने वाले हैं। इसीलिये वे जीवोंको किंपाकफल के समान अन्तमें दुःख देते है। भावार्थ— किंपाक फल एक फल होता है जो देखनेमें सुन्दर होता है और खानेमें भी मीठा होता है परन्तु वह विषैला होता है। जीव उसके खानेसे मर जाते हैं। इसीकार ये बौद्ध आदिक मत हैं। बाहरसे अच्छेसे दिखाई पडते हैं परन्तु सब नरकादिक दुर्गतियोंमें ही पहुंचानेवाले हैं। अतएव बौद्धादिक अन्य मतके ज्ञानकी वा विज्ञान अर्थात् कुशलताकी प्रशंसा नहीं करना, अन्यमतके ज्ञान विज्ञान को देखकर आश्चर्य नहीं करना तथा युक्तियोंसे परिपूर्ण ऐसे भगवान् जिनेन्द्रदेव के कहे हुए बचनोंमें श्रद्धान करना, अन्य किसी कुदेवादिकको नहीं मानना वा अन्य किसीभी मतमें विश्वास नहीं करना सो अमूढदृष्टि अंग कहलाता है ॥ ५९–६० ॥

यद्वत्पुत्रकृतं दोषं यत्नान्माता निगूहति ।
तद्वत्सद्धर्मदोषोपगूहः स्यादुपगूहनम् ॥ ६१ ॥

जिस प्रकार माता अपने पुत्रके दोषोंको बडे प्रयत्नसे छिपाती है उसीप्रकार धर्मात्मा पुरुषोंके दोषोंको बडे प्रयत्नसे छिपाना ढकना—प्रकाशित न होने देना उपगूहन अंग कहलाता है ॥ ६१ ॥

आत्मनोऽन्यस्य वा चेतो धर्मोद्विग्नं परीषहैः ॥
संबोध्य तत्र तच्चित्तस्थापनं स्यात्स्थितिक्रिया ॥ ६२ ॥

यदि अपना हृदय वा अन्य किसी दूसरेका हृदय परीषहोंके द्वारा वा अन्य किसी कारणसे धर्मसे उद्विग्न होता हो, धर्मसे चलायमान होता हो तो उसको समझाकर उसके हृदयको धर्ममें दृढ करदेना स्थितिकरण अंग है ॥ ६२ ॥

तन्नियोज्य यथाशक्ति धर्मे नूत्नेतरान्नरान् ।
धर्मोपबृंहणं कार्यं न धर्मो धार्मिकैर्विना ॥ ६३ ॥

इसलिये नये मनुष्यों को अथवा पहलेके धर्मात्माओं को अपनी शक्तिके अनुसार धर्म में लगाकर धर्मकी वृद्धि करनी चाहिये। क्योंकि धर्म धर्मात्माओंके आश्रय रहता है। धर्मात्माओंके विना कभी नहीं रहता ॥ ६३ ॥

प्रीतिर्जिनागमे वत्सलत्वं संघे चतुर्विधे ।
प्रमोदितोपकारित्वं चोपकारानपेक्षया ॥ ६४ ॥

आगे वात्सल्य अंगको कहते हैं। जैन धर्म में परम प्रेम करना, मुनि अर्जिका श्रावक श्राविका इन चारों प्रकारके संघमें परम वात्सल्य भाव रखना तथा बदलेके उपकारकी इच्छा न करते हुए चारों प्रकारके संघका उपकार करना तथा उस संघको देखकर प्रसन्न होना आदि सब वात्सल्य अंग कहलाता है ॥ ६४ ॥

जैनानापद्गतांस्तस्मादुपकुर्वन्तु सर्वथा ।
यः समर्थोऽप्युपेक्षेत स कथं समयी भवेत् ॥ ६५ ॥

यदि किसी जैनी भाई पर किसी प्रकार की आपत्ति आवे तो सब तरहसे उस आपत्तिको दूर कर उन भाइयोंका उपकार करना चाहिये। क्योंकि जो आपत्तियोंके दूर करने में समर्थ होकर भी उन आपत्तियोंको दूर नहीं करता, उन धर्मात्माओंकी आपत्तियोंको दूर करनेमें उपेक्षा वा उदासीनता धारण करलेता है वह सम्यग्दृष्टी किस प्रकार हो सकता है? अर्थात् कभी नहीं ॥ ६५ ॥

त्रिरत्नैरात्मनः सम्यग्भावनं स्यात्प्रभावनम् ।
सद्धर्मस्य प्रकाशो वा सम्यग्ज्ञानादिभिर्गुणैः ॥ ६६ ॥

आगे प्रभावनाका स्वरूप कहते हैं। रत्नत्रयके द्वारा अपने आत्माको पवित्र और निर्मल बनाना प्रभावना अंग है। अथवा सम्यग्ज्ञानादिक गुणोंके द्वारा श्रेष्ठ धर्मका प्रकाश करना, जैनधर्मका महत्व दिखलाना प्रभावना अंग है ॥६६॥

तेन ज्ञानप्रभावेण महताऽनशनादिना ।
महापूजादिभिश्चोच्चैः कर्त्तव्या समयोन्नतिः ॥ ६७ ॥

सम्यग्ज्ञानका प्रभाव प्रगट कर अथवा बेला तेला आदि महा उपवास धारण कर तथा अष्टान्हिकाकी महापूजा वा बिंबप्रतिष्ठा आदि महा पूजाओंके द्वारा जैन धर्मकी उत्कृष्ट उन्नति करनी चाहिये। जैन धर्मका महा प्रभाव दिखलाना चाहिये। इसको भी प्रभावना अंग कहते हैं ॥ ६७ ॥

जडात्मा शक्तियुक्तोऽपि यः सद्धर्मप्रकाशनम् ।
कुर्यान्न चेदसौ रिक्तो महीभारो नराधमः ॥ ६८ ॥

जो मनुष्य शक्तिशाली होकर भी इस जैनधर्मकी महिमा प्रगट नहीं करता, प्रभावना अंगका पालन नहीं करता उसे महा अज्ञानी समझना चाहिये, सम्यग्दर्शनरहित मिथ्यादृष्टी समझना चाहिये तथा मनुष्योंमें नीच मनुष्य और पृथ्वीका भाररूप समझना चाहिये ॥ ६८ ॥

जिनबिंबावलोकादिनिसर्गोऽल्पप्रयासतः ।
ज्ञेयश्चाधिगमस्तत्त्वविचारचतुरा मतिः ॥ ६९ ॥

ऊपर लिखे हुए आठों अंगोंसे सुशोभित होनेवाले इस सम्यग्दर्शनके दो भेद हैं एक निसर्गज और दूसरा अधिगमज। जो सम्यग्दर्शन विना किसी उपदेशके केवल जिनप्रतिमाके दर्शन करनेसे, जिनपूजा जातिस्मरण आदिके होनेसे थोडेसे प्रयत्नके द्वारा ही उत्पन्न हो जाय उसको निसर्गज सम्यग्दर्शन कहते हैं। तथा जो सम्यग्दर्शन समस्त तत्त्वोंके पठन पाठन करनेसे, तत्त्वोंका विचार करनेसे उत्पन्न होता है उसको अधिगमज सम्यग्दर्शन कहते हैं ॥ ६९ ॥

संज्ञिपर्याप्तभव्यस्य लब्धियुक्तस्य जाग्रतः ।
ज्ञानोपयोगिनो हेतू सम्यक्त्वाप्तेर्मताविमौ ॥ ७० ॥

जो जीव सैनी हो, पर्याप्तक हो, भव्य हो, क्षायोपशमिक, विशुद्धि, देशना, प्रायोग्य, और करण लब्धियोंसे परिपूर्ण हो, जो जाग्रत अवस्थामें हो–सोता न हो वा बेहोशीमें न हो, तथा जिसका उपयोग–आत्माका परिणाम–ज्ञानरूप ही हो, ऐसे जीवके सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है। तथा ऊपर लिखे निसर्ग और अधिगम इन दो कारणोंसे ही उत्पन्न होता है ॥७०॥

दृङ्मोहोपशमध्वंसक्षयोपशमकारणैः ।
भवच्छेदनिदानाद्यं दर्शनं त्रिविधं विदुः ॥ ७१ ॥

यह सम्यग्दर्शन आत्माका एक गुण है उसको आच्छादन करनेवालीं मिथ्यात्व सम्यक् मिथ्यात्व और सम्यक् प्रकृति मिथ्यात्व ये दर्शनमोहनीय की तीन प्रकृतियां हैं तथा अनन्तानुबन्धी क्रोध, अनन्तानुबन्धी मान, अनन्तानुबन्धी माया और अनन्तानुबन्धी लोभ ये चार चारित्रमोहनीय की प्रकृतियां हैं। इस प्रकार सात प्रकृतियां

सम्यग्दर्शनको घात करती हैं। इन सातों प्रकृतियोंके उपशम होनेसे औपशमिक सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है, इन्हीं सातों प्रकृतियोंके क्षय होनेसे क्षायिक सम्यग्दर्शन होता है। तथा अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ, मिथ्यात्व सम्यग्मिथ्यात्व इन छह प्रकृतियोंके उदयाभावी क्षय होनेसे तथा इन्हीं सत्तावस्थित छह प्रकृतियोंका उपशम होनेसे और सम्यक् प्रकृतिमिथ्यात्व का उदय होनेसे क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन होता है। इस प्रकार औपशमिक क्षायिक और क्षायोपशमिकके भेदसे यह सम्यग्दर्शन तीन प्रकारका होता है। यह तीनों प्रकारका सम्यग्दर्शन रत्नत्रयमें प्रथम वा मुख्य है और जन्ममरणरूप संसारके नाश करनेमें मुख्य कारण है ॥ ७१ ॥

दर्शने निर्मला वृत्तिर्ज्ञानचारित्रसंपदः ।
पदे मुक्तिरमादर्शे दर्शनाचार ईरितः ॥ ७२ ॥

आगे दर्शनाचारका स्वरूप कहते हैं। जो सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र रूपी संपदाओंका स्थान है और मोक्षरूपी लक्ष्मीके लिये दर्पणके समान है ऐसे सम्यग्दर्शनमें निर्मल प्रवृत्ति करना, उसको निर्मल रीतिसे पालन करना दर्शनाचार कहलाता है ॥ ७२ ॥

एतद्देवनरेश्वरामृतपदश्रीवश्यकृद्दर्शनं
किं चानंतभवान्तकृत्परमतत्प्रोन्मेषपूतात्मनः ।
कांतासु त्रिषु भावनादिषु महीषट्के च वंशादिके
नोत्पत्तिर्विकलेन्द्रियैककरणे बद्धायुषोऽप्यंगिनः ॥ ७३ ॥

आगे दर्शनाचार की महिमा दिखलाते हैं। यह सम्यग्दर्शन देव, चक्रवर्ती और मोक्षपद की लक्ष्मीको अपने आधीन करनेवाला है और अनन्त संसारका नाश करनेवाला है। ऐसे इस परमोत्कृष्ट सम्यग्दर्शनके धारण करनेसे जिनका आत्मा पवित्र होगया है ऐसे जीव यदि सम्यग्दर्शन उत्पन्न होनेसे पहले नरक वा तिर्यंच आयुका बंध करलेवें तो भी वे किसी भी स्त्री जातिमें उत्पन्न नहीं होते, भवनवासी व्यंतर और ज्योतिषी देव नहीं होते, वंशादि दूसरे तीसरे चौथे पांचवें छठे और सातवें नरकमें नहीं जाते और एकेंद्रिय, दोइंद्रिय, तेइन्द्रिय तथा चौइन्द्रिय जीवोंमें उत्पन्न नहीं होते। सम्यग्दर्शनका इतना प्रबल माहात्म्य है ॥ ७३ ॥

ज्ञानं येन समस्तवस्तुविषयं चारित्रमेनोलता-
दात्रं येन पवित्रिताः सुकृतिनो येनाऽस्तु तद्दर्शनम् ।
मच्चेतःशरणप्रकाशनमणिर्यन्नूत्नचिन्तामणि-
र्भव्यानां यदचिन्तितामितफलैर्नित्यप्रमोदोदयम् ॥ ७४ ॥

जिस सम्यग्दर्शनके प्रभावसे यह ज्ञान समस्त पदार्थोंका जाननेवाला हो जाता है, तथा जिसके प्रभावसे चारित्र पापरूपी लताओंको उखाडकर फेंकदेनेके लिये हसिया वा दांताका काम करता है, जो सम्यग्दर्शन पुण्यवान् पुरुषोंको महा पवित्र बना देता है, जो सम्यग्दर्शन मेरे हृदयरूपी घरके प्रकाश करनेमें मणि वा सूर्यके समान है, तथा जो सम्यग्दर्शन मोक्षादिक चिंतित फल देनेके लिये नवीन चिंतामणि रत्नके समान है ऐसा यह सम्यग्दर्शन भव्य जीवोंको जो कभी चिंतवन करनेमें भी न आवें ऐसे अनन्त चतुष्टय आदि अनेक फलोंको देकर सदा हर्षित वा सुखी करता रहे । भावार्थ–इस सम्यग्दर्शनके धारण करनेसे जीवोंको अनन्त सुखोंकी प्राप्ति हो ॥ ७४ ॥

श्रियं त्रिलोकीपतिपुष्पदन्तः पुष्यादनंतः प्रियमुक्तिकान्तः ।
दुरंतमिथ्यात्वतमस्तमोरिर्जिनो मनोजद्विरदद्विपारिः ॥ ७५ ॥

इति श्रीमद्वीरनंदिसिद्धांतिचक्रवर्तिप्रणीते श्रीआचारसारनाम्नि शास्त्रे दर्शनाचारवर्णनात्मकस्तृतीयोऽधिकारः॥ ३ ॥

आगे अधिकारके अन्तमें श्री पुष्पदन्त स्वामी को स्मरण करते हैं । जो श्री पुष्पदन्त भगवान् अनन्त अर्थात् अंत वा नाश रहित हैं, जो अत्यंत प्रिय ऐसी मुक्तिरूपी स्त्री के स्वामी हैं, जो पुष्पदंत स्वामी अत्यंत दुःखसे बडी कठिनतासे नाश होने वाले मिथ्यात्वरूपी अंधकार को नाश करने के लिये सूर्यके समान हैं, जिन्होंने मोहनीय कर्म तथा ज्ञानावरण दर्शनावरण और अन्तराय कर्म को सर्वथा नाश कर अरहंत अवस्था प्राप्त करली है । तथा जो पुष्पदंत भगवान् कामदेवरूपी हाथीको नाश करनेके लिये सिंहके समान हैं और जो तीनों लोकोंके स्वामी हैं ऐसे नौवें तीर्थंकर श्री पुष्पदंत भगवान् हम लोगोंको मोक्षरूपी लक्ष्मी देवें ॥७५॥

इस प्रकार श्री वीरनंदि सिद्धांतचक्रवर्ती विरचित श्री आचारसार नामके शास्त्रकी, चावली (आगरा)
निवासी, देहली प्रवासी "धर्मरत्न," लालाराम शास्त्री द्वारा निर्मित सरल हिंदी भाषा
टीकामें दर्शनाचारको निरूपण करने वाला यह तीसरा अधिकार समाप्त हुआ।

अथ चतुर्थाधिकारः ।

जयत्यनंताप्रतिमप्रबोधप्रद्योतविद्योतितविश्वतत्त्वः ।
प्रत्यस्तकर्मोरुतमःप्रतानः प्रोद्बुद्धभव्याब्जवनोऽजितेनः ॥ १ ॥

चौथा अधिकार.

जो भगवान् अजितनाथ स्वामी सूर्यके समान हैं । सूर्य जिस प्रकार अपनी किरणोंसे समस्त संसारको प्रकाशित करता है उसी प्रकार भगवान् अजितनाथ स्वामीने अपने अनन्त और उपमारहित ऐसे केवलज्ञानकी किरणोंसे संसारके जीव अजीव आदि समस्त तत्त्वोंको प्रकाशित कर दिया है । तथा सूर्य जिस प्रकार अन्धेरेको दूर करता है उसी प्रकार जिन अजितनाथ स्वामीने अपने कर्मरूपी घोर अन्धकारका नाश करदिया है । और सूर्य जिस प्रकार कमलोंके समूहको प्रफुल्लित कर देता है उसी प्रकार जिन अजितनाथ स्वामीने भव्यरूपी कमलोंके वनको प्रफुल्लित करदिया है । ऐसे वे श्री अजितनाथ भगवान् सदा जयशील हों ॥ १ ॥

जानाति ज्ञास्यत्यज्ञासीदनेन ज्ञ इति स्मृतम् ।
ज्ञानं स्यान्नूतनात्मार्थव्यवसायनिराकृतिः ॥ २ ॥

आगे ज्ञानाचारका वर्णन करनेकेलिये ज्ञानका स्वरूप कहते हैं । जो पदार्थोंके स्वरूपको जानता है, अथवा जानेगा तथा जो पहले भी जानता था उसको ज्ञान कहते हैं । ज्ञान आत्माका स्वभाव है अथवा यह आत्मा ज्ञानमय है इसीलिये इस ज्ञानके ही कारण आत्माको ज्ञ अर्थात् जाननेवाला कहते हैं । वह ज्ञान अपने स्वरूपका भी निश्चय कराता है और नवीन नवीन पदार्थोंका निश्चय कराता है तथापि वह पदार्थके आकाररूप नहीं होता । भावार्थ—यहांपर प्रमाण ज्ञानका लक्षण है । ज्ञान प्रमाण वही माना जाता है जो अपूर्व पदार्थोंको ग्रहण करनेवाला हो, पदार्थोंका निश्चायक हो और स्वयं पदार्थाकार परिणत न होता हो । जो ज्ञान अपूर्व वा अगृहीत पदार्थोंको ग्रहण नहीं करता वह प्रमाण नहीं हो सकता; जैसे धारावाहिक ज्ञान । पहले घटका ज्ञान होजानेपर जो फिर "यह घट है" इस प्रकार बार बार ज्ञान होता है उसको धारावाहिक ज्ञान कहते हैं । यह धारावाहिक ज्ञान प्रमाण नहीं माना जाता । क्योंकि घटका ज्ञान पहले ही

॥६९॥

उत्पन्न हो लेता है। फिर "यह घट है, यह घट है" इस ज्ञानसे कोई लाभ नहीं होता—किसी विशेष पदार्थकी जानकारी नहीं होती। इस लिये वह धारावाहिक ज्ञान अप्रमाण माना जाता है। आचार्यने नूतन शब्द देकर इस धारावाहिक ज्ञानका निराकरण किया है। 'वह ज्ञान अपने स्वरूपको जानता है' इस पदसे यौग सांख्य और मीमांसकोंका परिहार किया है। मीमांसक ज्ञानको परोक्ष मानते हैं। सांख्य कहते हैं कि ज्ञान प्रधानका परिणाम है इसलिये वह अचेतन है। तथा अचेतन होनेसे वह अपने स्वरूपको नहीं जान सकता। इसी प्रकार यौग मानते है कि ज्ञानका समवाय संबंध एक आत्मासे होता है; उससे फिर पदार्थोंका ज्ञान होता है। ऐसी अवस्थामें वह ज्ञान अपने स्वरूपको नहीं जान सकता। परन्तु ये तीनों ही सिद्धांत मिथ्या हैं। जैसे दीपक परपदार्थोंका प्रकाश करता है परन्तु अपना प्रकाश भी वह स्वयं करता है। इसी प्रकार ज्ञान भी अपने स्वरूपको प्रकाशित करता हुआ ही पर पदार्थोंको प्रकाशित करता है। इसीप्रकार अर्थ—शब्दसे विज्ञानाद्वैतवादी और शून्यवादियोंका निराकरण किया है। विज्ञानाद्वैतवादी समस्त पदार्थोंको विज्ञानस्वरूप ही मानते हैं, वास्तविक नहीं मानते। इसीप्रकार शून्यवादी जगत्‌का स्वरूप शून्यरूप ही मानते हैं। परन्तु ये दोनों मत मिथ्या हैं। संसारमें जीवाजीवादिक पदार्थ विद्यमान हैं उन सबको ज्ञान जानता है। इसप्रकार अर्थ शब्दसे विज्ञानाद्वैतवादी और शून्यवादियोंका खंडन किया है। इसीप्रकार बौद्ध निर्विकल्पक ज्ञानको प्रत्यक्ष मानता है। परन्तु निर्विकल्प ज्ञानका निश्चय नहीं होता। अतएव व्यवसायात्मक वा निश्चयात्मक शब्दसे निर्विकल्पक ज्ञानको प्रत्यक्ष माननेवाले बौद्धोंका खंडन किया है। इसीप्रकार विज्ञानाद्वैतवादी बौद्ध विज्ञानको ही अर्थाकार परिणत होना मानता है। परन्तु ज्ञान कभी अर्थाकार परिणत नहीं होता। ज्ञान सदा ज्ञानस्वरूप ही रहता है। वह पदार्थके आकार रूप नहीं होता। अतएव निराकृति शब्दसे विज्ञानाद्वैतवादी बौद्धोंका खंडन किया है। इस प्रकार जो अपने स्वरूपका तथा पर पदार्थोंके स्वरूपका निश्चय करानेवाला है, जो अगृहीत अथवा अपूर्व पदार्थोंको ही ग्रहण करता है, और जो पदार्थाकार रूप परिणत नहीं होता उसको ज्ञान कहते हैं ॥ २ ॥

ज्ञेयं हि वस्तु सामान्यविशेषात्मकमत्र यत् ।
सामान्यमूर्ध्वता तिर्यक् चेति भेदद्वयं मतम् ॥ ३ ॥

ज्ञान जिन पदार्थोंको जानता है वे सामान्य और विशेष इन दो धर्म वाले अवश्य होते है। अर्थात् प्रत्येक पदार्थमें सामान्य और विशेष ये दो धर्म अवश्य होते हैं। उनमेंसे सामान्य धर्म वह कहलाता है जो अपने द्रव्यकी समस्त

॥७०॥

पर्यायोंमें उपस्थित रहे। उसके दो भेद हैं एक ऊर्ध्वता सामान्य और दूसरा तिर्यक् सामान्य ॥ ३ ॥

यत्परापरपर्यायव्यापि द्रव्यं तदूर्ध्वता ।
मृद्यथा स्थासकोशादिविवर्त्तपरिवर्त्तिनी ॥ ४ ॥

आगे ऊर्ध्वता सामान्यको कहते हैं। आगे पीछे की समस्त पर्यायोंमें जो व्याप्त होकर रहता है उसको उर्ध्वता सामान्य कहते हैं। जैसे स्थास, कोष, कुशूल आदि उत्तरोत्तरवर्ती जितनी पर्यायें हैं उन सबमें मिट्टी बराबर ज्यों की त्यों बनी रहती है। मिट्टीका जब घडा बनाते हैं तब मिट्टी को चाकपर रख कर पहले महादेवकी पिंडीके समान मिट्टीका आकार बनाते हैं उसको स्थास कहते हैं। फिर उसको पोला करते हैं, नीचेसे गहरा करते हैं उसको कोश कहते हैं। फिर आगे छोटेसे घडेकासा आकार बनाते हैं उसको कुशूल कहते है। इस प्रकार उस मिट्टीकी जितनी जितनी पर्यायें होती जांयगी उन सबमें मिट्टी बराबर बनी रहेगी. मिट्टीका अभाव किसी भी पर्यायमें नहीं है। इस प्रकार समस्त पर्यायोंमें मिट्टीपनका रहना ऊर्ध्वता सामान्य है। ऊर्ध्वता शब्दका अर्थ ऊपर ऊपर वा एकके ऊपर एक है। पदार्थोंकी जो पर्यायें बदलती हैं वे इस प्रकार बदलती हैं कि एक पर्याय नष्ट होकर दूसरी पर्याय प्रगट होती है। दूसरी नष्ट होकर तीसरी उत्पन्न होती है। इस प्रकार अनंत कालतक जो पर्यायें होती रहती हैं उन सबमें वह मूल द्रव्य अवश्य बना रहता है क्योंकि उसके विना पर्यायें ही नहीं हो सकती। इस प्रकार समस्त पर्यायोंमें उस द्रव्यका बना रहना ऊर्ध्वता सामान्य है ॥ ४ ॥

परिणामः समस्तिर्यक् खंडमुंडादिगोषु वा ।
गोत्वं विशेषः पर्यायव्यतिरेकाद् द्विभेदवान् ॥ ५ ॥

आगे तिर्यक् सामान्यका स्वरूप कहते है। समान परिणामको तिर्यक् सामान्य कहते हैं। जैसे कोई तो विना सींग की गाय है, कोई टूटे सींग की गाय है, कोई सफेद, कोई लाल है। इस प्रकार उन गायोंमें यद्यपि भिन्नता है तथापि गौपना सब गायोंमें समानरूपसे रहता है। उस गौपनेके रहनेमें किसी प्रकारका भेद नहीं रहता। इसप्रकार सब प्रकार की गायोंमें गौपनेका समान रीतिसे रहना तिर्यक् सामान्य है। इस प्रकार सामान्यके दोनों भेद बतलाये। अब आगे विशेष का स्वरूप कहते है। विशेषके दो भेद हैं, एक पर्याय और दूसरा व्यतिरेक। आगे क्रमसे दोनोंका स्वरूप कहते हैं ॥ ५ ॥

॥७१॥

एकस्य वस्तुनो भावाः पर्यायाः क्रमभाविनः ।
तोषरोषादयो भावा जीवे वा क्रमभाविनः ॥ ६ ॥

एक ही पदार्थके अनुक्रमसे होनेवाले जो भाव हैं अथवा जो पर्यायें हैं उनको विशेष कहते हैं । जैसे जीवमें प्रसन्नता वा क्रोध आदि भाव अनुक्रमसे होते हैं उन सबको विशेष कहते हैं ॥ ६ ॥

व्यतिरेको भवेद्भावो वस्त्वंतरगतोऽसमः ।
गोमहिष्यादिभावो यो यथा तद्व्यतिरेचकः ॥ ७ ॥

किसी एक पदार्थसे दूसरे पदार्थमें जो भिन्नता है उसको व्यतिरेक कहते हैं । जैसे गायसे भैंसमेंभिन्नता है । इसप्रकार एक पदार्थसे दूसरे सजातीय व विजातीय पदार्थमें भिन्नता है उसको व्यतिरेक कहते हैं । खंडी गायसे मुंडी गायमें जो विशेषता वा भिन्नता है वह सजातीय भिन्नता है । तथा गायसे भैंसमें जो भिन्नता है वह विजातीय भिन्नता है । इसप्रकार सामान्य और विशेषका स्वरूप बतलाकर अब आगे ज्ञानके भेद कहते हैं ॥ ७ ॥

ज्ञानं मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलैः ।
भिन्नहेतुस्वरूपार्थैर्भेदैः पंचविधं च तत् ॥ ८ ॥

ज्ञान पांच प्रकारका है मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान । यद्यपि सामान्य रीतिसे ज्ञान एक प्रकार है तथापि अपने २ उत्पन्न होनेके कारणोंकी भिन्नतासे, वा स्वरूपकी भिन्नतासे अथवा पदार्थोंके ग्रहण करनेकी भिन्नतासे उस ज्ञानके पांच भेद हो जाते हैं ॥ ८ ॥

स्वस्यार्थव्यंजनावग्रहेहनाऽवायधारणाः ।
मननं मतिरर्थस्य यत्तादिन्द्रियमानसैः ॥ ९ ॥

इन्द्रिय और मनके द्वारा ग्रहण किये हुए अपने पदार्थोंका मनन करना जानना मतिज्ञान है । उसके अवग्रह ईहा अवाय धारणाके भेदसे चार भेद होते हैं । तथा अवग्रह के अर्थावग्रह और व्यंजनावग्रहके भेदसे दो भेद होते हैं ॥ ९ ॥

॥७२॥

व्यंजनावग्रहश्चक्षुर्मनसोर्नास्त्यवग्रहः ।
विषयाक्षसन्निपातानंतराद्यग्रहः स्मृतः ॥ १० ॥

इंद्रिय और विषयोंका सम्बन्ध होनेपर जो प्रथम ही पदार्थोंका ग्रहण होता है उसको अवग्रह कहते हैं । उस अवग्रहके दो भेद हैं एक व्यंजनावग्रह और दूसरा अर्थावग्रह । उनमेंसे व्यजनावग्रह चक्षु और मनसे नहीं होता, बाकीकी चार इंद्रियोंसे होता है ॥ १० ॥

प्राप्ताप्राप्तार्थबोधाववग्रहो व्यंजनार्थयोः ।
रसरूपपरिज्ञाने रसनानेत्रयोर्यथा ॥ ११ ॥

इसका अभिप्राय यह है कि जो प्राप्त अर्थको जानता है वह व्यंजनावग्रह है और प्राप्त अप्राप्त दोनों प्रकारके पदार्थोंको ग्रहण करता है उसको अर्थावग्रह कहते हैं। जैसे रसका ज्ञान रसना इंद्रियके द्वारा होता है। जब पदार्थ रसना इंद्रियके समीप पहुंचता है तब रसका ज्ञान होता है । परन्तु रूपका ज्ञान जो नेत्र इंद्रियके द्वारा होता है वह अप्राप्त पदार्थ का ही होता है । न तो पदार्थ नेत्र के समीप पहुंचता है और न नेत्र ही पदार्थके समीप पहुंचता है । सूर्य चन्द्रमा आदि सुदूरवर्ती पदार्थोंको भी नेत्र इंद्रिय सन्निपात होनेके अनंतर ही, विना कुछ समय लगाये, ग्रहण करलेती है । इसप्रकार जो विना संबंध के पदार्थका ग्रहण किया जाता है वह अर्थावग्रह ही होता है । तथा रसना इंद्रियके द्वारा जो रसका ज्ञान होता है वह प्राप्त पदार्थोंका ही होता है इसलिये वह व्यंजनावग्रह भी होता है और अर्थावग्रह भी होता है। व्यंजन शब्दका अर्थ अप्रगट है । जैसे किसीने बुलानेके लिये आवाजें दीं, परंतु उनमेंसे दो आवाजें स्पष्ट सुनाई नहीं पडीं । तीसरी सुननेपर ' किसकी आवाज है, यह तो अमुककी होनी चाहिये ' इस प्रकारका ईहा ज्ञान होता है फिर यह अमुककी ही आवाज है ऐसा अवाय ज्ञान तथा धारणा ज्ञान होता है । यहां पहलेका अर्थावग्रह है । परन्तु पहली जो दो आवाजें स्पष्ट सुनाई नहीं पडीं तथापि वे कान तक तो आई । क्योंकि तीसरी आवाजके स्पष्ट सुननेपर यह भी अनुभव होता है कि यह आवाज आ तो रही थी हम लोगोंने स्पष्ट सुनी नहीं अथवा मनके दूसरे काममें लग जानेसे सुनी नहीं । इसलिये उन दो आवाजोंका ईहा अवाय धारणा नहीं हुआ किंतु कानतक आनेसे उसका अवग्रह तो

॥७३॥

हो ही गया क्योंकि उनका ग्रहण हो चुका। यदि ग्रहण न होता तो " यह आवाज आ तो रही थी " ऐसा अनुभव कभी नहीं होता। इस प्रकारसे अप्रगट पदार्थके ग्रहण करनेको व्यंजनावग्रह कहते हैं ॥ ११ ॥

अवग्रहगृहीतार्थविशेषे हीहनं मतम् ।
संशयांशविनाशोद्यान्निर्णयावयवं यथा ॥ १२ ॥
नरस्यावगृहीतस्य कर्णाटादिविशेषणैः ।
भवितव्यमनेनेति विज्ञानं निर्णयावधि ॥ १३ ॥

जो पदार्थ अवग्रहके द्वारा ग्रहण किया गया है उसके विशेष जाननेकी इच्छाको ईहा ज्ञान कहते हैं। यह ईहा ज्ञान संशयके अंशोंके नाश करनेका उद्यम करता रहता है। इस ईहा ज्ञानको एक प्रकारसे निर्णयका अवयव ही समझना चाहिये। जैसे दूरसे देखकर यह " मनुष्य है " इस प्रकारका जो ज्ञान होता है उसको अवग्रह कहते हैं। इस अवग्रह ज्ञानके वाद यह मनुष्य तो कर्णाटकी होना चाहिये इसप्रकार जो उसके विशेष जाननेकी इच्छासे ज्ञान उत्पन्न होता है उसको ईहा ज्ञान कहते हैं। यह ज्ञान तव तक वना रहता है जव तक कि उस पदार्थका अवायरूप निर्णय नहीं होता। जव उस पदार्थका निर्णय हो जाता है अर्थात् अवाय ज्ञान हो जाता है तव ईहा ज्ञान नष्ट हो जाता है। कभी कभी अवायको उत्पन्न न करके भी ईहा नष्ट होजाती है ॥ १२-१३ ॥

ईहितार्थस्थलिंगैर्यस्तद्विशेषविनिश्चयः ।
अवायो लाट एवायमिति भाषादिभिर्यथा ॥ १४ ॥

आगे अवायका स्वरूप कहते हैं। जिस पदार्थको ईहा ज्ञानके द्वारा जाना है उस पदार्थमें रहनेवाले चिन्होंसे उसका विशेष निश्चय करना अवाय ज्ञान है। जैसे उस मनुष्यकी भाषा अथवा पोशाक आदिसे यह निश्चय कर लेना कि यह कर्णाटक देशका ही है। अथवा यदि वह लाट देशका है तो ईहा ज्ञानमें भी " यह लाट देशका होना चाहिये " ऐसा ईहा ज्ञान होता है तथा अवाय ज्ञानमें " यह लाट देशका ही है " ऐसा ज्ञान होता है। इस प्रकार उस पदार्थके निर्णय होनेको अवाय ज्ञान कहते है ॥ १४ ॥

कालान्तरे परिज्ञातवस्तुस्मरणकारकः ।
संस्कारो यस्तदुत्पत्तिकारणं धारणाह्वयम् ॥ १५ ॥

जिस पदार्थको अवाय ज्ञानके द्वारा निश्चय कर लिया है उसका आत्माके साथ ऐसा संस्कार हो जाना कि जिससे उस पदार्थका कालांतरमें भी स्मरण बना रहे; उसको धारणा कहते हैं । यह धारणा ज्ञान स्मरण ज्ञानका कारण है या स्मरणज्ञानको उत्पन्न करनेवाला है । इस प्रकार अवग्रह ईहा अवाय धारणाका स्वरूप कहा ॥ १५ ॥

ते बहुबहुविधक्षिप्रानिसृतानुक्तध्रुवाः ।
प्रत्येकं सेतराश्चेति द्वादशावग्रहादयः ॥ १६ ॥

अब आगे इन चारोंके भेदोंका वर्णन करते हैं । अवग्रह ईहा अवाय धारणा इन चारों ज्ञानोंमेंसे प्रत्येक ज्ञानके बारह बारह भेद हैं । और वे इस प्रकार हैं । बहु, बहुविध, क्षिप्र, अनिःसृत, अनुक्त और ध्रुव ये छह तथा इनके विपरीत एक, एकविध, अक्षिप्र, निःसृत, उक्त और अध्रुव ये छह । इस प्रकार बारह भेद प्रत्येक के होते हैं । बहुतसे पदार्थों के ज्ञानको बहु कहते हैं । एक पदार्थके ज्ञानको एक कहते हैं । अनेक प्रकारके पदार्थोंके ज्ञानको बहुविध कहते हैं । एक प्रकारके पदार्थोंके ज्ञानको एकविध कहते हैं । शीघ्रताके साथ ज्ञान होनेको क्षिप्र कहते हैं । देरसे ज्ञान होनेको अक्षिप्र कहते हैं । अप्रगट या छिपे हुए पदार्थके ज्ञानको अनिःसृत कहते हैं । प्रगट वा बाहर आये हुए पदार्थके ज्ञानको निःसृत कहते हैं । विना कहे हुए पदार्थके ज्ञानको अनुक्त कहते हैं । कहे हुए पदार्थके ज्ञानको उक्त कहते हैं । स्थिर ज्ञानको ध्रुव कहते हैं और अस्थिर ज्ञानको अध्रुव कहते हैं । इस प्रकार ये बारह बारह भेद अवग्रह ईहा अवाय धारणा इन चारोंके होते हैं ॥ १६ ॥

बह्वेकव्यक्तिविज्ञानं बह्वेकं च क्रमाद्यथा ।
बहवस्तरवः सूपो बहुश्चैकं वनं नरः ॥ १७ ॥

आगे इनका विशेष स्वरूप दिखलाते हैं । बहुतसे पदार्थोंका ज्ञान होना बहु ज्ञान है । जैसे ये बहुतसे वृक्ष हैं अथवा यह बहुतसी दाल है । तथा एक पदार्थका ज्ञान होना एक ज्ञान है । जैसे यह एक वन है । अथवा यह एक मनुष्य है ॥ १७ ॥

बह्वेकजातिविज्ञानं स्याद् बह्वेकविधं यथा ।
वर्णा नृणां बहुविधा गौर्जात्यैकविधेति च ॥ १८ ॥

अनेक जातियोंके अथवा अनेक प्रकारके पदार्थोंका ज्ञान होना बहुविध ज्ञान कहलाता है। जैसे मनुष्योंमें अनेक वर्ण (ब्राह्मणादिक) होते हैं। तथा एक जातिके अथवा एक प्रकारके पदार्थोंका ज्ञान होना एकविध ज्ञान कहलाता है। जैसे गायें सब गोत्व जातिसे एक प्रकारकी हैं ॥ १८ ॥

आश्वर्थस्य ग्रहः क्षिप्रं स्यादाक्षिप्रं शनैर्ग्रहः ।
मृत्पात्रं यद्वदादत्ते नूत्नं चानूतनं जलम् ॥ १९ ॥

पदार्थोंके शीघ्र ग्रहण करनेको क्षिप्र कहते हैं। और धीरे धीरे देरसे ग्रहण करनेको अक्षिप्र कहते हैं। पानीकी बून्दें डाली जांय तो जैसे नया मिट्टीका सकोरा बहुत शीघ्र उस जलको ग्रहण करलेता है और मिट्टीका पुराना सकोरा बहुत देरमें ग्रहण करता है ॥ १९ ॥

वस्त्वंशाद्वस्तुनस्तस्य वस्त्वंशाद्वस्तुनोऽथवा ।
तत्रासन्निहितान्यस्याऽनिःसृतं मननं यथा ॥ २० ॥
घटार्वाग्भागकन्यास्यगवयग्रहणक्षणे ।
स्फुटं घटेन्दुगोज्ञानमभ्याससमयान्विते ॥ २१ ॥

आगे निःसृत और अनिःसृतका लक्षण कहते हैं। किसी पदार्थके एक अंशको देखकर या जानकर उस पदार्थका ज्ञान हो जाना निःसृत है। तथा किसी पदार्थके किसी एक अंशको जानकर उसमें न रहने वाले किसी अन्य पदार्थका ज्ञान हो जाना अनिःसृत कहलाता है। जैसे किसी घटके एक भागको देखकर उस घटका ज्ञान हो जाना निःसृत मतिज्ञान है। तथा किसी कन्याके मुखको देखकर चन्द्रमाका ज्ञान होना अथवा गवय नामके पशुको देखकर गायका ज्ञान होना सो अनिःसृत मतिज्ञान है। ये सब ज्ञान बार बारके अभ्यास अवस्थामें होते हैं। कन्याका मुख चंद्रमाके समान है। यद्यपि चंद्रमा वहां पर नहीं है तथापि उस कन्याके मुखको देखकर केवल समानता होनेके कारण चंद्रमाका

ज्ञान हो जाना अनिःसृत मतिज्ञान है। इसी प्रकार गवय (रोज) नामका पशु गायके समान होता है इसलिये उस गवय को देखकर गायके न होते हुए भी गायका ज्ञान होना अनिःसृत मतिज्ञान है॥ २० २१ ॥

वस्त्वेकदेशमात्रस्य विज्ञानं निःसृतं मतम् ।
घटार्वाग्भागमात्रेऽपि कचिज्ज्ञानं हि दृश्यते ॥ २२ ॥

यहां पर कदाचित् कोई यह कहे कि पदार्थके एक देशका ज्ञान नहीं होता, तो इसका उत्तर यह है कि पदार्थके एक देशका ज्ञान होना निःसृत मतिज्ञान कहलाता है। जैसे कहीं कहीं पर घटके केवल एक भागका ही ज्ञान होता है। ऐसा प्रायः बहुत जगह देखा जाता है॥ २२ ॥

प्रत्यक्षनियताऽन्याहग्गुणार्थैकाक्षबोधनम् ।
अनुक्तमेकदैवोक्तं प्रत्यक्षनियतग्रहः ॥ २३ ॥
चक्षुषा दीपरूपावलोकावसर एव यत् ।
तदुष्णस्पर्शविज्ञानं यथोक्तार्थः प्ररूप्यते ॥ २४ ॥

इसप्रकार निःसृत अनिःसृतका स्वरूप कहकर अब उक्त अनुक्तका स्वरूप कहते हैं। इंद्रियोंके द्वारा जो पदार्थोंका ज्ञान होता है उसको सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहते हैं : उस सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष होनेमें अलग अलग इंद्रियोंका विषय अलग अलग नियत है। जैसे नेत्रोंका विषय रूप देखना है, स्पर्शन इंद्रियका विषय स्पर्श करना है, नासिकाका विषय गन्ध लेना है, रसनाका चाखना है और कर्णका शब्द सुनना है। उसमेंसे एक इंद्रियका जो विषय नियत है उसके साथ साथ उसी इंद्रियके द्वारा, अन्य इंद्रियोंके द्वारा ग्रहण करने योग्य विषयका ज्ञान हो जाना अनुक्त कहलाता है। तथा जिस इंद्रियका जो विषय है उस इंद्रियके द्वारा केवल उसीके विषयका ज्ञान होना उक्त कहलाता है। जैसे नेत्र इंद्रियका विषय रूप देखना है। उसने किसी एक दीपकको देखा, उस दीपकके साथ साथ जो देखने मात्रसे ही उस दीपककी उष्णताका ज्ञान हो जाता है उसको अनुक्त ज्ञान कहते हैं। क्योंकि उष्णताका ज्ञान होना स्पर्शन इंद्रियका विषय है परन्तु उस दीपककी उष्णताका ज्ञान स्पर्शन इंद्रियसे नहीं हुआ है किंतु नेत्र इंद्रियके द्वारा देखनेके साथ ही हुआ

है। अतएव देखनेके साथ ही उष्णताका ज्ञान होना अनुक्त मतिज्ञान है। तथा नेत्रके द्वारा केवल दीपकका दिखना अथवा उसकी उष्णताका ज्ञान स्पर्शन इंद्रियके द्वारा होना उक्त नामका मतिज्ञान कहलाता है॥ २३–२४ ॥

स्पर्शनं रसनं घ्राणं चक्षुः श्रोत्रं मनश्च खम्।
अर्थः स्पर्शो रसो गंधा रूपं शब्दः श्रुतादयः ॥ २५ ॥

स्पर्शन, रसना, घ्राण चक्षु श्रोत्र और मन ये इंद्रियां हैं तथा स्पर्श रस गंध रूप शब्द और श्रुतज्ञानके विषयभूत ये सब उन इन्द्रियोंके विषय हैं। भावार्थ—स्पर्शन इन्द्रियका विषय स्पर्श है। रसना इन्द्रिय रसको ग्रहण करती है। घ्राण इंद्रिय गंधको, चक्षु इंद्रिय रूपको, श्रोत्र इन्द्रिय शब्दको और मन श्रुतज्ञानके द्वारा जानने योग्य समस्त विषयोंको ग्रहण करता है॥ २५ ॥

स्यान्नित्यत्वविशिष्टस्य स्तंभादेर्ग्रहणं ध्रुवः।
विद्युदादेरनित्यत्वेनान्वितस्याध्रुवो ग्रहः ॥ २६ ॥

आगे ध्रुव अध्रुवज्ञानका स्वरूप कहते हैं। जो पदार्थ नित्यत्व धर्मकी मुख्यता रखता है ऐसे पदार्थका ज्ञान होना ध्रुवज्ञान है। जैसे किसी खंभेका ज्ञान होना। खंभा एक मजबूत और बहुत दिन तक रहनेवाला पदार्थ है, अतएव उस का ज्ञान ध्रुवज्ञान कहलाता है। तथा जो पदार्थ अनित्य धर्मकी मुख्यता रखता है उसका ज्ञान होना अध्रुव ज्ञान कहलाता है। जैसे विजली वा इन्द्रधनुषका ज्ञान होना। विजली क्षणभर ही रहती है, इसीलिये उसका ज्ञान अध्रुवज्ञान कहलाता है। इस प्रकार बहु अबहु आदि बारह भेदोंका वर्णन उदाहरण देकर समझाया॥ २६ ॥

लब्धिः सदोपयोगश्च स्याद्भावेन्द्रियमात्मनः।
निर्वृत्त्युपकरणे द्वे स्तो द्रव्येन्द्रियमत्र तु ॥ २७ ॥

आगे इन सब इंद्रियोंके भेद दिखलाते हैं। इन इंद्रियोंमेंसे प्रत्येक इंद्रियके दो दो भेद हैं। एक भावेन्द्रिय और दूसरी द्रव्येन्द्रिय। इनमें भी भावेन्द्रियके दो भेद हैं, एक लब्धि और दूसरा उपयोग। आत्माके जो परिणाम, इंद्रियरूप दिखाई तो न पड़ें परंतु इंद्रियोंका काम करें उनको भावेंद्रिय कहते हैं। वह लब्धि और उपयोग रूपसे दो प्रकार

४
॥७८॥

है । कर्मोंके क्षयोपशमको लब्धि कहते हैं । प्रत्येक ज्ञानमें कर्मोंका क्षयोपशम कारण है । जैसे किसी चौकीपर सौ चीजें रक्खी हैं, उनको दश मनुष्य एक एक घंटे तक देखते हैं, फिर भी किसीको किसी चीजका ज्ञान नहीं होता और किसीको किसी अन्य पदार्थका ज्ञान नहीं होता । चौकीपर नेत्र सबके पडते हैं परंतु जिनको जिस पदार्थ संबंधी आवरण करनेवाले कर्मोंका क्षयोपशम होता है उनको उसीका ज्ञान होता है। जिसका क्षयोपशम नहीं होता उसका ज्ञान नहीं होता। इस प्रकार कर्मोंका क्षयोपशम होना ज्ञानमें कारण है। अतएव वह क्षयोपशम लब्धि नामका भावेन्द्रिय कहलाता है । इसी प्रकार जब इन्द्रियां अपने अपने विषयको ग्रहण करती हैं, उस समय आत्माके जो परिणाम उन इन्द्रियोंकी ओर झुकते है उनको उपयोग कहते हैं । यदि वे आत्माके परिणाम इन्द्रियोंकी ओर न झुकें अर्थात् उस इन्द्रियकी ओर अपना उपयोग न लगे तो उस पदार्थका ज्ञान ही नहीं होता है । यही कारण है कि कभी कभी हम जिसको देखने जाते हैं वह सामनेसे निकल जाता है और उसका ज्ञान हमको नहीं होता । अथवा कभी कभी हम लोग किसी काममें ऐसे लग जाते हैं कि सामनेसे बजता हुआ बाजा निकल जाता है और हमको सुनाई नहीं पडता । इसका कारण यही है कि हमारा उपयोग अन्य काममें लगा था, श्रोत्र इंद्रियकी ओर नहीं झुका था । इसलिये उसका ज्ञान नहीं हुआ । अतएव ज्ञानका कारण होनेसे उपयोग भी भावेंद्रिय है । इस प्रकार भावेंद्रियके दो भेद हैं ।

अब आगे द्रव्येंद्रियके भेद बतलाते हैं। द्रव्येंद्रियके दो भेद हैं, निर्वृत्ति और उपकरण । निर्वृत्ति शब्दका अर्थ बनावट है । इंद्रियोंके बननेमें दो पदार्थ काम आते हैं, एक आत्माके प्रदेश और दूसरे शरीरके परमाणु वा पुद्गलके परमाणु । उनमेंसे आत्माके जो प्रदेश इन्द्रियोंके आकार रूप परिणत होते हैं उनको अंतरंग निर्वृत्ति कहते हैं। और पुद्गलके जो परमाणु इंद्रियोंके आकार रूप परिणत होते हैं उनको बाह्य निर्वृत्ति कहते हैं । जैसे नेत्रके आकाररूप वा अन्य इंद्रियोंके आकार रूप जो आत्माके प्रदेश हैं उन आत्माके प्रदेशोंका आकार जो इंद्रियोंके आकारमें परिणत होगया है वह अंतरंग निर्वृत्ति है । तथा नेत्रके आकारके वा अन्य इंद्रियोंके आकारके जो शरीरके वा पुद्गलके परमाणु बन गये हैं वह बहिरंग निर्वृत्ति है । इसी प्रकार जो इंद्रियोंका उपकार करे उसको उपकरण कहते हैं । जैसे नेत्रमें सफेदी वा काली पुतलीरूप रचना बन जाना । यदि काली पुतली न हो वा सफेदीमें कुछ अन्तर हो तो दिखाई नहीं पडता । अत एव काली पुतली वा सफेदी उपकारक होनेसे अन्तरंग उपकरण है । तथा इस अन्तरंग उपकरणको भी जो उपकार करता है वह बाह्य उपकरण है । जैसे पलक बिनूनी आदि । नेत्रके समान अन्य इंद्रियोंमें भी सब उप-

करण होते हैं। इस प्रकार निर्वृत्ति और उपकरणके भेदसे दो भेद द्रव्येंद्रियके बतलाये ॥ २७ ॥

चित्रार्धेन्द्वातिमुक्तकमसूरियवनालिकाः ।
अनुकुर्वती च बाह्या निर्वृत्तिः स्पर्शनादिषु ॥ २८ ॥

अब आगे उनका आकार बतलाते हैं। स्पर्शन इंद्रियका आकार अनेक प्रकार है। रसना इंद्रियका आकार अर्ध चन्द्रमाके समान है। घ्राण इंद्रियका आकार तिलके फूलके समान है। चक्षु इंद्रियका का आकार मसूर नामके अन्नके दानेके समान है। और कर्ण इंद्रियका आकार जौकी नालीके समान है। इस प्रकार स्पर्शनादिक इंद्रियोंकी निर्वृत्ति वा बनावटका आकार बतलाया ॥ २८ ॥

चतुःशतानि चापानां चतुःषष्टिः शतं क्रमात् ।
योजनात्रिसहस्राणि षट्चत्वारिंशता विना ॥ २९ ॥
धनुरष्टसहस्राणि क्षेत्रात्मा द्विगुणो वरः ।
एकेन्द्रियाद्यसंज्ञ्यंते विषयः स्पर्शनादिषु ॥ ३० ॥ युग्मम्
योजनानि त्रिषु नव श्रेष्ठोऽकस्थानकक्रमात् ।
त्रिषट्द्विसप्तचत्वारि चासौ द्वादश संज्ञिषु ॥ ३१ ॥

आगे ये इंद्रियां कितनी दूरतकका अपना विषय ग्रहण कर लेती हैं सो बतलाते हैं। स्पर्शन इंद्रियका विषय एकेन्द्रियके चारसौ धनुष, रसना इन्द्रियका विषय दोइन्द्रियके चौसठ धनुष, घ्राण इन्द्रियका विषय तेइन्द्रियके सौ धनुष, चक्षु इंद्रियका विषय चौइन्द्रिय के छयासठ कम तीन हजार योजन अर्थात दो हजार नौ सौ चौअन योजन, और श्रोत्र इन्द्रियका विषय असैनी पंचेन्द्रियके आठ हजार धनुष है। इसपे आगे दूना दूना विषय ग्रहण करना चाहिये। यह स्पर्शनादिक इन्द्रियोंका विषय एकेन्द्रियसे आदि लेकर बतलाया। सैनी पंचेन्द्रियके सब इंद्रियोंका विषय इस प्रकार है। स्पर्शन रसना घ्राण इन तीनों इंद्रियोंका विषय नौ नौ योजन है। चक्षुइंद्रियका विषय ४७२६३ $\frac{7}{20}$ योजन है। यह तीन छह दो सात चार लेनी चाहिये और बांई ओरसे लेनी चाहिये। ऐसा करनेसे ४७२६३ योजन होता है।

श्रोत्र इंद्रियका विषय बारह योजन है। इसप्रकार तीन श्लोकोंका यह समुच्चय अर्थ है।

भावार्थ— स्पर्शन इंद्रियका विषय एकेंद्रियके ४०० धनुष, दोइंद्रियके ८०० धनुष, तेइंद्रियके १६०० धनुष, चौइंद्रियके ३२०० धनुष, असेनी पचेंद्रियके ६४०० धनुष और सेनी पचेंद्रियके ९ योजन है। रसना इंद्रियका विषय दो इंद्रियके ६४ धनुष, तेइंद्रियके १२८ धनुष, चौइंद्रियके २५६ धनुष, असेनी पचेंद्रियके ५१२ धनुष और सेंनी पचेंद्रियके ९ योजन है। घ्राण इंद्रियका विषय तेइंद्रियके १०० धनुष, चौइंद्रियके २०० धनुष, असेंनी पचेंद्रियके ४०० धनुष और सेनी पंचेंद्रियके ९ योजन है। चक्षुइंद्रियका विषय चौइंद्रियके २९५४ योजन, असेंनी पचेंद्रियके ५९०८ योजन और सेनी पचेंद्रियके ४७२६३ योजन तथा एक योजनके बीस भागमेंसे सात भाग है। श्रोत्र इंद्रियका विषय असेनी पचेंद्रियके ८००० धनुष और सेनी पंचेंद्रियके १२ योजन है ॥ ३०-३१ ॥ यह सब उत्कृष्ट प्रमाण है। इसका यंत्र इसप्रकार है—

	एकेंद्रिय	दोइंद्रिय	तेइंद्रिय	चौइंद्रिय	असेंनी पं.	सेंनी पचेंद्रिय
स्पर्शन इंद्रिय	४०० ध.	८०० ध.	१६०० ध.	३२०० ध.	६४०० ध	९ योजन
रसना इं.		६४ ध.	१२८ ध.	२५६ ध.	५१२ ध.	९ योजन
घ्राण इं.			१०० ध.	२०० ध.	४०० ध.	९ योजन
चक्षु इं.				२९५४ योजन	५९०८ योजन	४७२६३ ७/२० योजन
श्रोत्र इं.					८००० ध.	१२ योजन

स्थूलवाग्गोचरानंतरार्थस्य स्थायिनश्चिरम् ।
प्रत्यक्षं नियतस्यैतद्बोधादाभिनिबोधनम् ॥ ३२ ॥

जो पदार्थ स्थूल है, वाणीके गोचर हैं, जो कहे जासकते हैं, जो चिरकालतक ठहरते है और निश्चितरूपसे रहते है ऐसे पदार्थोंको यह मतिज्ञान इन्द्रियप्रत्यक्ष जानता है, इसलिए इस मतिज्ञानको अभिनिबोध कहते है ॥ ३२॥

स्पर्शनादिमतिज्ञानावृत्तिवीर्यान्तराययोः ।
क्षयोपशमजं नानाभेदमेतदुदाहृतम् ॥ ३३ ॥

यह मतिज्ञान स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु, कर्ण आदि इन्द्रियसबंधि मतिज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमसे तथा वीर्यांतराय कर्मके क्षयोपशमसे उत्पन्न होता है। अतएव अपने २ अलग २ कर्मोंके क्षयोपशम होनेसे उत्पन्न होनेके कारण इसके अनेक भेद हो जाते हैं ॥ ३३ ॥

इसप्रकार मतिज्ञानका निरूपण किया। आगे श्रुतज्ञानका स्वरूप कहते है—

श्रुतं मतिगृहीतार्थशब्दैरन्यार्थबोधनम् ।
धूमादेः पावकादेर्वा बोधोऽग्नेरग्निशब्दतः ॥ ३४ ॥

मतिज्ञानके द्वारा ग्रहण किये हुए शब्द तथा अर्थोंके द्वारा अन्य पदार्थ का ज्ञान होना श्रुतज्ञान है जैसे मतिज्ञानके द्वारा धूमको जानकर उससे अग्निका ज्ञान होना श्रुतज्ञान है। अथवा 'अग्नि' इस शब्दको जानकर इस शब्दके द्वारा अग्नि पदार्थको जानलेना भी श्रुतज्ञान है। इससे सिद्ध होता है कि यह श्रुतज्ञान मतिज्ञानपूर्वक ही होता है ॥ ३४ ॥

तत्पर्यायाक्षरपदसंघातप्रतिपत्तिकाः ।
अनुयोगः प्राभृतप्राभृतं च प्राभृतं क्रमात् ॥ ३५ ॥
वस्तुपूर्वं समासाश्चामीषामिति समन्वितम् ।

॥८२॥

श्रुतं विकल्पविंशत्या स्वान्तस्थान्यविकल्पया ॥ ३६ ॥

इस श्रुतज्ञानके वीस भेद हैं — १-पर्याय २-पर्यायसमास ३-अक्षर ४-अक्षरसमास ५-पद ६-पदसमास ७-संघात ८. संघातसमास ९. प्रतिपत्ति १०. प्रतिपत्तिसमास ११. अनुयोग १२. अनुयोगसमास १३. प्राभृतप्राभृत १४. प्राभृतप्राभृतसमास १५. प्राभृत १६. प्राभृतसमास १७. वस्तु १८. वस्तुसमास १९. पूर्व २०. पूर्वसमास । इसप्रकार श्रुतज्ञानके वीस भेद होते है ॥ ३५-३६ ॥

श्रुतावरणवीर्यान्तरायमन्दोदयाच्छ्रुतम् ।
स्यादसंख्यजगन्मात्रं पर्यायादिप्रभेदतः ॥ ३७ ॥

श्रुतज्ञानावरण और वीर्यातराय कर्मके मद उदय होनेसे (क्षयोपशमसे) श्रुतज्ञान प्रगट होता है । तथा पर्यायादिकके भेदसे इस श्रुतज्ञानके असंख्यात लोकप्रमाण भेद होते है ॥ ३७ ॥

भावार्थ— इस श्रुतज्ञानके असख्यात भेद होजाते हैं ।

आगे अवधिज्ञानका स्वरूप दिखलाते हैं—

मूर्तमर्थं मितं क्षेत्रकालभावैरवस्फुटम् ।
मितोऽर्धात्यवधिर्द्वेधो भवगुणोद्भवः ॥ ३८ ॥

जो परिमित क्षेत्र, काल और भावके द्वारा परिमित मूर्त पदार्थको जाने उसको अवधिज्ञान कहते है । वह दो प्रकार उत्पन्न होता है एक भवनिमित्तक और दूसरा गुणनिमित्तक । जो अवधिज्ञान भवसे ही वा जन्मसे ही उत्पन्न हो उसको भवनिमित्तक अवधिज्ञान कहते हैं । तथा जो रत्नत्रयगुणके बढनेसे वा चारित्रगुणके बढनेसे उत्पन्न हो उसको गुणप्रत्यय वा गुणनिमित्तक अवधिज्ञान कहते है ॥ ३९॥

सुरनारकपर्याप्तभवजः प्रथमोऽपरः ।
मर्त्यतिर्यक्षु सम्यक्त्वगुणादीनां विशेषजः ॥ ३९ ॥

देव व नारकीयोंके पर्याप्त अवस्थामें जो जन्मसे ही अवधिज्ञान होता है उसको भवप्रत्यय अवधिज्ञान कहते

॥८३॥

स्थूलवाग्गोचरानंतरार्थस्य स्थायिनश्चिरम् ।
प्रत्यक्षं नियतस्यैतद्बोधादभिनिबोधनम् ॥ ३२ ॥

जो पदार्थ स्थूल है, वाणीके गोचर हैं, जो कहे जासकते हैं, जो चिरकालतक ठहरते है और निश्चितरूपसे रहते है ऐसे पदार्थोंको यह मतिज्ञान इंद्रियप्रत्यक्ष जानता है, इसलिए इस मतिज्ञानको अभिनिबोध कहते है ॥ ३२॥

स्पर्शनादिमतिज्ञानावृत्तिवीर्यान्तराययोः ।
क्षयोपशमजं नानाभेदमेतदुदाहृतम् ॥ ३३ ॥

यह मतिज्ञान स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु, कर्ण आदि इन्द्रियसंबंधि मतिज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमसे तथा वीर्यांतराय कर्मके क्षयोपशमसे उत्पन्न होता है। अतएव अपने २ अलग २ कर्मोंके क्षयोपशम होनेसे उत्पन्न होनेके कारण इसके अनेक भेद हो जाते है ॥ ३३ ॥

इसप्रकार मतिज्ञानका निरूपण किया। आगे श्रुतज्ञानका स्वरूप कहते है—

श्रुतं मतिगृहीतार्थशब्दैरन्यार्थबोधनम् ।
धूमादेः पावकादेर्वा बोधोऽग्नेरग्निशब्दतः ॥ ३४ ॥

मतिज्ञानके द्वारा ग्रहण किये हुए शब्द तथा अर्थोंके द्वारा अन्य पदार्थ का ज्ञान होना श्रुतज्ञान है जैसे मतिज्ञानके द्वारा धूमको जानकर उससे अग्निका ज्ञान होना श्रुतज्ञान है। अथवा 'अग्नि' इस शब्दको जानकर इस शब्दके द्वारा अग्नि पदार्थको जानलेना भी श्रुतज्ञान है। इससे सिद्ध होता है कि यह श्रुतज्ञान मतिज्ञानपूर्वक ही होता है ॥ ३४ ॥

तत्पर्यायाक्षरपदसंघातप्रतिपत्तिकाः ।
अनुयोगः प्राभृतप्राभृतं च प्राभृतं क्रमात् ॥ ३५ ॥
वस्तुपूर्वं समासाश्चामीषामिति समन्वितम् ।

॥८२॥

भवनवासी और व्यन्तरदेवोंके अवधिज्ञानका जघन्य क्षेत्र पचीस योजन है। तथा ज्योतिषी देवोंके अवधिज्ञानका जघन्य क्षेत्र उससे सख्यातगुणा है ॥४६॥

अमुरेष्वसंख्यकोट्यः स्युरुत्कृष्टमपरेषु तु।
ज्योतिष्कान्तेष्वसंख्यातसहस्राणि ततः क्रमात् ॥ ४७ ॥

असुरकुमार देवोंके अवधिज्ञानका उत्कृष्ट क्षेत्र असंख्यात करोड गुणा है। तथा अनुक्रमसे बढता बढता ज्योतिषी देवोंतक असख्यात हजार योजन होगया है ॥ ४७ ॥

द्विर्द्विश्चतुश्चतुर्द्विर्द्विर्नव चतुर्दशस्वपि।
कल्पेषु स्याद्विमानेषु कल्पातीतेषु चावधेः ॥ ४८ ॥
अधो घर्मादिलोकान्तादारभ्य त्रसनालिकम्।
क्षेत्रमूर्ध्वं वरक्षेत्रं स्वस्वलोकान्तसंस्थितम् ॥ ४९ ॥

कल्पवासीदेवोंमें सौधर्म और ऐशान स्वर्गके देवोंका अवधिज्ञान पहले घर्मा नामके नरकतक है। सानत्कुमार, माहेंद्र स्वर्गके अर्थात् तीसरे चौथे स्वर्गके देवोंका अवधिज्ञान दूसरे वशा नामके नरकतक है। ब्रह्म, ब्रह्मोत्तर, लांतव, कापिष्ठ नामके पांचवें छठे सातवें आठवें स्वर्गके देवोंका अवधिज्ञान मेघा नामके तीसरे नरकतक है। शुक्र, महाशुक्र, शतार, सहस्रार नामके नौवे दशवे ग्यारहवे बारहवे स्वर्गमें रहनेवाले देवोंका अवधिज्ञान अजना नामके चौथे नरकतक है। आनत, प्राणत, आरण, अच्युत, नामके तेरहवें, चौदहवें, पंद्रहवें, सोलहवे स्वर्गके देवोंका अवधिज्ञान अरिष्टा नामके पांचवें नरकतक है। नौ ग्रैवेयकमे रहनेवाले देवोंका अवधिज्ञान मघवी नामके छठे नरकतक है। तथा नव अनुदिश और विजय, वैजयत, जयत, अपराजित और सर्वार्थसिद्धिमें रहनेवाले अहमिंद्रोंके अवधिज्ञान माघवी नामके सातवें नरकतक है। तथा त्रसनाडीपर्यंत है। इन समस्त देवोंका अवधिज्ञान नीचेकी ओरका बतलाया। ऊपरकी ओर इन सब देवोंका अवधिज्ञान अपने २ विमानके ऊपरके ध्वजा दंडपर्यंत समझना चाहिए। इसप्रकार समस्त देवोंके अवधिज्ञानका क्षेत्र बतलाया ॥ ४८-४९ ॥

का त्यो बना रहे उसको अवस्थित कहते हैं। जो कभी घट जाय कभी बढ जाय ऐसे अवधिज्ञानको अनवस्थित कहते हैं। जो दूसरे क्षेत्रमें वा दूसरे लोकमें साथ जावे उसको अनुगामी कहते हैं। तथा साथ न जाय वहीं रहजाय उसको अननुगामी कहते हैं ॥ ४२ ॥

सुरनारकतीर्थेश्वरादौ सर्वांगसंभवः ।
अन्येष्वंगप्रशस्ताप्रशस्तचिह्नभवोऽवधिः ॥ ४३ ॥

यह अवधिज्ञान देव, नारकी और तीर्थंकरोंके समस्त शरीरसे उत्पन्न होता है। तथा अन्य मनुष्य तिर्यचोंके शरीरके शुभ, अशुभ चिन्होंसे प्रगट होता है ॥ ४३ ॥

घर्मायां योजनं कोशार्द्धोनं तत्क्रमशोऽन्तिमा ।
यावत्पृथ्वी मतं क्षेत्रमवधिर्निरयेष्विति ॥ ४४ ॥

पहले घर्मा नामके नरकमें नारकियोंका अवधिज्ञान एक योजन अर्थात् चार कोशतक होता है। फिर क्रमसे अंततक आधा आधा कोश घटता जाता है। अर्थात् दूसरे नरकमें साडेतीन कोश, तीसरेमें तीन कोश, चौथेमें ढाई कोश, पांचवेमें दो कोश, छठेमें डेढ कोश और सातवेंमें एक कोशतक अवधिज्ञान होता है। यह नारकियोंके अवधिज्ञानका क्षेत्र अपनी २ पृथ्वीमें समझना चाहिए ॥ ४४ ॥

तिर्यक्ष्वोघजघन्यादातेजोलंभान्मतोऽवधिः ।
नरेष्वोघाविकल्पोघो यथायोग्यं भवेदयम् ॥ ४५ ॥

तिर्यंचोंके अवधिज्ञान गुणस्थानोंके अनुसार जानलेना चाहिए। कमसे कम तेजो लेश्यासे अवधिज्ञान प्रगट होता है। इसीप्रकार मनुष्योंमे अपनी अपनी योग्यताके अनुसार गुणस्थानोंके अनुसार अवधिज्ञान होता है ॥ ४५ ॥

भौमभावनयोर्योजनानि स्युः पंचविंशतिः ।
जघन्यक्षेत्रं ज्योतिष्के ततः संख्यातसंगुणम् ॥ ४६ ॥

॥८५॥

है। तथा मनुष्य और तिर्यंचोंके जो सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय गुणकी विशेषतासे अवधिज्ञान प्रगट होता है उसको गुणप्रत्यय अथवा क्षयोपशमनिमित्तक अवधिज्ञान कहते है ॥ ३९ ॥

स्याद्देशपरमसर्वावधिभेदत्रयोऽवधिः ।
सामान्यस्तत्र देशावधिः स्याद्गुणभवोद्भवः ॥ ४० ॥

साधारण अवधिज्ञानके तीन भेद है। देशावधि, परमावधि और सर्वावधि। इनमेंसे देशावधि अवधिज्ञान गुणप्रत्यय भी होता है और भवप्रत्यय भी होता है। दोनों प्रकारका होता है ॥ ४० ॥

शेषौ चरमांगमुनेर्गुणजौ प्रतिपात्यपि ।
तत्र देशावधिर्बोधो शेषावप्रतिपातिनौ ॥ ४१ ॥

तथा परमावधि और सर्वावधि अवधिज्ञान चरमशरीरी मुनियोंके ही होते है। तथा रत्नत्रय गुणकी वृद्धि होनेसे ही होते है। देशावधि अवधिज्ञान प्रतिपाती है तथा अप्रतिपाती भी है। अर्थात् छूट भी जाता है तथा केवलज्ञान प्रगट होनेतक भी रहता है। और बाकीके परमावधि तथा सर्वावधि अवधिज्ञान अप्रतिपाती है। वे कभी नहीं छूटते। केवलज्ञान प्रगट होनेतक ही रहते है। जिनके परमावधि और सर्वावधि अवधिज्ञान होता है उनके केवलज्ञान अवश्य प्रगट होता है ॥ ४१ ॥

आगे अवधिज्ञानके और भी भेद बतलाते हैं—

वर्द्धमानानुगावस्थितेतरप्रविकल्पतः ।
षट्प्रकारोऽप्यसंख्यातलोकमात्रो विशेषतः ॥ ४२ ॥

वर्द्धमान, हीयमान, अवस्थित, अनवस्थित, अनुगामी, अननुगामी इनके भेदसे अवधिज्ञानके छह भेद होते है। तथा विशेषरीतिसे इसी अवधिज्ञानके असख्यात लोकप्रमाण भेद होजाते हैं। जो अवधिज्ञान उत्पन्न होनेपर केवलज्ञान होनेतक चारित्रगुणकी वृद्धि होनेके कारण बराबर बढता रहे उसको वर्द्धमान कहते है। जो उत्पन्न होते ही चारित्र गुणकी हीनताके कारण घटता रहे उसको हीयमान कहते है। जो न घटे न बढे ज्यों

॥८४॥

श्रुतं विकल्पविंशत्या स्वान्तस्थान्यविकल्पया ॥ ३६ ॥

इस श्रुतज्ञानके वीस भेद हैं – १-पर्याय २-पर्यायसमास ३-अक्षर ४-अक्षरसमास ५-पद ६-पदसमास ७-संघात ८. संघातसमास ९. प्रतिपत्ति १०. प्रतिपत्तिसमास ११. अनुयोग १२. अनुयोगसमास १३. प्राभृतप्राभृत १४. प्राभृतप्राभृतसमास १५. प्राभृत १६. प्राभृतसमास १७. वस्तु १८. वस्तुसमास १९. पूर्व २०. पूर्वसमास । इसप्रकार श्रुतज्ञानके वीस भेद होते हैं ॥ ३५-३६ ॥

श्रुतावरणवीर्यान्तरायमन्दोदयाच्छ्रुतम् ।
स्यादसंख्यजगन्मात्रं पर्यायादिप्रभेदतः ॥ ३७ ॥

श्रुतज्ञानावरण और वीर्यांतराय कर्मके मंद उदय होनेसे (क्षयोपशमसे) श्रुतज्ञान प्रगट होता है । तथा पर्यायादिकके भेदसे इस श्रुतज्ञानके असंख्यात लोकप्रमाण भेद होते हैं ॥ ३७ ॥

भावार्थ— इस श्रुतज्ञानके असंख्यात भेद होजाते हैं ।

आगे अवधिज्ञानका स्वरूप दिखलाते हैं—

मूर्तमर्थं मितं क्षेत्रकालभावैरवस्फुटम् ।
मितंर्दधात्यवधिर्वो भवगुणोद्भवः ॥ ३८ ॥

जो परिमित क्षेत्र, काल और भावके द्वारा परिमित मूर्त पदार्थको जाने उसको अवधिज्ञान कहते है । वह दो प्रकार उत्पन्न होता है एक भवनिमित्तक और दूसरा गुणनिमित्तक । जो अवधिज्ञान भवसे ही वा जन्मसे ही उत्पन्न हो उसको भवनिमित्तक अवधिज्ञान कहते हैं । तथा जो रत्नत्रयगुणके बढनेसे वा चारित्रगुणके बढनेसे उत्पन्न हो उसको गुणप्रत्यय वा गुणनिमित्तक अवधिज्ञान कहते है ॥ ३९॥

सुरनारकपर्याप्तभवजः प्रथमोऽपरः ।
मर्त्यतिर्यक्षु सम्यक्त्वगुणादीनां विशेषजः ॥ ३९ ॥

देव व नारकीयोंके पर्याप्त अवस्थामें जो जन्मसे ही अवधिज्ञान होता है उसको भवप्रत्यय अवधिज्ञान कहते

अयं स्यादवधिबोधावृतिवीर्यातरायययोः ।
क्षयोपशमतो बोधोऽसंख्यलोकाविकल्पकः ॥ ५० ॥

यह अवधिज्ञान अवधिज्ञानावरण कर्म और वीर्यांतराय कर्मके क्षयोपशमसे होता है। तथा इसके असंख्यात लोकप्रमाण भेद होते है ॥ ५० ॥ इसप्रकार अवधिज्ञानका स्वरूप कहा।

अब मति, श्रुति, अवधि इन तीनों ज्ञानोंकी विशेषता दिखलाते हैं—

स्यादेतत्त्रयमज्ञानं मिथ्यानंतानुबन्धिनाम्।
उदयेनाऽऽशु कटु वा कटुवलाबुगतं पयः ॥ ५१ ॥

जिसप्रकार कडवी तूंबीमे रक्खा हुआ दूध कडवा होजाता है। उसीप्रकार मिथ्यात्व वा दर्शनमोहनीय कर्मके उदयसे तथा अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभके उदयसे मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान भी मिथ्या होजाते है।

भावार्थ— ज्ञान पदार्थोंको जानता है, परतु वह श्रद्धानके अनुसार जानता है, यदि श्रद्धान सम्यक् है तो ज्ञान भी सम्यग्ज्ञान कहलाता है। यदि श्रद्धान मिथ्या होता है तो ज्ञान भी मिथ्याज्ञान कहाजाता है। यही कारण है कि सम्यग्दर्शनके होनेपर ज्ञान सम्यग्ज्ञान होता है। और मिथ्यात्वके होनेसे मिथ्याज्ञान होता है ॥५१॥

आगे मनःपर्ययका स्वरूप कहते हैं—

मनो देशावधेर्ज्ञेयं मध्यमं चिन्तितादिकम्।
परैः पर्येति तद्यत्तन्मनःपर्यबोधनम् ॥ ५२ ॥

देशावधिका जो मध्यम ज्ञेयपदार्थ है उसका चिंतवन करना-मनन करना आदिको मन कहते है। उस मनका दूसरोंके द्वारा ज्ञान होना मनःपर्ययज्ञान है ॥ ५२ ॥

भावार्थ— देशावधि ज्ञानका विषयभूत जो पदार्थ है उसको कोई चिंतवन करे उस चिंतवन किए हुए

पदार्थको जो प्रत्यक्ष जानलेवे उसको मनःपर्ययज्ञान कहते है।

ऋजुविपुलमती तद्भेदावाद्या त्रिभेदगा।
ऋजुकायवाक्यचेतोगतार्थविषयत्वता ॥ ५३ ॥

उस मनःपर्ययज्ञानके दो भेद हैं। एक ऋजुमति और दूसरा विपुलमति। उसमेंसे ऋजुमतिके तीन भेद है। ऋजुशब्दका अर्थ सरल है। सरल मनके द्वारा चिंतवन किए हुए पदार्थको प्रत्यक्ष जानना पहला ऋजुमति मनःपर्यज्ञान है। सरल वचनके द्वारा चिंतवन किए हुए पदार्थको प्रत्यक्ष जानना दूसरा ऋजुमति मनःपर्ययज्ञान है। तथा सरल कायके द्वारा चिंतवन किए हुए पदार्थको प्रत्यक्ष जानना तीसरा ऋजुमति मनःपर्ययज्ञान है।

आगे विपुलमतिके भेद दिखलाते हैं—

ऋज्वऋजुदेहवाक्यस्वान्तस्वार्थावबोधनात्।
विपुलमतिः षड्भेदाऽसंख्यकल्पमिता च सा ॥ ५४ ॥

विपुलमति मनःपर्ययज्ञानके छह भेद हैं। सरल मनके द्वारा, सरल वचनके द्वारा और सरल कायके द्वारा चिंतवन किए हुए पदार्थोंको प्रत्यक्ष जानना तथा कुटिल मनके द्वारा, कुटिल वचनके द्वारा और कुटिल कायके द्वारा चिंतवन किए हुए पदार्थको प्रत्यक्ष जानना। इसप्रकार कारणसामग्रीके भेदसे छह भेद होजाते है। तथा विषयके भेदसे असंख्यात भेद होजाते है ॥ ५४ ॥

मनःपर्ययविज्ञानावृतिवीर्यान्तराययोः।
जातं मन्दोदयादेतत्क्षायोपशामिकं ततः ॥ ५५ ॥

यह मनःपर्ययज्ञान मनःपर्ययज्ञानावरण तथा वीर्यांतराय कर्मके अत्यंत मंद उदय होनेसे अर्थात् क्षयोपशमसे प्रगट होता है। इसलिए इस ज्ञानको क्षायोपशमिक ज्ञान कहते हैं ॥ ५५ ॥ इस प्रकार मनःपर्ययज्ञानका वर्णन किया।

अब आगे केवलज्ञानको कहते हैं—

त्रिकालानंतधर्मात्मानंतवस्तुप्रकाशकम् ।
युगपत्केवलं ज्योतिः करणावरणातिगम् ॥ ५६ ॥

जिस ज्ञानके प्रगट होनेमें न तो इंद्रियां कारण हैं और न जिसमें किसी प्रकारका ज्ञानावरण कर्म शेष रहता है । तथा जो भूत, भविष्यत व वर्तमान इन तीनों कालसंबंधी अनंत धर्मोंको धारण करनेवाले अनंत पदार्थोंको एक ही समयमें प्रत्यक्ष जानता है । ऐसे अनुपम ज्ञानको केवलज्ञान कहते हैं ॥ ५६ ॥

भावार्थ— यह ज्ञान केवल आत्मासे प्रगट होता है और तीनों कालोंकी समस्त पर्यायोंको एकसाथ जानता है ।

क्षणं प्रत्यक्षरं ज्ञेयैः समं विपरिवर्तते ।
तदेकमुपमातीतं परमानन्दमान्दिरम् ॥ ५७ ॥

यह केवलज्ञान एक है, उपमा रहित है, परम आनंदका स्थान है, सदा नाश रहित है तथा प्रत्येक समयमें तीनों कालसंबंधी समस्त पदार्थोंको जानता है ॥ ५७ ॥ इसप्रकार केवलज्ञानका स्वरूप बतलाया ।

अब आगे प्रत्यक्ष और परोक्ष ज्ञानको अलग अलग बतलाते हैं—

परद्रव्येन्द्रियानेकप्रकाशादिवशीकृते ।
मतिश्रुते परोक्षे स्तः प्रत्यक्षमवधित्रयम् ॥ ५८ ॥

मतिज्ञान तथा श्रुतज्ञान दोनों ही ज्ञान इंद्रिय, मन और प्रकाश आदि अनेक पर द्रव्योंकी अपेक्षासे उत्पन्न होते हैं, इसलिए ये दोनों ही ज्ञान परोक्ष ज्ञान हैं । तथा अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान तीनोंही ज्ञान प्रत्यक्ष हैं ।

आगे प्रत्यक्षका लक्षण कहते हैं—

॥८९॥

ज्ञानेनाक्ष्णोति व्याप्नोतीत्यक्ष आत्मा स्वगोचरम् ।
तमेवाक्षं प्रति गतं प्रत्यक्षमिति वर्ण्यते ॥ ५९ ॥

अक्ष् धातुका अर्थ व्याप्त होना है। जो ज्ञानके द्वारा व्याप्त हो ऐसे अपने आत्माको अक्ष कहते है। ऐसे ज्ञानस्वरूप आत्मासे जो उत्पन्न हो, जिसके उत्पन्न होनेमे आत्माके सिवाय इंद्रिय, प्रकाश आदि कुछ कारण न हो उसको प्रत्यक्ष ज्ञान कहते हैं।

केवलं वा श्रुतं तत्राशेषवस्तुप्रकाशकम् ।
द्वादशांगांगबाह्यात्माऽस्पष्टं स्पष्टं तु केवलम् ॥ ६० ॥

केवलज्ञान और श्रुतज्ञान दोनों ही ज्ञान समस्त पदार्थोंको जानते हैं। समस्त पदार्थोंको जानते हुए भी उन ज्ञानोंमेंसे बारह अंग तथा अंगबाह्य स्वरूप जो श्रुतज्ञान है वह तो समस्त पदार्थोंको परोक्ष जानता है। और केवलज्ञान उन्हीं समस्त पदार्थोंको जानता है परंतु प्रत्यक्ष वा स्पष्ट जानता है। यही केवलज्ञान और श्रुतज्ञानमें अन्तर है ॥ ६० ॥

आगे श्रुतज्ञानका ज्ञानाचार बतलाते हैं—

वाचना पृच्छना चानुप्रेक्षाऽऽम्नायो यथाविधि ।
धर्मोपदेश इत्यादि ज्ञानाचारः श्रुते मतः ॥ ६१ ॥

वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय और धर्मोपदेश इन पांचों प्रकारके स्वाध्यायको विधिपूर्वक पालन करना श्रुतज्ञानका ज्ञानाचार कहलाता है ॥ ६१ ॥

आगे वाचनाका लक्षण कहते हैं—

यत्सूत्रार्थोभयाऽऽख्यानं शिष्याणां विनयान्वितम् ।
मोक्षार्थं वाचना प्रोक्ता कृत्वा शुद्धिं चतुर्विधाम् ॥ ६२ ॥

द्रव्यशुद्धि, क्षेत्रशुद्धि, कालशुद्धि और भावशुद्धि इन चारों प्रकारकी शुद्धियोंको करके बडी विनयके साथ

॥९०॥

तथा केवल मोक्षप्राप्तिकी इच्छा रखकर शिष्योंके लिए सूत्र, अर्थ अथवा सूत्र, अर्थ दोनोंका व्याख्यान करना, अर्थसहित पढाना वाचना कहलाती है ॥ ६२ ॥

आगे द्रव्यशुद्धिको कहते हैं—

स्वांगे ज्वराक्षिकुक्षादिवेदनापूयशोणित- ।
स्रावविण्मूत्रलेपादेर्द्रव्यशुद्धिरसंभवः ॥ ६३ ॥

अपने शरीरमें ज्वर हो, नेत्ररोग हो, उदरशूल हो या अन्य कोई पीडा हो अथवा शरीरसे राध वा रुधिर वहता हो, अथवा शरीरसे मल वा मूत्र लगा हो तो ऐसी अवस्थामें द्रव्यशुद्धिका होना असभव है ।

भावार्थ— द्रव्यशुद्धि तभी हो सकती है जब कि शरीरमें कोई रोग वा पीडा न हो। तथा रुधिर, मांस, राध, व मलमूत्रका कोई संबंध न हो । यदि इन अशुद्ध पदार्थोंका शरीरसे सबध हो तो द्रव्यशुद्धि कभी नहीं होसकती ॥ ६३ ॥

सा भवेदन्नपानादेः सुस्निग्धस्य सुगन्धिनः ।
मोदकापूपपृथुकप्रभृतेरप्यसेवनम् ॥ ६४ ॥

ये सब रोग वा फोडा, फुंसी, रुधिर आदिका वहना, मलमूत्रका निकलना आदि, उत्तम पदार्थोंके अधिक भक्षण करनेसे होते है । इसलिए लाडू, पूआ, चावलके वने पदार्थ आदि सुगधित और चिकने अन्न पानका सेवन न करनेसे द्रव्यशुद्धि होती है ।

भावार्थ- द्रव्यशुद्धि रखनेके लिए ऐसे पदार्थोंका भक्षण कभी नहीं करना चाहिए ॥ ६४ ॥

आगे क्षेत्रशुद्धिको कहते हैं—

व्याख्यानस्थानकात्सर्वदिक्षु पंचेन्द्रियांगिनाम् ।
शवार्द्रचर्ममांसास्थिशोणितादेरसंगमः ॥ ६५ ॥
गतात्तृतीयस्वाध्यायादाराद्यः स निगद्यते ।

॥९१॥

क्षेत्रशुद्धिरिति क्षेत्रे द्वात्रिंशद्दण्डमात्रके ॥ ६६ ॥
नृतिर्यक्शुष्कचर्मादेर्हस्तद्व्येकशते तदा ।
विण्मूत्रयोः क्रमाद्धस्तपंचाशत्करायते ॥ ६७ ॥

व्याख्यान स्थानसे चारों दिशाओंमें पंचेंद्रिय जीवोंके मरे हुए शरीर, गीला चमडा, मांस, हड्डी, रुधिर आदिका समावेश न हो और ऐसे अशुद्ध पदार्थ कमसे कम बत्तीस धनुष दूर होने चाहिए। परंतु यह नियम अनुप्रेक्षा नामके तीसरे स्वाध्यायके लिए नहीं है। यह सब क्षेत्रशुद्धि कहलाती है। मनुष्य और तिर्यंचोंका सूका चमडा दोसौ हाथ दूर होना चाहिए। तथा मल, मूत्र डेढसौ हाथ दूर होना चाहिए ॥ ६५-६६-६७ ॥

पंचाक्षे क्लिश्यमानेऽर्त्या म्रियमाणे च कर्मसु ।
त्रसस्थावरघातेषु सत्स्वेकस्मिन्निवर्त्तते ॥ ६८ ॥

यदि कोई पंचेंद्रिय जीव पीडासे बहुत दुखी हो वा मर रहा हो अथवा त्रस वा स्थावर जीवोंका घात होता हो तो वाचना नामका स्वाध्याय बंद कर देना चाहिए ॥ ६८ ॥

आसन्ने बालचाण्डालजलदीपाग्निलुंचने ।
दवादिधूमे दुर्गन्धे वाति दूरान्न सा भवेत् ॥ ६९ ॥

यदि अज्ञानी वा बालक, चांडाल, जल, दीपक, अग्निका बुझना आदि अत्यंत समीप हो तब भी वाचना बंद कर देना चाहिये। तथा यदि बहुत दूरसे भी बनमें लगी हुई दावानलका धुआं आता हो अथवा उसकी दुर्गंध आती हो तो भी वाचना बद कर देना चाहिए ॥ ६९ ॥ इस प्रकार क्षेत्रशुद्धिका वर्णन किया।

अब कालशुद्धि बतलाते हैं—

नंदीश्वरमहापूजाराध्यागमनयोजनं-
प्रमाणक्षेत्रसंन्यासमहानशनवासरैः ॥ ७० ॥

॥९२॥

सर्वपर्वक्रियावश्यकाक्रियावसरादिभिः ।
व्यपेतता भवेत्काले कालशुद्धिर्विशुद्धिदा ॥ ७१ ॥ युग्मम् ।

जिन दिनों नदीश्वर पर्वकी महापूजा चल रही हो, जिस समय अरहंत, आचार्य वा उपाध्याय आदि आराधन करने योग्य पूज्य पुरुषोंका आगमन हो, जिस दिन एक योजनके भीतर भीतर सन्यास धारण करनेवालका महान् उपवास हो उन दिनोंको छोडकर तथा समस्त पर्वके दिन और आवश्यक क्रियाओंके समयको छोडकर बाकीके समयमें शुद्धिको देनेवाली कालशुद्धि कही गई है ॥ ७०-७१ ॥

सप्तत्र्येकदिनान्यत्र स्वग्रामे योजनप्रमे ।
क्षेत्रे दूरे च वर्ज्यानि स्वर्गते श्रमणाधिपे ॥ ७२ ॥

यदि आचार्यका स्वर्गवास अपने ही गांवमें हो तो सात दिनतक वाचनी नहीं करनी चाहिए । यदि एक योजन वा चार कोशके भीतर ही आचार्यका स्वर्गवास हो तो तीन दिन तक वाचना नामका स्वाध्याय नहीं करना चाहिए । तथा यदि किसी दूर क्षेत्रमें भी आचार्यका स्वर्गवास हो तो एक दिन वाचना स्वाध्याय नहीं करना चाहिए ॥ ७२ ॥

निष्ठाप्य पश्चिमस्यामास्वाध्यायं शुद्धभूस्थितः ।
व्युत्सर्गेणेन्द्रकीनाशप्रचेतोधनिनां दिशः ॥ ७३ ॥
नवार्यापाटकालेन प्रत्येकं शोधयेदयं ।
पूर्वाण्हवाचनाहेतोः कालशुद्धिविधिस्त्वयम् ॥ ७४ ॥

शुद्ध भूमिमें बैठकर णमोकार मत्रकी आर्याका पाठ नौ वार उच्चारण कर कायोत्सर्ग करके पिछली रात्रिका स्वाध्याय पूर्ण करना चाहिए । तथा फिर पूर्वाण्हिक—प्रातःकाल होनेवाले स्वाध्यायके लिए पूर्वदिशाकी ओर मुहकर नौवार णमोकार मंत्रकी आर्याका पाठकर कायोत्सर्ग करना चाहिए । फिर दक्षिण दिशाकी ओर मुहकर

नौवार णमोकार मंत्रकी आर्यांका पाठकर कायोत्सर्ग करना चाहिए। फिर पश्चिम दिशाकी ओर मुहकर नौवार णमोकार मंत्रकी आर्यांका पाठ कर कायोत्सर्ग करना चाहिए और फिर उत्तर दिशाकी ओर मुहकर नौवार णमोकार मंत्रकी आर्यांका पाठकर कायोत्सर्ग करना चाहिए। इसप्रकार चारों दिशाओंको शुद्ध कर लेना चाहिएँ यह कालशुद्धिकी विधि है ॥ ७३-७४ ॥

विद्युदिन्द्रधनुःक्षोणीकंपाशादाहसंगर- ।
ग्रहणाकालवृष्टयभ्रगर्जनादिविवर्जितः ॥ ७५ ॥

जिस समय विजली चमकती हो, इंद्रधनुष पडरहा हो, पृथ्वी हिल रही हो, चारों दिशाओंमें अग्नि लग रही हो, युद्ध होरहा हो, चंद्रग्रहण वा सूर्यग्रहण पड रहा हो, अकालवृष्टि होरही हो और वादल गरज रहे हों उस समयमें भी वाचना नामका स्वाध्याय नहीं करना चाहिए ॥ ७५ ॥

पूर्वाण्हेऽप्यपराण्हस्य वाचनार्थं विशोधयेत् ।
एवमाशाश्चतस्रस्तु सप्तार्यापाठकालतः ॥ ७६ ॥

पूर्वाण्हके समय अर्थात् प्रातःकालके समय भी अपराण्हकी अर्थात् सायंकालकी वाचनाके लिए णमोकार मंत्रकी सात आर्या पढकर वा सात आर्या पढनेमें जितना समय लगता है उतने समयमें चारों दिशाओंका संशोधन करे ॥ ७६ ॥

कृत्वैवमपराण्हेऽपि पंचार्यापाठकालतः ।
दिक्शुद्धिं वाचनां पूर्वरात्रौ कुर्यादिवं पुरा ॥ ७७ ॥
क्षेत्रशुद्धिं विधायैतत्कारणोपायवर्जिते ।
निशायां पश्चिमश्यामावाचना नाऽस्ति संयते ॥ ७८ ॥युग्मम्।

फिर इसीप्रकार अपराण्ह समयमें अर्थात् सायंकालके समयमें भी णमोकार मंत्रकी आर्यांका पांच पांच वार पाठकर चारों दिशाओंका संशोधन करना चाहिए। फिर पहलेके समान पूर्वरात्रिमें भी वाचना नामका

॥९४॥

स्वाध्यय करना चाहिये। यदि कारणभूत उपायोंका अभाव हो तो मुनियोंको पश्चिम रात्रिमें वाचना नामका स्वाध्याय नहीं करना चाहिए। आधी रातके बाद दो बजेसे लेकर चार बजे तक पश्चिम रात्रि कहलाती है ७७-७८

व्योमाचलकुलान्तस्थचारणावधिबोधिनाम्।
वाचना पररात्रौ तु क्षेत्रशुध्द्युपलंभतः॥ ७९ ॥

आकाशमें चलने वाले, कुलाचल पर्वतोंपर रहनेवाले, चारणऋद्धिको धारण करनेवाले और अवधिज्ञानी मुनियोंको क्षेत्रकी शुद्धि प्राप्त हो जाती है।अतएव पश्चिम रात्रिमें भी उनके वाचना नामका स्वाध्याय बन सकता है

सर्वमासेषु जंघाया छाया सप्तपदी क्रमात्।
वाचना ग्रहमोक्षेषु स्यात्पूर्वाण्हापराण्हयोः॥ ८० ॥

बारहों महीनोंमें जघाकी छाया सात पद होती है। उसको देखकर प्रात काल वाचनाका ग्रहण और सायकालके समय वाचनाका त्याग नीचे लिखे अनुसार करना चाहिए॥ ८० ॥

आषाढकृष्णपक्षप्रतिपद्येकपदी तु सा।
स्वाध्यायमोक्षादानेषु स्यात्पूर्वाण्हापराण्हयोः॥ ८१ ॥

आषाढ कृष्णा प्रतिपदाके दिन प्रातःकालके समय जब छाया एक पद हो तब स्वाध्यायका त्याग कर देना चाहिए। तथा सायंकालके समय जब छाया एक पद रह जाय तब फिर वाचना स्वीकार करनी चाहिए॥ ८१

दिनं प्रत्यंगुलस्यैति यत्पंचदशमांशकः।
वृद्धिं तच्छ्रावणस्यादौ सा छाया द्व्यंगुलाधिका॥ ८२ ॥

तदनंतर प्रतिदिन एक अंगुलका पंद्रहवां भाग बढाते रहना चाहिए। इस प्रकार बढाते २ श्रावण कृष्णा प्रतिपदाके दिन दो अंगुल अधिक एक पद छाया होनेपर स्वाध्यायका ग्रहण और त्याग कर देना चाहिए।

भावार्थ— प्रातःकालके समय दो अंगुल अधिक एक पद छाया होनेपर स्वाध्यायका त्याग करना

॥९५॥

चाहिए और सायंकालके समय दो अंगुल अधिक एक पद होनेपर स्वाध्यायका ग्रहण करना चाहिए ॥ ८२ ॥

अंगुलिद्वयवृद्ध्येवं प्रतिमासं पदद्वयं ।
पौषादौ स्यात्ततः पौषाद्याज्येष्ठांतं तु हीयते ॥ ८३ ॥

इसीप्रकार प्रत्येक महीनेमें दो दो अंगुल छाया बढ़नेपर स्वाध्यायका ग्रहण और त्याग करना चाहिए। भाद्रव कृष्णा प्रतिपदाके दिन चार अंगुल अधिक एक पद, आश्विन कृष्णा प्रतिपदाके दिन छह अंगुल अधिक एक पद, कार्तिक कृष्णा प्रतिपदाके दिन आठ अंगुल अधिक एक पद, मार्गशीर्ष कृष्णा प्रतिपदाके दिन दश अंगुल अधिक एक पद और पौष कृष्णा प्रतिपदाके दिन दो पद छाया होनेपर स्वाध्यायका ग्रहण और त्याग करना चाहिये। पौष कृष्णा प्रतिपदासे फिर प्रतिदिन एक अंगुलका पद्रहवां भाग घटाते जाना चाहिए। इसप्रकार प्रत्येक महीनेमें दो दो अंगुल घटाते हुए ज्येष्ठ महीनेके अततक घटाना चाहिए। अर्थात् माघ कृष्णा प्रतिपदाके दिन एक पद दश अंगुल, फाल्गुन कृष्णा प्रतिपदाके दिन एक पद आठ अंगुल, चैत्र कृष्णा प्रतिपदाके दिन एक पद छह अंगुल, वैसाख कृष्णा प्रतिपदाके दिन एक पद चार अंगुल, ज्येष्ठ कृष्णा प्रतिपदाके दिन एक पद दो अंगुल, और आषाढ कृष्णा प्रतिपदाके दिन एक पद छाया रहनेपर स्वाध्यायका ग्रहण और त्याग करना चाहिए। यह छायाका देखना दिनकी घटाबढीके अनुसार होता है। जैसा जैसा दिन घटता जाता है वैसी वैसी छाया बढती जाती है और जैसा २ दिन बढता जाता है वैसी २ छाया घटती जाती है। इस प्रकार काल शुद्धिका वर्णन किया[1] ॥ ८३ ॥

यशःपूजापुरस्कारानिःकांक्षा निर्मदा मतिः ।
श्रुतामृतकृतानंदा भावशुद्धिर्मुनेर्मता ॥ ८४ ॥

यश, पूजा और पुरस्कार वा पारितोषककी इच्छा न रखना तथा अपनी बुद्धिको अहंकार रहित और श्रुतज्ञानरूपी अमृतके आनंदमें मग्न रहनेवाली बनाना मुनियोंकी भावशुद्धि कहलाती है ॥ ८४ ॥

१— यह छायाका प्रकरण अपनी बुद्धिके अनुसार जैसा आया है वैसा लिखा है। विशेष बुद्धिमानोंको शास्त्रोंके अनुसार समझकर ग्रहण करना चाहिये।

एवं शुद्धीर्विधायात्महस्तपादं विशोध्य च ।
शुद्धदेशस्थितो भक्त्या क्रियां कृत्वा यथाविधि ॥ ८५ ॥
पल्यंकासनगः सूरिपादं नत्वा कृतांजुलिः ।
सूत्रस्याध्ययनं कुर्यात् कक्षाद्यं स्वांगमस्पृशन् ॥ ८६ ॥

इसप्रकार चारों प्रकारकी शुद्धियोंको धारण कर, तथा अपने हाथ पैरोंको शुद्ध कर, शुद्ध देश वा शुद्ध भूमिमें विराजमान होकर, भक्तिपूर्वक, विधिके अनुसार समस्त क्रियाओंको करके, पर्यंकासनसे विराजमान होना चाहिये। फिर आचार्यके चरण कमलोंको नमस्कार कर तथा हाथ जोडकर कांख आदि शरीरके अशुद्ध अगोंका स्पर्श किए विना सूत्रका अध्ययन करना चाहिए ॥ ८५-८६ ॥

यथाकालं ततो मुंचेद्वाचनामीदृशो विधिः ।
पुराणाराधनापंचसंग्रहादिश्रुतौ न हि ॥ ८७ ॥

फिर समय पूर्ण होनेपर वाचनाका त्याग कर देना चाहिये। पुराण, आराधना और पचसग्रह (गोमट्ट-सार आदि) ग्रथोंके सुननेके लिए इस विधिकी आवश्यकता नहीं है ॥ ८७ ॥

गणेशोक्तं मतं सूत्रमभिन्नदशपूर्विभिः ।
उक्तं प्रत्येकबुद्धैश्च श्रुतकेवलिभिः श्रुतम् ॥ ८८ ॥

जो श्रुत गणधरोंका कहा हुआ है अथवा अभिन्न दश पूर्वधारियोंका कहा हुआ है अथवा प्रत्येकबुद्ध मुनियोंका कहा हुआ है अथवा श्रुतकेवलियोंका कहा हुआ है उसको सूत्र कहते हैं। ऐसे सूत्रके अध्ययन करते समय ऊपर लिखी विधि करनी चाहिए ॥ ८८ ॥

विधिमेनमतिक्रम्य सूत्रं शुश्रूषुराप्नुयात् ।
रुजासमाधिस्वाध्यायभंगार्तीर्निष्फलस्य च ॥ ८९ ॥

॥९७॥

जो कोई पुरुष इस विधिका उल्लंघन कर सूत्रको सुनना चाहता है वह अनेक प्रकारके रोगोंको प्राप्त होता है, उसका समाधिमरण वा ध्यान नष्ट होजाता है, उसका स्वाध्याय भंग होजाता है, वह अनेक प्रकारके दु:खोंको भोगता है और उसका वह सुनना सब निष्फल हो जाता है ॥ ८९ ॥ इस प्रकार वाचना नामके स्वाध्यायका स्वरूप कहा ।

पृच्छना संशयोच्छित्यै: प्रश्नः सप्रश्रयो मुनेः ।
स्वोन्नत्यख्यापनार्थं वा प्रहासोद्धर्षवर्जितः ॥ ९० ॥

अपने किसी संशयको दूर करनेके लिए हँसी और उद्धत्ताको छोडकर तथा अपना बडप्पन न दिखलाते हुए बडी नम्रताके साथ जो पूछना है वह मुनिका पृच्छना नामका स्वाध्याय कहलाता है ॥ ९० ॥

अनुप्रेक्षा परिज्ञाते भावना या मुहुर्मुहुः ।
परिवर्त्तनमाम्नायो घोषदोषविवर्जितम् ॥ ९१ ॥

जाने हुए तत्त्वोंको बार बार चिंतवन करना अनुप्रेक्षा नामका स्वाध्याय कहलाता है। तथा शब्दोंके दोषोंसे रहित बार बार पढना, पाठ करना वा घोकना आम्नाय नामका स्वाध्याय कहलाता है ॥ ९१ ॥

द्वादशांगैकदेशोपदेशो धर्मोपदेशनम् ।
पंचप्रकार इत्येष ज्ञानाचार उपाहृतः ॥ ९२ ॥

द्वादशांग श्रुतज्ञानका उपदेश देना अथवा उसके एकदेशका उपदेश देना धर्मोपदेश नामका स्वाध्याय कहलाता है। इस प्रकार वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय और धर्मोपदेशके भेदसे पांच प्रकारका ज्ञानाचार कहलाता है ॥ ९२ ॥

प्रज्ञोन्मेषः प्रशस्तान्तरंगता कर्मनिर्जरा ।
संख्यातीतगुणश्रेण्या चेत्यादि स्यादितो यतेः ॥ ९३ ॥

॥९८॥

इस ज्ञानाचारके प्रसादसे- बुद्धिकी तीव्रता होती है, अंतरग प्रसन्न होता है और असंख्यात गुण-श्रेणीके द्वारा मुनियोंके कर्मोंकी निर्जरा होती है। यह सब ज्ञानाचारका फल है। ॥ ९३ ॥

वन्दे श्रीजिनमंजुलास्यकमलामोदं श्रुतं विश्रुतं
चार्वी चारुचरित्रपात्रमुनिवृन्देन्दिन्दिरानन्दिनम् ।
यत्पुष्णाति भवेभवेऽप्यमलिनं ज्ञानं समासेवितम्
कैवल्यं च समस्तवस्तुविषयं तद्विस्मृतं यद्यपि ॥ ९४ ॥

यह सम्यग्ज्ञान श्री अरहत देवके सुंदर मुखरूपी कमलसे निकली हुई सुगंधिके समान है, श्रुतज्ञान इसका नाम है, ससारभरमें यह प्रसिद्ध है, अत्यंत श्रेष्ठ है, उत्तम सम्यक्चारित्रके पात्र ऐसे मुनि समूहोंकी तपश्चरणरूपी लक्ष्मीको आनद देनेवाला है और सदा निर्मल है ऐसे इस ज्ञानकी जो सेवा करते हैं वे चाहे उस ज्ञानको भूल जावें तथापि वे प्रत्येक भवमें समस्त पदार्थोंके यथार्थ और स्पष्ट स्वरूपको जाननेवाले केवल ज्ञानकी पुष्टि करते है। ऐसे इस सम्याज्ञानको मैं नमस्कार करता हू ॥ ९५ ॥

गंभीरं मधुरं मनोहरतरं दोषव्यपेतं हितं
कंठौष्ठादिवचोनिमित्तरहितं नो वातरोधोद्गतम् ।
स्पष्टं तत्तदभीष्टवस्तुकथकं निःशेषभाषात्मकं
दूरासन्नसमं समं निरुपमं जैनं वचः पातु वः ॥ ९५ ॥

भगवान जिनेन्द्रदेवके जो वचन अत्यत गभीर है, मधुर हैं, अत्यत मनोहर हैं, सब तरहके दोषोंसे रहित हैं, सबका हित करनेवाले है, कठ, ओठ आदि वचनोंको प्रगट करनेवाले निमित्त कारणोंसे सदा रहित हैं, जो वायुके रोकनेसे प्रगट नहीं होते अर्थात् वायुको रोकनेके विनाही जो प्रगट होते हैं, स्पष्ट वा प्रत्यक्ष हैं, प्रत्येक प्राणी की इच्छाके अनुसार पदार्थोंके स्वरूपको प्रगट करनेवाले है, जो समस्त भाषामय हैं; दूर और

॥९१॥

समीपसे जो एकसे सुनाई पडते है, जो सबके लिए एकसे है, और उपमा रहित है ऐसे भगवान् जिनेंद्रदेवके वचन तुम लोगोंकी सदा रक्षा करें ॥ ९५ ॥

येनाऽज्ञानतमस्तातिर्विघटिता ज्ञेये हिते चाहिते
हानादानमुपेक्षणं च समभूत्तस्मिन्पुनः प्राणिनाम् ।
येनेयं दृगुपैति तां परमतां भूतं च येनानिशं
तज्ज्ञानं मम मानसांबुजमुदे स्तात्सूर्यवर्योदयम् ॥ ९६ ॥

जिस ज्ञानके प्रगट होनेसे जानने योग्य पदार्थोंमें, हितरूप पदार्थोंमें तथा आहित करनेवाले पदार्थोंमें अज्ञानरूपी अंधेरेका समूह नष्ट होजाता है, तथा जिस ज्ञानके प्रगट होनेसे प्राणियोंको ग्रहण करना त्याग करना तथा उपेक्षाकरने (आत्माके हित करनेवाले उत्तम क्षमादिक गुणोंको ग्रहण करना तथा आत्माका अहित करनेवाले क्रोध, मान, माया, लोभादिकका त्याग करना और इष्ट अनिष्ट समस्त पदार्थोंमें राग, द्वेष छोडकर उपेक्षा वा वैराग्य रूप परिणामोंका धारण करना) रूप ज्ञानका यथार्थ फल प्रगट होता है, तथा जिस ज्ञानसे यह सम्यग्दर्शन अत्यत उत्कृष्ट अवस्थाको प्राप्त होजाता है। तथा जिस ज्ञानसे यह सम्यक्चारित्र प्रतिदिन उत्तमताको प्राप्त होता चला जाता है । ऐसा सूर्यके उदयके समान यह सम्यग्ज्ञान मेरे मनरूपी कमलको सदा प्रफुल्लित करता रहो ॥ ९६ ॥

इस प्रकार सम्यग्ज्ञानकी प्रशसा कर आगे अध्यायके अंतमें भगवान् मल्लिनाथका स्मरण करते है ।

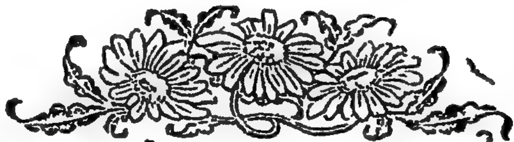
ज्ञानं यदीयं विगतोपमानं ।
सर्वं यदन्तः परमाणुखर्वम् ॥
पायात्स सर्वावृतिजादपाया–
न्नाथस्त्रिलोक्या वरमल्लिनाथः ॥ ९७ ॥

॥१००॥

जिन भगवान् मल्लिनाथका ज्ञान उपमा रहित है। जिस ज्ञानके भीतर यह समस्त लोक अलोक परमाणुके समान अत्यत छोटा जान पडता है ऐसे वे तीनों लोकोंके स्वामी भगवान् मल्लिनाथ, ज्ञानावरण तथा दर्शनावरण कर्मसे उत्पन्न होनेवाले अपायसे हम लोगोंकी रक्षा करें ॥ ९७ ॥

इति श्रीमद्वीरनंदिसिद्धांतचक्रवर्तिविरचिते श्रीआचारसारनाम्नि
शास्त्रे ज्ञानाचारवर्णनात्मकस्तुर्योऽधिकार ।

इसप्रकार श्री वीरनदि सिद्धातचक्रवर्ति विरचित श्री आचारसार नामके
शास्त्रकी चावली (आगरा) निवासी, देहली प्रवासी 'धर्मरत्न'
लालाराम शास्त्री द्वारा निर्मित सरल हिंदी भ.पाटीकामे
ज्ञानाचारके स्वरूपको वर्णन करनेवाला यह
चौथा अधिकार समाप्त हुआ ।



॥ अथ पंचमोऽधिकारः ॥५॥

श्रीसंभवं भजत संचितपुण्यराशे-
र्नुर्येन भीकरतरस्य भवांबुराशेः ।
लीलासमुत्तरणकारणयानपात्रं
प्रोक्तं गुणोत्करनिरास्रवणं चरित्रम् ॥ १ ॥

॥ पांचवा अधिकार ॥

जिन श्री शभवनाथ स्वामीने पुण्यराशिको संचित करनेवाले मनुष्योंके लिए अत्यंत भयानक ऐसे संसाररूपी महासागरसे लीलामात्रमें पार कर देनेवाले जहाजके समान तथा अनेक गुणोंके समूह और आश्रवको रोकनेवाले चारित्रका निरूपण किया है ऐसे श्री शभवनाथ स्वामीको हे भव्य जीवो! सदा सेवन करो ॥ १ ॥

आगे चारित्रका लक्षण कहते हैं—

मनोवचनकायानां पापरूपक्रियात्ययात् ।
पंचप्रकारं चारित्रं स्वस्वरूपमुपैत्यलम् ॥ २ ॥

मन, वचन, कायसे उत्पन्न होनेवालीं पापरूप क्रियाओंका त्याग कर देनेसे पांच प्रकारका चारित्र अपने आत्मस्वरूपको प्राप्त होता है ॥ २ ॥

भावार्थ— पापोंका त्याग कर देना चारित्र है। वह आत्मस्वरूप है और उसके पांच भेद हैं।

तत्सामायिकं छेदोपस्थापनं तद्द्वयात्मिका ।
परिहारर्द्धिः स्यात्सूक्ष्मसांपरायश्च संयमः ॥ ३ ॥
यथाख्यातामितीदानीमेषां रूपं निरूप्यते ।
संसारगरलोदारलतोन्मूलनकारिणाम् ॥ ४ ॥ युग्मम् ।

सामायिक, छेदोपस्थापना, तथा सामायिक और छेदोपस्थापना दोनोंरूप परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसांपराय और यथाख्यात इसप्रकार पांच प्रकारका संयम वा चारित्र कहलाता है। संसाररूपी विषकी बडी भारी लताको जडसे नाश करनेवाले मनुष्योंके लिए आगे क्रमसे उन्हीं पांच प्रकारके चारित्रोंका स्वरूप कहते है ॥ ३-४ ॥

समभेदेन त्यागेनाऽयोऽयनं मतः ।
समयः स एव चारित्रं सामायिकमुत्तमम् ॥ ५ ॥

सम् शब्दका अर्थ अच्छीतरह अथवा अभेदरूपसे त्याग करना है। अय शब्दका अर्थ बुद्धिका प्राप्त होना है। जहांपर बुद्धि पांचों पापोंके अभेदरूप त्यागको प्राप्त हो जाती है अर्थात् जहांपर बुद्धिपूर्वक पांचों पापोंका अभेदरूपसे त्याग कर दिया जाता है उसको समय कहते हैं। तथा ऐसे समयसे उत्पन्न होनेवाले चारित्रको सामायिक चारित्र कहते हैं। यह चारित्र समस्त चारित्रोंमें उत्तम है ॥ ५ ॥

व्रतसमितिगुप्तिगैः पंचपंचत्रिभिर्मतैः ।
छेदैर्भेदैरुपात्यर्थं स्थापनं स्वस्थितिक्रिया ॥ ६ ॥
छेदोपस्थापनं प्रोक्तं सर्वसावद्यवर्जने ।
व्रतं हिंसाऽनृतस्तेयाब्रह्मसंगेष्वसंगमः ॥ ७ ॥ युग्मम् ।

पांच महाव्रत, पांच समिति और तीन गुप्ति इन तेरह प्रकारके चारित्रमें भेद वा दोष लगनेपर उन दोषोंका छेद करना-नाश करना और फिर अपने आत्मामें स्थापन करना, अपने आत्मस्वरूप चारित्रको अपने आत्मामें ही स्थिर रखना सो छेदोपस्थापना नामका चारित्र है। आगे व्रत, समिति आदिको बतलाते हुए व्रतोंको कहते हैं।

हिंसा, असत्य, स्तेय-चोरी, अब्रह्म और परिग्रह इनका त्याग कर देना अर्थात् हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, और परिग्रह इन पांचो पापोंका मन, वचन, काय, कृत, कारित व अनुमोदनासे त्याग कर देना पांच महाव्रत कहलाते है ॥ ६-७ ॥

हिंसाया हिंस्यतां हिंस्रः प्राप्नोति बहुजन्मसु ।
प्राणिहिंसात्महिंसैव सातस्त्याज्या हितैषिणा ॥ ८ ॥

हिंसा करनेवाला यह प्राणी हिंसा करनेसे अनेक जन्मोंतक उन जीवोंके द्वारा हिंसाको प्राप्त होता है-मारा जाता है। इससे सिद्ध होता हैं कि प्राणियोंकी हिंसा करना अपने आत्माकी ही हिंसा करना है। अतएव अपने आत्माका हित करनेवाले भव्य जीवोंको इस हिंसाका सर्वथा त्याग कर देना चाहिए ॥ ८ ॥

कषायपरिणामः स्यात्प्राणिप्राणवियोजकः ।
हिंसाहिंसकपापानुबन्धबन्धादिकारणम् ॥ ९ ॥

कषायरूप परिणामोंका होना ही प्राणियोंके प्राणोंका वियोग करनेवाला होता है। तथा यही कषायरूप परिणाम, हिंसा करनेवाले जीवको अनेक प्रकारके पापोंका बंध करनेवाले कर्मबंधोंका कारण होता है। अतएव इस कषायरूप परिणामको ही हिंसा कहते है। सो ही सिद्धांतग्रंथोंमें लिखा है ॥ ९ ॥

स्वयं ह्यहिंसा स्वयमेव हिंसनं न तत्पराधीनमिह द्वयं भवेत् ।
प्रमादहीनोऽत्र भवत्यहिंसकः प्रमादयुक्तस्तु सदैव हिंसकः ॥ १० ॥

हिंसा भी स्वयमेव केवल आत्मासे ही होती है और अहिंसा भी केवल अपने आत्मासे ही होती है। हिंसा तथा अहिंसा इन दोनोंमें कोई भी पराधीन वा आत्मासे भिन्न किसी दूसरे कारणसे होनेवाली नहीं है। केवल भेद इतना ही है कि जो जीव प्रमाद रहित है वह आहिंसक है। और जो प्रमाद सहित है वह सदा हिंकस गिना जाता है ॥ १० ॥

संरंभसमारंभारंभैः कायवाङ्मनोयोगैः ।
कृतकारितानुमतिभिः क्रोधाद्यैश्च कारणैः ॥ ११ ॥
पूर्वपूर्वैर्युतैः सर्वैः प्रत्येकं सोत्तरोत्तरैः ।
स्यादुपर्युपर्यन्योन्याभ्यासेऽष्टोत्तरं शतम् ॥ १२ ॥ युग्मम् ।

सरम, समारभ, आरंभ, मन, वचन, काय ये तीनों योग, कृत, कारित, अनुमोदना तथा क्रोध, मान, माया, लोभ ये चार कषाय इन सब पूर्व पूर्व सहित उत्तरोत्तर कारणोंको परस्पर गुणा कर देनेसे हिंसाके कार–णोंके एकसौ आठ भेद होजाते है।

भावार्थ – क्रोधपूर्वक स्वयं किया हुआ कायसंरभ, मानपूर्वक स्वयं किया हुआ कायसंरभ, मायापूर्वक स्वयं किया हुआ कायसंरभ, लोभपूर्वक स्वय किया हुआ कायसरंभ, क्रोधपूर्वक कराया हुआ कायसरभ, मानपूर्वक

कराया हुआ कायसंरंभ, मायापूर्वक कराया हुआ कायसंरंभ, लोभपूर्वक कराया हुआ कायसरंभ; क्रोधपूर्वक अनुमोदना किया हुआ कायसरंभ, मानपूर्वक अनुमोदना किया हुआ कायसरंभ, मायापूर्वक अनुमोदना किया हुआ कायसरंभ, लोभपूर्वक अनुमोदना किया हुआ कायसंरंभ। इसप्रकार कायसरंभके बारह भेद होते है। इसीप्रकार बारह भेद वचनसंरंभके होते हैं। तथा बारह भेद मनसरंभके होते है। इसप्रकार छत्तीस भेद संरंभके होते है। तथा संरंभके समान ही छत्तीस भेद समारंभके और छत्तीस भेद आरंभके होते हैं। इसप्रकार एकसौ आठ भेद होते है। इनको सूचित करनेवाला तथा एकसौ आठ भेदोंमेसे अलग २ भेदोंको सूचित करनेवाला कोष्ठक इसप्रकार है—

क्रोध १	मान २	माया ३	लोभ ४
कृत ०	कारित ४	अनुमोदना ८	
काय ०	वचन १२	मन २४	
संरंभ ०	समारंभ ३६	आरंभ ७२	

संरंभो हिंसनोक्तत्वं हिंसोपकरणार्जनम्।
समारंभोऽग्निघातादिः स्यादरंभो दयोज्झितः॥ १३॥

हिंसा करनेके लिए प्रयत्न करनेका आवेश करना-हिंसा करनेका आवेश करना सरंभ है। हिंसाके कारणोंका मिलाना समारंभ है। और दया रहित होकर प्राणियोंका घात करना आरंभ है ॥ १३ ॥

कायवाङ्मनसां कर्म योगः स्वेन कृतं कृतम् ।
स्वप्रयुक्तान्यनिष्पन्नं हिंसनं कारितं मतत् ॥ १४ ॥
अनुमतमनुज्ञातं कषायः कषतीत्यसौ ।
क्रोधो मानश्च माया स्याल्लोभः संयमदर्शने ॥ १५ ॥

काय, वचन और मनकी क्रियाओंको योग कहते हैं। अपने आप करनेको कृत कहते हैं, स्वय प्रेरणा कर किसी दूसरेसे हिंसा करानेको कारित कहते हैं। जो हिंसा न तो स्वयं की है और न प्रेरणापूर्वक किसीसे कराई है ऐसी हिंसामें भला मानना अनुमत कहलाता है।

जो सम्यग्दर्शन और सम्यग्चारित्रको कसे, कम करे, नाश करे उसको कषाय कहते हैं। उसके चार भेद हैं- क्रोध, मान, माया और लोभ ॥ १४-१५ ॥

परोपघातकृच्चेतो युक्तायुक्तेक्षणक्षयम् ।
क्रोधोंगकंपदाहाक्षिरागवैवर्ण्यलक्षणः ॥ १६ ॥

जिसमें योग्य और अयोग्यका विचार नष्ट हो जाता है ऐसे जो दूसरेके घात करनेके परिणाम हैं उनको क्रोध कहते हैं। शरीरमें कंपा उत्पन्न होजाना, शरीरमें जलन वा दाह होना, नेत्रोंका लाल होजाना तथा नेत्र, मुख आदिमें विकार उत्पन्न होजाना आदि क्रोधके लक्षण हैं ॥ १६ ॥

परुपेर्ष्य मनो मानो निर्दयः परमर्दनः ।
स्वोन्नतानत्यहंकारः परासहनलक्षणः ॥ १७ ॥

कठोर और ईर्ष्या करनेवाले मनको मान कहते हैं। यह मान निर्दय होता है, दूसरेको मर्दन करनेवाला होता है, सदा अपनी उच्चताको ही प्रगट करता रहता है, दूसरेके लिए कभी नम्र नहीं होने देता और

दूसरेके उत्कर्षको कभी सहन नहीं होने देता ऐसा यह मान ही अहंकार कहलाता है।

भावार्थ— ये सब मानके लक्षण है ॥ १७ ॥

नानाप्रतारणोपायैर्वंचनाऽऽकुलिता मतिः ।
मायाऽविनयविश्वासाऽऽभासचेतोहराकृतिः ॥ १८ ॥

अनेक प्रकारके ठगनेके उपायोंके द्वारा दूसरोंके ठगनेके लिए बुद्धिका व्याकुल होना माया है। माया करनेवाला पुरुष कपटरूप बनावटी विनय और कपटरूप झूठा विश्वास दिलाता हुआ अपनी आकृति ऐसी बनाता है जिससे दूसरेका हृदय सहज ही हरण हो जाय ॥ १८ ॥

परिग्रहग्रहातीवलालसं मानसं स्मृतः ।
लोभो लाभातिमोदात्तरक्षणार्तोपलक्षितः ॥ १९ ॥

परिग्रहके ग्रहण करनेमें अत्यत लालसारूप मनका होना लोभ है। लोभी पुरुष धनादिकके लाभ होनेसे अत्यंत प्रसन्न होता है और उस प्राप्त हुए धनकी रक्षा करनेके लिए अत्यत दुखी होता है। ये सब लोभके लक्षण है ॥ १९ ॥

दयामृतरसास्वादं मानसं स्यादहिंसनं ।
जनतात्यन्तविश्रंभमैत्रीस्वर्मोक्षकारणम् ॥ २० ॥

दयारूपी अमृतके रसको आस्वादन वा अनुभव करनेवाली मनकी प्रवृत्तिको ही अहिंसा कहते है। यह अहिंसा ही लोगोमें अत्यत विश्वास उत्पन्न करनेवाली है, मित्रताको प्रगट करनेवाली है। तथा स्वर्ग और मोक्षकी कारण है।

वाङ्मनोगुप्तीर्यादाननिक्षेपसमितीर्विदुः ।
युक्ताः शुद्धेक्षितान्नादिभुक्त्याऽहिंसनभावना: ॥ २१ ॥

॥१०७॥

वचनगुप्ति, मनोगुप्ति, ईर्यासमिति, आदाननिक्षेपण समिति और शुद्धआलोकितपानभोजन ये पांच अहिंसा व्रतकी भावना है। इसप्रकार अहिंसा महाव्रतका वर्णन किया। ॥२१॥

अब आगे सत्य महाव्रतका स्वरूप कहते हैं।

वचः सत्यमसत्यं वा स्मृतं जीवाहिते हितम्।
जिह्वाच्छेदादिसर्वस्वहारैनोहेतुरात्मनः ॥ २२ ॥

जो वचन जीवोंका अहित करनेवाले है वे चाहे सत्य हों वा असत्य हों सब असत्य ही कहलाते हैं। असत्यवचन जिह्वाछेदन करनेवाले है, धनधान्यादिक सर्वस्व हरण करनेवाले हैं और आत्माके लिये अनेक पाप उत्पन्न करनेवाले हैं। ॥२२॥

कृतं सत्यमसत्यं वा वचः प्राणिहिते हितम्।
येन सन्मानविश्वासयशांसि लभते नरः ॥ २३ ॥

इसीप्रकार जो वचन प्राणियोंका हित करनेवाले है। वे चाहे असत्य ही क्यों न हों सब सत्य कहलाते है, ऐसे सत्य वचनोंके कारण ही यह मनुष्य सन्मान विश्वास और यशको प्राप्त होता है। ॥२३॥

तन्नामस्थापनारूपभावसंवृतिदेशगम्।
संयोजनाजनपदप्रतीत्यसमयाश्रितम् ॥ २४ ॥
संभावनोपमानं चेत्यादि सत्यमनेकधा।
सोदाहरणमत्रैषां लक्षणं वक्ष्यतेऽधुना ॥२५॥

वह सत्य वचन नाम, स्थापना, रूप, भाव, संवृति, देश, सयोजना, जनपद, प्रतीत्य, समयाश्रित संभावना, और उपमा आदिके भेदसे अनेक प्रकार का है। ॥२४–२५॥

अब आगे इन्हीं सब भेदोंका लक्षण उदाहरण सहित कहते हैं।

व्यवहारप्रसिद्ध्यर्थमर्थाभावेऽपि लौकिकैः ।
कृतं नाम मतं नामसत्यं चन्द्रादिवन्नृषु ॥ २६ ॥

किसी भी पदार्थमें उसके नामके अनुसार अर्थका अभाव होनेपर भी केवल व्यवहारकी प्रसिद्धिकेलिए लोगोंके द्वारा जो किसी भी पदार्थका इच्छानुसार नाम रक्खा जाता है उसको नामसत्य कहते है। जैसे किसी मनुष्यमें चन्द्रमाके गुण न होनेपर भी उसका नाम चन्द्रमा रख देना नामसत्य है ॥ २६ ॥

धर्मोऽन्यवस्तुनः स्थाप्यतेऽन्यास्मिन्ननुरूपिणि ।
अन्यास्मिन्वा यया मत्या स्थापना सा तया वचः ॥ २७ ॥
सत्यं स्यात्स्थापनासत्यं प्रतिबिंबाक्षतादिषु ।
चन्द्रप्रभजिनेन्द्रोऽयमित्यादि वचनं यथा ॥ २८ ॥ युग्मम् ।

जिस बुद्धिसे किसी अन्य पदार्थका धर्म उस पदार्थके सदृश अथवा विसदृश ऐसे किसी भी अन्य पदार्थमें स्थापन किया जाता है उस बुद्धिसे कहे हुए वचनोंको स्थापना सत्य कहते हैं। जैसे तदाकार बनाये हुए प्रतिबिंबमें अथवा अतदाकार अक्षत आदिकोंमें "ये श्री चन्द्रप्रभ जिनेंद्र है" ऐसी स्थापना कर उस प्रतिबिंबको अथवा उन अक्षतोंको चन्द्रप्रभ जिनेंद्र कहना स्थापना सत्य है ॥ २७-२८

रूप्यते दृश्यते प्रायो यत्तद्रूपं तदर्पणम् ।
रूपसत्यं वचः श्वेता वलाकेत्यादिकं यथा ॥ २९ ॥

जो रूप अधिकतासे दिखाई दे उसीके अनुसार वचन कहना रूपसत्य कहलाता है। जैसे यह बगुलाओंकी पंक्ति सफेद है।

छद्मस्थज्ञानिनो वस्तुयाथात्म्यादर्शनेऽप्यलम् ।
दृष्टदोषापहारेण गुणपोषणकृन्मनः ॥ ३० ॥

शक्रः शक्नोति तर्जन्योद्धर्तुं मेरुमपीति वा ॥ ३९ ॥

किसी पदार्थमें रहनेवाले धर्मको निरूपण करनेवाले वचन संभावनासत्य कहे जाते हैं। जैसे इन्द्र अपने हाथकी तर्जनी (अंगूठेके पासकी) उंगलीसे मेरु पर्वतको भी उठा सकता है ३९

उपमोपमयाऽगुण्यगुण्यादेः परिवर्णना ।
आयुः पल्योपमं ग्रीष्मो वन्हिरित्यादि वाग्यथा ॥ ४० ॥

किसी उपमाके द्वारा किसी असख्यात सख्याका भी गुणाकार वर्णन करना उपमासत्य है । जैसे इस जीवकी आयु एक पल्यकी है अथवा दो पल्यकी है, अथवा यह गर्मी अग्नि ही है इत्यादि वचन कहना उपमासत्य है। इसप्रकार सत्यवचनके भेद वतलाये ।

अब आगे सत्यव्रतकी भावना कहते हैं।

क्रोधभयलोभहास्यत्यागाः सत्यस्य भावनाः ।
अनुवीचीवचश्चेदमागमोचितभाषणम् ॥ ४१ ॥

क्रोधका त्याग, भयका त्याग, लोभका त्याग और हास्यका त्याग तथा अनुवीची भाषण ये पांच सत्यव्रतकी भावनाएं हैं । आगमके अनुसार वचन कहना अनुवीचीभाषण कहलाता है। इसप्रकार सत्यव्रतका निरूपण किया ॥ ४१ ॥

अब अचौर्यव्रतका निरूपण करते हैं ।

परैरदत्तस्याऽऽदाने मनः स्तेयं यदेनसाम् ।
हेतुरत्राऽपि चौरस्य वधबन्धादिदुःखदम् ॥ ४२ ॥

दूसरोंके द्वारा विना दिए हुए पदार्थोंको ग्रहण करनेके लिए मनकी प्रवृत्ति होना चोरी है। यह चोरी करना भी अनेक पापोंका कारण है और इस लोकमें भी वध, बधन आदि अनेक प्रकारके दुःख देनेवाला है ॥ ४· ॥

॥११२॥

स्तेयवर्जनमस्तेयं हेतुः स्वर्गापवर्गयोः ।
जनता येन विश्वासप्रीतिख्यातिसुखास्पदं ॥ ४३ ॥

ऐसी चोरीका त्याग कर देना अचौर्यव्रत है । यह अचौर्यव्रत स्वर्ग और मोक्षका कारण है तथा इसी अचौर्यव्रतके द्वारा लोगोंमें विश्वास होता है, प्रेम बढता है, प्रसिद्धि होती है और सब तरहका सुख प्राप्त होता है ॥ ४३ ॥

याञ्चाऽनुज्ञापना पत्युरात्तानात्मीयभावना ।
योग्याऽन्याऽग्राह्यस्यादानमविवादः सधर्मिभिः ॥ ४४ ॥
इत्यस्तेयव्रते पंच भावनाः कन्दरादिषु ।
स्वभावशून्येष्वावासो मुक्तामोचितसद्मसु ॥ ४५ ॥
परोपरोधाकरणं भैक्ष्यशुद्धिः सधर्मिभिः ।
सहाविवाद इत्येवमथवा पंच भावनाः ॥ ४६ ॥

अपने स्वामीसे मांग लेना, उनकी आज्ञा प्राप्त करलेना, प्राप्त हुए पदार्थको सदा अपनेसे भिन्न समझना, उसे अपना नहीं समझना, योग्य तथा अन्यके ग्रहण न करने योग्य पदार्थोंको ही ग्रहण करना तथा अपने साधर्मी पुरुषोंके साथ "यह तेरा है, यह मेरा है" इत्यादि रूप वादविवाद न करना ये पांच अचौर्यव्रतकी भावनाएं है । अथवा स्वभावसे ही सूनी ऐसी गुफा आदिकोंमें निवास करना, त्याग किए हुए या छोडे हुए वसतिका आदि स्थानोंमें रहना, दूसरेको किसी प्रकारकी रोक टोक न करना, भिक्षाकी शुद्धि रखना, भिक्षाकी विधिमेंसे किसी विधिको न छिपाना और धर्मात्माओंके साथ किसी प्रकारका विवाद न करना ये पांच भी अचौर्य व्रतकी भावनाएं है ॥ ४४-४५-४६ ॥ इसप्रकार अचौर्यव्रतका निरूपण किया ।

अब आगे ब्रह्मचर्यव्रतको कहते हैं—

इसीलिये गोपीने फिर पूछा कि क्या सर्पको मर्दन करनेवाला गरुड पक्षी आया है । गोपीकी इस बातको सुनकर कृष्णको फिर कहना पडा कि नहीं मैं हूं हारी ? हारी शब्दका अर्थ कृष्ण भी है तथा हारी शब्दका अर्थ बंदर भी है। इसी अर्थको मनमें रखकर गोपीने फिर पूछा कि क्या बंदर आया है ? इसप्रकार उत्तर देते देते भी अंतमें जब कोई उत्तर न बना और गोपीके वचनोंसे कृष्णकी बोलती बंद होगई तब कृष्णको चुप होजाना पडा। इसप्रकारके गोपीके द्वारपर जडके समान खडे हुए कृष्ण तुम्हारी रक्षा करे । इसप्रकार कामदेवके वशीभूत होनेपर गोपीके द्वारा कृष्णके ठगे जानेकी बात उन्हींके ग्रंथोंमें लिखी है ॥ १ ॥

आगे फिर भी अब्रह्मके कार्य दिखलाते हैं ।

ब्रह्मा जिह्मितसन्मतिर्बहुमुखः काष्ठेक्षणाद्भीतितः
पार्वत्यास्तनुसंप्रवेशविवशश्चार्द्धांगनारी हरः ।
विष्णुर्वारिधिमध्यगो गतधृतिस्तद्दीर्घनिद्रोऽभवत्
त्रैलोक्योन्मथनोत्थमन्मथविभोर्मन्ये शराद्दुर्धरात् ॥ ५२ ॥

मुझे ऐसा तो माल्रूम होता है कि तीनों लोकोंका मथन करते समय जो कामदेव प्रगट हुआथा उसी सर्वव्यापी कामदेवके दुर्धर बाणोंसे डरकरही मानों जिसकी बुद्धि कामदेवके वशीभूत होनेसे कुटिल होगई है ऐसे ब्रह्माने चारों दिशाओंको देखनेके लिये अपने चार वा पांच मुख[1] बनाये थे। तथा उसी काम

---

१ एकवार ब्रह्माके तपको भ्रष्ट करनेके लिये इन्द्रने तिलोत्तमा नामकी अप्सरा भेजी थी । वह ब्रह्माके सामने नाचने लगी । ब्रह्मा उसे देखने लगा। तब तिलोत्तमा बगलसे नाचने लगी तब ब्रह्माने एकमुख बगलमें भी बना लिया । फिर वह पीछे नाचने लगी तब ब्रह्माने पीछे भी एक मुख बना लिया । फिर वह दुसरी बगल नाचने लगी तब ब्रह्माने उस ओर भी मुख बनाया। तब फिर वह ऊपर नाचने लगी तब ब्रह्माने उसे देखनेके लिये ऊपर भी गधेका मुख बनाया। इसप्रकार ब्रह्माने बहुतसे मुख बनाये ऐसी कथाअन्य मतमें है,

देवके दुर्धर वाणोंसे डरकर महादेवको पार्वतीके शरीरमें प्रवेशकरनेमें असमर्थ होकर तथा विवश होकर अर्द्धांग-नारी बनना पडा था अर्थात् अपने आधे शरीरमें स्त्रीका रूप धारण करना पडा था और उसी कामदेवके दुर्धर वाणोंसे डरकर विष्णुको भी महासमुद्रके बीचमें जाकर और अधीर होकर बडी लंबी नींद लेनी पडी थी। इसप्रकार इस कामदेवके वश होकर ब्रह्मा विष्णु और महादेवको न करने योग्य कार्य करने पडे थे ॥ ५२॥

मारापराभिधानेनाब्रह्मणाऽन्येऽपि तादृशाः ।
जाता विडम्बनापात्रामिदं चित्रं हि नो यतः ॥ ५३ ॥

अथवा इसमें भी कोई आश्चर्यकी बात नहीं है क्योंकि कामदेवका दूसरा नाम मार वा मारनेवाला है। इसीलिये इस " मार,, नामको धारण करनेवाले इस कामदेवके द्वारा ब्रह्मा, विष्णु और महादेवके समान अन्य कितने वैसेही महापुरुष विडंवनाके पात्र हुये है ॥ ५३ ॥

कादम्बरीरसोन्मादं वा हिताहितमोहितम् ।
त्रिवेदोदरिणाभ्रान्तस्वान्तं तद्वादिदं जगत् ॥ ५४ ॥

जिसप्रकार मद्यकेरससे उन्मत्त होकर यह जीव हिताहित जाननेमें मोहित हो जाता है, कुछ नहीं जान सकता उसीप्रकार इस समस्त संसारका हृदय स्त्रीवेद, पुंवेद और नपुंसकवेद इन तीनों वेदोंके उदयसे मोहित होगया है ॥ ५४ ॥

श्रुत्वाऽऽलोक्य न सीधु माद्यति जनः स्पृष्ट्वा च माद्यत्यदः
पीत्वैव श्रवणेक्षणानुभवनैः कान्ताजनानां पुनः ।
लोको मुह्यति चित्रमत्र तु परं प्रभ्रष्टदृष्टिश्रुति-
स्त्यक्त्वा सत्त्वगुणं नयं च विनयं स्याद्दुर्मतिर्दुर्गतिः ॥ ५५ ॥

देखो मद्यके पीने मात्रसे यह मनुष्य उन्मत्त होता है। मद्यका शब्द सुनने, उसको देखने और उसका स्पर्श करनेसे यह मनुष्य कभी मोहित नहीं होता। परंतु स्त्रियोंका शब्द सुननेमात्रसे, उनको देखनेमात्रसे

वेदतीव्रोदयात्कर्म मैथुनं मिथुनस्य यत् ।
तदब्रह्मापदामेकं पदं सद्गुणलोपनम् ॥ ४७ ॥

वेद नामके चारित्रमोहनीय कर्मके उदयसे स्त्री पुरुषोंके द्वारा जो क्रिया की जाती है उसको मैथुन कहते है। यही मैथुन अब्रह्म कहलाता है। यह अब्रह्म अनेक आपत्तियोंका एक मुख्य स्थान है, तथा समस्त श्रेष्ठ गुणोंका लोप करनेवाला है ॥ ४७ ॥

येन वद्धा महादेहा रदिनो मदिनोऽप्यलम् ।
करेणुवशगाः क्लेशमाप्नुवन्त्यवशा नरैः ॥ ४८ ॥

इसी अब्रह्मके कारण वडे भारी शरीरको धारण करनेवाले और मदोन्मत्त हाथी भी हथिनीके वश होकर बांधे जाते है और वे वहांपर परवश होकर मनुष्योंके द्वारा दिए हुए अनेक प्रकारके क्लेशोंको भोगते रहते हैं ४८

यच्चैवं जनतामान्यवलिनां गुणशालिनाम् ।
निदानं मानहान्यादिक्लेशानामिह देहिनाम् ॥ ४९ ॥

इसीप्रकार इसी अब्रह्मके कारण लोगोंमें अत्यंत मान्य, वडे वलवान् और अनेक उत्तम गुणोंको धारण करनेवाले जीवोंको भी मानहानि आदि अनेक प्रकारके क्लेश वा दुःख सहने पडते है ॥ ४९ ॥

जिह्मान्तःकरणो ब्रह्मा निजपुत्रीमपत्रपः ।
जगाम किल येनार्द्धनारीत्वं च महेश्वरः ॥ ५० ॥

जिस अब्रह्मके कारण कुटिल हृदयको धारण करनेवाले ब्रह्माने भी निर्लज्ज होकर अपनी पुत्रीके साथ समागम किया था। तथा जिस अब्रह्मके कारण महादेव भी अर्द्धनारीत्वको प्राप्त हुआ था अर्थात् महादेवने भी अपने शरीरका आधा वांया भाग स्त्रीरूप वना लिया था। यह सब कुशीलकी ही महिमा है ॥ ५० ॥

गोविन्दो मन्दधीः प्रीत्या गोपपत्न्या गृहं गतः ।
तयाऽपि च किलात्यन्तं चतुरोक्त्या प्रतारितः ॥ ५१ ॥

जिस अब्रह्मके कारण मद्बुद्धि कृष्ण भी प्रेमके वश होकर गोपीके घर गये थे। तथा उस गोपीने भी अपनी चतुरतासे भरी हुई युक्तियोंके द्वारा उसी कृष्णको खूब अच्छी तरह ठगा था ॥ ५१ ॥ सोही उनके ग्रंथोंमें लिखा है। यथा–

अंगुल्या कः कपाटं प्रहरति कुटिले माधवः किं वसन्तो
नो चक्री किं कुलालो नहि धरणीधरः किं द्विजिह्वः फणीन्द्रः।
नाहं घोरा हि मर्दी त्वमसि खगपति नो हरिः किं कपीन्द्रः
इत्येवं गोपवध्वा प्रतिवचनजडः पातु वः पद्मनाभः ॥ १ ॥

अर्थ – किसी एक समय श्री कृष्ण चद्रावली नामकी गोपीके घर गये थे और उन्होंने किवाड खुलानेके लिये उंगलीसे किवाड खटखटाये थे। उस आवाजको सुनकर उस गोपीने कहा कि मेरे किवाडोंको उंगलीसे कौन बजाता है ? इसप्रकारके कुछ कडे और अवज्ञारूप वचन सुनकर कृष्णने कहा कि अरी कुटिला मै माधव हूं। माधव शब्दका अर्थ कृष्ण भी है और वसत ऋतु भी है। कृष्णकी इस बातको सुन--कर गोपीने अपनी चतुराईसे अर्थ बदल कर कहा कि क्या वसत ऋतु आगई। यह उत्तर सुनकर कृष्णको फिर कहना पडा कि नहीं मै चक्री हूं। चक्री शब्दका अर्थ चक्रवर्ती है और चाकसे वर्तन बनानेवाला कुभार भी है। इसीलिये गोपीने फिर अर्थ बदलकर कहा कि क्या कुंभार आया है ? इसको सुनकर विचारे कृष्णको फिर कहना पडा कि नहीं मैं हूं धरणीधर ? धरणीधर शब्दका अर्थ कृष्ण और सर्प भी है। इसीलिये उस चतुर गोपीने फिर भी अर्थ बदलकर पूछा कि क्या दो जिह्वाओंको धारण करनेवाला सर्पराज वा शेषनाग आया है। तव फिर कृष्णने कहा कि नहीं मैं बडेसेबडे सर्पको भी मर्दन करने--वाला हूं कृष्णने काली दहमें सर्पको मर्दन किया था तथा गरुड भी सर्पको मर्दन कर देता है।

१ यह श्लोक अन्यमतके ग्रंथोंका है। उदाहरणके लिये यहां दिया है।

इसीलिये गोपीने फिर पूछा कि क्या सर्पको मर्दन करनेवाला गुरुड पक्षी आया है। गोपीकी इस बातको सुनकर कृष्णको फिर कहना पडा कि नहीं मैं हूं हारी ? हारी शब्दका अर्थ कृष्ण भी है तथा हारी शब्दका अर्थ बंदर भी है। इसी अर्थको मनमें रखकर गोपीने फिर पूछा कि क्या वंदर आया है ? इसप्रकार उत्तर देते देते भी अंतमें जब कोई उत्तर न बना और गोपीके वचनोंसे कृष्णकी बोलती वंद होगई तब कृष्णको चुप होजाना पडा। इसप्रकारके गोपीके द्वारपर जडके समान खडे हुए कृष्ण तुम्हारी रक्षा करे। इसप्रकार कामदेवके वशीभूत होनेपर गोपीके द्वारा कृष्णके ठगे जानेकी बात उन्हींके ग्रंथोंमें लिखी है ॥ १ ॥

आगे फिर भी अब्रह्मके कार्य दिखलाते हैं।

ब्रह्मा जिह्मितसन्मतिर्बहुमुखः काष्ठेक्षणाद्धीतितः
पार्वत्यास्तनुसंप्रवेशविवशश्चार्द्धांगनारी हरः।
विष्णुर्वारिधिमध्यगो गतधृतिस्तद्दीर्घानिद्रोऽभवत्
त्रैलोक्योन्मथनोत्थमन्मथविभोर्मन्ये शराद्दुर्धरात् ॥ ५२ ॥

मुझे ऐसा तो मालूम होता है कि तीनों लोकोंका मथन करते समय जो कामदेव प्रगट हुआया उसी सर्वव्यापी कामदेवके दुर्धर वाणोंसे डरकरही मानों जिसकी बुद्धि कामदेवके वशीभूत होनेसे कुटिल होगई है ऐसे ब्रह्माने चारों दिशाओंको देखनेके लिये अपने चार वा पांच मुख[1] बनाये थे। तथा उसी काम

---

१ एकवार ब्रह्माके तपको भ्रष्ट करनेके लिये इन्द्रने तिलोत्तमा नामकी अप्सरा भेजी थी। वह ब्रह्माके सामने नाचने लगी। ब्रह्मा उसे देखने लगा। तव तिलोत्तमा बगलसे नाचने लगी तव ब्रह्माने एकमुख बगलमें भी बना लिया। फिर वह पीछे नाचने लगी तव ब्रह्माने पीछे भी एक मुख बना लिया। फिर वह दुसरी वगल नाचने लगी तव ब्रह्माने उस ओर भी मुख बनाया। तव फिर वह ऊपर नाचने लगी तव ब्रह्माने उसे देखनेके लिये ऊपर भी गधेका मुख बनाया। इसप्रकार ब्रह्माने बहुतसे मुख बनाये ऐसी कथाअन्य मतमें है,

देवके दुर्धर वाणोंसे डरकर महादेवको पार्वतीके शरीरमें प्रवेशकरनेमें असमर्थ होकर तथा विवश होकर अर्द्धांगनारी बनना पडा था अर्थात् अपने आधे शरीरमें स्त्रीका रूप धारण करना पडा था और उसी कामदेवके दुर्धर वाणोंसे डरकर विष्णुको भी महासमुद्रके बीचमें जाकर और अधीर होकर बडी लंबी नींद लेनी पडी थी। इसप्रकार इस कामदेवके वश होकर ब्रह्मा विष्णु और महादेवको न करने योग्य कार्य करने पडे थे ॥ ५२॥

मारापराभिधानेनाब्रह्मणाऽन्येऽपि तादृशाः ।
जाता विडम्बनापात्रामिदं चित्रं हि नो यतः ॥ ५३ ॥

अथवा इसमें भी कोई आश्चर्यकी बात नहीं है क्योंकि कामदेवका दूसरा नाम मार वा मारनेवाला है। इसीलिये इस " मार,, नामको धारण करनेवाले इस कामदेवके द्वारा ब्रह्मा, विष्णु और महादेवके समान अन्य कितने वैसेही महापुरुष विडंवनाके पात्र हुये है ॥ ५३ ॥

कादम्बरीरसोन्मादं वा हिताहितमोहितम् ।
त्रिवेदोदीरणाभ्रान्तस्वान्तं तद्वादिदं जगत् ॥ ५४ ॥

जिसप्रकार मद्यकेरससे उन्मत्त होकर यह जीव हिताहित जाननेमें मोहित हो जाता है, कुछ नहीं जान सकता उसीप्रकार इस समस्त संसारका हृदय स्त्रीवेद, पुंवेद और नपुंसकवेद इन तीनों वेदोंके उदयसे मोहित होगया है ॥ ५४ ॥

श्रुत्वाऽऽलोक्य न सीधु माद्यति जनः स्पृष्ट्वा च माद्यत्यदः
पीत्वैव श्रवणेक्षणानुभवनैः कान्ताजनानां पुनः ।
लोको मुह्यति चित्रमत्र तु परं प्रभ्रष्टदृष्टिश्रुति-
स्त्यक्त्वा सत्त्वगुणं नयं च विनयं स्याद्दुर्मतिर्दुर्गतिः ॥ ५५ ॥

देखो मद्यके पीने मात्रसे यह मनुष्य उन्मत्त होता है। मद्यका शब्द सुनने, उसको देखने और उसका स्पर्श करनेसे यह मनुष्य कभी मोहित नहीं होता। परंतु स्त्रियोंका शब्द सुननेमात्रसे, उनको देखनेमात्रसे

॥११७॥

तथा उनका अनुभव करने मात्रसे ही य[illegible]ष्य मोहित हो जाता है । तिसपर भी सबसे बडी आश्चर्यकी बात यह है कि यह मनुष्य सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानसे भ्रष्ट होकर तथा पराक्रम, गुण, नय, विनय आदि सबको छोडकर ऐसी स्त्रीमें मोहित होता है, और इसप्रकार दुर्बुद्धिको धारण कर अनेक दुर्गतियोंको प्राप्त होता रहता है ॥ ५५ ॥

वेदाऽतुच्छोदयादिच्छा पुंस्त्रीतद्द्वयसंश्रया ।
स्त्रीपुंनपुंसकानां स्यादब्रह्मैकाकिनामपि ॥ ५६ ॥

वेद कर्मके तीव्र उदयसे स्त्रियोंको पुरुषोंके साथ रममाण होनेकी, पुरुषोंको स्त्रियोंके साथ रममाण होनेकी और नपुंसकोंको स्त्री पुरुष दोनोंके साथ रममाण होनेकी जो इच्छा होती है उसको अब्रह्म कहते हैं ऐसी इच्छा करने मात्रसे अकेली स्त्री और अकेले पुरुषको भी अथवा अकेले नपुंसकको भी अब्रह्मका पाप लगा करता है ॥ ५६ ॥

तेनानुन्माथितं चेतो यत्तद् ब्रह्मव्रतं स्मृतम् ।
व्रतव्रातलतामूलं मूलं स्वर्गापवर्गयोः ॥ ५७ ॥

ऐसे उस अब्रह्मके द्वारा हृदयका व्यथित न होना ही ब्रह्मचर्य व्रत कहलाता है । यह ब्रह्मचर्य व्रत व्रतोंके समूहरूप लताओंकी जड है । और स्वर्ग मोक्ष प्राप्त होनेका भी मूल कारण है ॥ ५७ ॥

यन्माहात्म्यान्महाविद्या सेवोद्या वा वसन्त्यलम् ।
जनेऽप्यसयंते यच्च नाम्ना देवव्रतं मतम् ॥ ५८ ॥

इस ब्रह्मचर्यके माहात्म्यसे अनेक महा विद्याएं असंयमी मनुष्योंके लिये भी खूब अच्छी तरह सेवा करनेके लिये तत्पर रहती है । इसके सिवाय य[illegible]ब्रह्मचर्य व्रत नामसे भी देवव्रत कहलाता है ।

आगे इसकी भावनाएं बतलाते हैं ।

॥११८॥

स्त्रीणां रागकथांगावलोकनादरयोः स्मृतिः ।
त्यागः पूर्वं रतस्योच्चैर्वृष्येष्टस्य रसस्य च ॥ ५९ ॥
स्त्रीसंसक्तवसत्यंगसंस्कारपरिवर्जनम् ।
चेति पंच वदन्त्यार्यास्तुरीयव्रतभावनाः ॥ ६० ॥

स्त्रियोंकी रागरूप कथाओंके सुननेका त्याग, उनके सुंदर अंगोंके निरीक्षण करनेकी लालसाका त्याग, पहले भोगी हुई स्त्रियोंके स्मरण करनेका त्याग, पौष्टिक तथा इष्ट रसके भक्षण करनेका त्याग और स्त्रियोंसे संसर्ग रखनेवाले मकान आदिका तथा अपने शरीरके संस्कार करनेका त्याग ये पांच ब्रह्म-चर्य व्रतकी भावनाएं आचार्य वा गणधरोंने बतलाई है ॥ ५९-६० इसप्रकार ब्रह्मचर्य व्रतका वर्णन किया।

अब आगे अपरिग्रहव्रतका स्वरूप कहते हैं।

क्षेत्रं वास्तु धनं धान्यं द्विपदोंगी चतुःपदः ।
यानं शय्याऽऽसनं कुप्यं भांडं चेति बहिर्दश ॥ ६१ ॥

क्षेत्र (खेत), वास्तु (मकान), धन,धान्य, दासी, दास आदि द्विपद (दो पैरवाले सेवक) गाय, भैंस, घोडा आदि चतुष्पद, गाडी, घोडा, मोटार, पालकी आदि सवारीकी चीजें, कुरसी, गादी आदि बैठने की चीजें, चारपाई, गदेला आदि सोनेकी चीजें, वस्त्र, वर्तन, धातु, उपधातु आदि कुप्यभांड ये दश बाह्य परिग्रह कहलाते है ॥ ६१ ॥

मिथ्यात्ववेदहास्यादि षट्कषायचतुष्टयम् ।
रागद्वेषौ च संगाः स्युरन्तङ्गाश्चतुर्दश ॥ ६२ ॥

इसीप्रकार मिथ्यात्व स्त्री पुं नपुंसकरूप वेद, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, क्रोध, मान, माया, लोभ, राग और द्वेष ये चौदह अतरंग परिग्रह कहलाते है। इसप्रकार सब चौवीस परिग्रह कहलाते हैं।

॥११९॥

सचित्ताऽचित्तरूपैतत्संगसंगिपराः परैः ।
मानासुहान्यतिक्लेशानाप्नुवन्त्यवशाशयाः ॥ ६३ ॥

ये समस्त प्रकारके परिग्रह सचित्त तथा अचित्तके भेदसे दो प्रकारके है । इन दोनों प्रकारके परिग्रहोंको इकठ्ठे करनेमें तत्पर रहनेवाले और इसीलिए जिनका हृदय अपने वशमें नहीं है (परिग्रहके वशमें है) ऐसे जीव दूसरोंके द्वारा होनेवाली मानहानि तथा प्राणहानि आदि अत्यंत क्लेशोंको प्राप्त होते रहते हैं ॥ ६३ ॥

या मूर्च्छोच्छेदिनी संगे चेतोवृत्तिरसंगता ।
यया साऽऽत्यन्तिकी मुक्तिश्रीरुपैति यतिं स्वयम् ॥ ६४ ॥

इन परिग्रहोंमें ममत्वरूप मूर्च्छाको जडमूलसे नाश करनेवाली जो चित्तकी प्रवृत्ति है वही परिग्रहत्यागव्रत कहलाता है । इसी परिग्रहत्यागव्रतके कारण मुक्तिरूपी लक्ष्मी मुनिराजोंके पास स्वय जाकर प्राप्त होजाती है ॥ ६४ ॥

स्वात्माऽभ्यन्तररागाद्या यदि त्याज्याः परिग्रहाः ।
बाह्यास्तत्त्वादयः किं नासातसन्ततिकारिणः ॥ ६५ ॥

जब आत्माके भीतर रहनेवाले राग, द्वेष आदि अंतरग परिग्रहही त्याग करने योग्य हैं तो फिर जन्मजन्मांतरतक दुःख देनेवाले शरीर आदिक बाह्य परिग्रह त्याग करने योग्य क्यों नहीं हैं ? अर्थात् वे तो अवश्य ही त्याग करने योग्य है ।

सेवातन्द्राः सुरेन्द्राद्याः क्रूरो मारश्च किंकरः ।
यस्यामद्भुतमाहात्म्यसंगताऽसंगता ततः ॥ ६६ ॥
परिग्रहग्रहोन्मुक्तेरभ्रान्ता स्वान्तसन्ततिः ।
निजानंदामृतामन्दस्यादिनी कैर्न वर्ण्यते ॥ ६७ ॥

इस परिग्रहत्याग व्रतके कारण इद्रादिक देव भी सदा सेवा करनेमे तत्पर रहते है। तथा क्रूर कामदेव भी सदा किंकर वा सेवक वना रहता है। इसके सिवाय इसी परिग्रहत्याग व्रतके होनेपर इस जीवको वडे वडे अद्भुत माहात्म्योंका समागम प्राप्त होता रहता है। इसलिए ही परिग्रहरूपी ग्रह वा पिशाचका परित्याग होजानेसे भ्रांत रहित और केवल आत्मासे उत्पन्न होनेवाले आनंदरूपी अमृतकी तीव्र धारा वहानेवाली जो अपने आत्माकी सदा एकसी रहनेवाली अवस्था है उसे भला कौन वर्णन नही कर सकता? अर्थात् उसका वर्णन सबको करना ही पडता है ॥ ६६-६७ ॥

आगे अपरिग्रह व्रतकी भावनाएं वतलाते हैं।

स्यान्मनोज्ञामनोज्ञाक्षपंचकार्थेषु वर्जनम्।
भावनापंचकं रागद्वेषयोरपरिग्रहे ॥ ६८ ॥

इंद्रियां पांच है तथा उनके विपय भी पांच है। उन पांचों इद्रियोंके विपयोंमें कितने ही विपय मनोज्ञ वा अच्छे लगनेवाले इष्ट हैं तथा कितने ही अमनोज्ञ वा बुरे लगनेवाले अनिष्ट हैं। उन पांचों इद्रियोंके इष्ट विपयोमे रागका त्याग कर देना तथा उन्हीं पांचों इंद्रियोंके अनिष्ट विपयोंमे द्वेपका त्याग कर देना परिग्रहत्यागव्रतकी भावनाए कहलाती है ॥ ६८ ॥

महान्तमर्थं मोक्षं यत् साधयन्ति महान्ति तत्।
व्रतान्याचरितानीति वा महद्भिः सुधीधनैः ॥ ६९ ॥

ये अहिंसादिक पांचो व्रत सबसे वडे मोक्षरूप पदार्थको सिद्ध करते है इसलिये इनको महाव्रत कहते हैं। अथवा वडे वडे बुद्धिमान इन व्रतोंको पालन करते है इसलिये भी इन व्रतोंको महाव्रत कहते है ॥६९॥

व्रतत्राणाय कर्त्तव्यं रात्रिभोजनवर्जनम्।
सर्वथान्नान्निवृत्तिस्तत्प्रोक्तं षष्ठमणुव्रतम् ॥७०॥

इन व्रतोंकी रक्षा करनेके लिये रात्रिभोजनका त्याग भी अवश्य कर देना चाहिये। रात्रिभोजनका

त्याग करनेसे व्रतोंकी रक्षा होती है इसीलिए रात्रिमें अन्नका सर्वथा त्याग करनेको गृहस्थोंके लिए छठा अणुव्रत कहा है ॥७०॥

रात्रिभुक्तौ व्रतानां स्यान्नाशः शंका च तत्क्षये ।
प्राणितस्याऽऽत्मनो हानिरङ्ग्यङ्गविषसंगमात् ॥ ७१ ॥

रात्रिमें भोजन करनेसे व्रतोंका नाश होता है । तथा व्रतोंका नाश होनेसे हृदयमें सदा शंका बनी रहती है । इसके सिवाय किसी विषैले प्राणोके शरीरमें रहनवाले विपका समागम होनेसे (भोजनमें किसी विषैले जीवके पडजानेसे) अपने प्राणोंको भी हानि होती है ॥ ७१ ॥ इस प्रकार महाव्रतोंका वर्णन किय ।

अब आगे पांच समितियोंका वर्णन करते हैं ।

ईर्याभाषैषणादाननिक्षेपोत्सर्गकर्मसु ।
संयत्नादितयः पंचवृत्तयः समितिप्रथाः ॥ ७२ ॥

ईर्यासमिति, भाषासमिति, एपणासमिति, आदाननिक्षेपणसमिति और उत्सर्ग समिति ये पांच समिति कहलाती है । सं शब्दका अर्थ यत्नाचारपूर्वक है, और इति शब्दका अर्थ प्रवृत्ति है । ईर्या अर्थात् चलनेमें भाषा अर्थात् बोलनेमें, एपणा अर्थात् आहार ग्रहण करनेमें, आदाननिक्षेपण अर्थात् पीछी, कमण्डलु, शास्त्र आदिके उठाने रखनेमें और उत्सर्ग अर्थात् मलमूत्र करनेमें यत्नाचारपूर्वक प्रवृत्ति करना जिससे किसी भी जीवको बाधा न होने पावे उसको समिति कहते हैं । ऐसी समिति ऊपर लिखे अनुसार पांच है ॥ ७२ ॥

सार्द्रां कर्दमशेवालजलपुष्पफलाविलाम् ।
इलां त्यक्तांकुरानीकप्राणिबीजव्रजाकुलाम् ॥ ७३ ॥
काष्ठेष्टकाष्मलोष्ठादिकृतवर्त्माऽसमं चलं ।
त्यक्त्वा संशयितं चात्मपातासंयमहेतुकम् ॥ ७४ ॥

मार्गे रथाश्वगोयूथनरादिचरणाहतिः ।
प्रासुकेऽपगताऽऽयातप्राणिप्रालेयजालके ॥ ७५ ॥
प्रभाकरकरव्रातस्पष्टज्ञेयार्थसार्थिनी ।
योगिनस्तीर्थयात्रात्मगुरुकार्यादिभागिनः ॥ ७६ ॥
स्थित्वा कार्यवशान्मन्दं मृगवद्दिग्विलोकिनः ।
पुरो युगान्तरे प्राणिवीक्षणार्पितचेतसः ॥ ७७ ॥
मन्दं न्यस्तपदापास्तद्रुतातीव्रविलंबिनः ।
द्विपेंद्रमन्दयानस्य स्यादीर्यासमितिर्गतिः ॥ ७८ ॥ षट्कम् ।

जो पृथ्वी गीली हो, जिसपर कीचड हो, शेवाल (काई अथवा पानीके ऊपर रहनेवाली हरी हरी घासके समान शेवाल) हो, जिसपर जल भरा हो, फूल वा फल बिछे हों, जिसपर अकूरे जमे हों, जिसपर सेना चल रही हो अथवा युद्ध होरहा हो, जिसपर प्राणी हों वा बीजोंके समूह फैले हों ऐसी पृथ्वीको छोडकर गमन करना चाहिए। इसीप्रकार जो मार्ग लकडी, ईट, पत्थर, मिट्टीके ढेले आदिसे कृत्रिम बनाया गया हो, जो मार्ग ऊंचा नीचा हो, जो चल हो अर्थात् जिसे चाहे जहां उठाकर रख दे सकें, जिस मार्गमें किसी प्रकारका संदेह हो अथवा यह मार्ग है अथवा नहीं इसप्रकारका जिराम संदेह हो, जिसमें अपने पड जानेका कारण दिखाई देता हो अथवा जिसमें असंयमका कारण दिखाइ देता हो ऐसे मार्गको भी छोडकर गमन करना चाहिए । जो मार्ग रथ, घोडे, गायोंके समूह और मनुष्य आदिके चरणोंसे आहत होचुका है, जो मार्ग प्रासुक है जिसमें से रात्रिमें गमन करनेवाले प्राणी और ओसके जाल आदि सब दूर होगये है, तथा जिसमें सूर्यकी किरणोंके समूहसे जानने योग्य समस्त पदार्थ स्पष्ट दिखाई दे रहे है ऐसे मार्गमें गमन करना चाहिए । मुनिराज चाहे तो तीर्थ-यात्राके लिए गमन करें और चाहे गुरु-अचार्यके किसी कामके लिए गमन करे अथवा अपने किसी

॥१२३॥

कामके लिए गमन करें, किसी भी कार्यके लिए गमन करें उनको ठहरते हुए गमन करना चाहिए, हिरणके समान सब दिशाओंको देखते हुए मंद मंद रीतिसे गमन करना चाहिए। मुनिराजको गमन करते समय सामने अपने शरीरप्रमाण चार हाथ भूमितक प्राणियोंको देखनेमें अपना हृदय लगाये रखना चाहिए। अपने चरणोंको धीरे २ रखना चाहिए। न बहुत शीघ्रताके साथ चलना चाहिए और न बहुत मंदताके साथ चलना चाहिए। किंतु बडे गजराजके समान मंद रीतिसे गमन करना चाहिए। मुनिराजके इस प्रकार गमन करनेको ईर्यासमिति कहते हैं ॥ ७३-७८ ॥ इस प्रकार ईर्यासमितिका स्वरूप कहा।

अब आगे भाषासमितिका स्वरूप कहते हैं।

सत्यमोषोभयासत्यमोषभेदाच्चतुर्विधा।
भाषाद्या सत्यबोधार्थवाग्घटे घटवाग्यथा ॥ ७९ ॥

सत्य, असत्य, उभय और अनुभयके भेदसे भाषाके चार भेद होते हैं। उनमेंसे जो भाषा यथार्थ सत्यज्ञानके विषयरूप बचनोंको कहनेवाली सत्यभाषा कहलाती है जैसे घडेके लिए "यह घडा है" ऐसा वचन कहना सत्यभाषा कहलाती है ॥ ७९ ॥

मोषभाषा विपर्यासव्यवसायार्थगोचरा।
यथा मरीचिकाचक्रे वार्वाक्साऽनेकभेदगा ॥ ८० ॥

पदार्थोंके स्वरूपको विपरीत निश्चय करानेवाले वचनोंको असत्य भाषा कहते हैं। जैसे मरीचिकाके समूहमें (बालूके समूहमें) "यह जल है" ऐसे वचन कहना असत्यभाषा है। इस असत्य भाषाके अनेक भेद होते हैं ॥ ८० ॥

धर्मैर्विवक्षितैः सत्येऽसत्ये चार्थाविवक्षितैः।
वाक् प्रवृत्तोभयाख्या सा भाषेतीहेष्यते यथा ॥ ८१ ॥

॥१२४॥

घटाकृतिव्यपेताया धारणाद्भूरिवारिणः ।
कुंडिकाया घटाख्यैवं वहुभेदामिदं वचः ॥ ८२ ॥

विवक्षित धर्मोंके द्वारा पदार्थोंके सत्य स्वरूपमें तथा अविवक्षित धर्मोंके द्वारा पदार्थोंके असत्य स्वरूपमें जो वचन प्रवृत्त होते हैं वे उभयवचन कहलाते है । जैसे- जिसका घडेका आकार तो नहीं ह परतु उसमें पानी वहुत समाता है ऐसी कूंडी को घडा कहना उभयवचन है । इस उभय भाषाके भी वहुतसे भेद होते है । इसका अभिप्राय यही है कि कुंडी घडा नहीं है । क्योंकि घडेका आकार भिन्न होता है और कुंडीका आकार भिन्न होता है । इसलिए कुंडी घडा नहीं है किंतु पानी दोनोंमें भरा जाता है । काम दोनोंका समान है । अतएव कुडीको घडा कहना ठीक भी है । इसलिए ऐसी भाषाको उभय भाषा कहते हैं ॥ ८१ ८२ ॥

आमंत्रणामाज्ञापनं याञ्चावाक् प्रच्छनावचः ।
प्रज्ञापनावचः प्रत्याख्यानसंशयभाषणम् ॥ ८३ ॥
इच्छाऽनुलोमवचनमनक्षरमयं वचः ।
इत्येवमादयः सत्यमोषभेदाः सहस्रशः ॥ ८४ ॥

आमत्रण अर्थात् बुलानेके लिए संबोधनरूप वचन, आज्ञापन अर्थात् आज्ञारूप वचन, याचनारूप (मागनेके) वचन, पृच्छना अर्थात् पूछनेके वचन, प्रज्ञापना अर्थात् निवेदन करनेरूप वचन, प्रत्याख्यान अर्थात् त्याग करनेरूप वचन, संदेहरूप वचन, इच्छानुलोम अर्थात् इच्छाओंको पूर्ण करनेवाले वचन और अनक्षररूप वचन आदिके भेदसे अनुभय वचनके हजारों भेद होते हैं ॥ ८३–८४ ॥

तत्रामंत्रणमन्यस्य परत्राऽऽसक्तचेतसः ।
आभिमुख्यकरं हंहो नरेंद्रेत्यादिकं वचः ॥ ८५ ॥

जिसका हृदय किसी दूसरी ओर लग रहा है ऐसे किसी अन्य मनुष्यको अपने सन्मुख करनेके

लिए बुलाना आमंत्रण कहलाता है । जैसे कोई नरेंद्र नामका मनुष्य जारहा हो उसको अपने सन्मुख करनेके लिए बुलाना " हे नरेंद्र ! " ऐसे वचनोंको आमत्रणरूप वचन कहते हैं ॥ ८५ ॥

आज्ञापनं प्रभुत्वेनाऽऽदेशो यः स्वोक्तकारिणा ।
तत्किंचिदाशु कर्त्तव्यं यन्मया दिश्यते तव ॥ ८६ ॥

अपने कहे हुये बचनोंके अनुसार कार्य करानेवाले स्वामीके द्वारा जो आज्ञारूप वचन कहे जाते है उनको आज्ञापन कहते है । जैसे " जो कार्य मैं इस समय बतला रहा हूं उसे कुछ जल्दी करो ,, इस प्रकारकी आज्ञा देना आज्ञापन वचन हैं ॥ ८६ ॥

याञ्चा मयाऽर्थितं किंचिद्यत्तद्देयमिति त्वया ।
कथ्यतां यन्मया पृष्टं तदित्याप्रच्छनावचः ॥ ८७ ॥

मागनेरूप वचनोंको याचना कहते है । जैसे " जो कुछ मैने आपसे प्रार्थना की है कृपाकर आप उसे दे दीजिये ,, ऐसे मागनेरूप वचन याचनारूप वचन कहलाते हैं । इसीप्रकार " जो कुछ मैंने पूछा है कृपाकर उसका उत्तर दीजिये ,, इसप्रकार पूछनेरूप वचनोंको आपृच्छन कहते हैं ॥ ८७ ॥

मत्पृष्टं यत्तदादेश्यमिति प्रज्ञापना गुरौ ।
प्रत्याख्यानमहं किंचित्त्यजामीति निवृत्तिवाक् ॥ ८८ ॥

अपने गुरुसे कुछ निवेदन करना कि " जो कुछ मैने पूछा है कृपाकर उसकी आज्ञा दीजिए ,, ऐसे वचनोंको प्रज्ञापना वचन कहते हैं । तथा " मैं यह त्याग करता हूं अथवा कुछ त्याग करता हू ,, ऐसे निवृत्तिरूप-त्यागरूप वचनोंको प्रत्याख्यान वचन कहते हैं ॥ ८८ ॥

संशीत्यैतत्किमित्यादि वचः संशयवाङ्मता ।
तवेष्टं पुष्टं कुर्वेऽहमित्याद्येच्छानुलोमवाक् ॥ ८९ ॥

किसी संदेहमें पडकर " यह क्या है ,, इसप्रकारके वचन कहना सशयरूप वचन कहलाते है । तथा

"मै तुम्हारे इष्ट पदार्थकी ही पुष्टि करुंगा,, ऐसे वचनोंको इच्छानुलोम वचन अथवा इच्छानुसार कहे जानेवाले वचन कहते है ॥ ८९ ॥

वालादिसंज्ञ्यसंज्ञ्यंगिवागनक्षरवागिमाः ।
न सत्यं स्पष्टताऽभावान्नासत्यं वाच्यसंभवात् ॥ ९० ॥

बालक आदि सेनी जीवोंके वचन तथा असेनी जीवोंके वचन अनक्षररूप वचन कहलाते है। ये ऊपर बतलाये हुए सब तरहके वचन स्पष्ट नहीं होते इसलिए तो ये सत्य नहीं कहे जासकते। तथा इनका वाच्य कुछ न कुछ पदार्थ होता ही है इसलिए इन वचनोंको असत्य भी नहीं कह सकते। अतएव इन वचनोंको अनुभयरूप वचन कहते है ॥ ९० ॥

मितसत्यहितस्योक्ति र्मनःसन्देहभेदिनः ।
वचसोऽनुभयस्यापि भाषासमितिरिष्यते ॥ ९१ ॥

मनके संदेहको दूर करनेवाले हितरूप तथा परिमित सत्य वचन कहना भाषासमिति कहलाती है यदि ऐसे वचन अनुभयरूप भी हो तो भी वे भाषासमिति कहलाते हैं ॥ ९१ ॥ इस प्रकार भाषा समितिका स्वरूप कहा।

अब आगे एषणासमितिका स्वरूप कहते हैं।

अपवित्रमिदं गात्रं विण्मूत्रादिमलाविलम् ।
क्षयि नक्षोग्ररोगादिपीडानीडं जडात्मकम् ॥ ९२ ॥
साहचर्यमनेनाऽऽर्यः कथं कुर्याद्दुरात्मनः ।
अन्यः स्वान्यपरिज्ञानापेतचेतोहतात्मनः ॥ ९३ ॥

यह शरीर अत्यत अपवित्र है, मूत्र, विष्ठा आदि अनेक प्रकारके मलोसे भरा हुआ है। नाश होनेवाला है, नीच है, अनेक बडे बडे रोग, व्याधि आदि पीडाओंका स्थान है और जडस्वरूप है।

इसप्रकार समझनेवाले तथा अपना आत्मा और शरीर इन दोनोंके ज्ञानसे जिनका हृदय शून्य है और इसीलिए जिनका आत्मा नष्टप्रायः होगया है ऐसे दुरात्माओंसे भिन्न सम्यग्दृष्टी तथा सम्यग्चारित्रको पालन करनेवाले आर्यपुरुष वा मुनिराज भला ऐसे इस जडरूप शरीरके साथ अपना संबंध किस प्रकार कर सकते है ?

भावार्थ— शरीर और आत्माके स्वरूपको न समझनेवाले और इसीलिए दोनोंको भिन्न भिन्न न माननेवाले मिथ्यादृष्टी जीव यदि शरीरसे संबंध रक्खें—उसको अपना मानें तो किसी प्रकार ठीक भी कहा जासकता है। परतु जो आत्मा और शरीरको सर्वथा भिन्न अनुभव करनेवाले मुनिराज हैं वे भला इस शरीरको अपना कैसे मान सकते हैं ? कभी नहीं ॥ ९२-९३ ॥

मिताशनादिदानेन नेयः कायस्तथाप्यऽयम् ।
यथा रथोऽक्षसंम्रक्षणेन स्तंभैः कुटुंबिनाम् ॥ ९४ ॥

इसप्रकार यद्यपि मुनिराज इस शरीरको अपना नहीं समझते हैं तथापि जिसप्रकार पहियोंके धुरामें थोडासा तेल देकर रथको चलाते हैं अथवा खंबे लगाकर कुटुबियोंके रहनेका घर कायम बनाए रखते है उसी प्रकार थोडासा भोजन आदि देकर इस शरीरको भी चलाना चाहिए अथवा कायम रखना चाहिये ॥ ९४ ॥

अप्राप्तावसरेणैषा रक्षणीयो मुमुक्षुणा ।
कायो वहति नो लोकः किं मूर्ध्ना दग्धुमिन्धनम् ॥ ९५ ॥

इसका भी कारण यह हैं कि मोक्षकी इच्छा करनेवाले मनुष्यको जबतक मुक्त होनेका समय न आवे तबतक इस शरीरकी रक्षा करनी चाहिए अथवा इसको कायम रखना चाहिए। क्या जलानेके काममे आनेवाले ईंधनको लोग मस्तकपर धारण कर नहीं ले जाते हैं ? किंतु ले ही जाते हैं ॥ ९५ ॥

एतद्रत्नत्रयीपात्रं नांगत्यंगं विनाऽशनम् ।
पुष्यात्तत्तेन सिद्ध्यर्थं स्वार्थभ्रंशो हि मूर्खता ॥ ९६ ॥

॥१२८॥

यह शरीर रत्नत्रय धारण करनेका पात्र है और वह विना भोजनके ठहर नहीं सकता। अतएव रत्नत्रयको सिद्ध करनेके लिए इस शरीरका पालन करना भी आवश्यक है। क्योंकि अपने स्वार्थसे भ्रष्ट होना भी तो मूर्खता ही है। अर्थात् इस शरीरके द्वारा तपश्चरण कर मोक्ष प्राप्त करना आवश्यक है इस लिए इसको पालन करना भी आवश्यक है ॥ ९६ ॥

आगे गमन करनेकी योग्यता बतलाते हैं।

मत्वेति द्रव्यदेशात्मदेहप्रकृतिनिश्चितः।
कालं गवेणषस्यैषणस्य ज्ञात्वाऽर्कचारतः ॥ ९७ ॥
पूर्णोदरचरत्तोकैरगारवलिकर्मणा।
छायया मुशलध्वानधूमशान्त्यादिकैरपि ॥ ९८ ॥
शुद्धकायः पुरीषादिमलोत्सर्गविधानतः।
परिसृष्टात्मपूर्वापरांगभागो विलोक्य च ॥ ९९ ॥
ततः पंचगुरून्नत्वा भूत्वैकाग्रमतिर्यतिः।
कुर्याच्चर्यां नगर्यादावदनाननमानसः ॥ १०० ॥

इसप्रकार समझकर तथा द्रव्य, देश और अपने शरीरकी प्रकृतिका निश्चय कर और सूर्यकी गतिसे—सूर्यके गमन करनेसे अपने भोजनके ढूंढनेका समय जानलेना चाहिए। इसके सिवाय मुनियोंको देख लेना चाहिये कि वच्चे अपना २ पेट भरकर खेल रहे है। गृहस्थलोग वलिकर्म कर रहे है (भोजनके पहले जो वहां रहनेवाले देवताओंके लिए आहारपिंड दिया जाता है उसको वलिकर्म कहते हैं) सूर्यसे पडनेवाली वृक्षादिकोंकी छाया ठीक समयपर आगई है अथवा मूसलके (धान कूटनेके) शब्द वद होगये है और धूआं शांत होगया है। इन सब वातोंको जानकर भोजनके ढूढनेका समय जानलेना चाहिये।

तदनतर मल, मूत्र आदिका परित्याग कर तथा और भी ऐसी क्रियाए करके अपना शरीर

शुद्ध कर लेना चाहिए और फिर अपने शरीरके अगले पिछले सब भागोंको पीछीसे मार्जन कर लेना चाहिए-पोंछ डालना चाहिए तथा देख भी लेना चाहिए। फिर उन मुनिराजको पंचपरमेष्ठीके लिए नमस्कार करना चाहिए और फिर एकाग्रचित्त होकर अपने मनमें तथा मुखपर अदीनताका उत्तम भाव धारण करते हुए नगर आदिमें चर्या (आहारके लिए गमन) करनी चाहिए ॥ ९७-१०० ॥

वर्येर्यासमितिर्भीतिभ्रान्तिप्रीत्यादिवर्जितः ।
भटकुक्कुटडिंभस्त्रीयुद्धनृत्यादिवीक्षणे ॥ १०१ ॥
विहायोल्लघनं जानुदेशादुन्नतवस्तुनः ।
नाभिनीचं च संकीर्णद्वारं मार्गं च दुर्गमम् ॥ १०२ ॥
परिहृत्य च दूरेण कासराद्युग्रशृंगिणः ।
कुंजरोष्ट्रतुरंगार्श्वोन्मत्तञ्च नृपोत्रिणः ॥ १०३ ॥
कुलं तलारकारूणां सूनामैरेयकारिणाम् ।
त्यक्त्वा प्रसूतिकावन्दिवादित्रत्रयजीविनाम् ॥ १०४ ॥
प्रपापण्याङ्गनाऽनाथाऽव्रतिकाऽभक्तमन्दिरम् ।
वार्यमाणं विवाहादिमंगलं लोकनिन्दितम् ॥ १०५ ॥
यज्ञभोजनशालां च कदर्यमृतकालयम् ।
बद्धं गेहं कवाटादिस्थगितादिकमद्दिशम् ॥ १०६ ॥
अतिप्रसंगसंक्लेशावज्ञादुःकीर्त्यसंयमः ।
स्युतलोकविरोधाद्या यत्स्युस्तद्गेहसंश्रयात् ॥ १०७ ॥

॥१३०॥

क्रमेण योग्यागारालिं पर्यटन्प्रांगणं मितम् ।
विशेन्मौनी विकारांगसंज्ञायाच्ञ्योज्झितो यतिः ॥ १०८ ॥

उस समय मुनियोंको श्रेष्ठ ईर्यासमितिसे गमन करना चाहिए। तथा योद्धा, मुर्गे, बालक स्त्री, युद्ध, नृत्य आदिके देखनेमें भय, भ्रांति वा प्रेम आदि सबका त्याग कर देना चाहिए। चलते समय घुटनेसे ऊंचे किसी भी पदार्थको उल्लघन नहीं करना चाहिये और नाभिसे नीचे नवकर मार्गको उल्लंघन नहीं करना चाहिए। इसी प्रकार जो दरवाजा अत्यत सकीर्ण हो उसमें होकर भी नहीं जाना चाहिए तथा जो मार्ग दुर्गम हो उसमें होकर भी नहीं जाना चाहिए। भैंस वा भैंसा आदि उग्र सींगवाले पशुओंसे दूर बचकर निकलना चाहिए। इसीप्रकार हाथी, ऊंट, घोडा, उन्मत्तमनुष्य अग्नि और सूअर आदिकोंसे भी दूर बचकर निकलना चाहिए। कोतवालके कुलमें, नाई, धोबी आदि कारु शूद्रोंके कुलमें, चक्की, चूल्हा, ओखली आदि बनानेवालोंके कुलमें और मद्य बनानेवाले पापियोंके कुलमें नहीं जाना चाहिए। इसी प्रकार जो प्रसूति कर जीविका करते है, जो बंदिजनोंका काम करते हैं– दूसरोंका यश गाकर जीविका करते है, गाकर, बजाकर वा नृत्य कर जीविका करते है ऐसे कुलोंमे भी मुनियोंको आहारके लिए नहीं जाना चाहिए। इसीप्रकार प्याऊवालेके घर, वेश्याके घर, अनाथके घर, अव्रतीके घर और अपनी भक्ति न करनेवालेके घर आहारके लिए नहीं जाना चाहिए। तथा जिस घरमें जानेसे कोई रोक दे, जिस घरमें विवाहादिक मांगलिक कार्य हो रहे हो और जो घर लोकनिंदित हो ऐसे घरोंको सर्वथा छोड देना चाहिये। अर्थात् ऐसे घरोंमे नहीं जाना चाहिये। जो यज्ञशाला हो, भोजनशाला हो, कृपणका मकान हो, सूतकका स्थान हो, जो घर बंद पडा हो और जिस घरके किवाड लगे हों तथा और भी जो ऐसे ही मकान हो उनमें मुनियोंको आहारके लिये कभी नहीं जाना चाहिये। इसका भी कारण यह है कि ऐसे घरोंमें जानेसे अतिप्रसंग दोष आता है, परिणामोंमें संक्लेशभाव उत्पन्न होजाता है, अपनी अवज्ञा वा तिरस्कार होता है, अपकीर्ति

॥१३१॥

होती है, संयमका नाश होता है, शास्त्रका विरोध होता है और लोकका विरोध होता है। अतएव ऊपर लिखे घरोंमें मुनियोंको आहारके लिये कभी नहीं जाना चाहिये। उन मुनिराजको अनुक्रमसे योग्य घरोंके समूहमें आहारके लिये घूमना चाहिये। मौन धारण कर आंगनके नियमित भाग-तक (जहांतक सर्वसाधारण लोग आ जा सकते हों) प्रवेश करना चाहिये तथा विकार, शरीरके इशारे और याचना आदिका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये ॥ १०१-१०८ ॥

इन्दोर्वन्द्या गतिर्यद्वन्नक्षत्रक्षेत्रचारिणः ।
तद्वन्मुनेश्च पुण्यानुग्राह्यगेहानुसारिणः ॥ १०९ ॥

जिस प्रकार नक्षत्रोंके क्षेत्रमें गमन करनेवाले चंद्रमाकी गति वदना करने योग्य मानी जाती है उसी प्रकार पुण्यके द्वारा अनुग्रह किये जाने योग्य घरोंमें आहारके लिये गमन करनेवाले मुनियोंकी गति भी वंदना करने योग्य मानी जाती है ॥ १०९ ॥

यथा वाऽदीनता रत्नदर्शकव्यवहारिणः ।
गात्रदर्शनमात्राल्पकांक्षभिक्षोस्तथैव सा ॥ ११० ॥

जिस प्रकार रत्नोंको दिखानेवाला जोंहरी किसी प्रकारकी दीनता धारण नहीं करता, अपने परिणाम सदा अदीनरूप रखता है उसीप्रकार शरीरको दिखाने मात्र थोडीसी इच्छाको धारण करनेवाले मुनियोंके भी किसी प्रकारकी दीनता नहीं होती, वे अपने परिणामोंको सदा अदीनरूप ही रखते है ॥ ११० ॥

अदीनजैनमार्गस्थः प्राप्यप्राप्तिसमाशयः ।
कः किं कुत्र कथं मह्यं दास्यतीतीहनोज्झितः ॥ १११ ॥

वे मुनिराज भगवान् जिनेंद्रदेवके कहे हुए अदीनरूप मोक्षमार्गमे विराजमान रहते हैं, आहारके मिलनेपर हर्ष नहीं करते और न मिलनेपर विषाद नहीं करते, आहारके मिलने और न मिलनेमें

दोनोंमें समताभाव धारण करते हैं । इसीप्रकार " हमारे लिए आहार कौन देगा, कहां देगा, कैसा देगा, क्या देगा और किस प्रकार देगा ,, ऐसी इच्छासे वे मुनिराज सदा रहित होते हैं, अर्थात् वे मुनिराज ऐसी इच्छाएं कभी नहीं करते है ॥ १११ ॥

अस्थापितो निवर्त्तेत प्रविष्टं मन्दिरादिकम् ।
पुनर्न प्रविशेदन्यग्रामादींश्चाऽशनाशया ॥ ११२ ॥

वे मुनिराज यदि आहारके लिए किसी घरमें प्रवेश करें और वहांपर कोई उनका प्रतिग्रह न करे तो वे मुनिराज वहांसे लौट आते है । इसप्रकार यदि उस गांवमें आहार न मिले तो फिर भोजनकी इच्छासे उस दिन दूसरे गांवमे नहीं जाते है ॥ ११२ ॥

धारयेन्नैव विण्मूत्रवेगं निर्गत्य तं बहिः ।
व्युत्सृजेन्न विशेत्पश्चात्स्वस्थानं धीरधीर्व्रजेत् ॥ ११३ ॥

यदि चर्या करते समय या घरमें प्रवेश करनेपर मलमूत्रका वेग उत्पन्न हो आवे तो उसे धारण नहीं करना चाहिये अर्थात् मलमूत्रके वेगको रोकना नहीं चाहिए । बाहर जाकर मलमूत्रकी बाधा मेटलेनी चाहिये । तथा मलमूत्रकी बाधा मेटलेनेपर फिर आहारके लिए किसी भी घरमें नहीं जाना चाहिये । फिर तो उन धीर वीर मुनियोंको अपने स्थानपर ही चले जाना चाहिये ॥ ११३ ॥

कुलं विषण्णव्यग्रोग्रतार्कुकादिकुलाकुलम् ।
सन्मार्जनाद्यवद्यं च वन्द्यमानोऽपि नो विशेत् ॥ ११४ ॥

शृंगारनृत्यचित्रादिशालामुद्यानमिन्द्रियम् ।
द्विपेन्द्रक्रीडनस्थानं स्थानमन्यच्च तादृशम् ॥ ११५ ॥

जिस घरमें विषाद होरहा हो, जिस घरमें किसी प्रकारकी व्याकुलता हो, जिस घरमें उग्र परिणामी क्रूर मनुष्य हों, जिस घरमें वंदीजन रहते हों, जो कुल नीच कुल हो, जिस घरमें बुहारी

देना आदि पापकार्य होते हों, जिस घरमें शृंगारशाला हो, नृत्यशाला हो वा चित्रशाला हो अथवा जो ऐसे ही तमाशेके घर हों वा उद्यान वा बाग बगीचे हों, जिनमें इंद्रियोंको प्रसन्न करनेके लिए अनेक प्रकारकी क्रीडाएं की जाती हों, जो हाथियोंका क्रीडास्थल हो वा और भी जो ऐसे ही स्थान हों उनमें उन घरवालोंके द्वारा चंदना किये हुए भी प्रतिग्रह किए हुए भी मुनि प्रवेश नहीं करते हैं–आहारके लिए नहीं जाते हैं ॥ ११४-११५ ॥

प्रतिग्रहप्रणामाभ्यां स्थापितो योग्यदातृभिः ।
तर्णकैलकवालादीननुल्लंघ्य विशेद्गृहम् ॥ ११६ ॥

जिस घरके योग्य दाताने प्रतिग्रह और प्रणाम करके स्थापना किया है–ठहराया है उसके घरमें गाय भैसके छोटे बच्चे वा किसी भेड बकरीके छोटे बच्चेको उल्लंघन न करते हुए प्रवेश करना चाहिए ॥ ११६ ॥

प्रकाशजनसंचारवत्यशुच्याङ्गिवर्जते ।
विस्तीर्णे संवृते शस्ते सम्मते तत्र संवृतः ॥ ११७ ॥
आत्मोचिताऽऽसनाऽऽसीनो दातृप्रक्षालितक्रमः ।
ऊर्ध्वाधःपार्श्वदिक्कोणनिक्षेपाद्यनिरीक्षणः ॥ ११८ ॥
वर्णी पूर्णप्रातिज्ञोऽथ सिद्धभक्तिं विधाय तत् ।
प्रत्याख्यानं विनिष्ठाप्य प्रेरितो भक्तदातृभिः ॥ ११९ ॥
समांगुलचतुष्कांतरांघ्रिः स्थित्वा समुद्धृते ।
पात्रात्पिंडे करद्वन्द्वमानाभेर्धौतमुत्क्षिपेत् ॥ १२० ॥

जिस घरमें प्रकाश हो, जिस घरमें लोगोंका जाना आना होता रहता हो अर्थात् जिसमें

॥१३४॥

किसी प्रकारकी रुकावट न हो, जिसमें कोई अपवित्र प्राणी न हो, जो विस्तीर्ण हो, ऊपरसे ढका हो-उघडा हुआ न हो, जो प्रशंसनीय हो और जो सबको सम्मत वा मनोवांच्छित हो ऐसे मकानमें अपने शरीर वा इंद्रियोंको समेट कर आहारके लिए जाना चाहिये। वहां जाकर अपने योग्य आसन पर बैठ जाना चाहिये। बैठ जानेपर आहार देनेवाले दाताको उचित है कि वह उन मुनिराजके चरणकमलोंका प्रक्षालन करे। उस समय मुनिराजको भी ऊपरकी ओर, नीचेकी ओर, अगल बगल, वा दिशाओंके कोणोंमें रक्खे रहनेवाले पदार्थोंपर अपनी दृष्टि नहीं डालनी चाहिये अर्थात् किसी भी ओर देखना नहीं चाहिए। तदनतर भक्ति करनेवाले उस गृहस्थ दाताके द्वारा आहार ग्रहण करनेकी प्रार्थना करनेपर जिनकी प्रतिज्ञा पूर्ण होचुकी है ऐसे उन ब्रह्मचारी मुनिको सिद्धभक्ति करनी चाहिये। और फिर अपना प्रत्याख्यान वा पहले ग्रहण किया हुआ त्याग पूर्ण करना चाहिये। फिर उन मुनिराजको चार अगुलके अंतरसे दोनों पैरोंको समान रखकर खडा होना चाहिये। तथा जब दाता अपने पात्रमेंसे देनेके लिए भोजनका ग्रास उठावे तब उन मुनिराजको अपने धोये हुए दोनों हाथ नाभिसे ऊपर २ रखते हुए क्षेपण करना चाहिये ॥ ११७-१२० ॥

पुटं पाण्योरभित्वाऽन्याक्षिप्तं भुंजीत तं मतं ।
विना विकारवेगार्त्तिमांद्याऽऽसक्तिस्वनादिभिः ॥ १२१ ॥

उन मुनिराजको आहार करते समय अपने दोनों हाथोंका बंधन छोडना नहीं चाहिये। तथा विना किसी विकारके, विना किसी प्रकारकी शीघ्रताके, विना किसी प्रकारकी पीडाके, विना किसी मंदताके, विना किसी असमर्थताके और विना किसी शब्दके वा विना किसी ऐसे ही अन्य कारणोंके शास्त्रोंमें लिखी हुइ विधिके अनुसार हाथोंमें रक्खे हुए आहारको ग्रहण करना चाहिये ॥१२१॥

यावदस्ति बलं स्थातुं मिलत्येतत्करद्वयम् ।
तावद्भुंजे त्यजाम्यन्यथेति संधा यतेर्यतः ॥ १२२ ॥

मुनिराज जो खडे होकर तथा हाथ मिलाकर आहार करते है उसका कारण यह है कि मुनिराजके ऐसी प्रतिज्ञा होती है कि "जबतक मुझमें खडे होनेकी शक्ति है और जबतक मेरेसे दोनों हाथ मिल सकते है तबतक ही मै भोजन करूंगा। जब मुझमें खडे होनेकी शक्ति नहीं रहेगी तथा हाथोमें मिलनेकी शक्ति नहीं रहेगी तब मै आहारका सर्वथा त्याग कर दूगा" ऐसी मुनियोंके प्रतिज्ञा होती है ॥ १२२ ॥

आगे करपात्र आहारका कारण बतलाते हैं।

पुरा रत्नसुवर्णादिनानाभाजनभाजिनः।
दीनता सज्यते तेभ्यो हीनभाजनभोजने ॥ १२३ ॥

"पहले मैं रत्न, सोने आदिके पात्रोंमें भोजन करता था। यदि अब मै उन पात्रोसे कम कीमतके पात्रोमे भोजन करूगा तो मेरे परिणामोंमें दीनता उत्पन्न होगी" यही समझकर वे मुनिराज हाथमें ही भोजन करते हैं ॥ १२३ ॥

तत्सन्नविश्वगोहार्य्यं तद्गृहक्षालनादिना।
यत्संगाऽसंयमौ च स्तस्तस्मात्पाणिपुटाशनम् ॥ १२४ ॥

रत्न वा सुवर्णादिकके उत्तम पात्र सब घरोंमें नहीं मिल सकते। यदि कदाचित् मिल भी जायं तो परिग्रहके ग्रहण करनेका दोष आता है। तथा उन पात्रोंमें भोजन करनेपर उनके धोने आदिमें बडा भारी असंयम होता है इसीलिए मुनिराज सदा पाणिपात्रमे ही आहार करते हैं ॥ १२४ ॥

कान्तातारुण्यलावण्यलीलालोकनजल्पन।
स्मेरास्याब्जपदन्यासविलासाद्यनिरीक्षणः ॥ १२५ ॥
गौर्यथाऽत्ति तृणव्रातं क्षिप्तं भुंजीत यत्नतः।
तथाऽन्नाद्यमनास्वाद्य गोचारज्ञो यथोचितम् ॥ १२६॥

॥१३६॥

आहार करते समय मुनिराजको उचित है कि वे स्त्रियोंका यौवन, लावण्य, लीला, देखना, बोलना, हंसना, उनका मुखकमल, उनकी चाल और उनके विलास आदिको न देखे। जिसप्रकार गाय घास डालनेवालेके यौवन आदिको नहीं देखती केवल डाली हुई घासको यत्नपूर्वक खालेती है। उसीप्रकार गोचरी वृत्तिको जाननेवाले मुनिराज अन्नादिकका स्वाद न लेते हुए उचित रीतिसे प्राप्त हुए आहारको ग्रहण कर लेते हैं। मुनिराजके इस प्रकार आहार ग्रहण करनेको गोचरीवृत्ति कहते है ॥ १२५-१२६ ॥

भृंगः पुष्पासवं यद्वत् गृण्हात्येकगृहेऽशनम् ।
गृहिबाधां विना तद्वद्भुंजीत भ्रमराशनः ॥ १२७ ॥

अथवा मुनिराज भ्रामरीवृत्तिको धारण कर आहार ग्रहण करते है। जिसप्रकार भ्रमर फूलको विना बाधा दिये उसके रसको ग्रहण कर लेता है। उसीप्रकार गृहस्थको किसी प्रकारकी बाधा दिये विना ही भ्रामरी वृत्तिको धारण करनेवाले वे मुनिराज किसी भी एक घरमें आहार ग्रहण कर लेते है ॥ १२७ ॥

यथालब्धेन भक्तेन कुर्यादुदरपूरणम् ।
यद्वन्मृदादिना लोकैः क्रियते श्वभ्रपूरणम् ॥ १२८ ॥

अथवा मुनिराज गर्तपूर्णवृत्तिको धारण करते हुए आहार लेते हैं। जिसप्रकार संसारके लोग किसी गढेको मिट्टी आदि जो कुछ मिलता है उसीसे भर देते है उसीप्रकार वे मुनिराज जैसा कुछ आहार मिल जाता है उसीसे अपना उदर पूर्ण कर लेते है। इसको गर्तपूर्णवृत्ति कहते है ॥ १२८ ॥

तोषरोषव्यपेतस्य ज्ञानध्यानप्रसिद्धये ।
इत्येषा यत्नतो भुक्तिरेषणासमितिर्मता ॥ १२९ ॥

हर्षविषाद रहित मुनिराजके केवल ध्यान और ज्ञानकी वृद्धि करनेकेलिए इसप्रकार यत्नाचारपूर्वक जो आहार ग्रहण करना है, उसको एषणासमिति कहते हैं ॥ १२९ ॥ इस प्रकार एषणा समितिका निरूपण किया।

अब आगे आदाननिक्षेपणसमितिका स्वरूप कहते हैं।

विहायाऽऽदाननिक्षेपौ सहसाऽनवलोक्य च।
दुःप्रमार्जनमप्रत्यवेक्षणं चार्द्रमानसः ॥ १३० ॥
विधायोपधितद्देशवीक्षणं प्रतिलेखनैः।
लब्धस्वेदरजः सूक्ष्मलतातिमृदुभिः पुनः ॥ १३१ ॥
तौ प्रमृज्योपधेर्यत्नान्निक्षेपाऽऽदानयोः कृतिः।
यतेरादाननिक्षेपसमितिः परिकीर्त्तिता ॥ १३२ ॥ त्रिकम्

जिनका हृदय दयासे भीगा हुआ है ऐसे मुनिराजको कोई भी उपकरण अकस्मात् वा शीघ्रताके साथ न तो रखना चाहिये और न उठाना चाहिए। इसीप्रकार किसी उपकरणको विना देखे भी नहीं रखना चाहिये और न उठाना चाहिये। तथा विना मार्जन किये हुए वा विना शोधन किये हुए अथवा जिनका मार्जन वा शोधन अच्छी तरह नहीं हुआ है ऐसे किसी उपकरणको भी उठाना रखना नहीं चाहिये। जिस किसी उपकरणको रखना हो वा उठाना हो, उसको पहले अच्छी तरह देखलेना चाहिये। फिर जिसकी लताएं वा शाखाए अत्यंत सूक्ष्म है और जो पसीना वा धूलि आदिको दूर कर सकती है ऐसी कोमल पीछीसे उस उपकरणको तथा उस स्थानको अच्छी तरह शोधलेना चाहिये तथा मार्जन करलेना चाहिये। इसप्रकार उसस्थानको देख शोधकर उसमें उपकरणको अच्छीतरह देख शोधकर तथा मार्जन कर यत्नपूर्वक उठाना वा रखना है वह मुनिराजकी आदाननिक्षेपण समिति कहलाती है ॥ १३०–१३२॥ इसप्रकार आदाननिक्षेपण समितिका स्वरूप कहा।

अब आगे व्युत्सर्गसमितिका स्वरूप कहते हैं ।

कृष्टप्लुष्टादिदेशेऽङ्गिच्छिद्रहीने घने च यः ।
व्युत्सर्गोऽङ्गमलादेः स्याद्व्युत्सर्गसमितिर्यतेः ॥ १३३ ॥

जिस स्थानमें कोई प्राणी न हो, चींटी आदिका छिद्र न हो, जो स्थान जुता हो वा जलाया हुआ हो, तथा जो स्थान सघन हो ऐसे स्थानमें शरीरके मल, मूत्र, कफ आदिका त्याग करना सो मुनिराजकी व्युत्सर्गसमिति कहलाती है ॥ १३३ ॥

आगे मुनिराज रात्रिमें मलमूत्रका त्याग किस प्रकार करें सो कहते हैं ।

वीक्षितेऽस्मिन्दिने हस्तबाह्यस्पर्शपरीक्षिते ।
रात्रौ सत्यंगिनो नो वेत्यंगिहीने तमुत्सृजेत् ॥ १३४ ॥

यदि मुनिराजको रात्रिमें मलमूत्रके त्याग करनेकी आवश्यकता हो तो किसी ऐसे स्थानपर मलमूत्रका त्याग करना चाहिये। जिस स्थानको उसी दिन देख लिया हो तथा उस स्थानपर छोटे छोटे जीवजंतु हैं वा नहीं इस बातकी परीक्षा हाथके बाहरी ओरके प्रदेशसे (हथेलीकी दूसरी ओरसे) स्पर्शकर कर लेनी चाहिये। जब यह निश्चय हो जाय कि वहांपर कोई जीवजंतु नहीं है तब उस स्थानपर मलमूत्रका त्याग करना चाहिये ॥ १३४ ॥

सांग्याद्यश्चेद्द्वितीयेऽत्र तृतीये वांगिसंगते ।
विवशो व्युत्सृजेदल्पप्रायश्चित्तो यतिस्ततः ॥ १३५ ॥

यदि उस स्थानपर जीव जतु हों तो फिर किसी दूसरे स्थानपर जाकर उसकी परीक्षा करनी चाहिये । यदि उस दूसरे स्थानपर भी जीवजतु हों तो फिर विवश होकर तीसरे स्थानपर जाकर मलमूत्रका त्याग करना चाहिये। चाहे वह स्थान जीव सहित ही क्यों न हो। तथा मुनिराजको इसका थोडासा प्रायश्चित्त लेना चाहिये ॥ १३५ ॥

आगे इन समितियोंसे पापोंका नाश होना दिखलाते हैं।

यद्वद्वज्रतनुत्राणः शराऽऽसाराऽपराजितः।
यतिः समितिगात्रत्रास्तद्वत्पापेषु दुर्जयः ॥ १३६ ॥

जिसप्रकार जिस योद्धाके शरीरपर वज्रमय कवच लगा हुआ है वह बाणोंकी बडी भारी वर्षासे भी जीता नहीं जासकता, उसीप्रकार जिन मुनिराजका शरीर समितियोंसे सुरक्षित हैं उनको पाप कभी नहीं जीत सकते है वह पापोंसे सदा अजेय बना रहता हैं ॥ १३६ ॥ इसप्रकार समितियोंका निरूपण किया।

अब आगे गुप्तियोंका निरूपण करते हैं।

दोषेभ्यो गोपनं रक्षा व्रतानां गुप्तिरिष्यते।
सा मानसवचःकायदंडात्रितयदंडनी ॥ १३७ ॥

दोषोंसे व्रतोंकी रक्षा करना गुप्ति है। वह गुप्ति तीन प्रकार है। मनको वशमें करना-निग्रह करना मनोगुप्ति है। वचनको वशमें रखना वचनगुप्ति हैं तथा शरीरको वशमे करना काय-गुप्ति है। इसप्रकार मन, वचन कायको निग्रह करना सो तीन प्रकारकी गुप्ति कहलाती है ॥ १३७ ॥

आगे मनोगुप्तिका स्वरूप कहते हैं।

मनः पंचेंद्रियेभेन्द्रस्वैराचारनिवारणी।
स्वे गोचरे मनोगुप्तिर्ज्ञानध्यानरता मतिः ॥ १३८ ॥

यह मन पांचों इंद्रियरूप हाथियोंका इन्द्र वा स्वामी है, और वह अपनी इच्छानुसार इधर उधर घूमा करता है। उसको निवारण करनेरूप तथा अपने आत्मामें लीन होते हुए ज्ञान और ध्यानमें लीन होनेवाली जो बुद्धि है उसको मनोगुप्ति कहते है।

आगे वचनगुप्तिका स्वरूप कहते हैं।

॥१४०॥

गजाश्वशस्त्रशास्त्रादिव्याख्याया: क्लेशकारिण: ।
सत्यस्याऽपि निवृत्तिर्वाग्गुप्तिर्वाचंयमोऽथवा ॥ १३९ ॥

हाथी, घोडा, शस्त्र आदि विषयक शास्त्रके व्याख्यानका त्याग करना तथा अन्य जीवोंको क्लेश पहुंचाने-वाले सत्य वचनोंका भी त्याग करना वचनगुप्ति है। अथवा मौन धारण करना वचनगुप्ति है ॥ १३९ ॥

आगे कायगुप्तिको कहते हैं ।

कायावद्यक्रियात्याग: कायगुप्तिर्मताऽथवा ।
कायोत्सर्ग: समुत्सर्ग: संगस्य द्विविधस्य य: ॥ १४० ॥

शरीरसे उत्पन्न होनेवाली पापरूप क्रियाओंका त्याग करना कायगुप्ति है। अथवा बाह्य तथा अभ्यतरके भेदसे दोनों प्रकारके परिग्रहोंका त्याग कर कायोत्सर्ग धारण करना–समस्त प्रकारके पारि-ग्रहोंसे ममत्वका छोड देना कायगुप्ति है ॥ १४० ॥

पुरस्य परिखा रक्षा क्षेत्रस्य च वृतिर्यथा ।
तथा व्रतानामेतास्तु गुप्तयो गुप्तय: स्मृता: ॥ १४१ ॥

जिसप्रकार नगरकी रक्षा करनेके लिए खाई होती है, अथवा खेतकी रक्षा करनेके लिए उसकी बाड होती है उसीप्रकार व्रतोंकी रक्षा करनेके लिए ये गुप्तियां कही गई ह ॥ १४१ ॥ इस प्रकार पांच महाव्रत, पांच समिति ओर तीन गुप्तिरूप छेदोपस्थापना नामके चारित्रका स्वरूप कहा ।

अब आगे परिहारविशुद्धि नामके चारित्रका स्वरूप कहते हैं ।

परिहारेण दोषाणां शुद्धिर्यस्मिन्स संयम: ।
परिहारविशुद्धि: स्याद्वीदृग्विधस्य सा ॥ १४२ ॥
भुक्त्वा प्रोज्झितभोगस्य त्रिंशद्वर्षस्य जन्मन: ।
प्रत्याख्यानाख्यपूर्वाम्बुराशिपारगयोगिन: ॥ १४३ ॥

समापृथक्त्वं तीर्थेशपादपार्श्वनिवासिनः।
त्यक्त्वा सन्ध्यात्रयं नित्यं गव्यूतिद्वयगामिनः ॥ १४४ ॥

जिस संयममें दोषोंका परिहार वा त्याग कर आत्माकी शुद्धता धारण की जाती है उसको परिहारविशुद्धि चारित्र कहते है। यह परिहारविशुद्धि नामके चारित्रका होना एक प्रकारकी ऋद्धि है। तथा परिहारविशुद्धि नामकी ऋद्धि ऐसे मुनिके होती है जिन्होंने गृहस्थ अवस्थामें अनेक प्रकारके भोग तथा उपभोग भोगकर छोड दिये हो, जिनकी आयु कमसे कम तीस वर्षकी हो, जो प्रत्याख्यानपूर्व नामके महासागरके पारगामी हों, अर्थात् जो प्रत्याख्यान पूर्वतकके पाठी हो, जो पृथक्त्व वर्षतक अर्थात् तीन वर्षसे लेकर नौ वर्षतक भगवान् तीर्थंकर परमदेवके चरण कमलोंके निकट रह चुके हो और जो प्रातःकाल, मध्यान्हकाल तथा सायंकाल इन सामायिकके तीनों समयोंको छोडकर बाकीके समयमें प्रतिदिन कमसे कम दो कोश चलते हों अर्थात् जो प्रतिदिन कमसे कम दो कोश चलकर ठहरते हों ऐसे मुनिराजके यह परिहारविशुद्धि नामकी ऋद्धि होती है ॥ १४२-१४४ ॥

जीवराशौ चरंश्चैप पापालेपो यथांभसि।
वसत्सरोजिनीपत्रं पयोलेपविवर्जितम् ॥ १४५ ॥

जिस प्रकार कमलिनीका पत्र जलमें ही रहता है तथापि वह जलके लेपसे सर्वथा रहित रहता है। कमलका पत्ता जलमें रहता हुआ भी जलसे गीला नहीं होता उसी प्रकार परिहारविशुद्धि नामकी ऋद्धिको धारण करनेवाले मुनि यदि जीवोंके समूहपरसे भी चले जाय जीवोंके ऊपर होकर भी निकल जाय तो भी वे पापके लेपसे सर्वथा रहित होते हैं। उस ऋद्धिके कारण उनका शरीर इतना हलका हो जाता है कि उससे किसी भी जीवको किसी प्रकारकी बाधा नहीं होती। इसी-लिये उनको गमन करनेमें किसी प्रकारका पाप नहीं लगता ॥ १४५ ॥ इस प्रकार परिहारविशुद्धि नामके चारित्रका स्वरूप कहा।

अब आगे सूक्ष्मसांपराय नामके चारित्रका स्वरूप कहते हैं।

सूक्ष्मोऽल्पः सांपरायः कषायोऽस्मिन्निति संयमः ।
स्यात्सूक्ष्मसांपरायस्सामायिकद्वितयात्मकः ॥ १४६ ॥

सांपराय शब्दका अर्थ कषाय है। जिस संयममे अत्यंत सूक्ष्म कषाय हो उस संयमको सूक्ष्मसांपराय चारित्र कहते है। (यह चारित्र दशवें गुणस्थानमे होता है) तथा सामायिक और छेदोपस्थापना ये इसके दो भेद है। अर्थात् वह सूक्ष्मसांपराय नामका चारित्र इन दोनों चारित्ररूप रहता है ॥ १४६ ॥

आगे यथाख्यातचारित्रका स्वरूप उसकी निरुक्तिपूर्वक कहते हैं।

यथा विरागं स्वं रूपं तथैवाऽऽख्यात इत्ययम् ।
यथाख्यातो मतोऽघौघघनसंघप्रभंजनः ॥ १४७ ॥

जिस प्रकार आत्माका शुद्ध स्वरूप वीतरागरूप है उसी प्रकार जो चारित्र शुद्ध वीतराग-स्वरूप हो उसको यथाख्यातचारित्र कहते है। यह यथाख्यातचारित्र पापोंके समूहरूप मेघोंके समूहको नाश कर देनेके लिये-उडा देनेके लिए प्रवल वायुके समान है ॥ १४७ ॥ इस प्रकार पांचों प्रकारके चारित्रका स्वरूप कहा।

अब आगे संयमका निरुक्तिपूर्वक अर्थ बतलाते हैं।

सं सम्यग्दर्शनज्ञानपावनः पापघातनः ।
यो द्वन्द्वद्वितयस्य स्याद्यमस्त्यागः स संयमः ॥ १४८ ॥

स शब्दका अर्थ सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रसे पवित्र और समस्त पापोंका नाश करनेवाला है। तथा यम शब्दका अर्थ वाह्य अभ्यतर दोनों प्रकारके परिग्रहोंका त्याग करना है। अतएव जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रसे पवित्र हो तथा समस्त पापोंका नाश करनेवाला हो ऐसा जो वाह्य और अभ्यतर दोनों प्रकारके परिग्रहोंका त्याग है उसको सयम कहते है।।१४८॥

आगे सम्यक्चारित्ररूपवृक्षका निरूपण करते हैं ।

सम्यग्दृग्बोधमूलं व्रतसमितिततिस्कन्धशाखानुबन्धं ।
शीलस्तोमप्रवालं गुणकुसुमगणं सत्सुखालीफलालिम् ॥
गुप्तिव्राताऽऽलवालाऽमृतपरिकलितं सत्वसंतापनोदं
सम्यक्चारित्रकल्पद्रुममहमतुलं संश्रितोऽस्मीष्टपुष्ट्यै ॥ १४९ ॥

यह सम्यक्चारित्र एक प्रकारका कल्पवृक्ष है । सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानही उसकी जड है । महाव्रत और समितियोंका समूह ही उसका स्कन्ध तथा शाखाओंसे घनीभूत होकर फैला हुआ है। अर्थात् महाव्रत उसका स्कन्ध है और समितियां उसकी वडी वडी शाखाएं हैं । शीलोंका समूह ही उसके कोमल पत्ते हैं। गुण ही उसके फूलोंके समूह हैं, मोक्षरूप श्रेष्ठ सुखका समूह ही उसपर बहुतसे फल (अनतसुखरूप अनतफल) लग रहे हैं और गुप्तियोंका समूह ही उसका आलवाल वा थांवला है। यह सम्यक्चारित्ररूपी कल्पवृक्ष अमृतरूपी रससे भरा हुआ है और जीवोंके समस्त संतापोंको दूर करनेवाला है । इस सम्यक्चारित्ररूप कल्पवृक्षकी उपमा संसारभरमें नहीं है। ऐसे इस सम्यक्चारित्ररूपी कल्पवृक्षका मै अपने इष्टकी सिद्धिके लिए आश्रय लेता हूं–उसकी छायामें वैठता हूं अर्थात् सम्यक्चारित्रको धारण करता हूं । इस प्रकार श्री वीरनंदि आचार्य अपने इस अध्यायके अंतमें सम्यक्चारित्रको मोक्षमार्गका विशेष कारण मानते हुए उसका स्मरण करते हैं ॥ १४९ ॥

आगे सम्यक्चारित्रकी महिमा दिखलाते हैं ।

मोहोद्दामतमोघटाविघटनः स्फारैर्विशेषोत्करै–
र्दुर्वारापरदुःकृतोत्पलकुलप्लोषी जगद्वन्दितः ।

प्रोन्मीलन्नवकेवलादिकमलः सन्मार्गसन्मंडनः ।
स्तान्मच्चित्तनभःस्थले स्थिरतमश्चारित्रचण्डद्युतिः ॥ १५० ॥

यह सम्यक्चारित्र एक प्रकारका सूर्य है । जिसप्रकार सूर्य अपनी तीव्र किरणोंसे अंधकारको दूर करदेता है उसीप्रकार यह सम्यक्चारित्ररूप सूर्य अपने अनेक प्रकारके भेदप्रभेदरूप तीव्र किरणोंके द्वारा मोहरूपी प्रबल अंधकारके समूहको वा अंधकारकी घटाको नाश करनेवाला है । जिसप्रकार सूर्य अपनी किरणोंके द्वारा रात्रिविकासी कुमोदिनियोंको जला देता है उसीप्रकार यह सम्यक्चारित्ररूपी सूर्य भी अपने अनेक भेदरूप तीव्र किरणोंके द्वारा जो बडी कठिनतासे नाश किए जा सकें ऐसे पापरूप रात्रिविकासी कुमोदिनियोंके समूहको शीघ्र ही जला देता है । अर्थात् समस्त पापोंका नाश करनेवाला है । जिसप्रकार सूर्यको संसार नमस्कार करता है उसीप्रकार इस सम्यक्चारित्ररूपी सूर्यको भी समस्त संसार नमस्कार करता है । जिसप्रकार सूर्यके उदय होनेसे कमल खिल जाते है उसीप्रकार इस सम्यक्चारित्ररूपी सूर्यके उदय होनेसे–धारण करनेसे अनंतदर्शन, अनंतज्ञान, क्षायिकसम्यक्त्व, क्षायिकदान, क्षायिकलाभ, क्षायिकभोग, क्षायिकउपभोग, क्षायिक अनंतवीर्य और अनंत सुख ये नौ केवल लब्धिरूप कमल प्रफुल्लित हो जाते हैं अर्थात् इस सम्यक्चारित्रके ही प्रभावसे केवलज्ञान आदि नौ केवल लब्धियां प्राप्त होती है । तथा जिसप्रकार सूर्यके उदय होनेसे श्रेष्ठ मार्ग दिखलाई पडता है उसीप्रकार सम्यक्चारित्ररूपी सूर्यके उदय होनेसे सर्वोत्तम सर्वश्रेष्ठ ऐसा यह मोक्षमार्ग स्पष्ट दिखलाई पडता है । अर्थात् यह सम्यक्चारित्र मोक्षमार्गका आभूषण है । ऐसा यह सम्यक्चारित्ररूपी सूर्य मेरे हृदयरूपी आकाशमें सदा अत्यत स्थिर रहो । जिसप्रकार सूर्य आकाशमें रहता है उसीप्रकार यह सम्यक्चारित्ररूपी सूर्य मेरे हृदयरूपी आकाशमें स्थिर रहो ॥ १५० ॥

आगे भगवान् नमिनाथको स्मरण करते हैं ।

नमिर्वरश्रीः प्रणयैकभूमि–
र्जिनः स नः पातु दयानिधानः ।

अलं गलत्यर्जितकर्मजालं ।
यस्येक्षणान्मंक्षु महोदयस्य ॥ १५१ ॥

जिन भगवान् नमिनाथके दर्शन करनेमात्रसे जन्मजन्मांतरके इकठे हुए कर्म बहुत शीघ्र नष्ट हो जाते है। जो दयाके निधान है, विश्वासकी एक भूमि हैं और जिनकी अंतरंग बहिरंग लक्ष्मी सबसे उत्तम है ऐसे श्री नमिनाथ स्वामी हम लोगोंकी रक्षा करें ॥ १५१ ॥

इसप्रकार श्री वीरनंदि सिद्धातचक्रवर्तिविराचित श्रीआचारसार नामके
शास्त्रकी चावली (आगरा) निवासी, देहली प्रवासी 'धर्मरत्न'
लालाराम शास्त्रीद्वारा निर्मित सरल हिंदी भाषाटीकामें
चारित्राचारके स्वरूपको वर्णन करनेवाला यह
पांचवा अधिकार समाप्त हुआ ।



॥ अथ षष्ठोऽधिकारः ॥

वन्दे मुदा श्रीशजिनाभिनन्दनं
शश्वत्पदानम्रसुखाभिनन्दनम् ।

तपःस्फुरद्वह्निनिमग्नमन्मथं
विनेयसन्दर्शितमुक्तिसत्पथम् ॥ १ ॥

अथ छठा अधिकार

जिन्होंने शिष्योंके लिए मोक्षका सबसे उत्तम मार्ग दिखलाया है, तपश्चरणरूपी देदीप्यमान् जलती हुई अग्निमें डुबाकर जिन्होंने कामदेवको जला दिया है, तथा जो शिष्य उनके चरणकमलोंको सदा नमस्कार करते है उनके लिए अनत सुखके देनेवाले है ऐसे अतरंग बहिरंग लक्ष्मीको धारण करनेवाले श्री अभिनंदन जिनेंद्रदेवको मै बडे हर्षके साथ नमस्कार करता हू ॥ १ ॥

आगे तपश्चरणका वर्णन करते हैं ।

तपःपोतेन येनासौ संसारोरुसरित्पतिः ।
तीर्यते त्वरयेदानीं तत्तपः प्रतिपाद्यते ॥ २ ॥

जिस तपश्चरणरूपी जहाजके द्वारा यह ससाररूपी महासागर पार किया जाता है उसी तपश्चरणको अब बडी शीघ्रताके साथ निरूपण करते हैं ॥२॥

तपः प्राहुरनुष्ठानं मानसाक्षनियामकम् ।
बाह्याभ्यन्तरभेदं तत्प्रत्येकं षड्विधं मतम् ॥ ३ ॥

मन और इंद्रियोंके निग्रह करनेवाले अनुष्ठानको तप कहते है। उस तपके दो भेद है बाह्य और अंतरंग । बाह्य तपके छह भेद है और अतरंग तपके भी छह भेद है। इसप्रकार तपश्चरणके बारह भेद है ॥ ३ ॥

अनशनावमौदर्यं वृत्तिसंख्यारसोज्झिती ।
विविक्तशयनासनं कायक्लेशो बहिस्तपः ॥ ४ ॥

॥१४७॥

अनशन, अवमौदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशय्यासन और कायक्लेश यह छह प्रकारका बहिरंग तप कहलाता है ॥ ४ ॥

आगे अनशनका स्वरूप कहते हैं ।

अशनत्यागोऽनशनं साकांक्षाकांक्षभेदकम् ।
तदाद्यमेकद्वित्र्यादिषण्मासानशनान्तगम् ॥ ५ ॥

आहारका त्याग करदेना अनशन कहलाता है । उसके दो भेद हैं एक साकांक्ष और दूसरा अनाकांक्ष । इनमेंसे एक महीना, दो महीना, तीन महीना, चार वा पांच महीना वा अधिकसे अधिक छह महीनातक भोजनका त्याग करदेना सो साकांक्ष अनशन कहलाता है ॥ ५ ॥

साकारसर्वतोभद्रसिंहानिःक्रीडितादयः ।
साकांक्षस्योपवासस्य भेदाश्चैकान्तरादयः ॥ ६ ॥

इसीप्रकार साकार, सर्वतोभद्र, सिंहनिष्क्रीडित और एकांतर आदि सब व्रत साकांक्ष अनशनके भेद कहे जाते हैं ॥ ६ ॥

आगे अनाकांक्ष अनशनका स्वरूप कहते हैं ।

निकांक्षोऽसौ भवेद्भक्तप्रत्याख्यानेंगिनीमृतिः ।
प्रायोपगमनेष्वायुरन्तसंन्यासकर्मसु ॥ ७ ॥

प्रायोपगमन सन्यासमें अथवा आयुके अतमें सन्यास धारण करते समय भक्त-प्रत्याख्यानमरण और इंगिनीमरण होता है उसको निःकांक्षअनशन कहते है । इस अनशनमें भोजनका त्याग कर देनेपर फिर भोजनकी इच्छा नहीं होती इसलिए इसको निःकांक्ष अनशन कहते हैं ॥ ७ ॥

देहदर्पविनाशाय संयमद्वयसिद्धये ।

कुर्यादनशनं लाभसत्काराद्यनपेक्षया ॥ ८ ॥

इस अनशन नामके तपको लाभ और सत्कार आदिकी अपेक्षा न रखते हुए केवल शरीरके दर्प नष्ट करनेके लिए और इंद्रियसंयम तथा प्राणिसंयम इन दोनों प्रकारके संयमोंको सिद्ध करनेके लिए पालन करना चाहिये ॥ ८ ॥ इसप्रकार अनशनतपका वर्णन किया।

अब आगे अवमौदर्य तपको कहते हैं।

ग्रासहीननिजाहाराद्यूनाहाराशनव्रतम्।
तपः स्यादवमौदर्यमक्षकक्षदवानलः ॥ ९ ॥

अपने आहारमेंसे एक ग्रास, दो ग्रास, चार ग्रास वा दस वीस ग्रास कम आहार लेना अवमौदर्य तप कहलाता है। यह तप इंद्रियरूपी वनको भस्म करनेके लिए-इंद्रियोंको वशमें करनेके लिए दावानल अग्निके समान है।

भावार्थ- इस अवमौदर्य तपसे समस्त इंद्रियां वशमें होजाती है ॥ ९ ॥

उपवासातिमात्राशनोत्पन्नश्रमदोषहृत्।
ध्यानस्वाध्यायनिद्रार्त्तिजयाद्यर्थमिदं मतम् ॥ १० ॥

यह अवमौदर्य नामका तप उपवाससे उत्पन्न होनेवाले परिश्रमको दूर करनेवाला है और अधिक भोजनसे उत्पन्न हुए अजीर्ण आदि अनेक दोषोंको दूर करनेवाला है। इससे ध्यान और स्वाध्यायकी सिद्धि होती है तथा निद्रा और पीडा आदिकी विजय होती है। इसलिए इस तपश्चरणको अवश्य करना चाहिये ॥ १० ॥ इसप्रकार अवमौदर्य तपका वर्णन किया।

अब आगे वृत्तिपरिसंख्यान नामके तपका वर्णन करते हैं।

वृत्तिर्वाटगृहाऽऽहारपात्रदातृषु वर्त्तनम्।
संख्या तन्नियमो वृत्तिपरिसंख्या निजेच्छया ॥ ११ ॥

गली, घर, आहार, पात्र और दाता आदिकोंमें प्रवृत्ति करनेको वृत्ति कहते हैं। तथा इनके नियम करनेको संख्या कहते हैं। अपनी इच्छानुसार गली, घर, आहार, पात्र, दाता आदिके नियम करनेको वृत्तिपरिसंख्यान तप कहते हैं। आज दो वा चार गलियोंमें आहारके लिए जायंगे, दो वा चार घरोंमें ही जायंगे, अधिकमें नहीं, आज रूखा वा चिकना भोजन मिलेगा तो लेंगे नहीं तो नहीं, आज चांदीके पात्रमेंसे उठाकर आहार देगा तो आहार लेंगे अन्यथा नहीं, अथवा आज इस प्रकारका (दो पुरुष, दो भाई, दो स्त्रियां, आहार देंगी तो आहार लेंगे अन्यथा नहीं) दाता आहार देगा वा इस विधिसे आहारका योग मिलेगा तो आहार लेंगे नहीं तो नहीं, इसप्रकारके नियम कर चर्याके लिए निकलनेको वृत्तिपरिसंख्यान तप कहते हैं ॥ ११ ॥

इयमाशानिरासायादीनताभावनाप्तये।
गात्रयात्रानिमितान्नमात्रकांक्षस्य योगिनः ॥ १२ ॥

ध्यान, स्वाध्याय आदिके निमित्त इस शरीरको चलानेके लिए अन्नमात्रकी इच्छा करनेवाले योगियोंके आहार प्राप्त होनेकी आशाको दूर करनेके लिए तथा अदीनतारूप भावनाकी प्राप्ति होनेके लिए यह वृत्तिपरिसंख्यान नामका तप किया जाता है ॥ १२ ॥ इसप्रकार वृत्तिपरिसंख्यान नामके तपका वर्णन किया।

अब आगे रसपरित्याग तपको कहते हैं।

दधिक्षीराऽऽज्यतैलादेः परिहारो रसस्य यः।
तपो रसपरित्यागो मधुरादिरसस्य वा ॥ १३ ॥

दही, दूध, घी, तेल आदि रसोंका त्याग करना अथवा मीठा, खट्टा, कडवा आदि रसोंका त्याग कर देना सो रसपरित्याग नामका तप कहलाता है ॥ १३ ॥

कायकान्तिमदाक्षेभक्षोभवारणकारणम् ।
परिहारो रसस्यायं स्याज्जितेन्द्रिययोगिनः ॥ १४ ॥

इंद्रियोंको जीतनेवाले योगियोंका यह रसपरित्याग नामका तप शरीरकी कांतिको बढानेवाला है और मदोन्मत्त इंद्रियांरूपी हाथियोंके क्षोभको रोकनेका कारण है ॥ १४ ॥

भावार्थ- इस तपसे शरीरकी कांति बढती है और इंद्रिया सब वशमें हो जाती हैं। इस प्रकार रसपरित्याग नामके तपका स्वरूप कहा।

अब आगे विविक्तशय्यासन तपको कहते हैं।

विविक्तेऽध्ययनध्यानबाधकोत्करवर्जिते ।
शयनं चाऽऽसनं यत्तद्विविक्तशयनासनम् ॥ १५ ॥

जिस स्थानमें ध्यान और अध्ययनमे होनेवाली बाधाओंका समूह न हो ऐसे किसी एकांत स्थानमें शयन करना वा बैठना सो विविक्तशय्यासन नामका तप कहलाता है ॥ १५ ॥

तरुकोटरशून्यागाराऽऽरामोर्वीधरादयः ।
विविक्ताः कामिनीपण्ढपशुक्षुद्रांगिवर्जिताः ॥ १६ ॥

जो स्थान स्त्रियोंसे रहित है, नपुंसकोंसे रहित है, पशुओंसे रहित है, छोटे छोटे प्राणियोंसे रहित है ऐसे वृक्षके कोटर, सूने मकान, सूने उपवन, सूनी पृथ्वी और सूने पर्वत आदि एकांत स्थान कहलाते हैं। ऐसे एकांत स्थानमे बैठना वा शयन करना विविक्तशय्यासन कहलाता है ॥ १६ ॥ इस प्रकार विविक्तशय्यासनका स्वरूप कहा।

अब कायक्लेशका स्वरूप कहते हैं।

सुखोपलालितः कायो नालं सद्ध्यानसिद्धये ।
तद्देहदमनं कायक्लेशः क्लेशैर्मतोचितैः ॥ १७ ॥

॥१५१॥

यदि इस शरीरका लालन पालन सुखपूर्वक किया जायगा तो फिर इससे श्रेष्ठ ध्यानकी सिद्धि कभी नहीं होसकती । इसलिए भगवान् जिनेंद्रदेवके कहे अनुसार उचित क्लेशोंके द्वारा इस शरीरको दमन करना कायक्लेश तप कहलाता है ॥ १७ ॥

निर्दयं मर्दनीयोऽयं कायः क्लेशकरः पुरा ।
चिरं रिपुरितीवैषः कायक्लेशरतो यतिः ॥ १८ ॥

"यह शरीर चिरकालका शत्रु है, इसने पहले बहुतसे क्लेश दिए हैं इसलिए अब निर्दय होकर इसका मर्दन करना चाहिये" यही समझकर मुनिराज कायक्लेश करनेमें सदा तत्पर रहते हैं ॥ १८ ॥

वीरस्वस्तिकवज्राब्जहस्तिशुण्डासनादयः ।
व्युत्सर्गः शवगोदंडचापशय्यादयश्च ते ॥ १९ ॥

वीरासन, स्वस्तिकासन, वज्रासन, कमलासन, हस्तिशुंडासन (हाथीकी सूंडके समान आसन लगाना) व्युत्सर्ग (शरीरसे ममत्व छोडकर खडे होना) मृतकासन (मृतकके समान आसन) गायके समान आसन, दंडासन, धनुषासन और शय्यासन तथा और और भी ऐसे ही ऐसे कठिन आसनोंको धारण कर ध्यान अध्ययन करना, तपश्चरण करना कायक्लेश नामका तप है ॥ १९ ॥

तपो बाह्यमिदं बाह्यलोकानन्दैकमन्दिरम् ।
आभ्यन्तरतपःक्षीरसागरेन्दुं नमाम्यहम् ॥ २० ॥

इसप्रकार ऊपर कहा हुआ यह बाह्य तप बाह्य लोगोंको भी (मिथ्यादृष्टी आदि लोगोंको भी) आनंद प्राप्त करनेका मुख्य भवन है तथा आभ्यतर तपश्चरणरूपी क्षीरसागरको बढानेके लिए चंद्रमाके समान है । ऐसे इस बाह्य तपको मैं (श्री वीरनंदि आचार्य) नमस्कार करता हू ॥ २० ॥ इसप्रकार बाह्य तपका निरूपण किया ।

अब आगे आभ्यन्तरतपका वर्णन करते हैं ।

तत्प्रायश्चित्तं विनयो वैयावृत्त्यं जगन्नुतम् ।
स्वाध्यायो भवेद्व्युत्सर्गो ध्यानं चाभ्यन्तरं तपः ॥ २१ ॥

प्रायश्चित्त, विनय, जिसको समस्त ससार नमस्कार करता है ऐसा वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान यह छह प्रकारका अतरंग तप कहलाता है ॥ २१ ॥

आगे प्रायश्चित्तका स्वरूप कहते हैं ।

येनागो गलति प्रत्नं प्रायश्चित्तं तदुच्यते ।
कर्म प्रायोजनस्तस्य चित्तं चेतोहरं यतः ॥ २२ ॥

जिससे प्राचीन पाप नष्ट हो जायं उसको प्रायश्चित्त कहते हैं । अथवा प्रायः शब्दका अर्थ मनुष्य है । उस मनुष्यके कर्मोंको-कार्योंको चित्त कहते हैं । उन चित्तोंको-मनुष्योंके चित्तोंको वा कार्योंको हरण करे-निर्मल कर दे उसको प्रायश्चित्त कहते हैं ॥ २२ ॥

आगे प्रायश्चित्तके भेद कहते हैं ।

आलोचनप्रतिक्रमणोभयानि विवेचनम् ।
व्युत्सर्गस्तपश्छेदमूलपरिहारदर्शनम् ॥ २३ ॥
प्रायश्चित्तस्य भेदाः स्युर्दशैवं तत्र संश्रये ।
दोषाणां यत्प्रमादाद्यैराद्यं तेषां निवेदनम् ॥ २४ ॥

आलोचन, प्रतिक्रमण, तदुभय, विवेक, व्युत्सर्ग, तप, छेद, मूल, परिहार और दर्शन ये प्रायश्चित्तके दश भेद हैं । इनमेंसे यदि प्रमाद वा अज्ञानसे किसी व्रतमें कोई दोप लग जावे तो उसको गुरुसे निवेदन करना आलोचना नामका प्रायश्चित्त है ॥ २३-२४ ॥

ज्ञातश्रुतरहस्याय प्रशान्तस्वान्तवृत्तये ।
अपरिस्राविणे शस्तैकान्तस्थायैव सूरये ॥ २५ ॥
विनयेनोपसृत्योपविश्य पार्श्वे कृतांजुलेः ।
वालवद्र्हतोऽवक्रमित्येतत्स्याद्विशुद्धये ॥ २६ युग्मम् ।

जो श्रुतज्ञानके रहस्यको जानते हैं जिनके हृदयकी प्रवृत्ति अत्यत शांत हो और जो अपरिश्रावी हों अर्थात् जो कहे हुए दोषोंको कभी प्रगट न करते हों उनको आचार्य कहते हैं । ऐसे आचार्य जब कभी किसी प्रशसनीय एकांत स्थानमें विराजमान हों, तब विनयपूर्वक उनके समीप जाना चाहिये, हाथ जोडकर उनके बगलमें बैठजाना चाहिये और फिर अपराधी वालकके समान विना किसी कुटिलता वा मायाचारीके अपना अपराध निवेदन करदेना चाहिये । यह सब कार्य आलोचनाकी विशुद्धताके लिए किया जाता है ॥ २५-२६ ॥

आगे आलोचनाके दश दोषोंको कहते हैं ।

आकंपिताऽनुमापितदृष्टवादरसूक्ष्मगम् ।
छन्नं शब्दाकुलं बह्वव्यक्ततत्सेवितान्यपि ॥ २७ ॥
दशेत्यालोचनाऽऽगांसि त्याज्यान्यात्महितैषिणा ।
सदा हि साधयन्त्यार्याः परलोकममायया ॥ २८ ॥ युग्मम् ।

आकंपित, अनुमापित, दृष्ट, वादर, सूक्ष्म, छन्न, शब्दाकुलित, बहु, अव्यक्त और तत्सेवित ये आलोचनाके दश दोष हैं। अपने आत्माका हित करनेवाले मुनियोंको आलोचना करते समय इन दशों दोषोंका त्याग अवश्य कर देना चाहिये, क्योंकि उत्तम पुरुष सदा मायाचार रहित होकर केवल परलोकको ही सिद्ध किया करते है ॥ २७-२८ ॥

आगे आकंपित दोषको कहते हैं ।

॥१५४॥

दद्दात्यल्पं मम प्रायश्चित्तं भीत्येति सूरये ।
पुरोपकरणानां यद्दानमाकंपितं मतम् ॥ २९ ॥

किसी तरह आचार्य थोडा ही प्रायश्चित्त दें इसलिए डरकर जो आचार्यके लिए पहले ही पीछी, शास्त्र आदि उपकरणोंको देकर अपने अपराधोंको कहते हैं उनके आकंपित नामका दोष लगता है ॥ २९ ॥

ग्लानः क्लेशासहोऽस्म्यल्पं प्रायश्चित्तं ममार्प्यते ।
चेद्दोषाख्यां करिष्यामीत्यादिः स्यादनुमापितम् ॥ ३० ॥

मै रोगी हूं, क्लेशोंको सहन कर नहीं सकता । यदि मुझे थोडासा प्रायश्चित्त दिया जायगा तो मै अपने दोषोंका निवेदन करूंगा ऐसी भावना रखना अनुमापित नामका दोष है ॥ ३० ॥

परेक्षितागः संकीर्त्तिः स्याद्दृष्टं वादरं स्मृतम् ।
स्थूलानामेव दोषाणामालस्याद्यैर्निवेदनम् ॥ ३१ ॥

जो दोष दूसरोंने देख लिए हैं उनको तो गुरुसे कहदेना बाकी दोष न कहना दृष्ट नामका दोष है । तथा आलस आदिके कारण होनेवाले स्थूल दोषोंका कहना (सूक्ष्म दोषोंका छिपा लेना) वादर नामका दोष है ॥ ३१ ॥

सूक्ष्मागःकीर्त्तनं सूक्ष्मदोषस्याऽपि विशोधकः ।
इति ख्यात्यादिहेतोः स्यात्सूक्ष्मं स्थूलोपगूहनम् ॥ ३२ ॥

"यह मुनि अपने सूक्ष्म दोषोंको भी शुद्ध कर लेता है" इस प्रकारकी अपनी प्रसिद्धि करनेके लिए स्थूल दोषोंको छिपालेना और सूक्ष्म दोषोंको निवेदन करदेना सूक्ष्म दोष कहलाता है ॥३२॥

दोषे सतीदृशो देयं किं प्रायश्चित्तमित्यलम् ।
प्रश्नः स्वच्छादनेन स्याच्छन्नं लज्जाभयादिभिः ॥ ३३ ॥

॥१५५॥

लज्जा वा भय आदिके कारण अपने दोषोंको छिपानेके लिए "ऐसा दोष होजानेपर क्या प्रायश्चित्त देना चाहिये" इसप्रकार आचार्यसे पूछना छन्न नामका दोष कहलाता है ॥ ३३ ॥

व्रतिव्रातघनध्वाने स्वदोषपरिकीर्त्तनम् ।
लज्जाद्यैः पाक्षिकादौ यत्तच्छब्दाकुलितं मतम् ॥३४॥

किसी पाक्षिक अथवा मासिक वा वार्षिक आदिकी आलोचनाके समय जब सब मुनियोंके समूह आलोचना कर रहे हों, सबके शब्द जोरजोरसे निकल रहे हों ऐसे समयमें लज्जा आदिके द्वारा अपने दोष निवेदन करना (जिससे सुनाई न पडे) शब्दाकुलित नामका दोष कहलाता है ॥ ३४ ॥

प्रायश्चित्तमिदं युक्तं न वेत्यल्पतदाशया ।
बहुसूरिपरिप्रश्नो यावदल्पं स बहिति ॥ ३५ ॥

अपने हृदयमें थोडा प्रायश्चित्त ग्रहण करनेकी इच्छासे "इस अपराधके लिए यह प्रायश्चित्त योग्य है वा नहीं" इसप्रकार अनेक आचार्योंसे पूछना और तबतक पूछते जाना जबतक कि कोई आचार्य थोडेसे थोडा प्रायश्चित्त न बतला देवे। ऐसे दोषको बहुदोष कहते हैं ॥ ३५ ॥

स्वसमानज्ञानतपोबालस्याऽऽलोचनं भवेत् ।
अव्यक्तं ह्रीभयप्रायश्चित्तभीत्यादिहेतुतः ॥ ३६ ॥

लज्जाके भयसे अथवा प्रायश्चित्तके भयसे वा अन्य किसी कारणसे अपने समान तथा ज्ञान वा तपसे अपनेसे छोटे ऐसे किसी मुनि वा आचार्यसे आलोचना करना आलोचनाका अव्यक्त नामका दोष कहलाता है ॥ ३६ ॥

मादृशो वेत्यसावेव ममागोऽस्मै यदर्पितम् ।
तन्ममेति स्वदोषोक्तिरस्मै तत्सेवितं मतम् ॥ ३७ ॥

"यह अपराध मेरे ही समान है, अथवा मेरा अपराध भी ठीक यही है। अतएव जो प्रायश्चित्त इसको दिया गया है वही मेरे लिए होसकता है," इसप्रकार आचार्यसे अपने अपराधका निवेदन करना तत्सेवित नामका दोष कहलाता है ॥ ३७ ॥

आगे विना आलोचनाके तपश्चरण करना व्यर्थ है ऐसा कहते हैं।

साऽऽमांगसंगतं यद्वन्नौषधं व्याधिबाधकम् ।
तथाऽनालोचनाशुद्धं नैनो नाशकरं तपः ॥ ३८ ॥

जिसप्रकार आमसहित (आमातिसार सहित) उदरमें प्राप्त हुई औषधियां व्याधियोंको दूर नहीं कर सकतीं उसीप्रकार विना आलोचनाके अशुद्ध हृदयको धारण करनेवाले मुनियोंका तपश्चरण पापोंको कभी नाश नहीं कर सकता।

भावार्थ— दोष लगनेपर मुनियोंको आलोचना अवश्य करनी चाहिये। विना आलोचना किए उनका तपश्चरण करना भी व्यर्थ है ॥ ३८ ॥

द्व्याश्रयं संयतानां स्यादार्यिकाणां त्रिगोचरम् ।
सप्रकाशप्रदेशे तु तच्चारित्रविभूषणम् ॥ ३९ ॥

यह आलोचना नामका प्रायश्चित्त चारित्रका एक आभूषण है और वह किसी प्रकाशवाले स्थानमें ही किया जाता है, अंधेरेमें नहीं किया जाता। यदि किसी मुनिको प्रायश्चित्त लेना हो तो प्रायश्चित्त लेनेवाले मुनि और प्रायश्चित्त देनेवाले आचार्य इन दोनोंके ही आश्रयमें–उपस्थितिमें वह प्रायश्चित्त दिया जाता है, अर्थात् वहांपर अन्य किसीकी आवश्यकता नहीं होती। आचार्य एकांतमें ही अपराध सुन लेते हैं और यथायोग्य प्रायश्चित्त दे देते हैं। यदि यही प्रायश्चित्त किसी आर्यिकाको लेना हो तो वह प्रायश्चित्त तीनके समक्ष होता है। अकेली आर्यिका आचार्यके समीप नहीं आसकती किंतु वह किसी दूसरी आर्यिकाको या अपनी गुरानीको साथ लेकर आचार्यके पास

प्रायश्चित्त लेने आती है। अतएव आर्यिकाको प्रायश्चित्त लेनेके लिए तीन उपस्थितियोंकी आवश्यकता होती है ॥ ३९ ॥

आलोच्याप्यर्पितप्रायाश्चित्तवृत्तिविवर्जितः।
सन्मंत्रनिश्चयेऽप्युद्योगोनवत्फलवर्जितः ॥ ४० ॥

जिसप्रकार किसी मनुष्यको किसी मंत्रका निश्चय-श्रद्धान होजाय परंतु वह मनुष्य उस मत्रको सिद्ध करनेके लिए वा उसको काममें लेनेके लिए कुछ उपाय वा उद्योग न करे तो फिर उस मंत्रपर उसका विश्वास करना व्यर्थ हो जाता है। विना उद्योगके उससे कुछ फल नहीं मिल सकता। उसीप्रकार किसी मुनिने आचार्यसे अपने अपराध कहकर आलोचनां करली परंतु उस अपराधको दूर करनेके लिए आचार्यने जो कुछ प्रायश्चित्तस्वरूप दंड दिया उसका पालन उसने किया नहीं, आचार्यके द्वारा दिए हुए प्रायश्चित्तका पालन किया नहीं तो फिर उसकी आलोचना करना-अपराधोंका कहना व्यर्थ है। ऐसी कोरी आलोचनासे दोष कभी शांत नहीं होसकते ॥४०॥ इसप्रकार आलोचना नामके प्रायश्चित्तका स्वरूप कहा।

अब आगे प्रतिक्रमणका स्वरूप कहते हैं।

मिथ्या मदाऽऽगोऽस्त्वित्याद्यैर्यद्दोषेभ्यो निवर्तनम्।
प्रतिक्रमणमल्पापराधस्यैकाकिनो मुनेः ॥ ४१ ॥

जो कोई मुनिराज अकेले हों और उनके चारित्रमें कोई थोडासा दोष लग जाय तो वे मुनिराज " यह मेरा पाप मिथ्या हो, मुझसे ऐसा अपराध अब आगे नहीं होगा," इसप्रकार लगे हुए दोषोंके लिए पश्चात्ताप कर उन दोषोंसे हट जाना वा दोषोंको दूर करदेना सो प्रतिक्रमण नामका प्रायश्चित्त है ॥ ४१ ॥

आगे तदुभयको कहते हैं।

स्यात्तदुभयमालोचनाप्रतिक्रमणद्वयम् ।
दुःस्वप्नदुष्टचिन्तादिमहादोपसमाश्रयम् ॥ ४२ ॥

जब कभी किसी मुनिके दुष्ट स्वप्न हो जाते हैं वा किसी प्रकारकी दुष्ट चिंता उत्पन्न हो जाती है अथवा और भी ऐसे ही ऐसे महादोष लग जाते हैं तब वे मुनिराज आलोचना भी करते है अर्थात् उन अपराधोंको आचार्यसे निवेदन कर उनका प्रायश्चित्त भी लेते है और स्वयं भी पश्चात्ताप कर प्रतिक्रमण करत है। इसप्रकार आलोचना और प्रतिक्रमण दोनोंका करना तदुभय नामका प्रायश्चित्त कहलाता है ॥ ४२ ॥

परिहर्त्तुमशक्तस्य दोषं द्रव्यादिसंश्रयम् ।
तद्द्रव्यादिपरित्यागो विवेकः कथितोऽथवा ॥ ४३ ॥
अप्रासुकस्य सेवायां त्यक्तस्य प्रासुकस्य च ।
प्रमादेन पुनः स्मृत्वा स तदा तद्विसर्जनम् ॥ ४४ ॥ युग्मम्

जो मुनिराज जिस किसी द्रव्य, क्षेत्र वा काल आदिके संबधसे लगे हुए दोषोंको दूर करनेमें असमर्थ होते है उस द्रव्य वा क्षेत्रके सबधसे वा किसी कालके संबंधसे उत्पन्न होनेवाले दोषको दूर नहीं कर सकते। उस समय आचार्य उनके उस द्रव्यका त्याग करा देते हैं, उस क्षेत्रका त्याग करा देते है तथा उस कालका त्याग करा देते है। इसप्रकार द्रव्यादिकका त्याग करा देना विवेक नामका प्रायश्चित्त कहा जाता है। अथवा जो मुनिराज किसी प्रमादसे किसी अप्रासुक पदार्थका सेवन कर लें अथवा त्याग किए हुए किसी प्रासुक पदार्थका सेवन कर लें और फिर उसका स्मरण हो आनेपर उसका त्याग कर दें तो वह भी विवेक नामका प्रायश्चित्त कहलाता है ॥ ४३–४४ ॥

व्युत्सर्गोऽन्तर्मुहूर्त्तादिकालं कायविसर्जनम् ।
सद्ध्यानं तन्मलोत्सर्गनद्युत्तरणादिषु ॥ ४५ ॥

अंतर्मुहूर्ततक अथवा इससे अधिक समयतक शरीरसे ममत्वका त्याग करदेना व्युत्सर्ग है अथवा अंतर्मुहूर्ततक वा इससे अधिक समयतक उत्तम ध्यान करना भी व्युत्सर्ग कहलाता है। यह व्युत्सर्ग नामका प्रायश्चित्त मलमूत्रका त्याग करनेके बाद किया जाता है अथवा किसी नदीसे पार उतरनेके बाद किया जाता है। अथवा ऐसे ही ऐसे और भी कार्योंमें किया जाता है ॥ ४५ ॥

तपः स्यादुपवासैकस्थानादिर्व्यसनादिभिः ।
व्रतातिचारे सत्येतत्प्रायश्चित्तं तु षड्विधम् ॥ ४६ ॥

उपवास करना, एकस्थान करना, आचाम्ल करना निर्विकृति करना आदिको तप कहते हैं। किसी व्यसन आदिके द्वारा किसी व्रतमें अतिचार लग जानेपर इस छह प्रकारके तपश्चरणका करना तप नामका प्रायश्चित्त है ॥ ४६ ।

दिवसादितपश्छेदश्छेदः संयमपर्यये ।
सदर्पकृतदोषस्य चिरदीक्षाहितैषिणः ॥४७॥

जो मुनि चिरकालके दीक्षित हैं और आत्मकल्याण करना चाहते है ऐसे मुनि यदि किसी अभिमानसे वा किसी दर्पसे किसी भी संयममें कोई दोप कर डालें अथवा उनसे दर्पके कारण कोई दोष बन जाय तो उनको छेद नामका प्रायश्चित्त दिया जाता है। एक दिन, दो दिन, आठ दिन, एक महीना वा एक वर्ष आदि कालकी दीक्षाका छेद करना छेद नामका प्रायश्चित्त कहलाता है। (तपस्वी आचार्योंके वचनोंमें शक्ति होनेके कारण उनकी उतनी दीक्षा व्यर्थ वा नष्ट होजाती है। तथा दश वर्षके दीक्षितकी यदि एक वर्षकी दीक्षा छेद दी जाय तो वह नौ वर्षका दीक्षित समझा जाता है। पहिले कोई साडे नौ वर्षके दीक्षित मुनि पहले इसको नमस्कार करते थे परतु अब यह उनके लिए नमस्कार करता है। ऐसा इस प्रायश्चित्तका अभिप्राय है) ।४७॥

पुनर्दीक्षाग्रहो मूलं सर्वां पूर्वां तपःस्थितिम् ।
छित्वोन्मार्गस्थपार्श्वस्थप्रभृतिश्रमणेष्विदम् ॥ ४८ ॥

॥१६०॥

पहलेकी तपश्चरणकी संपूर्ण स्थितिको छेदकर फिरसे दीक्षा देना मूल नामका प्रायश्चित्त है। यह मूल नामका प्रायश्चित्त उन्मार्गमें चलनेवाले (मोक्षमार्गको उल्लंघन कर उत्सूत्र मार्गसे चलनेवाले) पार्श्वस्थ आदि मुनियोंको दिया जाता है ॥ ४८ ॥

आगे पार्श्वस्थ आदि अपात्र मुनियोंका स्वरूप कहते हैं।

सच्चारित्रामृतापात्रं स्युः पार्श्वस्थः कुशीलकः।
संसक्तोऽप्यवसन्नश्च मृगचारीति पंच ते ॥ ४९ ॥

पार्श्वस्थ, कुशील, संसक्त, अवसन्न और मृगाचारी ये पांच प्रकारके भ्रष्ट मुनि सम्यग्चारित्ररूपी अमृतके लिए अपात्र कहे जाते हैं अर्थात् इनके सम्यग्चारित्र नहीं होता ॥ ४९ ॥

वसत्युपधिसंगस्थः पार्श्वस्थः स्यात्कुशीलकः।
संघाहितकरस्तीव्रकषायो व्रतवर्जितः ॥ ५० ॥

जो वसतिका और पीछी, कमडलु, शास्त्र आदि उपकरणोंमें मोह करता है इनको परिग्रह समझकर धारण करता है ऐसे मुनिको पार्श्वस्थ मुनि कहते है। तथा जो संघका अहित करनेवाला हो, जिसके तीव्र कषाय हो और जो व्रतोंसे रहित हो ऐसे मुनिको कुशील मुनि कहते है ५०

संसक्तो वैद्यमंत्रावनीशसेवादिजीवनः।
ज्ञानचारित्रहीनोऽवसन्नः स्यात्करणालसः ॥ ५१ ॥

जो वैद्यकके द्वारा वा मंत्रशास्त्रके द्वारा अथवा राजाओंकी सेवा आदि करके अपनी जीविका चलाता है उसे संसक्त मुनि कहते है। तथा जो चारित्रके पालन करनेमें आलस करता है और ज्ञान चारित्रसे रहित है उसको अवसन्न मुनि कहते हैं ॥ ५० ॥

स्वच्छन्दो यो गणं त्यक्त्वा चरत्येकाक्यसंवृतः।
मृगचारीत्यमी जैनधर्माऽकीर्त्तिकरा नराः ॥ ५२ ॥

॥१६१॥

जो संघको छोडकर स्वच्छंदरीतिसे वा स्वतंत्र होकर अकेला घूमा करता है और जो इंद्रियोंको कभी अपने वशमें नहीं रखता अथवा जो कभी भी संवरके कारणोंको पालन नहीं करता उसे मृगचारी मुनि कहते हैं। ये पांचों ही प्रकारके भ्रष्ट मुनि पवित्र जैन धर्मकी अपकीर्ति करनेवाले समझने चाहिये ॥ ५२ ॥

आगे परिहार नामके प्रायश्चित्तको कहते हैं।

परिहारोऽनुपस्थापनपारंचिकभेदभाक् ।
निजान्यगणभेदं तत्राद्यं तत्राद्यमुत्तमम् ॥ ५३ ॥

परिहार नामके प्रायश्चित्तके दो भेद हैं। एक अनुपस्थान और दूसरा पारंचिक। उसमें भी अनुपस्थानके दो भेद है एक निजगण अनुपस्थान आर दूसरा अन्यगण अनुपस्थान। अपने संघसे अलग करना निजगण अनुपस्थान है और अन्य संघोंसे भी अलग करना अन्यगण अनुपस्थान है। इनमें भी निजगण अनुपस्थान नामका परिहारप्रायश्चित्त उत्तम गिना जाता है। अन्यगण अनुपस्थान निकृष्ट गिना जाता है ॥ ५३ ॥

द्वादशाब्देषु षण्मासषण्मासानशनं मतम् ।
जघन्यं पंच पंचोपवासं मध्यं तु मध्यमम् ॥ ५४ ॥

बारह वर्षतक प्रत्येक वर्षमे छह २ महीनेका उपवास करना उत्तम प्रायश्चित्त है। तथा बारह वर्षतक प्रत्येक महीनेमें पांच पांच उपवास करना जघन्य प्रायश्चित्त है, और बारह वर्षतक प्रत्येक महीनेमें पांच उपवाससे अधिक तथा पंद्रह उपवाससे कम उपपास करना मध्यम प्रायश्चित्त कहलाता है ॥ ५४ ॥

आगे परिहार किया हुआ मुनि किस प्रकार रहता है सो कहते हैं।

द्वात्रिंशद्दंडदूरालयस्थेन वसतेर्यतीन् ॥
सर्वान् प्रणमताऽपेतप्रतिवन्दनसाधुना ॥ ५५ ॥

स्वदोषाख्यतये पिच्छं विभ्राणेन पराङ्मुखम् ।
सूरीतरैः सहोपात्तमौनेनैतद्विधीयते ॥ ५६ ॥ युग्मम् ।

परिहार शब्दका अर्थ संघसे अलग करदेना है । जिस मुनिको किसी विशेष अपराधके कारण संघसे अलग कर दिया है, वह मुनि जिस वसतिकामें मुनियोंका संघ ठहरा है उससे बत्तीस धनुष (चार हाथका एक धनुष) दूर किसी स्थान वा मकानमें रहता है । वहांसे वह संघके समस्त मुनियोंको नमस्कार करता है । परंतु संघमेंसे कोई भी मुनि उसके लिए बदलेका नमस्कार नहीं करता । वह अलग किया हुआ मुनि अपना अपराध प्रगट करनेके लिए उलटी पींछी रखता है । यदि उसे कुछ निवेदन करना हो तो वह आचार्यसे ही निवेदन या बातचीत कर सकता है अन्य मुनियोंके साथ वार्तालाप करना उसके लिए सर्वथा बंद होजाता है । अन्य सबके साथ उसे मौन धारण करना पडता है । निजगण अनुपस्थान नामके प्रायश्चित्तमें उसे इस प्रकार रहना पडता है ।

आगे यह प्रायश्चित्त किसको दिया जाता है सो कहते हैं ।

प्रमादेनाऽन्यपाखंडिगृहस्थयतिसंश्रितम् ।
वस्तु स्तेनयतः किंचिच्चेतनाचेतनात्मकम् ॥ ५७ ॥
यतीन्प्रहरतोऽन्यस्त्रीहरणादींश्च कुर्वतः ।
दशनवपूर्वज्ञस्य त्र्याद्यसंहननस्य तत् ॥ ५८ ॥

जो मुनि पहलेके तीन उत्तम संहननोंमेंसे किसी एक संहननको धारण करनेवाला है । जो नौ पूर्व वा दश पूर्वका (ग्यारह अंग नौ पूर्व वा ग्यारह अंग दश पूर्वका) पाठी है ऐसा मुनि यदि प्रमादसे अन्य किसी पाखंडी वा गृहस्थ अथवा किसी यतिके चेतनरूप अथवा अचेतनरूप पदार्थको चुरा लेवे, अथवा किसी यतिको मारे अथवा अन्य किसीकी स्त्रीको हरण कर लेवे तो फिर उसको यह निजगण अनुपस्थान नामका प्रायश्चित्त दिया जाता है ॥ ५७–५८ ॥

॥१६३॥

अब आगे अन्यगण अनुपस्थान नामका प्रायश्चित्त किसको दिया जाता है सो कहते हैं ।

करोति यदि दर्पेण दोषान् पूर्वविभाषितान् ।
सोऽयमन्यगणानुपस्थापनेन विशुद्ध्यति ॥ ५९ ॥

यदि वही साधु अर्थात् ग्यारह अंग नौ पूर्व वा दश पूर्वका पाठी और पहलेके तीन संहननोंमेंसे किसी एक संहननको धारण करनेवाला साधु अपने दर्प वा अभिमानसे ऊपर लिखे दोष करे अर्थात् दर्पमें किसीकी वस्तु चुरावे वा किसी यतिको मारे वा किसीकी स्त्रीका हरण करे तो फिर वह अन्यगण अनुपस्थान नामके प्रायश्चित्तसे शुद्ध होता है ॥ ५९ ॥

आगे अन्यगण अनुपस्थान नामके प्रायश्चित्तका स्वरूप कहते हैं ।

प्रायश्चित्तं तदेवात्र किन्तु स्वगणसूरिणा ।
आलोच्य प्रेषितः सस्सूरिपार्श्वमनुक्रमात् ॥ ६० ॥
आलोच्य तैस्तैरप्राप्तप्रायश्चित्तोऽन्त्यसूरिणा ।
तमाद्यं प्रापितस्तेन दत्तं चरति पूर्ववत् ॥ ६१ ॥ युग्मम् ।

इस अन्यगण अनुपस्थान नामके प्रायश्चित्तमें प्रायश्चित्त तो वही दिया जाता है जो निजगण अनुपस्थान नामके प्रायश्चित्तमें दिया जाता है । किन्तु उसमें इतना विशेष है कि जब वह अपराधी मुनि अपने आचार्यसे अपने अपराधोंकी आलोचना करता है तो वे आचार्य उसकी आलोचना सुनकर प्रायश्चित्तके लिए अन्य संघके आचार्यके समीप भेज देते हैं । वह अपराधी मुनि उन अन्य संघके आचार्यके समीप जाता है और उनसे अपने अपराधोंकी आलोचना करता है । उसकी उस आलोचनाको सुनकर वे आचार्य किसी तीसरे संघके आचार्यके समीप भेज देते हैं । वह अपराधी मुनि उन आचार्यके समीप भी जाकर आलोचना करता है और प्रायश्चित्तकी याचना करता है । परंतु वे आचार्य भी चौथे संघके आचार्यके समीप उसे भेजते हैं । वह मुनि उनके समीप भी जाता है और आलोचना कर प्रायश्चित्त मांगता है । वे आचार्य आलोचना सुनकर पांचवें

संघके आचार्यके पास भेज देते है तथा वे आचार्य उसकी आलोचना सुनकर किसी छटे संघके आचार्यके समीप भेज देते है और वे आचार्य उसकी आलोचना सुनकर अन्य किसी सातवें संघके आचार्यके समीप उसे भेज देते हैं। वे आचार्य भी उसकी आलोचना सुन लेते है और फिर विना प्रायश्चित्त दिए ही पहलेके आचार्यके समीप ही उसे भेज देते है इसप्रकार वह अपराधी मुनि सात संघके आचार्योंके समीप जाकर अपनी आलोचना करता है परतु प्रायश्चित्त उसे कहींसे भी नहीं मिलता। सातवें संघके आचार्य जव उसे फिर उसी पहले संघके आचार्यके समीप भेज देते है तव वे आचार्य उसे वही प्रायश्चित्त देते हैं और वह उस प्रायश्चित्तको स्वीकार कर धारण करता है। ऐसे प्रायश्चित्तको अन्यगण अनुपस्थान नामका प्रायश्चित्त कहते हैं ॥ ६०—६१ ॥

आगे पारंचिक नामके प्रायश्चित्तका स्वरूप कहते हैं।

स्वधर्मरहितक्षेत्रे प्रायश्चित्ते पुरोदिते।
चारः पारंचिकं जैनधर्मात्यन्तरतेर्मतम् ॥ ६२ ॥

जो क्षेत्र जैन धर्मसे सर्वथा रहित हो ऐसे क्षेत्रमें जाकर ऊपर लिखे हुए प्रायश्चित्तका पालन करना पारंचिक नामका प्रायश्चित्त है। यह प्रायश्चित्त उसीको दिया जाता है जो धर्ममें अत्यत प्रेम रखता हो, अत्यंत दृढ श्रद्धानी हो।

भावार्थ—इस पारंचिक प्रायश्चित्तमें आचार्य अपराधी मुनिको किसी धर्मरहित क्षेत्रमें रहनेकी आज्ञा देते हैं। उस धर्मरहित क्षेत्रमें रहनेसे उस मुनिको अनेक प्रकारकी वडी वडी परीषहें सहन करनी पडती हैं। उन सवको सहन करता हुआ वह मुनि जितने दिन उस क्षेत्रमें रहनेकी आज्ञा मिलती है उतने दिनतक वह वहीं रहकर अनेक प्रकारकी परीषहोंको सहन करता हुआ प्रायश्चित्तका पालन करता है। जो मुनि अत्यंत दृढ श्रद्धानी होता है जिसको धर्ममें अत्यंत प्रेम होता है उसीको यह पारंचिक नामका प्रायश्चित्त दिया जाता है। क्योंकि ऐसा मुनि अनेक

परीषह और उपसर्गोंके आनेपर भी अपने श्रद्धानसे च्युत नहीं होता है ।. ६२ ॥

आगे यह पारंचिक प्रायश्चित्त किसको दिया जाता है सो कहते हैं ।

संघोर्वीशविरोधांतःपुरस्त्रीगमनादिषु ।
दोषेष्ववंद्यः पाप्येष पातकीति बहिः कृतः ॥ ६३ ॥
चतुर्विधेन संघेन देशान्निष्कासितोऽप्यदः ।
चरत्यवाऽऽर्यवैराग्यसत्वज्ञानबलो व्रती ॥ ६४ ॥ युग्मम् ।

जिसका वैराग्य, पराक्रम और ज्ञानका वल दूर नहीं हुआ है ऐसा कोई व्रती मुनि यदि संघका विरोध करने लग जाय वा राजाका विरोध करने लग जाय अथवा अंतःपुर वा रणवासकी स्त्रियोंमें आने जाने लग जाय अथवा और भी ऐसे ही ऐसे अपराध करने लग जाय तो वह साधु फिर अवदनीय होजाता है। अर्थात् उसके लिए फिर कोई वंदना नहीं करता । तथा यह पापी है, अत्यत पातकी है ऐसा कहकर वह अलग कर दिया जाता है । और चतुर्विध सघ मिलकर उसे देशसे बाहर निकाल देता है। ऐसा वह मुनि उस धर्मरहित क्षेत्रमें जाकर इस पारंचिक नामके प्रायश्चित्तका पालन करता है ॥ ६२–६४ ॥

आगे दर्शन नामके प्रायश्चित्तका स्वरूप कहते हैं ।

दर्शनं यत्पुनस्तत्वश्रद्धानं तन्महाव्रतैः ।
साद्धं यतेः स्थितस्येत्वा मिथ्यात्वं तदुदीरितम् ॥ ६५ ॥

मिथ्या शास्त्रोंमें कहे हुए मिथ्यात्वको प्राप्त होकर भी जो साधु महाव्रती मुनियोंके साथ रहता है और उन महाव्रतियोंके द्वारा उसे फिर यथार्थ तत्त्वोंका श्रद्धान कराया जाता है । उसको दर्शन नामका प्रायश्चित्त कहते हैं ।

भावार्थ— किसी मिथ्यादृष्टीका मिथ्यात्व छुडाकर उसे विधिपूर्वक प्रायश्चित्त देकर यथार्थ श्रद्धान

॥१६६॥

कराया जाता है उसको दशवां दर्शन नामका प्रायश्चित्त कहते है ॥ ६५ ॥

आगे आचार्य वैद्यके समान साधुओंके दोषोंका संशोधन करते हैं ऐसा कहते हैं।

देशं कालं बलं ज्ञात्वा गणी वैद्यवदंगिनाम् ।
अल्पानल्पेषु दोषेषु कुर्यात्तद्विशोधनम् ॥ ६६ ॥

जिसप्रकार वैद्य देश, काल और बलको जानकर तथा उन जीवोंके थोडे वा बहुत होनेवाले दोषोंको समझकर उन दोषोंका शोधन करते हैं-दोषोंको दूर करते है उसीप्रकार आचार्य भी देश, काल और बलको जानकर तथा उन मुनियोंके थोडे वा बहुत होनेवाले दोषोंको समझकर यथायोग्य रीतिसे उन दोषोंका शोधन करते है उन दोषोंको दूर करते है ॥ ६६ ॥

कृतागसैव कर्त्तव्यं प्रायश्चित्तं त्रिशुद्धितः ।
ग्लानस्यैव प्रयत्नेन युक्तमौषधसेवनम् ॥ ६७ ॥

जिन्होंने अपराध वा दोष किया है उनको ही मन, वचन, कायकी शुद्धतापूर्वक प्रायश्चित्तका पालन करना चाहिये। क्योंकि संसारमें यही प्रसिद्ध है कि जो पुरुष रोगी है उसे ही प्रयत्नपूर्वक औषधिका सेवन करना चाहिये।

भावार्थ-- जो रोगी नहीं उसको औषधि सेवन करना व्यर्थ है उसीप्रकार जो निरपराधी है-निर्दोष है उसको प्रायश्चित्त लेना भी व्यर्थ है ॥ ६७ ॥

आगे प्रायश्चित्तका प्रयोजन बतलाते हैं।

दोषव्युदासनैःशल्यमर्यादासंयमास्थिति- ।
स्वान्तप्रशान्तिसंपत्तिप्रमुखार्थमिदं मतम् ॥ ६८ ॥

दोषोंको दूर करनेके लिए माया, मिथ्या, निदान इन तीनों शल्योंको दूर करनेके लिए, मर्यादा वा प्रतिज्ञाकी स्थिरता, संयमकी स्थिरता और मनकी शांति आदि संपत्तियोंको प्राप्त करनेके

लिए यह प्रायश्चित्त नामका अंतरंग तप किया जाता है ॥ ६८ ॥ इसप्रकार प्रायश्चित्तका वर्णन किया ।

आगे विनय नामके तपका स्वरूप कहते हैं ।

विनयः स्याद्विनयनं कषायेन्द्रियमर्दनम् ।
स नीचैर्वृत्तिरथवा विनयार्हे यथोचितम् ॥ ६९ ॥

कषाय और इद्रियोंको मर्दन करना–अपने वशमें करना विनय कहलाती है । अथवा पंच परमेष्ठी वा रत्नत्रयके धारक विनय करनेयोग्य पुरुष हैं उनके सामने यथायोग्य रीतिसे नम्र होना उनको वडा मानना विनय नामका तप है ॥ ६९ ॥

आगे विनयके भेद वतलाते हैं ।

सद्दग्ज्ञानतपश्चारित्रोपचारप्रपंचकः ।
तत्र दृग्विनयस्त्यागः शङ्कादीनाममी च ते ॥ ७० ॥

सम्यग्दर्शन विनय, सम्यग्ज्ञान विनय, सम्यक्चारित्र विनय, सम्यक्तप विनय और उपचार विनय ऐसे विनयके पांच भेद होते हैं । उसमें भी शंकादिक आठों दोषोंका त्याग कर देना दर्शन विनय नामका तप कहलाता है ।

शंकादिक आठों दोषोंके नाम नीचे लिखे अनुसार हैं ।

शंकाऽऽकांक्षाजुगुप्साऽन्यदृग्प्रशंसनसंस्तवाः ।
नाम्ना ज्ञेयास्त्रयोऽन्त्यौ तु मनोवाग्विषये स्तुती ॥ ७१ ॥

शका, कांक्षा, जुगुप्सा, अन्यदृष्टिप्रशसा और अन्यदृष्टिस्तुति आदि आठ दोष कहलाते हैं । " भगवान् जिनेंद्र देवका कहा हुआ दयामय धर्म सत्य है अथवा नहीं ,, इसप्रकारकी शका करना शंका नामका दोष है । दान, पूजा आदि धर्मकार्य कर उनसे भोगादिककी इच्छा करना कांक्षा नामका दोष है । मुनि आदि धर्मात्माओंके मलिन शरीरको देखकर ग्लानि करना जुगुप्सा नामका दोष है

॥१६८॥

अन्य मतियोंकी मनसे प्रशंसा करना अन्यदृष्टि प्रशंसा है और अन्य मतियोंकी वचनसे स्तुति करना अन्यदृष्टि संस्तव है। इनमेंसे शका, कांक्षा और जुगुप्सा तीन दोष तो ये है। तथा मूढदृष्टि, अनुपगूहन, अस्थितीकरण, अवात्सल्य और अप्रभावना ये पांच दोष अन्यदृष्टि प्रशंसा और अन्यदृष्टि सस्तव इनमें शामिल है। इसप्रकार आठ दोष कहलाते हैं। इनका त्याग करना दर्शनविनय कहलाता है।

आगे ज्ञानविनय बतलाते है।

द्रव्यादिशोधनं वस्तुप्रमाणावग्रहादिकम्।
वहुमानः श्रुतज्ञेषु श्रुतज्ञाऽऽसादनोज्झनम् ॥ ७२ ॥
वयःशीलश्रुतोनाधिकाद्युपाध्यायकीर्त्तनम्।
चाऽनिह्नवेन येनाऽयं ज्ञानावरणकारणम् ॥ ७३ ॥
स्वराक्षरपदग्रन्थार्थाहीनाध्ययनादिकम्।
स्याज्ज्ञानविनयः सम्यग्ज्ञानस्वर्मोक्षकारणम् ॥ ७४ ॥

द्रव्य, क्षेत्र आदिकी शुद्धता रखना, वस्तुओंका परिमाण करना, स्वाध्यायके लिए किसी पदार्थका त्याग करना जैसे जबतक यहांतक पाठ न पढ लूंगा तबतक अमुक पदार्थ न खाऊंगा इसप्रकारके त्याग करनेको अवग्रह कहते हैं, श्रुतज्ञानके जाननेवालोंकी अतिशय विनय करना, शास्त्रोंकी आज्ञाका आसादन वा तिरस्कार नहीं होने देना, आयु, शील और श्रुतज्ञानसे न्यून वा अधिक सब उपाध्यायोंका यशोगान करना, अपने ज्ञानको नहीं छिपाना अथवा अपने उपाध्यायादि गुरुको नहीं छिपाना क्योंकि गुरुका वा अपने ज्ञानका छिपाना ज्ञानावरणका कारण है। इसीप्रकार स्वर, अक्षर और पदरूप ग्रंथमें तथा उसके अर्थमें विना किसी कमीके अध्ययन करना वा अध्ययन कराना आदि ज्ञानविनय कहलाता है। यह ज्ञानका विनय सम्यग्ज्ञानका कारण है और स्वर्गमोक्षका कारण है ॥ ७२–७४ ॥ इसप्रकार ज्ञानविनयका स्वरूप कहा।

अब आगे तपविनयको कहते हैं।

आवश्यकक्रियाशक्तिर्नानोत्तरगुणोन्नतिः ।
तपस्तद्वत्प्रमोदश्च स्यात्तपोविनयो यतेः ॥ ७५ ॥

छहों आवश्यक क्रियाओंमें तल्लीनताका होना, अनेक प्रकारके उत्तर गुणोंकी उन्नति करना अनेक प्रकारका तपश्चरण करना, तपश्चरण करनेवाले तपस्वियोंको देख सुनकर हर्ष धारण करना मुनिराजोका तपविनय कहलाता है ॥ ७५ ॥

आगे चारित्रविनयको कहते हैं ।

भक्तिश्चारित्रवत्स्वन्यवृत्ताऽनिन्दनमुद्यमः ।
परीषहजयादौ च चारित्रविनयो मुनेः ॥ ७६ ॥

चारित्रको धारण करनेवाले मुनियोंकी भक्ति करना, अन्यके चारित्रकी निंदा नहीं करना और परीपहोंके जीतनेमें वा उपसर्गादिकके सहन करनेमें सदा उद्यमी रहना मुनियोंका चारित्र विनय नामका तप है ॥ ७६ ॥

आगे उपचारविनयको कहते हैं ।

उपोपसृत्य यश्चार "उपचारो,, यथोचितः ।
स प्रत्यक्षपरोक्षात्मा तत्राद्यः प्रतिपाद्यते ॥ ७७ ॥

इस उपचार विनयको धारण करनेवाले पुरुप गुणी पुरुपके समीप जाकर यथायोग्य रीतिसे उनका विनय करते हैं उसको उपचारविनय कहते है। उस उपचार विनयके दो भेद है- एक प्रत्यक्ष उपचारविनय और दूसरा परोक्ष उपचारविनय।

आगे प्रत्यक्ष उपचारविनयका स्वरूप कहते है।

अभ्युत्थानं नतिः सूरावागच्छाति साति स्थिते ।
स्थानं नीचैर्निविष्टेऽपि शयनोच्चासनोज्झनम् ॥ ७८ ॥
गच्छत्यनुगमो वक्तर्यनुकूलं वचो मनः ।
प्रमोदीत्यादिकं चैवं पाठकादिचतुष्टये ॥७९॥ युग्मम् ॥

आचार्यके आनेपर उठकर खडे होजाना और उनको नमस्कार करना तथा उनके बैठ जानेपर नीचे आसनपर बैठना और आचार्यके बैठे हुए शयन और उच्च आसनका त्याग करदेना प्रत्यक्षविनय है। इसीप्रकार उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर और गणधर इन चारों मुनिराजोके लिए उनके जानेपर पीछे २ गमन करना, उनके कुछ बोलनेपर उनके अनुकूल वचन कहना, और उनके दर्शन करनेपर तथा सुननेपर मनको प्रसन्न करना प्रत्यक्ष विनय है ॥ ७८-७९ ॥

आगे आचार्यके न होनेपर क्या करना चाहिये सो कहते हैं ।

आचार्यादिष्वसत्स्वेवं स्थविरस्य मुनेर्गणे ।
प्रातिरूपकालयोग्या क्रिया चान्येषु साधुषु ॥ ८० ॥

यदि आचार्य न हों तो मुनियोंको चाहिये कि वे अपने गणमें जो वृद्ध मुनि हों उनको ही आचार्य मानकर अपने समयपर समस्त आवश्यक वा योग्य क्रियाएं कर लें ॥ ८० ॥

आर्यादेशयमाऽसंयतादिषूचितसत्क्रिया ।
कर्त्तव्या चेत्यदः प्रत्यक्षोपचारोपलक्षणम् ॥ ८१ ॥

इनके सिवाय आर्यिका, देशसंयमी अथवा अव्रतसम्यग्दृष्टी आदि धर्मात्माओंका भी यथायोग्य आदरसत्कार करना चाहिये । यह सब प्रत्यक्ष उपचार विनय कहलाता है ॥ ८१ ॥

आगे परोक्षविनयका स्वरूप कहते हैं ।

ज्ञानविज्ञानसत्कीर्तिर्नतिराज्ञाऽनुवर्त्तनम् ।
परोक्षे गणनाथानां परोक्षप्रश्रयः परः ॥ ८२ ॥

यदि गणके स्वामी आचार्य परोक्ष हों–समीप न हों तो मोक्षके कारणभूत उनकी बुद्धिमें आये हुए पदार्थोंको प्रगट करना, उनके शास्त्रज्ञानका विस्तार करना, उनकी कीर्तिको फैलाना, उनकी आज्ञाका पालन करना, उनको नमस्कार करना और उनके अनुकूल चलना आदि सब परोक्ष उपचार विनय नामका तप कहलाता है ॥ ८२ ॥

आगे विनय रहित साधुका दोष बतलाते हैं ।

विना येन विहीनस्य भिक्षोः शिक्षाऽमृताश्रियः ।
संश्रयाय निदानं नो तथा चाभ्युदयाश्रियः ॥ ८३ ॥

जो मुनि विनयकर रहित हैं उसके ज्ञानका अभ्यास करना मोक्षरूप लक्ष्मीकी प्राप्तिका कारण नहीं होता और न अनेक प्रकारकी ऋद्धि सिद्धिरूप अभ्युदयकी–लक्ष्मीकी प्राप्तिका कारण होता है ॥ ८३ ॥

भावार्थ– विनय रहित मुनिके न तो ऋद्धियां वा सिद्धियां होती हैं और न उसको मोक्षकी प्राप्ति होती है ।

आगे विनयवान्के गुण दिखलाते हैं ।

जिनाज्ञावर्त्तनं कीर्तिर्मैत्री मानापनोदनम् ।
गुणानुरागिता संघसम्मदाद्याश्च तद्गुणाः ॥ ८४ ॥

विनय धारण करनेवाले मुनिसे भगवान् जिनेंद्र देवकी आज्ञाकी प्रवृत्ति होती है, उनकी कीर्ति चारों ओर फैलती है, समस्त जीवोंके साथ मित्रता होती है, अभिमानका नाश होता है, गुणोंमें अनुराग होता है और चारों प्रकारका संघ हर्षको प्राप्त होता है । ये सब गुण विनय धारण करनेसे होते हैं ॥ ८४ ॥

किमत्र बहुनोक्तेन पदं सर्वेष्टसंपदाम् ।
रत्नत्रयीविभूषायां येन मुक्तिनिबन्धनम् ॥ ८५ ॥

बहुत कहांतक कहा जाय, थोडेसेमें इतना समझलेना चाहिये कि यह विनय नामका तपश्चरण समस्त इष्ट संपदाओंका स्थान है। रत्नत्रयका आभूषण है और मोक्षका कारण है॥ ८५ ॥ इसप्रकार विनय नामके तपका स्वरूप कहा ।

अब आगे वैयावृत्यनामके तपका स्वरूप कहते हैं ।

व्यापत्प्रतिक्रिया वैयावृत्यं स्यात्सूरिपाठके ।
तपस्विशैक्ष्यग्लानेषु गणे संघे कुले यतौ ॥ ८६ ॥
मनोज्ञे च तपस्व्येषु नानाऽनशनवर्त्तनः ।
शैक्षो ज्ञानादिसंशिक्षो ग्लानो नानागदार्दितः ॥ ८७ ॥
गण स्थविरसन्तानश्चातुर्वर्ण्यकदम्बकम् ।
संघः स्याद्दीक्षकाऽऽचार्यशिष्याम्नायः कुलं मतम् ॥ ८८ ॥
चिरप्रव्रजितः साधुर्यतिः शेषो हि संयमी ।
दीक्षोन्मुखो मनोज्ञाख्योऽसंयतो वा सुदर्शनः ॥ ८९ ॥
विद्याजात्यादिविख्यातो मिथ्यादृग्वाऽस्य संग्रहः ।
जिनप्रवनस्यायं लोके गौरवकारकः ॥ ९० ॥ पंचकम् ॥

आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, शैक्ष्य, ग्लान, गण, सघ, कुल, यति और मनोज्ञ ये दश प्रकारके मुनि कहलाते हैं । इन दश प्रकारके मुनियोंकी आपत्तियोंको दूर करना, उनकी सेवा सुश्रूषा करना वैयावृत्य कहलाता है । इनमेंसे जो मुनि अनेक उपवास करें उनको तपस्वी कहते

है। जो ज्ञानादिकका अभ्यास करनेवाले हों, पठन पाठन करते हों उनको शैक्ष्य कहते है। जो अनेक प्रकारके रोगोंसे दुखी हों उनको ग्लान मुनि कहते हैं। वृद्ध मुनियोंके समुदायको अथवा वृद्ध मुनियोंके शिष्योंको गण कहते है। ऋषि, मुनि, यति, तपस्वी इन चार प्रकारके मुनियोके समुदायको सघ कहते है अथवा मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविका इन चारोंके समुदायको संघ कहते हैं। दीक्षा देनेवाले आचार्यके शिष्योंकी परपराको कुल कहते है। बहुत दिनके दीक्षित मुनिको साधु कहते हैं और बाकीके जो मुनि हैं उन सबको यति कहते है। जिनको देखकर असंयमी पुरुष भी दीक्षा लेनेके सन्मुख हो जायं अथवा जो मुनि देखनेमें बहुत सुंदर हों अथवा जो विद्या वा जाति, कुल आदिसे अत्यंत प्रसिद्ध हों, तथा जो इस ससारमें जैन शास्त्रोंका अत्यत गौरव करनेवाले हों, ऐसे मुनियोंको मनोज्ञ मुनि कहते हैं। आचार्य तथा उपाध्यायका स्वरूप पहले बता ही चुके हैं। इसप्रकार दश प्रकारके मुनियोंकी आपत्ति दूर करना, सेवा सुश्रूषा करना वैयावृत्त्य कहलाता है ॥ ८६–९० ॥

परीषहसमाश्लेषेऽमीषां यच्छेमुषीमुदः।
संपादनं त्रिरत्नाप्त्यै वैयावृत्यं त्रिशुद्धितः ॥ ९१ ॥
आवासाशनपानाद्यैः प्रासुकैः क्लेशनाशिभिः।
तदभावे स्वकायेन स्वोपकारानपेक्षया ॥ ९२ ॥
विण्मूत्रश्लेष्मसिंहाणकादेर्देहादपोहनात्।
यत्नेनोत्क्षेपनिक्षेपपरिवर्त्तक्रियादिभिः ॥ ९३ ॥

इन आचार्य आदि दश प्रकारके मुनियोंमेंसे किसी मुनिके ऊपर किसी परीषहके आजानेपर उनकी बुद्धिको प्रसन्न करना अथवा रत्नत्रयकी प्राप्तिके लिए उनकी सेवा सुश्रूषा करना वैयावृत्त्य है। यह वैयावृत्य मन, वचन कायकी शुद्धतापूर्वक किया जाता है। तथा उसके वदले किसी भी

प्रकारके अपने उपकारकी अपेक्षा न रखते हुए किया जाता है। सब प्रकारके क्लेशोंको नाश करनेवाले और प्रासुक ऐसे आहार, पान वा वसतिका वा पीछी, कमंडलु आदि देकर यह वैयावृत्य किया जाता है अथवा इन सबके देनेका योग न मिल सके तो अपने शरीरसे भी वैयावृत्य किया जाता है। यदि कोई मुनि रोगी हों तो उनके शरीरसे मलमूत्रका दूर करना, उनका कफ दूर करना, नाकका मैल दूर करना, उनको उठाना, बैठाना, कर्वट बदलवाना, उनके हाथ पैर दाबना आदि क्रियाओंसे उन मुनियोंकी सेवा सुश्रूषा करना आदि सब वैयावृत्य कहलाता है ॥ ९१-९३ ॥

आगे इस वैयावृत्यके गुण कहते हैं।

अस्मान्निर्विचिकित्सत्ववत्सलत्वसनाथता ।
यशोऽभ्युदयानिःश्रेयःसुखाप्तिप्रमुखा गुणाः ॥ ९४ ॥

इस वैयावृत्यके करनेसे निर्विचिकित्सा गुण बढता है, वात्सल्य गुण बढता है, स्वामीपणा प्रगट होता है, यशकी प्राप्ति होती है, अनेक प्रकारके अभ्युदय प्राप्त होते हैं और अतमें मोक्ष-सुखकी प्राप्ति होती है। ये सब गुण वा ऐसे ही ऐसे ओर अनेक गुण इस वैयावृत्यके करनेसे प्राप्त होते है ॥ ९४ ॥ इसप्रकार वैयावृत्यका स्वरूप कहा।

अब आगे स्वाध्यायका स्वरूप कहते हैं।

स्वस्मै योऽसौ हितोऽध्यायः स्वाध्यायो वाचनादिकः ।
तपो वर्यमतो नान्यत्तपःसु द्वादशस्वपि ॥ ९५ ॥

अपने आत्माका हित करनेवाला जो बचनसे अध्ययन करना है, पठनपाठन करना है उसको स्वाध्याय कहते हैं। यह स्वाध्याय नामका तप समस्त तपोंमें श्रेष्ठ है। बारह प्रकारके तपमें इस स्वाध्याय तपके समान और कोई तप नहीं हैं। वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय और धर्मोपदेश ये सब इसी स्वाध्याय नामके तपके भेद हैं ॥ ९५ ॥

नोर्ध्वमन्तर्मुहूर्त्तात्सद्ध्यानमध्ययनं पुनः ।
सदैनोनिर्जराकारि किन्तु न स्यात्कृतात्मनाम् ॥ ९६ ॥

देखो उत्तम ध्यान तो अंतर्मुहूर्त कालसे अधिक कालतक नहीं होता परतु यह स्वाध्याय नामका तप पुण्यवान् पुरुषोंके क्या सदा ही पापरूप कर्मोंकी निर्जरा नहीं करता रहता ?

भावार्थ— इस स्वाध्याय नामके तपसे पुण्यवान पुरुषोंके सदा ही पापकर्मोंकी निर्जरा होती रहती है । इसलिए यह अंतर्मुहूर्ततक होनेवाले ध्यानसे भी बढकर है ॥ ९६ ॥

मनः सदर्थे वाक् पाठे वर्णेऽक्ष्णी तुच्छ्रुतौ श्रुती ।
प्रसक्ते निष्क्रियेऽक्षेऽन्ये तदैकाग्र्यमिहाप्यलम् ॥ ९७ ॥

देखो इस स्वाध्यायके करनेसे मन तो उसके अर्थ समझनेमें लग जाता है वचन उसके पाठ करनेमें लग जाते हैं, नेत्र उसके अक्षर देखनेमें लग जाते हैं और कान उसके सुननेमें लग जाते हैं। इनके सिवाय स्पर्शन और नासिका ये दोनों इंद्रियां क्रिया रहित हैं इनसे कोई विशेष क्रिया नहीं होती है, अतएव कहना चाहिये कि मन और पांचों इंद्रियोंको एकाग्र करनेवाला यह स्वाध्याय ही है। इसीमें सबकी एकाग्रता होजाती है ।

आगे स्वाध्यायका फल बतलाते हैं ।

अस्मात्तत्त्वपराभ्यासः प्रशमश्च विरागता ।
भवेत प्रभावनैकान्तवादिमानप्रमर्दनम् ॥ ९८ ॥

इस स्वाध्याय नामके तपके करनेसे यथार्थ तत्वोंका सर्वोत्कृष्ट अभ्यास हो जाता है, परिणामोंमें अत्यंत शांतता आजाती है तथा वैराग्य प्रगट हो जाता है, जैनधर्मकी प्रभावना होती है और एकांतवादियोंका मानमर्दन होता है । यह सब स्वाध्यायका फल है ॥ ९८ ॥ इसप्रकार स्वाध्यायका स्वरूप कहा ।

॥१७६॥

अब आगे व्युत्सर्गतपका स्वरूप कहते हैं ।

शरीरान्तर्बहिःसंगसंगव्युत्सर्जनं मुनेः ।
व्युत्सर्गः स्यात्समीचीनध्यानसंसिद्धिकारणम् ॥ ९९ ॥

अतरग तथा बहिरग परिग्रहोंका त्याग करना तथा शरीरसे ममत्वका त्याग करना मुनियोंका व्युत्सर्ग नामका तप कहलाता है । यह व्युत्सर्ग नामका तप उत्तम ध्यानकी उत्कृष्ट सिद्धिका कारण है ॥ ९९ ॥

आगे ध्यान नामके तपका स्वरूप कहते हैं ।

ध्यानं तपः परं चित्तैकार्थलीनप्रवर्तनम् ।
कीर्त्यतेऽन्तर्मुहूर्त्तावस्थानं स्वर्मोक्षसाधनम् ॥ १०० ॥

अतर्मुहूर्त पर्यंत अन्य समस्त चिंतवनोंको छोडकर अपने मनका किसी एक पदार्थमें लीन होकर प्रवृत्त होना ध्यान नामका उत्तम तप कहलाता है । यह ध्यान नामका तप स्वर्ग और मोक्षका साक्षात् कारण है ॥ १०० ॥

आगे विशेष तपकी महिमा दिखाते हैं ।

विशिष्टमिष्टं घटयत्युदारं दूरस्थितं वस्त्वतिदुर्लभं च ।
जैनं तपः किं बहुनोदितेन स्वर्गश्रियं चाक्षयमोक्षलक्ष्मीम् ॥ १०१ ॥

यह भगवान् जिनेंद्र देवका कहा हुआ तप बडा ही उदार है, सबसे उत्तम दाता है । क्योंकि इसी तपश्चरणके प्रभावसे जो औरोंको प्राप्त न हो सकें ऐसे विशेष और इष्ट पदार्थोंकी प्राप्ति होती है, अत्यत दूर रहनेवाले पदार्थोंकी प्राप्ति होती है और अत्यंत दुर्लभ पदार्थोंकी प्राप्ति होती है । बहुत कहांतक कहा जाय थोडेसेमें इतना समझलेना चाहिये कि स्वर्गकी लक्ष्मी और कभी न नाश होनेवाली मोक्षरूपी सर्वोत्तम लक्ष्मी इसी तपश्चरणके प्रभावसे प्राप्त होती है ॥ १०१ ॥

आगे अध्यायके अंतमें भगवान् मुनिसुव्रतको नमस्कार करते हैं ।

नमोऽस्तु तस्मै मुनिसुव्रताय साक्षात्कृतन्यक्षचराचरो यः ।
व्रतानि सत्त्वैकहितानि यस्य सन्ति क्रमप्रह्वजगत्त्रयस्य ॥ १०२ ॥

जो भगवान् मुनिसुव्रत स्वामी चर अचर समस्त पदार्थोंको प्रत्यक्ष देखते और जानते हैं जिनके धारण किए हुए वा कहे हुए व्रत समस्त जीवोंका हित करनेवाले हैं और तीनों लोक जिनके चरणकमलोंको नमस्कार करता है ऐसे श्री मुनिसुव्रत भगवान्के लिए मेरा बार बार नमस्कार हो ।

इसप्रकार श्री वीरनंदि सिद्धांतचक्रवर्तिविरचित श्रीआचारसार नामके
शास्त्रकी चावली (आगरा) निवासी, देहली प्रवासी 'धर्मरत्न'
लालारामशास्त्रीद्वारा निर्मित सरल हिंदी भाषाटीकामें
तपाचारके स्वरूपको वर्णन करनेवाला यह
छठा अधिकार समाप्त हुआ ।



॥१७८॥

॥ अथ सप्तमोऽधिकारः ॥

सद्वृत्तिः सुमतिः पतिस्त्रिजगतां नेता विमुक्तेः सृते-
र्यस्यात्यद्भुतचित्तशक्तिहुतभुग्ज्वालाकलापैरलम् ।
तन्मार्गानुगमार्गवन्धनमहासंघातिनिर्वन्धिनः
प्लुष्टा दुष्टपरीषहोद्भटभटाः सोऽयं जिनः पातु नः ॥ १ ॥

॥ अथ सातवां अधिकार ॥

जिनकी वृत्ति संसारमें सर्वोत्तम मानी जाती है, जो तीनों लोकोंके स्वामी है, जो मोक्ष-मार्गको प्राप्त करनेवाला हैं और जिनके हृदयकी अत्यंत अद्भुत शक्तिरूपी अग्निकी ज्वालाओंके समूहसे अपने मार्गके अनुकूल ऐसे मोक्षमार्गमें रुकावट डालनेकी कठिन प्रतिज्ञा करनेवाले दुष्ट परी-षहरूपी उद्भट योद्धा जला दिये गये ऐसे भगवान सुमतिनाथ तीर्थंकर परमदेव हम लोगोंकी रक्षा करें।

भावार्थ— जिनके ध्यानके प्रभावसे मोक्षमार्गमें रुकावट डालनेवाले समस्त परिषह नष्ट होगये ऐसे सुमतिनाथ भगवान् हम लोगोंकी रक्षा करें ॥ १ ॥

आगे उन बाईस परीषहोंके नाम कहते हैं ।

क्षुत्तृट्शीतमलोष्णदंशमशकेर्यारोगशय्यातृण-
स्पर्शक्लेशवधानलाभमरतिं निर्दर्शनं स्त्रीक्लमम् ।
प्रज्ञाऽज्ञानभवौ सनाग्न्यशयनान्सत्कारयाञ्चानिष-
द्योद्भूतांश्च परीषहान्विजयते यो वीर्यचर्यो यतिः ॥ २ ॥

क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, मल, दंशमशक, ईर्या अर्थात् गति, रोग, शय्या, तृणस्पर्श, वध, अलाभ, अरति, अदर्शन, स्त्री, प्रज्ञा, अज्ञान, नाग्न्य, आक्रोश, सत्कारपुरस्कार, याचना, निषद्या ये बाईस परिषह हैं । इन बाईसों परिषहोंको जो जीतते है वे मुनि वीर्याचारको पालन करनेवाले कहलाते है ॥ २ ॥

आगे क्षुधापरिषहजयका स्वरूप कहते हैं ।

क्षुत्तीक्ष्णानशनादिजाक्षनिकरं स्वज्ञेयवीक्षाक्षमं
स्वान्तं भ्रान्ततरं करोति वलवत्प्राणान्प्रयाणोन्मुखान् ।
याऽन्नाधीनजनेऽफलाऽतिसफला त्यागात्तपः पुष्टये
तस्या धृत्यमृताशनेन शमनं कुर्वन्व्रती क्षुज्जय ॥ ३ ॥

उपवास करनेसे वा आहारादिकके प्राप्त न होनेसे जो तीक्ष्ण क्षुधा उत्पन्न होती हे वह इंद्रियोंके समूहको अपने जानने योग्य पदार्थोंके जानने वा देखनेमें भी-अपने अपने विषय ग्रहण करनेमे भी असमर्थ कर देती हैं अर्थात् इंद्रियोंको अपने कामसे विमुख कर देती है । हृदयको अत्यत भ्रांत कर देती है, और अत्यत बलवान् प्राणोंको भी गमन करनेके सन्मुख (इस जीवको मरनेके सन्मुख) कर देती है । यह क्षुधा वा भूख अन्नके आधीन रहनेवाले मनुष्योंमे निष्फल होजाती है परतु जो अन्नादिकका त्याग कर देते है उनकी क्षुधा अत्यत सफल मानी जाती है । (अन्नके त्याग करदेनेसे प्रगट होनेवाली क्षुधासे अनेक पाप कर्मोंकी निर्जरा होती है ।) और इसी सफल होनेवाली क्षुधासे तपकी पुष्टि होती है तपश्चरण बढता हे । ऐसी इस क्षुधाको जो योगी व्रती धैर्यरूपी अमृतका भोजन कर शांत करते हैं वे ही इस क्षुधापरिषहको जीतनेवाले कहे जाते है ।

भावार्थ— इस क्षुधा परिषहको धैर्य धारण कर जीतना चाहिये ॥ ३ ॥

आगे तृषा परिषहको कहते हैं ।

चंडश्चंडकरः स्थलस्थिपतयः संचारिणः प्राणिनो
भ्रष्टप्लुष्टतनूंस्तनोति नितरां यस्मिंस्तपे तापने ।
तस्मिन् स्निग्धविरुद्धभोजनरुजाऽऽतापादिपुष्यत्तृषां
त्यक्ते निःस्पृहतामृतेन कृतधीर्मुष्णाति तृष्णाजयः ॥ ४ ॥

ग्रीष्म कालके अत्यत उष्ण समयमें अत्यत उष्ण वा तेज किरणोंको धारण करनेवाला सूर्य स्थलमें रहनेवाले प्राणियोंको भी भ्रष्ट कर देता है और उनके शरीरोंको जला देता है तथा मछली मगर, मत्स्य आदि जलचर जीवोंको भी भ्रष्ट कर उनके शरीरोंको खूब जला देता है । सूर्यकी तेजकिरणोसे जल अत्यंत उष्ण हो जाता है और उस उष्ण जलसे जलचर जीवोंके भी शरीर जल जाते हैं । ऐसे उस ग्रीष्म कालमें भी मुनियोंको कहीं चिकना भोजन मिलता है कहीं रूखा मिलता है और कहीं प्रकृतिके विरुद्ध भोजन मिलता है, जिससे उन मुनियोंकी प्यास खूब बढ जाती है, इसके सिवाय किसी रोगके कारण भी उनके दाह बढ जाती है जिससे खूब प्यास लगती है । परतु वे मुनिराज पानी पीनेका सर्वथा त्याग कर देते है और निस्पृहता अर्थात् खाने पीनेकी इच्छाका सर्वथा त्यागरूपी अमृतसे अपनी प्यास बुझाते है ऐसे वे पुण्यवान् पुरुष तृषा परिषहको जीतनेवाले कहे जाते है ॥ ४ ॥

प्रोत्कंपा हिमभीमशीतपवनस्पर्शप्रभिन्नांगिनो
यस्मिन्यान्त्यतिशीतखेदमवशाः प्रालेयकालेङ्गिनः ।
तस्मिन्नस्मरतः पुरा प्रियतमाश्लेषादिजातं सुखं
योगागारनिरस्तशीतविकृतेर्निर्वाससस्तज्जयः ॥ ५ ॥

जिस शीतकालमें समस्त प्राणी शीतसे अत्यंत कांपते रहते हैं, ओस,पाला वा बरफ आदिके पडनेसे जो भयानक शीत पवन चलती है उसके स्पर्शसे संसारी प्राणियोंके शरीर छिद्र भिद जाते

है । जिस शीतकालमें समस्त प्राणी विवश होकर शीतकी अत्यंत वेदनाको प्राप्त होते रहते हैं,
ऐसे उस कठिन शीतकालमें भी वे मुनिराज विना किसी प्रकारके वस्त्रोंके नग्न अवस्था धारण
किए हुए विराजमान रहते हैं पहले गृहस्थअवस्थामें सुंदर स्त्रियोंके आलिंगन करनेसे जो सुख
अनुभव किया था उसका भी वे कभी स्मरण नहीं करते, तथा अपने ध्यानरूपी घरमें निवास करते
हुए शीतकी वेदनाको दूर करते रहते हैं । ऐसे उन मुनिराजके शीत परिषहका जीतना कहा
जाता है ॥ ५ ॥

आगे मल परिषहको कहते हैं ।

प्राणाघातविभीतितस्तनुरतित्यागाच्च भोगास्पृहः
स्नानोद्धर्तनलेपनादिविगमात्प्रस्वेदपांस्वादितम् ।
लोकानिष्टमनिष्टमात्मवपुष· पामादिमूलं मलं
गात्रत्राणमिवादधाति वृजिनं जेतुं मलक्लेशजित ॥ ६ ॥

स्नान करनेसे अनेक प्राणियोंका घात होता है इसी डरसे जो कभी स्नान नहीं करते,
शरीरपर जो पसीना आनेपर धूल जम जाती है उसको नहीं धोते उसको लगी रहने देते हैं,
इसीप्रकार वे मुनिराज अपने शरीरसे ममत्वका सर्वथा त्याग कर देते हैं इसलिए भी जो अपने
शरीरपर जमे हुए पसीना, धूलि आदिको कभी नहीं धोते उसे ज्योंका त्यों लगा रहने देते
हैं, तथा वे मुनिराज भोगोंसे सर्वथा निस्पृह रहते हैं । इसलिए भी वे अपने शरीरपर जमे हुए
पसीना, धूलि आदिको कभी नहीं हटाते हैं, इसके सिवाय वे स्नान करना, उवटन लगाना, चंद-
नादिकका लेप करना आदि सवका त्याग कर देते हैं इसलिए भी वे अपने शरीरपर जमे हुए पसीना
धूलि आदिको नहीं हटाते हैं । इन सब कारणोंसे वे मुनिराज अपने शरीरपर जमे हुए पसीना,
धूलि आदिको नहीं हटाते है इसलिए उनके शरीरपर ऐसा मैल जम जाता है जो सर्वथा अनिष्ट

होता है देखनेवाले लोगोंको भी अनिष्ट जान पडता है और अपने शरीरके लिए भी खुजली आदि अनेक रोगोंको उत्पन्न करनेका कारण होता है। ऐसे मैलको वे मुनिराज पापोंको जीतनेके लिये शरीरकी रक्षा करनेवाले कवचके समान अपने शरीरपर ही धारण किये रहते हैं ऐसे वे मुनिराज मल परीषहको जीतनेवाले कहे जाते हैं ॥ ६ ॥

आगे उष्ण परिषहको कहते हैं।

ग्रीष्मे शुष्यदशेषदेहिनिकरे मार्तंडचंडांशुभिः
संतप्तात्मतनुस्तृपानशनरुक्क्लेशादिजातोष्णजम्।
शोषस्वेदविदाहखेदमवेशनासं पुराऽपि स्मरन्
तन्मुक्त्यै निजभावभावनरतिः स्यादुष्णजिष्णुर्व्रती ॥ ७ ॥

जिसमें समस्त प्राणियोंका समूह सूख जाता है ऐसे ग्रीष्म ऋतुमें सूर्यकी तेज किरणोंसे जिनका शरीर अत्यंत संतप्त होगया है ऐसे वे मुनिराज ऐसे समयमें भी प्यास, उपवास वा रोग आदि क्लेशोंसे जो उष्णता उत्पन्न हुई थी और उससे पहले किसी समयमें जो तालू सूख गया था, पसीनेकी विलक्षणतासे जो शरीरमें दाह उत्पन्न हुआ था वा और भी ऐसे ही दुःख विवश होकर सहन किये थे उन सबको स्मरण करते रहते हैं तथा मोक्ष प्राप्त करनेके लिए अपने शुद्धात्मस्वरूप भावोंकी भावनाओंमें लीन रहते हैं ऐसे वे व्रती मुनि उष्ण परीषहको जीतनेवाले गिने जाते हैं ॥ ७ ॥

आगे दंशमशक परिषहको कहते हैं।

शून्यागारदरीगुहादिशुचिनि स्थाने विविक्ते स्थित-
स्तीक्ष्णैर्मत्कुणकीटदंशमशकाद्यैश्चंडतुंडैः कृतां।
स्वांगार्तिं परदेहजार्त्तिमिव तां यो मन्यमानो मुनि-

॥१८३॥

निःसंगः स सुखी च दंशमशकक्लेशक्षमी तं नुमः ॥ ८ ॥

जो मुनिराज सूने मकान, कदरा वा गुफा आदि पवित्र और एकांत स्थानमें निवास करते है तथा वहांपर खटमल, कीडे, डांस, मच्छर आदि जीव अपने तीक्ष्ण और पैने मुखसे काटते है उससे उनके शरीरमें जो घोर दु:ख होता है उसे वे दूसरेके शरीरमें उत्पन्न हुए दु:खके ससान मानते हैं अर्थात् दूसरेके शरीरमें उत्पन्न हुए दुःखके समान वे उसे कुछ नहीं समझते। ऐसे समस्त परिग्रहोंसे रहित और पूर्ण सुखी ऐसे वे मुनिराज दशमशक परीषहको जीतनेवाले कहे जाते है। ऐसे मुनिराजोंको मै नमस्कार करता हूं।

आगे ईर्या अथवा गमन परिषहाको कहते हैं।

शार्दूलैर्मिलितेच्छभल्लभुजगाऽऽभोगे भयैकास्पदे
गन्धान्धाद्विरदोत्करे करिरिपुक्रीडैकनीडे वने।
स्वैरं कण्टककर्करादिपरुषेऽप्यत्राणपादश्चर-
न्नेकः सिंह इवार्तिभीतिविजयी व्रज्यार्तिजित्संयमी ॥ ९ ॥

जिस वनमें व्याघ्र भरे हुए हैं, रीछ और सर्प भरे हुए है, जो अत्यत भयका स्थान है, जिसमें कपोलोंसे वहनेवाले मदकी गधसे इधर उधर भ्रमते हुए हाथियोंके समूह भर रहे है और जिसमें क्रीडा करते हुए सिंहोंके अनेक घर वने हुए है तथा जो वन, कांटे, ककड, पत्थर आदि-कोंसे अत्यंत कठोर हो रहा है ऐसे वनमें अकेले विना जूता खडायूं आदि कुछ पहने हुए निर्भय सिंहके समान अपनी इच्छानुसार गमन करते है कौर उससे होनेवाले भय और दु:खोको जीतते है ऐसे वे संयमी मुनिराज गमन परीषह अर्थात् गमन करनेसे उत्पन्न होनेवाले दुःखोंको जीतनेवाले-विजय करनेवाले कहे जाते हैं ॥ ९ ॥

आगे रोग परिषहको कहते हैं।

कंडूयागलगंडपांडुदवथुग्रन्थिज्वरश्लीपद-
श्लेष्मोदुंबरकुष्ठपित्तपवनश्वासादिरोगार्दितः।
भिक्षुः क्षीणबलोऽपि भेषजसुहृन्मंत्रानपेक्षः क्षमी
दुःकर्मारिविनिर्मिताऽर्तिविजयी स्याद्व्याधिबाधाजयः ॥ १० ॥

जो मुनिराज खुजली, कठमाला, पांडु, दाहज्वर, ग्रंथिज्वर, पैरका रोग, कफ, उदंबर कोढ, पित्त, वायु और श्वास आदि अनेक रोगोसे दुःखी हैं, उन रोगोके कारण जो अत्यत क्षीण और निर्बल होगये है तथापि औषधि, मित्र, और मंत्र तत्रादिककी अपेक्षा कभी नहीं करते, जो सदा क्षमा धारण करते रहते है और कर्मरूप शत्रुओंके दिए हुए दुःखोंको सदा जीतते रहते है ऐसे मुनिराज रोग परिषहको जीतनेवाले गिने जाते है ॥ १० ॥

आगे शय्या परिषहको कहते हैं ।

झंझावातहतार्तकौशिकाशिवाफूत्कारघोरस्वरां
शंपाक्रूररदां स्फुरद्रुचितडिज्जिह्वां क्षपाराक्षसीम् ।
यो तं द्रागगमयत्यसौ शयनजातायासजिद्धीरधी—
र्ध्वान्तात्यन्तकरालभूधरदरीदेशे प्रसुप्तः क्षणम् ॥ ११ ॥

यह रात्रि और विशेषकर वर्षाऋतुकी रात्रि एक राक्षसीके समान है । जिसप्रकार राक्षसी घोर शब्द करती है उसीप्रकार वर्षाऋतुकी रात्रिमें भी वर्षाके साथ साथ बहनेवाली तीव्र वायुके झोकेसे अत्यंत दुःखी होनेवाले गीदड आदि पशुपक्षियोंके रोनेके घोर शब्द होते रहते है । जिस प्रकार राक्षसीके क्रूर दात होते हैं उसीप्रकार उस रात्रिरूपी राक्षसीके भी पडती हुई बिजलीके क्रूर दांत निकले हुए हैं, जिसप्रकार राक्षसीके जीभ सदा लहलहाट करती रहती है उसीप्रकार उस रात्रिरूपी राक्षसीकी दैदीप्यमान् चमकती हुई बिजलीरूपी जीभ सदा लहलहाट करती रहती है ।

ऐसी वर्षाऋतुकी विकराल रात्रियोंमें जो मुनिराज अंधकारसे अत्यंत भयानक ऐसी पर्वतोंकी गुफाओंके किसी भागमें क्षणभर सोते है और इसप्रकार वे धीर वीर मुनिराज उस भयानक रात्रिरूपी राक्ष-सीको बहुत शीघ्र विता देते है-भगा देते हैं। ऐसे वे मुनिराज सोनेमें उत्पन्न हुए दुःखोंके जीतनेवाले वा शय्यापरिषहको जीतनेवाले कहे जाते है ॥ ११ ॥

आगे तृणस्पर्शपरिषहको कहते हैं।

श्रान्तः सन् श्रुतभावनाऽनशनसद्ध्यानाऽध्वयानादिभिः
स्तोकं कालमतिश्रमापहतये शय्यानिषद्ये भजन् ।
शुद्धोर्वीतृणपत्रसंस्तरशिलापट्टेषु तत्पीडनो-
कंडूयादिसहो भवेदिह तृणस्पर्शक्षमी संयमी ॥ १२ ॥

श्रुतज्ञानकी भावना करना, अर्थात् शास्त्रोंका पठन पाठन करना, उपवास करना, उत्तम ध्यान धारण करना और मार्गमें गमन करना आदि अनेक कारणोंसे जो थक गये है, उस थका-वटको वा उससे उत्पन्न होनेवाले खेदको दूर करनेके लिए जो शुद्ध पृथ्वीपर वा घास पत्ते आदिके बने हुए सांथरे वा बिछोनेपर अथवा शिलापट्टपर थोडी देरतक बैठते हैं अथवा सोते हैं और उस बैठनेमें वा सोनेमें कांटे, ककड आदिसे जो पीडा उत्पन्न होती है अथवा खुजली आदिका जो दुःख होता है उसको जो सदा सहन करते रहते हैं ऐसे वे संयमी मुनिराज तृणस्पर्श परि-षहको जीतनेमें समर्थ वा तृणस्पर्श परिषहको जीतनेवाले गिने जाते है ॥ १२ ॥

आगे वधपरिषहको कहते हैं।

रुष्टैः पूर्वभवापकारकलनात्तज्जन्मवैरात्खलै-
र्म्लेच्छैर्निःकरुणैरकारणगुणद्वेषैश्च पापात्मकैः ।
देहच्छेदनभेदनादिविधिना यो मार्यमाणोऽप्यलं

॥१८६॥

देहात्मात्मविभेदवेदनभवक्षान्तिर्वधार्तिक्षमी ॥ १३ ॥

किसी भी तरह जो पूर्व भवके अपकारोंको जानकर अत्यंत क्रोधित हो रहे हैं ऐसे अनेक दुष्ट लोग और विना ही कारणके गुणोंसे दोष करनेवाले तथा करुणा रहित ऐसे महा पापी म्लेच्छ लोग मुनिराजके शरीरको छेद डालते हैं वा भेदन कर डालते हैं अथवा और किसी भी उपायसे उनको मार डालते हैं तथापि वे मुनिराज शरीर और 'आत्माके भेदज्ञानसे उत्पन्न हुई परम क्षमाको ही धारण करते हैं ऐसे वे मुनिराज वधसे उत्पन्न होनेवाले दुःखोंको सहन करनेमें समर्थ अथवा वध परिषहको सहन करनेवाले-विजय करनेवाले कहे जाते हैं ॥ १३ ॥

आगे अलाभपरिषहको कहते हैं ।

हंहो! देह! सहायतां तव समुद्दिश्यैव पोष्यो मया
पूर्तौ मत्तपसो गृहावलिमतो भ्रान्त्वाऽप्यनाप्तेऽशने ।
दोषः कोऽपि न विद्यते मम पुनर्लाभादलाभक्षमा
तां पूर्तिं प्रतनोत्यतः प्रियतमैवेत्यलाभक्षमा ॥ १४ ॥

हे शरीर मेरे तपश्चरणकी पूर्ति तेरी सहायतासे ही होती है इसीलिए मुझे तेरा पालन पोषण करना पडता है । तथा इसीलिए अर्थात् तेरे पालनपोषणके अर्थ तुझे भोजन देनेके लिये मैं अनेक घरोंमें घूमता हूं । फिर भी यदि मुझे भोजन प्राप्त नहीं होता तो फिर इसमें मेरा कोई दोष नहीं है । इसपर भी मैं भोजनकी प्राप्तिकी अपेक्षा उसकी प्राप्ति न होनेमें मैं क्षमा धारण करता रहता हूं और वह मेरी क्षमा तपश्चरणकी वृद्धिको पूर्ण करती रहती है । इसप्रकार विचार करते हुए वे मुनिराज अपनी प्यारी स्त्रीके समान इस अलाभ परिषहको जीतनेमें सदा समर्थ बने रहते हैं अर्थात् इस अलाभ परिषहको सदा जीतते रहते हैं ॥ १४ ॥

आगे अरतिपरिषहको कहते हैं ।

दुर्वारेन्द्रियवृन्दरोगानिकरक्रूरादिबाधोत्करैः
प्रोद्भूतामरतिं व्रतोत्करपरित्राणे गुणोत्पोषणे ।
मंक्षु क्षीणतरां करोत्यरतिजिद्वीरः स वंद्यः सतां
यो दंडत्रयदंडनाहितमतिः सत्यप्रतिज्ञो व्रती ॥ १५ ॥

जो मुनिराज अत्यंत धीर वीर है, सज्जनोंके द्वारा वंदना करने योग्य हैं, सत्यस्वरूप वा यथार्थ प्रतिज्ञाको धारण करनेवाले है, महाव्रती हैं और मन, वचन, कायको वशमें करनेके लिए जिन्होंने अपनी समस्त बुद्धि लगा रक्खी है ऐसे वे मुनिराज अपने व्रतोंके समूहकी रक्षा करनेके लिए अथवा गुणोंकी वृद्धि करनेके लिए जो किसी प्रकार भी निवारण न की जासकें ऐसी इंद्रियोंके द्वारा उत्पन्न हुई अरतिको अथवा रोगोंके समूहसे उत्पन्न हुई अरतिको वा क्रूर दुष्ट मनुष्योंके द्वारा उत्पन्न हुई अनेक बाधाओंसे प्रगट होनेवाली अरतिको बहुत शीघ्र नष्ट कर देते है। किसी भी कारणसे उनके मनमें अरति उत्पन्न नहीं होती ऐसे वे मुनिराज अरतिपरिषहको जीतने वाले माने जाते हैं ॥ १५ ॥

आगे अदर्शनपरिषहको कहते हैं ।

वर्ण्यन्ते बहवस्तपोऽतिशयजाः सप्तर्द्धिपूजादयः
प्राप्ताः पूर्वतपोधनैरिति वचोमात्रं तदद्यापि यत ।
तत्त्वज्ञस्य ममाऽपि तेषु न हि कोऽपीत्यार्त्तसंगोज्झिता
चेतोवृत्तिरदृक्परीषहजयः सम्यक्त्वसंशुद्धितः ॥ १६ ॥

"अनेक शास्त्रोंमें लिखा है कि इस संसारमें पहले बडे-२ तपस्वी होगये हैं उन तपस्वियोंको अपने घोर तपश्चरणके प्रतापसे—तपश्चरणके अतिशयसे सात प्रकारकी ऋद्धियां प्राप्त हुई हैं वा इंद्रादिक देवोंने भी आकर उनकी पूजा की है। परंतु शास्त्रोंमें लिखा हुआ यह वचन केवल

कहने मात्र है सत्य नहीं है। क्योंकि मै समस्त तत्त्वोंका जानकार हूं तथापि उन ऋद्धियोंमेंसे आजतक मुझे कोई ऋद्धि प्राप्त नहीं हुई है। यदि यह शास्त्रोंमें लिखा हुआ सत्य होता तो मेरे समान तत्त्वोंके जानकार तपस्वीको अवश्य ही कोई ऋद्धि प्राप्त होती,, इसप्रकारके आर्तध्यानसे जिनके हृदयकी प्रवृत्ति सर्वथा रहित है अथवा यों कहना चाहिये कि जिनका सम्यग्दर्शन इतना निर्मल और शुद्ध है कि जो उनके हृदयमें ऊपर लिखे हुए आर्तध्यानको कभी उत्पन्न नहीं होने देता। ऐसे वे मुनिराज अदर्शनपरिषहको जीतनेवाले कहे जाते हैं ॥ १६ ॥

आगे स्त्रीपरीषहको कहते हैं।

जेता चित्तभवस्त्रयस्य जगतां यासामपांगेषुभि-
स्ताभिर्मत्तनितंबिनीभिराभितः संलोभ्यमानोऽपि यः।
तत्फल्गुत्वमवेत्य नैति विकृतिं तं वर्य्यधैर्येन्दिरं
वन्दे स्त्र्यर्त्तिजयं जयन्तमखिलानर्थं कृतार्थं यतिम् ॥ १७ ॥

जिन स्त्रियोंके कटाक्षरूपी बाणोंसे ही कामदेवने तीनों लोक जीतलिए हैं ऐसी उन मदोन्मत्त स्त्रियोंके द्वारा जिनको चारों ओरसे अनेक प्रकारके लोभ दिये जा रहे है। हाव, भाव, कटाक्ष, नृत्य, गीत, वादित्र आदिके द्वारा अनेक स्त्रियां जिनको वशीभूत करना चाहती है ऐसे वे मुनिराज उन स्त्रियोंके समस्त हाव, भावादिकोंको व्यर्थ समझते हुए कभी भी विकारोंको प्राप्त नहीं होते तथा जो उत्तम धैर्यरूपी लक्ष्मीको सदा धारण किये रहते है जो समस्त अनर्थोंको जीतनेवाले हैं और कृतार्थ हैं ऐसे वे मुनिराज स्त्री परिषहको जीतनेवाले गिने जाते हैं ऐसे मुनिराजोंको मैं सदा वंदना करता हूं ॥ १८ ॥

आगे प्रज्ञापरीषहको कहते हैं

प्रत्यक्षाऽक्रमविश्ववस्तुविषयज्ञानात्मनः स्वात्मनो
गर्वः सर्वमतश्रुतज्ञ इति यः प्राप्ते परोक्षे श्रुते ।
सर्वस्मिन्नपि नो तनोति हृदये लज्जां स किं तामिति
प्रज्ञोत्कर्षमदापनोदनपरः प्रज्ञार्तिजित्तत्त्ववित् ॥ १८ ॥

यह आत्मा प्रत्यक्ष और क्रमरहित समस्त पदार्थोंको एकसाथ जाननेवाला केवलज्ञानमय है । तथापि पूर्ण मतिज्ञान और पूर्ण श्रुतज्ञानके प्राप्त होजानेपर "मैं पूर्ण मतिज्ञान और श्रुतज्ञानको जानता हूं" इसप्रकार जो मुनि अभिमान करता है वह क्या अपने हृदयमें अतिशय लज्जाको प्राप्त नहीं होता ?

भावार्थ-- आत्माका स्वरूप ही केवलज्ञानमय है । फिर उसके सामने मतिज्ञान श्रुतज्ञान कुछ भी नहीं है अतएव पूर्ण श्रुतज्ञानके प्राप्त होनेपर भी मुनिराज कभी अभिमान नहीं करते हैं । वे समझते है कि इस तुच्छ ज्ञानका अभिमान करना मिथ्या है क्योंकि यह आत्मा स्वयं केवलज्ञानमय है । इसप्रकार जो बुद्धिके उत्कृष्टपनेके मदको दूर करनेमें सदा तत्पर रहते हैं और आत्मा आदि समस्त तत्त्वोंके जानकर हैं ऐसे वे मुनिराज प्रज्ञापरिषहको जीतनेवाले कहे जाते हैं ।

आगे अज्ञानपरिषहको कहते हैं ।

ज्ञानध्यानरता मतिर्मम तपस्तीव्रं न चोत्पद्यते
ज्ञानं पूर्णमयं जडः पशुरिति श्रोतुं वचोऽहं क्षमः ।
नेत्यज्ञानपरीषहं स सहते प्रव्यक्तवस्तुस्थिति-
र्यः कार्यं भवति स्वहेतुयुगले सत्येव नेत्यन्यथा ॥ १९ ॥

मेरी बुद्धि, ज्ञान और ध्यानमें सदा लीन रहती है तथा मैं तपश्चरण भी सबसे अधिक करता हूं तथापि मुझे पूर्ण ज्ञान प्रगट नहीं होता । इसके सिवाय इतना ज्ञान, ध्यान और तप

॥१९०॥

करनेपर भी लोग मुझे "यह मूर्ख है, जड है, पशु है,, आदि शब्द कहते है और मै उन वचनोंको सुननेके लिये सदा तैयार रहता हू । इसप्रकार जो अपने मनमें कभी विचार नहीं करते क्योंकि वे मुनिराज पदार्थोंके यथार्थ स्वरूपको समझते है तथा वे यह भी जानते हैं कि संसारमें जितने कार्य होते हैं वे सब अपने अंतरग और बहिरंग दोनों कारणोंके मिलनेमे ही होते हैं । केवल बहिरंग कारणोसे ही नहीं होते । केवलज्ञानकी प्राप्ति भी कर्मोके नाश होनेमे होती है । केवल ध्यान वा तपसे नहीं होती इसप्रकार जानकर केवलज्ञानके न होनेपर भी जो ध्यान और तपको व्यर्थ नही बतलाते बल्कि कर्मोंके नाश करनेके लिए और अधिक ध्यान और तप करते है वे अज्ञानपरिषहको जीतनेवाले समझे जाते हैं ॥ १९ ॥

आगे नाग्न्यपरिषहको कहते हैं ।

भूषावेषविकारशस्त्रनिचयत्यागात्प्रशस्ताकृते-
र्बालस्येव मनोजजातविकृतिश्चिनस्य लज्जेति ताम् ।
हित्वा मातृसमानमेव सकलं कान्ताजनं पश्यतः
पूज्यो नाग्न्यपरीषहस्य विजयस्तत्त्वज्ञतासोदयः ॥ २० ॥

जिन मुनिराजने आभरण श्रृंगार, वस्त्र, शस्त्र आदि सबका त्याग कर दिया है इसीलिए जिनकी आकृति बालकके समान अत्यत प्रशंसनीय है- निर्विकार है, तथा कामदेवके प्रभावसे जो विकार वा हृदयमें लज्जा उत्पन्न होती है उसको छोडकर जो समस्त स्त्रीजनोंको अपनी माताके समान मानते है । ऐसे उन मुनिराजके नाग्न्य परिषहका विजय कहा जाता है । यह नाग्न्य परिषह अत्यंत पूज्य है और आत्मा तथा अन्य समस्त पदार्थोंके यथार्थ स्वरूपकी जानकारीके कारण ही उस विजयका उदय प्राप्त हुआ है ।

भावार्थ-- वे मुनिराज आत्माके यथार्थ स्वरूपको जानते है इसलिए नाग्न्यपरिषहको जीतकर संसारमें पूज्य माने जाते है ॥ २० ॥

॥१९१॥

आगे आक्रोशपरिषहको कहते हैं।

वर्णी कर्णहृदां विदारणकरान् क्रूराशयैः प्रेरिता-
नाक्रोशान् घनगर्जतर्जनखरान् शृण्वन्नशृण्वन्निव ।
शक्त्याऽत्युत्तमसंपदाऽपि सहितः शान्ताशयश्चिन्तयन्
यो बाल्यं खलसंकुलस्य शयनक्लेशक्षमी तं स्तुवे ॥ २१ ॥

जो मुनिराज पूर्ण ब्रह्मचारी हैं, तपश्चरणसे प्रगट होनेवाली आत्माकी शक्तियोंसे तथा ऋद्धि सिद्धिरूप उत्तम उत्तम संपदाओंसे सुशोभित हैं तथापि कर्ण और हृदयको विदीर्ण करनेवाले, तर्जना करते समय मेघोंकी गर्जनाके समान अत्यत कठोर ऐसे दुष्ट पुरुषोंके द्वारा कहे गये गाली गलौज आदि दुष्ट वचनोंको सुनते हुए भी न सुननेके समान निर्विकार रहते हैं, अपने हृदयको सदा शांत रखते हैं और गाली, गलौज वा दुष्ट वचन कहनेवालोंको बालक वा अज्ञानीके समान समझते हैं ऐसे वे मुनिराज आक्रोशपरिषहको जीतनेवाले कहे जाते हैं। ऐसे मुनिराजोंकी मैं वारवार स्तुति करता हूं ॥ २१ ॥

आगे सत्कारपुरस्कारपरिषहको कहते हैं।

ख्यातोऽहं तपसा श्रुतेन च पुरस्कारं प्रशंसां नतिं
भक्त्या मे न करोति कोऽपि यतिषु ज्येष्ठोऽहमेवेति यः ।
ग्लानिं मानकृतां न याति स मुनिः सत्कारजातार्तिजि-
द्दोषा मे न गुणा भवन्ति न गुणा दोषाः स्युरित्यन्यतः ॥ २२ ॥

"मैं तपश्चरण करनेमें सबसे अधिक प्रसिद्ध हूं तथा श्रुतज्ञान वा शास्त्रज्ञानमें भी मैं सबसे अधिक प्रसिद्ध हूं। इसके सिवाय मुनियोंमें भी मैं सबसे बडा मुनि हूं तथापि मेरा कोई आदर सत्कार नहीं करता, मेरी कोई प्रशंसा नहीं करता और न भक्तिपूर्वक मुझे नमस्कार करता

हैं।" इस प्रकार अभिमानसे उत्पन्न होनेवाली ग्लानिको जो कभी प्राप्त नहीं होते, जो सदा यही समझा करते हैं कि "दूसरोंके कहनेमे मेरे गुण न तो दोष हो सकते हैं और न मेरे दोष गुण होसकते हैं। मुझमे जो गुण है वे सदा गुण ही रहेंगे उनको चाहे कोई कहे या न कहे।" इसप्रकार चिंतवन करते हुए वे मुनिराज सत्कारपुरस्कार परिषहको जीतनेवाले गिने जाते हैं॥ २२॥

आगे याचनापरिषहको कहते हैं।

प्राज्यं राज्यमुदस्य शाश्वतपदप्राप्त्यै तपोबृंहणे
देहो हेतुरयं हि भुक्त्यनुगता चास्य स्थितिस्तत्कृतः।
भिक्षार्थे भ्रमणं ह्रियः पदमिदं यस्मान्महार्थास्पदा—
नीचैर्वृत्तिरनिन्दितेति विचरन् याञ्चाजयः स्यान्मुनिः ॥ २३ ॥

जो मुनिराज मोक्षपद प्राप्त करनेके लिए बडे भारी राज्यको छोडकर मुनिव्रत धारण करते है, वह मोक्षपदकी प्राप्ति तपश्चरणसे होती है, तपकी वृद्धि शरीरसे होती है, और शरीरकी स्थिति बराबर भोजन मिलनेसे होती है। अतएव भिक्षाके लिए-चर्याके लिए परिभ्रमण करना लज्जाका कारण कैसे हो सकता है? क्योंकि इसप्रकार चर्याके लिये परिभ्रमण करना मोक्षरूप परम पुरु-पुरुषार्थका स्थान है। इसप्रकार अनिंदनीय चर्यावृत्तिको धारण कर शरीरकी स्थितिके लिए आहार ग्रहण करना कभी किसीसे याचना न करना याचना परिषहका जीतना है। इसप्रकार चर्या करनेवाले वा कभी याचना न करनेवाले मुनिराज याचना परिषहको जीतनेवाले कहे जाते हैं॥ २३॥

आगे निषद्यापरिषहको कहते हैं।

सर्वाशाशमहान्धकारपुरुजाऽऽयामां त्रियामां यमी
योगैर्योगमयत्यवार्यमहिमाऽऽभोगैर्मुहूर्त्तं यथा।
क्षेत्रे स्त्रीजनपश्ववद्यरहिते ह्वये निषद्यास्थितः

सन्नत्युग्रनिशाचराप्रतिहतध्यानो निषद्याजयी ॥ २४ ॥

बडे बडे राक्षस भी जिनके ध्यानमें कभी किसी प्रकारका विघ्न नहीं कर सकते ऐसे मुनिराज स्त्रियोंसे रहित, पशुओंसे रहित तथा निंदनीय पापोंसे रहित ऐसे मनोहर क्षेत्रमें विराजमान होकर ऐसा उत्तम ध्यान धारण करते हैं जिसकी महिमाकी पूर्णता कभी निवारण नहीं की जा सकती । अर्थात् समस्त महिमाओंको समस्त ऋद्धि सिद्धियोंको पूर्ण करनेवाला ध्यान धारण करते हैं उस ध्यानके द्वारा वे संयमी मुनिराज जिसमें समस्त दिशाओंको भक्षण करनेवाला-ढक देनेवाला घोर अंधकार चारों ओर फैल रहा है-व्याप्त हो रहा है ऐसी बडी रात्रिको भी एक मुहूर्तके समान व्यतीत कर देते हैं अर्थात् रात्रिभर एक ही आसनसे बैठे हुए ध्यान धारण किया करते हैं ऐसे वे मुनिराज निषद्यापरिषहको जीतनेवाले कहे जाते हैं ॥ २४ ॥

आगे वीर्याचारका स्वरूप कहते हैं ।

देशं कालं स्वकीयं बलमपि नृपतिः सम्यगालोच्य यद्व-
च्छत्रुव्रातस्य जेता भवति यतिरपि स्वीयकर्मोदयेन ।
जातस्यास्यार्त्तिजातोद्भटभटकटकस्योरुधैर्यस्तथा यः-
सोऽयं स्याद्वर्यवीर्याचरणचणनुतो वीरलक्ष्मीनिवासः ॥ २५ ॥

जिसप्रकार धीर, वीर राजा देश और कालको देखकर तथा अपने बलको अच्छी तरह समझकर शत्रुओंके समूहको अच्छीतरह जीतलेता है उसीप्रकार जो धीर वीर मुनिराज देश, कालको देखकर और अपनी आत्मशक्तिको अच्छीतरह समझकर अपने कर्मोंके उदयसे उत्पन्न होनेवाली अनेक दुःखरूप-रोगादिक पीडारूप उत्कट योद्धाओंकी सेनाको अच्छीतरह जीतलेते हैं और जो सर्व-श्रेष्ठ वीर्याचारके पालन करनेमें (अपनी शक्ति प्रगट कर तपश्चरणादिक करनेमें) अत्यंत प्रवीण माने जाते हैं ऐसे वे मुनिराज मोक्षरूप वीर लक्ष्मीके निवासस्थान होते हैं ।

भावार्थ— ऊपर लिखी हुई बाईस परिषहोंको जीतकर जो मुनिराज वीर्याचारका पालन करते हैं वे भगवान् वीरनाथको प्राप्त होनेवाली मोक्षलक्ष्मीके पात्र अवश्य होते हैं ॥ २५ ॥

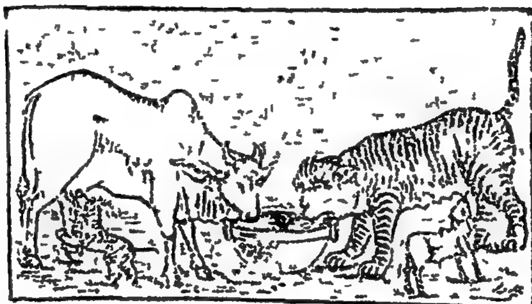
आगे अध्यायके अंतमें भगवान् कुंथुनाथकी स्तुति करते हैं ।

चक्रं विक्रममानमर्दनमुरुज्यां प्राज्यराज्यं च यः
कुन्थुर्ग्रन्थविरागतातिशयतस्त्यक्त्वात्मरूपाप्तये ।
तत्प्राप्तौ तु परं क्षमादिकमरं तद्धर्मचक्रं दध–
द्वंद्योऽभूद्भुवनत्रयस्य तदिदं चित्रं चरित्रं मुनेः ॥ २६ ॥

जिन भगवान् कुंथुनाथने बाह्य और अभ्यतर परिग्रहोंसे उत्पन्न होनेवाले अत्यंत वैराग्यके कारण तथा अपने शुद्ध आत्माके यथार्थ स्वरूपकी प्राप्तिके लिये अपने पराक्रमसे समस्त योद्धाओंका मानमर्दन करनेवाले चक्ररत्नका त्याग किया तथा इस छह खंडरूप पृथ्वीके विशाल राज्यका त्याग किया, और उस शुद्ध आत्माके यथार्थ स्वरूपको प्राप्त करनेके लिए उन्होंने उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव आदि धर्मस्वरूप आरोंको धारण करनेवाले धर्मचक्रको धारण किया और इसप्रकार धर्मचक्रको धारण कर वे तीनों लोकोंके द्वारा वंदनीय हुए ।

भावार्थ– चक्रवर्ती अवस्थामें उन्हें भरतक्षेत्रके राजा महाराजा ही नमस्कार करते थे परन्तु उस चक्ररत्नके त्याग करने और धर्मचक्र धारण करनेसे उन्हें तीनों लोक नमस्कार करने लगा । इससे सिद्ध होता है कि मुनियोंका चारित्र बडा ही आश्चर्य उत्पन्न करनेवाला है । ऐसे कुंथुनाथको मैं इस अध्यायके अंतमें नमस्कार करता हूं ॥ २६ ॥

इसप्रकार श्री वीरनंदि सिद्धांतचक्रवर्तिविरचित श्रीआचारसार नामके
शास्त्रकी चावली (आगरा) निवासी, देहली प्रवासी 'धर्मरत्न'
लालारामशास्त्रीद्वारा निर्मित सरल हिंदी भाषाटीकामें
वीर्याचारके स्वरूपको वर्णन करनेवाला यह
सातवा अधिकार समाप्त हुआ ।



॥ अथ अष्टमोऽधिकारः ॥

आगे अध्यायके प्रारंभमें भगवान पद्मप्रभको नमस्कार करते हैं ।

पद्मप्रभं कोकनदोदरप्रभं पद्माविनोदायतनं सनातनम् ।
सर्वात्मनीनोरुदयं महोदयं जिनेश्वरं नौमि विशुद्धधीश्वरम् ॥ १ ॥

॥ अथ आठवां अधिकार ॥

जिन भगवान् पद्मप्रभके शरीरकी कांति रक्तकमल वा लाल कमलके भीतरी भागकी प्रभाके समान है, जो भगवान् मोक्षरूपी लक्ष्मीके क्रीडा करनेके स्थान हैं, जो अनादि अनत हैं, जिनका उदय वा केवलज्ञानकी प्राप्ति समस्त जीवोंका कल्याण करनेवाली है, जिनका उदय वा अनतचतुष्टयरूप

॥१९६॥

अंतरग लक्ष्मी अथवा समवसरणादिक बहिरग लक्ष्मी सर्वोत्तम है, जो घातिया कर्मोंको नाश करनेवाले अरहंतोंके भी ईश्वर है तथा विशुद्ध वुद्धिको धारण करनेवाले गणधरोंके ईश्वर हैं ऐसे भगवान् पद्मप्रभको मैं नमस्कार करता हूं ॥ १ ॥

आगे पंचाचारोंकी विशुद्धिके लिए आठ प्रकारकी शुद्धियोंको कहते हैं ।

शुद्धयोऽष्टौ विधीयन्ते पंचाचारविशुद्धये ।
भूषा मनोहराऽऽकारस्याऽतिशोभाश्रिये न किम् ॥ २ ॥

क्या अत्यंत सुदर और मनोहर पुरुषके लिए भी सुदर वस्त्र व आभूषण पहनना उसकी शोभा बढानेके लिए नहीं होता ?

भावार्थ— जिस प्रकार वस्त्र आभूषणोंसे सुंदर मनुष्यकी भी शोभा बढजाती है उसीप्रकार शुद्धियोंसे पचाचारोंकी भी शोभा बढजाती है ॥ २ ॥

आगे शुद्धियोंके नाम कहते हैं ।

स्युर्भाववाक्यकायेर्याभिक्षाविनयसंश्रयाः ।
शयनाऽऽसनव्युत्सर्गगेते चेत्यष्टशुद्धयः ॥ ३ ॥

भावशुद्धि, वाक्यशुद्धि, कायशुद्धि, ईर्याशुद्धि, भिक्षाशुद्धि, विनयसंश्रयशुद्धि, शयनासनशुद्धि और व्युत्सर्गशुद्धि इसप्रकार ये आठ शुद्धियां कहलाती है ॥ ३ ॥

आगे भावशुद्धिका स्वरूप कहते हैं ।

सदाऽपेतप्रमादा या वाचनादिरता मतिः ।
शंकादिदृक्मलापेता मार्दवादिगुणान्विता ॥ ४ ॥
स्याद्भावशुद्धिराचारः सत्यामस्यां प्रवर्द्धते ।
यद्वद्दृसो विशुद्धोर्व्यां सम्यग्बीजव्रजस्तथा ॥ ५ ॥ युग्मम् ।

॥१९७॥

जो बुद्धि सदा प्रमाद रहित हो, शास्त्रोंके वाचने आदि स्वाध्यायमें लीन रहती हो। सम्यग्दर्शनके शंकादिक दोषोंसे सर्वथा रहित हो और मार्दव आदि गुणासे सुशोभित हो ऐसी बुद्धि होनेको भावशुद्धि कहते है। जिसप्रकार शुद्ध पृथ्वीमें बोया हुआ बीजोंका समूह खूब अच्छीतरह बढता है उसीप्रकार इस भावशुद्धिके होनेपर सम्यग्चारित्र खूब बढता है ॥ ४-५ ॥

आगे वाक्यशुद्धिका स्वरूप कहते हैं।

कन्या प्रदानयोग्येयं क्षेत्रादि लवनोचितम्।
प्रोत्खाताः परिखाः कूपवाप्यः शास्या दुरीहिताः ॥ ६ ॥
गीतवादित्रनृत्यानि हृद्यानीयं वरांगना।
भटेभमल्लयुद्धानि सुकृतानि वनं वरम् ॥ ७ ॥
रोग्यंधः पंगुरित्यादिव्यवहाराश्रिताप्रिया—
संयतोचितवाक्त्यागादेशकालसभोचिता ॥ ८ ॥
मृदुमधुरगंभीरा वाङ्मोक्षमार्गोपदेशना।
वाक्यशुद्धिर्गुणांभोधिविधुदीधितिरीरिता ॥ ९ ॥

यह कन्या देनेयोग्य है- विवाह करदेने योग्य है, यह खेत काटने योग्य है, यह खाई वा कूआ अथवा बावडी खोदने योग्य है, इसकी चेष्टा प्रशंसनीय है, इसकी चेष्टा दुष्टतामय है, यह गाना बजाना वा नृत्य मनोहर है, यह स्त्री अच्छी है, इन योद्धाओंका मल्लयुद्ध बहुत अच्छा है अथवा इन हाथियोंका युद्ध बहुत अच्छा है, यह वन बहुत अच्छा है, यह रोगी है, यह अंधा है, यह लगडा है, इसप्रकार व्यवहारको आश्रय करनेवाली अप्रिय और असंयमियोंके बोलने योग्य भाषाका त्याग कर देश, काल तथा सभाके योग्य, कोमल, मधुर, गंभीर और मोक्षमार्गका उपदेश देनेवाली भाषाका कहना वाक्यशुद्धि कहलाती हैं। जिसप्रकार चंद्रमाकी किरणोंसे समुद्र बढता है

उसीप्रकार इस वाक्यशुद्धिसे गुणोंका समुद्र सदा वृद्धिको प्राप्त होता रहता हैं ॥ ८-९ ॥

आगे कायशुद्धिका स्वरूप कहते हैं ।

विश्रंभोत्पादिका लोकस्याऽस्तसंस्कारसंहतिः ।
कायशुद्धिः क्षमामूर्तिभूतेवाऽऽभाति निस्पृहा ॥ १० ॥
विरागतालतोद्भूतिभूमिर्भीतिविवर्जिता ।
जातरूपमनोहारिण्येषा भूषा तपःश्रियः ॥ ११ ॥ युग्मम् ।

जो संसारमें विश्वास उत्पन्न करनेवाली है, जो संस्कारोंसे वा वेष, भूषा आदिसे सर्वथा रहित है, अत्यंत निस्पृह है, जो वैराग्यरूप लताको उत्पन्न करनेके लिए उत्तम भूमि है, भयसे सर्वथा रहित है जिसप्रकार निर्विकार और नग्नरूप उत्पन्न हुई थी उसीप्रकार विकारोंसे रहित नग्नरूप है, जो अत्यत मनोहर है तथा तपश्चरणरूप लक्ष्मीका आभूषण है ऐसी मूर्तिमान् क्षमाके समान जो शरीरकी शुद्धि है– शुद्ध–निर्विकार शरीरकी आकृति है उसको कायशुद्धि कहते हैं ॥१०-११॥

आगे ईर्याशुद्धिका स्वरूप कहते हैं ।

भयविस्मयविभ्रान्तिलीलाविक्रांतिलंघन– ।
प्रधावनाद्यपेतेर्यापथशुद्धिर्दयान्विता ॥ १२ ॥
समाहितप्रशान्ताङ्गा प्रलंबितकरा वरा ।
गतिश्चारित्रसंपत्तिहेतुर्नीतिरिव श्रियः ॥ १३ ॥

देख शोधकर ईर्यापथशुद्धिपूर्वक गमन करनेको ईर्यापथशुद्धि कहते हैं । उस ईर्यापथशुद्धि पूर्वक गमन करनेमें न तो कोई भय रहता है, न आश्चर्य रहता है, न किसी प्रकारकी भ्रांति रहती है न कोई लीला होसकती है और न कोई किसी प्रकारका विकार होता है । वह गमन दौडकर भी नहीं किया जा सकता । दयासे भरपूर रहता है, उस गमनमें चित्त समाधानपूर्वक

॥१९९॥

रहता है, अंग, उपांग सब शांत रहते हैं, दोनों हाथ लटकते हुए रहते हैं, वह गमन अत्यंत श्रेष्ठ होता है और लक्ष्मीके लिए नीतिके समान चारित्ररूप संपदाओंका कारण होता है। इसप्रकार प्राणियोंकी रक्षा करते हुए जो गमन करना है उसको ईर्यापथशुद्धि कहते हैं ॥ १२-१३ ॥

आगे भिक्षाशुद्धिका स्वरूप कहते हैं।

आरंभः प्राणिनः प्राणव्यपरोप उपद्रवः।
उपद्रवणमंगच्छेदादिर्विद्रावणं मतम् ॥ १४ ॥
संतापकरणं तस्य परितापनमेतकैः।
चतुर्भिरन्नं निष्पन्नमधःकर्मातिनिन्दितम् ॥ युग्मम्।

अधःकर्म आदि दोषोंसे रहित शुद्ध अनुद्दिष्ट आहार ग्रहण करना भिक्षाशुद्धि है। उनमेंसे अधःकर्म दोषका स्वरूप इसप्रकार है– प्राणियोंके प्राणोंका नाश करना, उनको पीडा पहुचाना आरंभ कहलाता है, प्राणियोंको उपद्रव करना, किसी प्रकारका दुःख पहुंचाना उपद्रव है, उन प्राणियोंके अंग उपांग काटना, छेदना आदि विद्रावण कहलाता है और उन प्राणियोंको संताप पहुचाना परितापन कहाजाता है। आरंभ, उपद्रव, विद्रावण और परितापन इन चारोंके द्वारा जो अन्न उत्पन्न होता है वह अत्यंत निंदनीय ऐसा अधःकर्मदोष कहलाता है ॥ १४-१५ ॥

वाक्चित्तकायकारितकृतानुमतकर्मणा।
नवभेदं तदेतेन कर्मणा परिवर्जिता ॥ १६ ॥
योद्गमोत्पादनैषणैर्दोषैः संयोजनेन च।
प्रमाणांगारधूमाख्यैर्व्यपेता कारणान्विता ॥ १७ ॥
एषणासमितिप्रोक्तक्रमाशाशनसेवना।
भिक्षाशुद्धिर्गुणव्रातरक्षादक्षा स्मृता नुता ॥ १८ ॥ त्रिकम्।

इस अधःकर्म दोषके नौ भेद हैं- वचनसे करना, वचनसे कराना, वचनसे अनुमोदना करना, मनसे करना, मनसे कराना, मनसे अनुमोदना करना, कायसे करना, कायसे कराना और कायसे अनुमोदना करना इसप्रकार अधःकर्मदोष इन नौ प्रकारसे होता है, इन नौ प्रकारके अधःकर्मदोषोंसे रहित, तथा उद्गम दोष सोलह, उत्पादन दोष सोलह, एषणा दोष दश, संयोजन एक, प्रमाण एक, अंगार एक, धूम एक इसप्रकार छयालीस दोषोंसे रहित, क्षुधा, शांति आदि छह कारणों सहित, शास्त्रोंमें लिखे हुए क्रमसे प्राप्त हुए (नवधा भक्तिपूर्वक प्राप्त हुए) आहारका ग्रहण करना एषणा समिति है । यह एषणा समिति गुणोंके समूहकी रक्षा करनेमें चतुर है और सबके द्वारा नमस्कार करने योग्य है। ऐसी इस एषणा समितिको ही भिक्षाशुद्धि कहते हैं ॥ १६-१८ ॥

आगे सोलह उद्गम दोषोंके नाम कहते हैं ।

उद्दिष्टाध्यवधिपूतीमिश्राणि स्थापितं बलिः ।
प्राभृतं च प्राविःकृतं क्रीतप्रामुष्यसंज्ञकौ ॥ १९ ॥
परिवृतश्चाभिहितं दोष उद्भिन्ननामकः ।
मालिकाऽऽरोहणाच्छेद्या निसृष्टानीति चोद्गमाः ॥ २० ॥ युग्मम ।

उद्दिष्ट, अध्यवधि, पूति, मिश्र, स्थापित, बलि, प्राभृत, प्राविष्कृत, क्रीत, प्रामृष्य, परिवृत अभिहित, उद्भिन्न, मालिकारोहण, आच्छेद्य और अनिसृत, इसप्रकार ये सोलह उद्गम दोष कहलाते हैं ॥ १९-२० ॥

आगे अनुक्रमसे इन्हींका वर्णन करते हैं ।

यत्स्वमुद्दिश्य निष्पन्नमन्नमुद्दिष्टमुच्यते ।
अथवा यमिपाखंडिदुर्बलानखिलानपि ॥ २१ ॥

जो खास अपने लिए अपना नाम लेकर बनाया हुआ भोजन है उसको उद्दिष्ट कहते हैं ।

अथवा समस्त यमी, पाखडी और दुर्बलोंके लिए बनाये हुए भोजनको भी उद्दिष्ट कहते हैं ॥२१॥

प्रगता यस्मादसवस्तस्यात्प्रासुकमित्यलम् ।
सिद्धमप्यन्नमात्मार्थं कृतं सेव्यं न संयतैः ॥ २२ ॥

जिस भोजनमेंसे समस्त प्राणी निकल गये हों जो भोजन प्राणियोंसे सर्वथा रहित हो उसको प्रासुक कहते है। जो खास अपने लिए अपना नाम लेकर बनाया हुआ प्रासुक और शुद्ध भोजन भी हो, तो भी संयमी मुनियोंको कभी नहीं लेना चाहिये ॥ २२ ॥

मत्स्यार्थं वा कृते मत्स्या माद्यन्ति मदनोदके ।
नो दर्दुरास्तथा भिक्षुर्दोष्युद्दिष्टान्नसेवकः ॥ २३ ॥

जिसप्रकार मछलियोंके लिए बनाये हुए मद वा नशा उत्पन्न करनेवाले जलसे मछलियोंको ही मद वा नशा उत्पन्न होता है उस जलसे मेढकोंको कभी मद वा नशा उत्पन्न नहीं होता उसीप्रकार उद्दिष्ट अन्नके ग्रहण करनेसे उसी मुनिको दोष लगता है कि जिसके लिए वह अन्न बनाया गया। उस अन्नके ग्रहण करनेमे अन्य मुनियोंको दोष नहीं लगता ॥२३॥

आगे अध्यवधि दोषको कहते हैं ।

तंडुलांव्वधिकक्षेपः स्वार्थं पाके यतीन्प्रति ।
स्यादध्यवधिरोधो वा पाकान्तं तत्तपस्विनाम् ॥ २४ ॥

अपने निजके लिए बनाये हुए भातमें मुनियोंको आते हुए देखकर अपने निजके लिए बनाये हुए भातमें और अधिक चावल, पानी मिलादेना अध्यवधि दोष है। अथवा भोजन तो तैयार न हुआ हो और मुनिराज आगये हों, उस समय उन मुनियोंको किसी भी कारणसे भोजन बनने तक रोक रखना भी अध्यवधि दोष कहलाता है ॥ २४ ॥

आगे पूति और मिश्र दोषको कहते हैं ।

पूति प्रासुकपात्रादि मिश्रमप्रासुकेन यत ।
मिश्रसंगे हि पाखंडियातिभ्यो यद्वितीर्यते ॥ २५ ॥

जो भोजन पहले प्रासुक पात्रमें था फिर उसको अप्रासुक पात्रमें रखदेना पूति नामका दोष कहलाता है इसीप्रकार जो भोजन अन्य गृहस्थियोंके लिए वा पाखंडी यतियोंके लिए दिया जाता है उसी भोजनको मुनियोंके लिए देना मिश्र नामका दोष कहलाता है ॥ २५ ॥

आगे स्थापितदोषको कहते हैं ।

स्वगृहेऽन्यगृहे वा यत् स्थापितं पाकभाजनात् ।
अन्यास्मिन् भाजनेऽन्नादि निक्षिप्य स्थापितं मतम् ॥ २६ ॥

भोजन बनानेके पात्रमेंसे लेकर किसी दूसरे पात्रमें रखकर अपने घरमें अलग रखलेना अथवा किसी दूसरे घरमें रखदेना स्थापित नामका दोष कहलाता है ।

भावार्थ— जिस पात्रमें भोजन बना है उसमेंसे थोडासा निकालकर मुनियोंके लिये अलग रखलेना अथवा किसी दूसरे घरमें लेजाना स्थापित नामका दोष कहलाता है ॥२६॥

आगे वलिदोषको कहते हैं ।

यक्षादेर्वलिदानावशिष्टाहारो वलिर्मतः ।
संयतागमनार्थं वा करणं वलिकर्मणः ॥२७॥

यक्षादिकके लिए वलि देकर (नैवेद्य देकर) उसमेंसे बचा हुआ आहार मुनियोंके लिए देना वलि नामका दोष है । अथवा आहारके लिए हमारे घर सयमी मुनि पधारें, इसके लिए ग्रहोंका पूजन करना भी वलिकर्म दोष कहलाता है ॥ २७ ॥

आगे प्राभृत दोषको कहते हैं ।

वेलादिवसमासर्तुवर्षादिनियमेन यत् ।
यतिभ्यो दीयमानान्नं प्राभृतं परिकीर्तितम् ॥ २८ ॥

"हम मुनियोंको अमुक समयपर आहार देंगे, उस दिन आहार देंगे, उस महीनेमें आहार देंगे, उस ऋतुमें आहार देंगे अथवा उस वर्षमें आहार देंगे" इस प्रकार नियमपूर्वक जो मुनियोंको आहार देना है उसको प्राभृत नामका दोष कहते हैं ॥ २८ ॥

आगे प्राविष्कृत दोषको कहते हैं ।

गेहप्रकाशकरणं यत्प्राविष्कृतमीरितम् ।
संस्कारो भाजनादीनां वा स्थानान्तरधारणम् ॥ २९ ॥

अपने घरको प्रकाशित करना, (सफेदी आदि करना) सब बर्तनोंको धो मांजकर रखना अथवा भोजनको एक स्थानसे उठाकर अन्य स्थानमें स्थापन करना सो प्राविष्कृत नामका दोष है ।

आगे क्रीत और प्रामृष्य दोषको कहते हैं ।

विद्याद्रव्यादिभिः क्रीतं क्रीतं प्रामृष्यमिष्यते ।
स्तोकर्णं वृद्ध्यवृद्धिभ्यां यतिदानार्थमर्जितम् ॥ ३० ॥

विद्या देकर अथवा द्रव्य देकर खरीदा हुआ आहार मुनियोंको देना क्रीत नामका दोष कहलाता है । तथा मुनियोंको देनेके लिए थोडासा उधार लेना और उसके बदले अधिक देनेकी प्रतिज्ञा करना सो प्रामृष्य नामका दोष कहलाता है ॥ ३० ॥

आगे परिवर्तन दोषको कहते हैं ।

व्रीहिकूरादिभिः शालिकूरादेः परिवर्त्तनम् ।
यद्दास्यामीति यतये परिवर्त्तः प्रकीर्तितः ॥ ३१ ॥

"मैं मुनियोंके लिए आहार दूंगा इसलिए इन शालि वा साठी—कठोर चावलोंके बदले

(साठी धानोंके वदले) व्रीहि नामके कलम-नरम धान देदो ,, इसप्रकार साठी चावलोंके बदले व्रीहि आदि अच्छे कलमी चावल लेना परिवर्तन नामका दोष है ॥ २१ ॥

आगे अभिहित दोषको कहते हैं ।

स्यादायातमभिहतं ग्रामवारगृहान्तरात् ।
योग्यमृजुसमासन्नाऽऽसप्तमाद्गृहतो यदि ॥ ३२ ॥

एक ही पंक्तिमें अथवा समीपवर्ती सात घरोंको छोडकर गांवसे, दूसरे मार्गसे वा अन्य घरोंमे आये हुए भोजनको देना अभिहित नामका दोष है ।

भावार्थ— एक पंक्तिमें रहनेवाले अथवा समीपवर्ती सात घरोंतकसे आये हुए प्रासुक शुद्ध आहार देनेमें तो कोई दोष नहीं है परतु जो प्रासुक और शुद्ध आहार भी दूसरे गांवसे आया हो, दूसरे मार्गसे आया हो, वा दूरके घरसे आया हो उसे देना अभिहित नामका दोष है ॥ ३२ ॥

आगे उद्भिन्न और मालारोहण नामके दोषको कहते हैं ।

विमुद्रादिकमुद्भिन्नं मालिकाऽऽरोहणं मतम् ।
मालिकादिसमारोहणेनानीतं घृतादिकम् ॥ ३३ ॥

जिस किसी पदार्थपर मुहर लगी हो उस मुहरको तोडकर खोलकर उसमेंसे आहार देना उद्भिन्न नामका दोष है । तथा नसेनी वा सीढी आदि चढकर घी, बूरा आदि पदार्थोंको लाकर आहार देना सो मालारोहण नामका दोष है ॥ ३३ ॥

आगे आच्छेद्य और अनिःसृत दोषको कहते हैं ।

नृपतस्करभीत्यादेर्दत्तमाच्छेद्यमुच्यते ।
अनिसृष्टमीशानीशाऽनभिमत्या यदर्प्यते ॥ ३४ ॥

जो राजा अथवा चोरके डरसे आहार दिया जाता है उसको आच्छेद्य दोष कहते हैं तथा

॥२०५॥

स्वामी वा सेवकोंकी अनुमतिके विरुद्ध होकर आहार देना अनिःसृत नामका दोष है ॥ ३४ ॥ इस प्रकार उद्गमके सोलह दोषोंका निरूपण किया।

अब आगे उत्पादनके सोलह दोष कहते हैं।

धात्रीदूतभिषग्वृत्तिनिमित्तेच्छाविभाषणम् ।
पूर्वं पश्चात्स्तुतिः क्रोधचतुष्कं वश्यकर्म च ॥ ३५ ॥
स्वगुणस्तवनं विद्यामंत्रचूर्णोपजीवनम् ।
चेत्येते षोडशोत्पादनाख्या दोषा विभाषिताः ॥ ३६ ॥

धात्री, दूत, भिषग्वृत्ति, निमित्त, इच्छाविभाषण, पूर्वस्तुति, पश्चात्स्तुति, क्रोध, मान, माया, लोभ, वश्यकर्म, स्वगुणस्तवन, विद्या, मंत्र, और चूर्ण इनके द्वारा आहार ग्रहण करना सो उत्पादनके सोलह दोष गिने जाते हैं। आगे क्रमसे इन्हींका वर्णन करते हैं ॥ ३५, ३६ ॥

आगे धात्री और दूत इन दोनों दोषोंको कहते हैं।

बाललालनशिक्षादिर्धात्रीत्वं दूतता मता ।
दूरबन्धुजनानां वार्त्तयनानयनक्रिया ॥ ३७ ॥

बालकोंके लालन, पालन करनेकी, दूध पिलानेकी, स्नान करानेकी, काजल देनेकी वा शृंगार करानेकी शिक्षा देकर आहार ग्रहण करना धात्री नामका दोष कहा जाता है। तथा दूर रहनेवाले भाई, बंधुओंके समाचार लाकर और पहुंचाकर आहार ग्रहण करना दूत नामका दोष कहलाता है।

आगे भिषग्वृत्ति दोषको कहते हैं।

गजाऽश्वजांगुलीबालवैद्याद्यैर्नीचवृत्तिभिः ।
भिषग्वृत्तिर्मता तादृगन्यैरप्यशनाऽर्जनम् ॥ ३८ ॥

हाथियोंकी चिकित्सा करना, घोड़ोंकी चिकित्सा करना, विषका प्रयोग बताना, वा बच्चोंकी

चिकित्सा करना आदि नीच वृत्ति धारण कर अथवा और भी ऐसी ही वृत्ति धारण कर आहार ग्रहण करना भिषग्वृत्ति नामका दोष है ॥ ३८ ॥

आगे निमित्तदोषको कहते हैं ।

स्वरान्तारिक्षभौमांगव्यंजनच्छिन्नलक्षण—
स्वप्नाष्टांगनिमित्तैर्यन्निमित्तमशनार्जनम् ॥ ३९ ॥

स्वर देखकर शुभाशुभ कहना स्वरनिमित्तज्ञान है, सूर्य, चंद्रमा, नक्षत्र आदिके गमन करनेसे उदय अस्त होनेसे शुभाशुभ कहना सो अंतरिक्षनिमित्तज्ञान है, भूमिके कंपनेसे, वा भूमिके विशेष चिन्होंको देखकर शुभाशुभ कहना भौमनामका निमित्तज्ञान है । शरीरको देखकर अथवा शरीरकी हीनाधिकताको देखकर लाभ, अलाभ वा शुभ, अशुभ कहना अंगनामका निमित्तज्ञान है। तिल, मस्सा आदि व्यंजनोंको देखकर शुभ, अशुभ कहना लाभ, अलाभ बतलाना व्यंजन नामका निमित्तज्ञान है । चूहोंके द्वारा वा गिलहरियोंके द्वारा वस्त्रोंके काटने आदिको देखकर शुभाशुभ कहना छिन्न नामका निमित्तज्ञान है । हाथ, पैरके साथिया जौ आदिके चिन्होंको देखकर शुभाशुभ कहना लक्षणनामका निमित्तज्ञान है और स्वप्नोंको सुनकर उनका शुभाशुभ फल कहना स्वप्ननामका निमित्तज्ञान है । इसप्रकार आठ प्रकारके निमित्तोंमेंसे किसी भी निमित्तके द्वारा किसी भी निमित्तको कहकर आहार ग्रहण करना निमित्तनामका दोष कहलाता है ॥ ३९ ॥

आगे इच्छाविभाषण दोषको कहते हैं ।

दीनाद्यन्नाद्यदानेन पुण्यं ननु भवेदिति ।
पृष्टेऽभ्युपगमोऽन्नार्थं भवेदिच्छाविभाषणम् ॥ ४० ॥

दाताकी इच्छाके अनुकूल वचन कहना इच्छाविभाषण है । जैसे किसी दाताने पूछा कि दीन वा अनाथोंको वा दिगम्बर मुनियोंके अतिरिक्त दूसरे साधुओंको अन्नादिक देनेमें पुण्य ही होता है । इसके

उत्तरमें केवल आहार ग्रहण करनेकी लालसासे उसकी इच्छाके अनुकूल कहदेना कि "हां पुण्य हो होता है," इसप्रकार कहकर आहार ग्रहण करना इच्छाविभाषण नामका दोष है ॥ ४० ॥

आगे पूर्वस्तुति तथा पश्चात्स्तुतिको कहते हैं ।

दाता ख्यातस्त्वमित्याद्यैर्यद्दृष्टानन्दनन्दनम् ।
पूर्वं पश्चाच्च भुक्तेस्तत्पूर्वं पश्चात्स्तवद्वयम् ॥ ४१॥

"तू संसारमें प्रसिद्ध दानी है तथा समस्त गृहस्थोंको आनंद उत्पन्न करनेवाला है," इस प्रकार पहले उस दाताकी स्तुतिकर आहार ग्रहण करना पूर्वस्तुति नामका दोष है । तथा आहार ग्रहण करनेके पीछे स्तुति करना और कहना कि तुमने बहुत अच्छा भोजन दिया ऐसा भोजन और कोई नहीं देसकता । तुम्हारे दानी होनेकी कीर्ति प्रसिद्ध है," आदि भोजनके पीछे स्तुति करना पश्चात्स्तुतिनामका दोष है ॥ ४१ ॥

आगे क्रोध, मान, माया, लोभ और वश्यकर्म दोष दिखलाते हैं ।

क्रोधाद्यन्नार्जनं क्रोधचतुष्कं वश्यकर्म यत् ।
वश्यकृन्मंत्रतंत्रादिदेशनेनाशनार्जनम् ॥ ४२ ॥

क्रोध प्रगट कर आहार ग्रहण करना क्रोध नामका दोष है । अभिमान दिखलाकर आहार ग्रहण करना माननामका दोष है । मायाचारीसे भोजन करना माया नामका दोष है । लोभसे भोजन करना लोभनामका दोष है । तथा मंत्र, तंत्र आदिका उपदेश देकर आहार ग्रहण करना वश्यकर्मनामका दोष कहाजाता है । ॥४२॥

आगे स्वगुणस्तव और विद्या दोषको कहते हैं ।

स्वतपः श्रुतजात्यादिवर्णनं स्वगुणस्तवः ।
विद्यागः सिद्धविद्यादिप्रभावादिप्रदर्शनम् ॥ ४३ ॥

अपने तपकी महिमा कहकर, श्रुतज्ञानकी महिमा कहकर वा अपनी जातिकी उच्चता बतलाकर आहार ग्रहण करना स्वगुणस्तवनामका दोप है। तथा जप होमादिकके द्वारा सिद्ध हुई विद्याओंका प्रभाव दिखलाकर आहार ग्रहण करना सो विद्यानामका दोप समझना चाहिये ॥ ४३ ॥

आगे मंत्र और चूर्ण दोषको कहते हैं।

पाठसिद्धादिमंत्राणामङ्गशृंगारकारिणः।
चूर्णादेर्देशने स्यातां मंत्रचूर्णोपजीवने ॥ ४४ ॥

पाठ करनेमात्रसे सिद्ध होनेवाले मंत्रोंको दिखलाकर आहार ग्रहण करना मत्रनामका दोप है। तथा शरीरको शृंगार करनेवाले चूर्ण आदि (सुगंधित चूर्ण, लेप आदि) बतलाकर आहार ग्रहण करना सो चूर्णनामका दोप है ॥ ४४ ॥ इसप्रकार ये सोलह उत्पादनके दोप मुनिके आधीन होते हैं तथा पहले कहे हुए उद्गमादि सोलह दोप दाताके आधीन होते हैं। इसप्रकार बत्तीस दोप बतलाये।

अब आगे एषणासमितिके दश दोष कहते हैं।

दोषाः शंकितम्रक्षिते निक्षिप्तं पिहितोज्झिते।
व्यपहारो दातृमिश्रापक्वलिप्ता दशैषणाः ॥ ४५ ॥

शंकित, म्रक्षित, निक्षिप्त, पिहित, उज्झित, व्यपहार, दातृ, मिश्र अपक्व और लिप्त ये दश एषणासमितिके दोप हैं ॥ ४५ ॥

अब आगे अनुक्रमसे इन सबको कहते हैं।

शंकितं शंकितं सेव्यमेतदन्नं न वेति यत।
सस्नेहहस्तपात्रादिदत्तं यन्म्रक्षितं मतम् ॥४६॥

" यह अन्न ग्रहण करने योग्य है अथवा नहीं ,, इसप्रकार शका रखते हुए उस आहारको

ग्रहण करलेना शंकितनामका दोष है। तथा चिकने हाथोंसे वा चिकने पात्रमें रक्खा हुआ भोजन ग्रहण करना म्रक्षितनामका दूसरा दोष है ॥ ४६ ॥

आगे निक्षिप्त और पिहित दोषको कहते हैं।

सचित्तपद्मपत्रादौ क्षिप्तं निक्षिप्तसंज्ञितम्।
सचित्तेनाब्जपत्रादिना वृतं पिहिताशनम् ॥ ४७ ॥

कमलके पत्ते आदि सचित्त पदार्थपर रक्खे हुए भोजनको देना वा ग्रहण करना निक्षिप्त नामका दोष है। इसीप्रकार कमलके पत्ते आदि सचित्त पदार्थोंसे ढके हुए भोजनको देना वा ग्रहण करना पिहितनामका दोष है ॥ ४७ ॥

आगे उज्झित दोषको कहते हैं।

स्यादुज्झितं बहु त्यक्त्वा यच्चूताद्यल्पमेवनम्।
पानादि दीयमानं वाऽनल्पेन गलनेन तत् ॥ ४८ ॥

बहुतसे भोजनको छोडकर आमका रस आदि थोडी सामग्रीको ग्रहण करना उज्झित नामका दोष है। अथवा छाछ, पानी वा दूध आदि जो आहारमें दिया जा रहा है उसमेंसे बहुतसा भाग टपक रहा हो, थोडा ग्रहण किया जाता हो तो भी उज्झितनामका दोष आता है (अपने दोनो हाथोंको अलग कर आहार ग्रहण करना भी उज्झित दोष है। अथवा अनिष्टको छोडकर इष्ट भोजनका ग्रहण करना भी उज्झितनामका दोष है) ॥ ४८ ॥

आगे व्यपहार दोषको कहते हैं।

यत्स्यर्थं संभ्रमाच्चेलपात्रादेरसमीक्ष्य यत्।
समाकर्षणमाम्नातं व्यपहार इति स्मृते ॥ ४९ ॥

मुनियोंको आहार देनेके लिए किसी भयसे वा हर्षसे वा जल्दीमें विना देखे शोधे किसी

वस्त्रको वा किसी पात्रको अपनी ओर खींचकर आहार देना शास्त्रोंमें व्यपहारनामका दोप कहा जाता है ॥ ४९ ॥

आगे दातृदोपको कहते हैं ।

नग्नः शौण्डः पिशाचोऽन्धः पतितो मृतकानुगः ।
तीव्ररोगी व्रणी लिंगी नीचोच्चस्थानसंस्थितः ॥ ५० ॥
आसन्नगर्भिणी वेश्या दास्यन्तरिताऽशुचिः ।
भक्षयन्ति किमप्येवमाद्या दोषास्तु दातृगाः ॥ ५१ ॥ युग्मम् ।

जो नग्न हो, मद्य आदि नशीली चीजोंका सेवन करता हो वा जुआरी हो, जिसको वायुका रोग हो वा भूत पिशाचसे जकडा हुआ हो, जो अंधा हो, जो पतित हो, जो मृतकको (मुरदेको) श्मशानभूमिमें रखकर आया हो- मुरदतीमें गया हो, मृगी आदि तीव्र रोगोंसे पीडित हो, जिसके शरीरमें घाव हो, यति, आर्यिका आदि किसी लिंगको धारण करनेवाला हो, व रक्ताम्बर, श्वेताम्बर आदि किसी लिंगको धारण करनेवाला हो, जो किसी ऊंचे वा नीचे स्थानपर खडा हो, जिसके प्रसूति समीप हो- थोडे दिनमें ही होनेवाली हो, वेश्या हो, दासी हो, जिसकी आडमें दीवाल आदि आगई हो, अथवा जो मलमूत्र कर आया हो, थूक कर आया हो, जो उवटन कर आया हो, जिसका शरीर दिखलाई न पडता हो, जो बैठा हो, जो अग्निको जलाकर वा पानीसे बुझाकर वा भस्मसे दवाकर आया हो, जलानेके लिए लकडी पटककर आया हो, गोवरसे दीवाल लीपकर आया हो वा और भी ऐसे ही काम करके आया हो उसको अतरिताशुचि कहते है तथा जो कुछ खारहा हो ऐसे समस्त दाताओंके द्वारा आहार देनेमें दातृ दोप कहा जाता है ।

भावार्थ— ऐसे दाताओंको आहार नहीं देना चाहिये । यदि ऐसे दाता आहार दे ता

उनको दातृ दोष लगा करता है ॥ ५०-५१ ॥

आगे मिश्र और अपक्व दोषको कहते हैं।

मिश्रं षट्जीवसम्मिश्रमपक्वं पावकादिभिः ।
द्रव्यैरत्यक्तपूर्वस्ववर्णगन्धरसं विदुः ॥ ५२ ॥

छह कायके जीवोंसे मिले हुए भोजनको देना मिश्रनामका दोष है। तथा जो अग्नि आदि पदार्थोंसे ठीक २ पका न हो जिसका रूप, रस, गंध और स्पर्श कुछ भी न बदला हो ऐसे आहारका देना अपक्व दोष कहलाता है ॥ ५२ ॥

आगे लिप्त दोषको कहते हैं।

लिप्तमप्रासुकैस्तोयमृत्तिकातालकादिभिः ।
लिप्तैर्दार्वीकराद्यैर्यद्दीयमानाशनादिकम् ॥ ५३ ॥

जिसकी कलाई वा भुजा आदिपर मिट्टी, हरताल, दारुहल्दी, कच्चा पानी आदि अप्रासुक पदार्थोंका लेप हो और उसी हाथसे वह आहार दे तो उसके लिप्त नामका दोष आता है ॥ ५३ ॥ इसप्रकार एषणाके दश दोष बतलाये।

आगे संयोजना आदि चार दोषोंमें पहिले संयोजना दोषको कहते हैं।

स्वादार्थमन्नपानानां यत्संयोजनकर्म तत् ।
प्रोक्तं संयोजनं नानारोगाऽसंयमकारणम् ॥ ५४ ॥

अपने स्वादके लिए अन्न पानका संयोग मिलाना, ठंडे पदार्थोंका वा गर्म पदार्थोंका वा गर्म ठंडे मिले हुए पदार्थोंका संयोग मिलाना, रूखे पदार्थोंका वा चिकने पदार्थोंका वा रूखे चिकने मिले हुए पदार्थोंका संयोग मिलाना संयोजनानामका दोष है। यह दोष अनेक रोगोंको उत्पन्न करनेवाला है और अनेक प्रकारके असंयमका कारण है ॥ ५४ ॥

अन्नेनार्द्धं तृतीयांशं कुक्षेः पानेन पूरयेत् ।
वायोः सुखप्रचारार्थं चतुर्थमवशेषयेत् ॥ ५५ ॥

संयमी मुनिको अपने पेटके चार भाग करने चाहियें । उसमेंसे आधा भाग तो अन्नसे पूर्ण करलेना चाहिये । तथा तीसरा भाग जलसे पूर्ण करलेना चाहिये और चौथा भाग खाली रखना चाहिये जिससे कि वायु सुखपूर्वक इधरउधर सचार कर सके ॥ ५५ ॥

आगे प्रमाण दोषको कहते हैं ।

प्रमाणादतिरेकोऽस्मात्प्रमाणाख्यो भवेद्यतः ।
ध्यानाध्ययनभंगार्तिनिद्राऽऽलस्यादयोऽगिनः ॥ ५६ ॥

ऊपरके श्लोकमें जो आहारका प्रमाण लिखा है उससे अधिक आहार ग्रहण करना प्रमाण नामका दोष है । प्रमाणसे अधिक आहार करनेसे ध्यानका भग होता है, अध्ययनका नाश होता है । अजीर्ण आदि अनेक प्रकारके रोग होते हैं, नींद अधिक आती है, और आलस बढता है ।

आगे अंगार और धूम दोषको कहते हैं ।

रागेणेष्टान्नपानाप्तौ सेवांगारो निगद्यते ।
धूमोऽनिष्टान्नपानाप्तौ यद्द्वेषेण निषेवनम् ॥ ५७ ॥

अपनी इच्छानुसार इष्ट अन्न पानीकी प्राप्ति होनेपर रागपूर्वक उस अन्न पानीका ग्रहण करना अंगारनामका दोष कहा जाता है । तथा अनिष्ट अन्नपानीके प्राप्त होनेपर उसको द्वेष-पूर्वक ग्रहण करना धूमनामका दोष कहलाता है ॥ ५७ ॥ इसप्रकार छयालीस दोष बतलाए । सोलह उद्गम दोष, सोलह उत्पादन दोष, दश एषणा दोष और चार सयोजनादिक दोष, इनमेंसे उद्गमके सोलह दोष तो दाताके आश्रय हैं और बाकीके तीस दोष पात्रके आश्रय है ।

आगे पहले सत्रहके श्लोकमें आहारके कारण बतलाये थे । सो अब उन कारणोंको कहते हैं ।

क्षुच्छान्त्यावश्यकप्राणरक्षाधर्मयमा मुनेः ।
वैयावृत्त्यं च षट् भुक्तेः कारणानीति यन्मतम् ॥ ५८ ॥

मुनि जो आहार ग्रहण करते है, उसके छह कारण है– एक तो क्षुधाकी शांतिके लिये, छहो आवश्यकोंका पालन करनेके लिये, प्राणियोंकी रक्षा करनेके लिये, उत्तमक्षमा आदि आत्माके धर्मोंकी रक्षा करनेके लिये, संयमकी वृद्धिके लिये और वैयावृत्य करनेके लिये मुनिराज आहार ग्रहण करते हैं। ये छह आहार ग्रहण करनेके कारण है ॥ ५८ ॥

आगे बतलाते हैं कि किन २ कारणोंके लिये मुनि आहार ग्रहण नहीं करते हैं।

ततः शरीरसंवृद्ध्यै तत्तेजोबलवृद्धये ।
स्वादार्थमायुःसंवृद्ध्यै नैव भुंजीत संयतः ॥ ५९ ॥

मुनिराज शरीरकी वृद्धिके लिये, उस शरीरकी कांति, तेज और बलकी वृद्धिके लिये, स्वादके लिये, और आयुकी वृद्धिके लिये आहार ग्रहण कभी नहीं करते हैं ॥ ५९ ॥

आगे लिखे हुए छह कारणोंके उपस्थित होनेपर मुनिराज आहारका त्याग करदेते हैं।

महोपसर्गाऽऽतंकांगसंन्यासांगिदयातपो– ।
ब्रह्मचर्याणि भिक्षोर्षट् कारणान्यशनोज्झने ॥ ६० ॥

किसी बडे भारी उपसर्गके आजानेपर, किसी रोगके हो जानेपर, शरीरके सन्यास धारण करलेनेपर, जीवोंकी दया पालन करनेके लिये, तपश्चरण पालन करनेके लिये और ब्रह्मचर्य पालन करनेके लिये मुनिराज आहारका त्याग करदेते हैं।

भावार्थ— मुनिराजोके आहार त्याग करनेके ये छह कारण है ॥ ६० ॥

एतद्दोषविहीनान्नभुक्तेरन्तरकारिणः ।
अन्तरायाः कियन्तोऽत्र वर्ण्यन्ते वर्णिनामिमे ॥ ६१ ॥

इसप्रकार ऊपर लिखे छ्यालीस दोषोंसे रहित आहारकी प्राप्ति होनेपर भी जो उन मुनियोंके भोजनमें विघ्न डालनेवाले अंतराय हैं वे कितने हैं और कौन कौन हैं उन्हींको आगे बतलाते हैं ॥ ६१ ॥

रसपूयाऽस्थिमांसासृक्चर्मामेध्यादिवीक्षणम् ।
काकाद्यमेध्यपातोंगे वमनं स्वस्य रोधनम् ॥ ६२ ॥
अश्रुतपातश्च दुःखेन पिंडपातः स्वहस्ततः ।
काकादिपिंडहरणं पतनं त्यक्तसेवनम् ॥ ६३ ॥
पादान्तरालात्पंचाक्षगतिः पंचेन्द्रियात्ययः ।
स्वोदरकृमिविण्मूत्ररक्तपूयादिनिर्गमः ॥ ६४ ॥
निष्ठीवनं सदंष्ट्रांगिदशनं चोपवेशनम् ।
पाणिपात्रेऽत्र सांगास्थिनखरोमादिदर्शनम् ॥ ६५ ॥
प्रहारो ग्रामदाहोऽशुभोग्रबीभत्सवाक्श्रुतिः ।
उपसर्गाः पतनं पात्रस्यायोग्यगृहाशनम् ॥ ६६ ॥
जानुदेशादधः स्पर्शश्चेत्येवं बहवो मताः ।
लोकसंयमवैराग्यजुगुप्साभवभीतिजाः ॥ ६७ ॥ षड्भिः कुलकम् ।

वीर्य, राध, हड्डी, मांस, रुधिर, चमडा और विष्ठाका देखना पहला अतराय है । यदि मुनिके शरीरपर कोई कौआ आदि पक्षी बीट कर जाय तो दूसरा अतराय है । वमन वा उल्टी हो जाना तीसरा अतराय है । यदि कोई आहार करनेसे रोक दे और कह दे कि भोजन मत करो तो यह चौथा अतराय है । यदि दुःखसे अपना अश्रुपात हो अथवा कोई दुःखसे रोता हो और वह उसका रोना मुनिराजको सुनाई पडे तो पांचवां अतराय है । यदि मुनिराजके हाथमें रक्खा हुआ (हाथपर रक्खा हुआ) आहार गिर जाय तो छठवां अंतराय माना

॥२१५॥

जाता है। यदि मुनिके हाथपर रक्खे हुए आहारको कोई कौआ या गीध, चील आदि उठा ले जाय तो सातवां अंतराय है। यदि मुनिराजके आहार ग्रहण करते २ किसी कारणसे (रोग, मूर्च्छा आदि कारणसे) ग्रास गिरजाय तो आठवा अंतराय है। यदि मुनिराज किसी त्याग की हुई वस्तुका सेवन करले तो भी उनके नौवां अंतराय होता है। मुनिराज दोनों पैरोंमें चार अंगुलका अंतर रखकर खडे होते हैं और खडे होकर आहार लेते हैं। यदि उन दोनों पैरोंके बीचमें होकर कोई चूहा आदि पंचेंद्रिय जीव निकल जाय तो वह दशवां अंतराय कहा जाता है। यदि मुनिराजके समीप वा सामने कोई पंचेंद्रिय जीव मरजाय तो ग्यारहवां अंतराय है। यदि मुनिराजके उदरसे गुदाके द्वार होकर कोई कीडा निकल आवे वा विष्ठा निकल आवे, वा मूत्र निकल आवे, अथवा उनके शरीरसे रुधिर, राध आदि निकल आवे तो बारहवां अंतराय समझना चाहिये। यदि आहार करते करते खकार आजाय तो तेरहवां अंतराय है। यदि आहार करते समय कुत्ता, बिल्ली, आदि डाढवाले प्राणी काटले तो चौदहवा अंतराय समझना चाहिये। यदि आहार करते २ मुनिराज बैठ जायें तो पंद्रहवां अंतराय है। यदि आहार करते समय मुनिराजके हाथपर त्रस जीवोंका शरीर, नख, हड्डी, रोम आदि दिखाई दे तो सोलहवां अंतराय है। मुनिके समीप ही किसी भी अन्य जीवपर बरछा, तलवार आदिका प्रहार होना सत्रहवां अंतराय है। जिस गांवमें मुनिराजका निवास हो उस गांवमें आहार करते समय अग्नि लगजाय वह गांव जलजाय, तो अठारहवां अंतराय है। यदि आहार करते समय मुनिराज "मारो काटो" आदि अशुभ, उग्र और भयानक वचनोंको सुनलें तो उन्नीसवां अंतराय समझना चाहिये। यदि आहार करते समय कोई उपसर्ग आजाय तो वीसवा अंतराय है। यदि मुनिके हाथपर आहार वा पेयपदार्थ रखनेपर दाताके हाथसे कोई पात्र नीचे भूमिपर गिर जाय तो इक्कईसवां अंतराय होता है। यदि मुनिराज किसी अयोग्य घरका आहार लेलें तो वाईसवां अंतराय है। यदि आहार करते समय मुनिराजके हाथमे अपने जांघके नीचेके भागका स्पर्श होजाय तो तेईसवां

अतराय समझना चाहिये । इसप्रकार लोक संयम और वैराग्यकी ग्लानिसे उत्पन्न हुए और भय उत्पन्न करनेवाले अनेक अंतराय हैं । यहांपर तेईस अतराय तो दिखला दिये हैं तथा कुछ नीचे लिखे हैं । यदि साधुके पैर आदिसे विष्ठाका स्पर्श होजाय तो अतराय है । यदि मुनि घोंटूतक ऊंचे वा उससे अधिक ऊंचे किन्तु तिरछे लगे हुए काठ अर्गल, पत्थर आदिको उल्लंघन कर आहारको जाय तो भी अतराय समझना चाहिये । यदि अपने मस्तकको नाभिसे नीचे करके आहारके लिये निकलना पडे तो भी अतराय है । हाथसे भूमिका स्पर्श होजाय तो भी अतराय है । दाताके विना दिये ही आहार, पानी वा औषध आदिको ग्रहण करलें तो भी अंतराय है। रत्न, सुवर्ण आदि पदार्थोंको पैरसे उठाकर ग्रहण करलें तो भी अंतराय है । यदि किसी पदार्थको भूमिपरसे हाथसे उठाकर ग्रहण करले तो भी अंतराय है । यदि चर्याको निकलते समय अस्पृश्य शूद्रके घरमें चले जाय तो भी अतराय है । इसप्रकार सब बत्तीस अतराय हैं इन अंतरायोंको टालकर मुनिराज आहार लेते हैं ॥ ६२–६७ ॥

ज्ञात्वा योग्यमयोग्यं च द्रव्यं क्षेत्रत्रयाश्रयम् ।
चरत्येवं प्रयत्नेन भिक्षाशुद्धियुतो यतिः ॥ ६८ ॥

इसप्रकार योग्य तथा अयोग्य द्रव्यको जानकर, योग्य तथा अयोग्य क्षेत्रको जानकर, योग्यायोग्य कालको जानकर और योग्यायोग्य भावको जानकर भिक्षाशुद्धिको पालन करते हुए मुनिराज बडे प्रयत्नसे चर्या करते हैं ॥ ६८ ॥ इसप्रकार भिक्षाशुद्धिका वर्णन किया।

अब आगे विनयशुद्धिका स्वरूप कहते हैं ।

कुलर्द्धिजातिरूपाज्ञातपोज्ञानबलोद्भवैः ।
मदैर्विहीना विनये शुद्धिः सद्गुणसन्नतिः ॥ ६९ ॥

कुलका मद, ऋद्धिका मद, जातिका मद, रूपका मद, आज्ञाका मद, तपका मद, ज्ञानका

मद और बलका मद इन आठ प्रकारके मद अथवा अभिमानोंको छोडकर विनयशुद्धि धारण की जाती है। अथवा श्रेष्ठ गुणोंमें नम्रीभूत होना, गुणोंमें वा गुणी पुरुषोंमें नम्रता धारण करना भी विनयशुद्धि है ॥ ६९ ॥

आगे पंचपरमेष्ठियोंके लिये विनय करनेको कहते हैं।

कार्योऽर्हत्सिद्धोपाध्यायसूरिसाध्वादिकेष्वसौ ।
समीक्ष्य क्षेत्रकालाऽवस्थासभादिं यथागमम् ॥ ७० ॥

क्षेत्र, काल, अवस्था और सभा आदिका विचार कर शास्त्रोंमें कहे अनुसार अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और समस्त साधुओंमें यथायोग्य विनय करना चाहिये। इसको भी विनयशुद्धि कहते हैं ॥ ७० ॥

आगे गुरुसे किस प्रकार पूछना चाहिये सो बतलाते हैं।

नाऽत्यासन्नो न दूरस्थो न पार्श्वस्थो न पृष्ठगः ।
नोच्चस्थो वा गुरुं पृच्छेत्पृच्छेदाभिमुखो नतः ॥ ७१ ॥
स्थिते स्थित्वोपविष्टे सत्युपविश्य गुरौ स्फुटम् ।
श्रद्धामार्दवभक्त्याऽऽर्जवादियुक्तः कृतांजुलिः ॥ ७२ ॥ युग्मम् ।

यदि गुरु खडे हों, तो स्वयं खडे होकर पूछना चाहिये। यदि गुरु बैठे हों तो बैठकर पूछना चाहिये। तथा श्रद्धा, मार्दव, भक्ति, सरलता आदि सहित हाथ जोडकर नम्रीभूत होकर सामनेसे पूछना चाहिये। न तो अत्यंत समीपसे पूछना चाहिये न अत्यंत दूरसे पूछना चाहिये न अगल बगलसे पूछना चाहिये और न पीठकी ओरसे पूछना चाहिये और न ऊंचे आसनपर बैठकर पूछना चाहिये। किन्तु सामने बैठकर या खडे होकर पूछना चाहिये ॥ ७१–७२ ॥

आगे आचार्यके समीप क्या नहीं करे सो कहते हैं।

॥२१८॥

वक्तर्यन्यकथास्तस्मिन्विक्षेपोत्पादकं वचः ।
तत्पार्श्वे स्वैरवाग्वृत्तिप्रवृत्ती च त्यजेद्यतिः ॥ ७३ ॥

यदि आचार्य कुछ कह रहे हों, उपदेश दे रहे हों वा उत्तर दे रहे हों तो बीचमें अन्य कथा नहीं कहनी चाहिये । जिन वचनोंसे आचार्यको कोई क्षोभ उत्पन्न हो ऐसे वचन नहीं कहने चाहिये । इसीप्रकार उनके समीप होते हुए अपनी इच्छानुसार वचनोंकी प्रवृत्ति नहीं करनी चाहिये । जो मनमें आया सो ही नहीं कहना चाहिये । तथा अपनी इच्छानुसार पैर फैलाना आदि प्रवृत्तियोंका भी त्याग करदेना चाहिये ॥ ७३ ॥

आगे इस विनयशुद्धिको पालन करनेके लिये शिष्यको क्या करना चाहिये सो कहते हैं ।

संस्तरोत्क्षेपनिक्षेपप्रमुखैः परिकर्मभिः ।
शर्म संपादयेत्सूरेः शर्मैषी विनयान्वितः ॥ ७४ ॥

अपने आत्माका कल्याण चाहनेवाले और विनय करनेवाले शिष्यको उचित है कि वह आचार्यका सस्तर करना, आचार्यको उठाना बिठाना आदि अनेक प्रकारसे उनकी सेवा कर उनको सुखी बनावै । यह सब विनयाचार कहलाता है ॥ ७४ ॥

श्रुत्वोक्तेः स्खलितं नैव हसेत्कस्याऽपि नो वदेत् ।
अप्रियं हर्षामर्षाभ्यां न कुर्यात्परपीडनम् ॥ ७५ ॥

यदि आचार्य कहते २ कहीं स्खलित हो जाय, भूल जायं वा कुछका कुछ कहजायं तो शिष्यको हंसना नहीं चाहिये । किसीसे कहना नहीं चाहिये । किसीके भी लिये अप्रिय वचन नहीं कहने चाहिये वा किसीको बुरा लगे ऐसा कार्य नहीं करना चाहिये । तथा हर्ष और क्रोध करके किसीको पीडा भी नहीं पहुंचानी चाहिये ॥ ७५ ॥

आगे विनयशुद्धिकी महिमा दिखलाते हैं ।

इयं विनयशुद्धिर्नु भूपाऽशेषगुणश्रियः।
कारणं सुखदं नान्यदिहाऽमुत्र च देहिनाम् ॥ ७६ ॥

यह विनयशुद्धि समस्त गुणरूपी लक्ष्मीका आभूषण है तथा इसके समान जीवोंको इस लोकमें और परलोकमें सुख देनेवाला अन्य कोई नहीं है और न इसके समान अन्य कोई गुणरूपी लक्ष्मीके प्राप्त होनेका कारण है।

भावार्थ— इस विनयशुद्धिसे समस्त गुणोंकी प्राप्ति होती है और दोनों लोकोंमें सब प्रकारके सुख प्राप्त होते हैं ॥ ७६ ॥ इसप्रकार विनयशुद्धिका स्वरूप कहा।

अब आगे शयनासनशुद्धिका स्वरूप कहते हैं।

अनात्मोद्देशनिष्पन्ने निरारंभेऽन्यसम्मते।
शून्यागारादिदेशे हि न स्त्रीक्षुद्रनटादिके ॥ ७७ ॥
व्युत्सर्गादिश्रमोच्छित्त्यै शयनाऽऽसनयोः कृतिः।
यतेरत्यल्पकालं सा शयनाऽऽसनशुद्धिधीः ॥ ७८ ॥ युग्मम्।

जो वसतिका वा स्थान खास अपने लिये अपने नाममें न बनाया हो जिसमें किसी प्रकारका आरंभ न होता हो, जिसको सब लोग मान्य करते हों, जिसमें न तो स्त्रियां हों न नीच मनुष्य निवास करते हों और न नट विट् आदि मनुष्य निवास करते हों ऐसे वसतिका वा किसी सूने मकानमें वा किसी गुफामें कायोत्सर्ग, ध्यान, स्वाध्याय वा गमन आदिसे उत्पन्न हुए परिश्रमको दूर करनेके लिये जो मुनिराज थोडी देरतक सोते हैं वा बैठते है उसको शयनासनशुद्धि कहते हैं ॥ ७७–७८ ॥

आगे व्युत्सर्गशुद्धिका स्वरूप कहते हैं।

॥२२०॥

चूर्णीकृत्य नखान्केशान्विश्लिष्यैकैकमुत्सृजेत् ।
अनुल्वणमलेपं च क्ष्वेलसिंहाणकादिकम् ॥ ७९ ॥

नख डालने हों तो उनके बहुत छोटे २ टुकडे करके भूमिको देख शोधकर डालना चाहिये । यदि केशोंको डालना हो तो उनको अलग २ कर डालना चाहियें और जहां डालना हो उस भूमिको देख शोध लेना चाहियें । इसीप्रकार नाकका मैल, खखार वा कफ आदिको थोडा थोडा डाले किसी दीवाल आदिमें उसका लेप न करे ॥ ७९ ॥

आगे मलमूत्रादिकका किस प्रकार क्षेपण करे सो कहते हैं ।

वीक्ष्य पूर्वापरोर्ध्वाधः पार्श्वभागान्पुरोदिते ।
स्थाने प्रस्रवणोच्चारं वातं निःशब्दमुत्सृजेत् ।

जहां मलमूत्र करना हो वहांपर पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण चारों दिशाओंकी ओर देखे अर्थात् अपने आगे पीछेका भाग तथा अगल बगलका भाग देखे और फिर ऊपर नीचेका भाग देखे । फिर जिसका वर्णन पहले व्युत्सर्ग समितिमें कहा है ऐसे स्थानमें मौन धारण कर मल वा मूत्रका विसर्जन करे- छोडे तथा ऐसे ही स्थानमें वमन करे । (मलमूत्र वा वमन करते समय वायुका विचार भी करलेना चाहिये और इसप्रकार बैठना चाहिये जिससे वायुके द्वारा मलमूत्रादिकके वा वमनके छींटे शरीरपर न आवें) ॥ ८० ॥

पश्चाच्छुचिं प्रकुर्यादिष्टकाविकृत्यादिभिः पुनः ।
स्यात् क्षालिताऽऽसनकरः सौवीरोष्णजलादिभिः ॥ ८१॥

तदनतर ईंटसे अथवा छानेकी भस्मसे शुद्धि करनी चाहिये । फिर प्रासुक जलसे वा उष्ण जलसे आसन और हाथोंको धो डालना चाहिये ॥ ८१ ॥

आगे सन्यास धारण करना भी व्युत्सर्गशुद्धि है ऐसा दिखलाते है ।

दिव्यध्वनि समस्त जीवोंको अमृतके समान हित करनेवाली है, जिनका प्रभाव उपमा रहित है और जो संसाररूपी वनको जलानेके लिये दावानल अग्निके समान है ऐसे वे भगवान् श्री सुपार्श्वनाथस्वामी मनोवांछित फल देनेवाले हों ॥ १ ॥

आगे इस अधिकारमें छह आवश्यकोंका वर्णन करेंगे इसलिये
आवश्यक शब्दका अर्थ कहते हैं।

आवश्यकक्रियाऽवश्यं कार्यं कर्माऽवशस्य वा ।
मुनेः कर्मोदितं सेति कषायाक्षाऽवशोऽवशः ॥ २ ॥

जो अवश्य ही करनेयोग्य कार्य हो उसको आवश्यकक्रिया कहते हैं। अथवा किसीके वश न होनेवाले ऐसे मुनियोंका जो कर्म है उसको भी आवश्यक कहते हैं। अथवा कषाय और इन्द्रियोंके वश नहीं होना भी आवश्यकक्रिया कहलाती है। इसप्रकार मुनियोंके द्वारा अवश्य करनेयोग्य क्रियाओंको आवश्यक कहते हैं।

आगे आवश्यकोंके भेद और नाम कहते हैं।

सा षड्विधोदितेत्येवं समतास्तववन्दनम् ।
सप्रतिक्रमणप्रत्याख्यानकायविसर्जनम् ॥ ३ ॥

वह आवश्यकक्रिया समता, स्तुति, वंदना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायविसर्जन अर्थात् कायोत्सर्गके भेदसे छह प्रकार है ॥ ३ ॥

आगे इन छहोंके भी और भेद कहते हैं।

स्यान्नामस्थापनाद्रव्यभावभेदाच्चतुर्विधा ।
समता नाम समतेतस्या नाम स्ववाचकम् ॥ ४ ॥

इन छहों आवश्यक क्रियाओंके नाम, स्थापना, द्रव्य और भावके भेदसे चार २ भेद हैं।

॥२२४॥

पहली समता नामकी आवश्यक क्रियाका जो अपने अर्थको कहनेवाला 'समता' यह नाम है उसको नाममता कहते है ॥ ४ ॥

जीवाजीवोभयेष्टार्थजातिद्रव्यगुणाक्रिया ।
नामोत्पत्तिनिमित्तानपेक्षं यन्नाम तन्मतम् ॥ ५ ॥

जीव, अजीव, जीवाजीव, इष्ट, अर्थ, जाति, द्रव्य, गुण, क्रिया और नामके द्वारा उत्पन्न होनेके निमित्तकी अपेक्षा न रखकर जो नाम रक्खा जाता है उसको नामनिक्षेप कहते हैं । जिसके नाम रखनेमें न जीव अजीवकी अपेक्षा हो न द्रव्य, गुण, जातिकी अपेक्षा हो, विना किसी अपेक्षाके जो नाम रक्खा जाता है उसको नामनिक्षेप कहते हैं ॥ ५ ॥

आगे स्थापनानिक्षेपका स्वरूप कहते हैं ।

यत्सेयामित्यभेदेन सदृशेतरवस्तुषु ।
स्थापनं स्थापनं वाऽर्हत्प्रतिकृत्यक्षतादिषु ॥ ६ ॥

किसी सदृश पदार्थमें अथवा असदृश पदार्थमें "यह वही है" इसप्रकार अभेदरूपसे जो स्थापना करना है उसको स्थापनानिक्षेप कहते हैं । जैसे अरहंतकी प्रतिमामें अरहंत स्थापना की जाती है । अथवा चांवल आदिकोंमें अतदाकार स्थापना की जाती है । सामायिक नामके आवश्यकको करनेवालेके शरीरादिकमें सामायिक गुणका आरोपण करना वा समताका आरोपण करना स्थापना-निक्षेप है ॥ ६ ॥

आगे द्रव्यनिक्षेपका लक्षण कहते हैं ।

द्रव्यं भविष्यत्पर्यायं गतार्पितविवर्ति च ।
तद्द्वेधाऽऽगमो नोआगमश्चेत्याद्यस्तयोरयम् ॥ ७ ॥

होनेवाली पर्यायको वर्तमानमें कहना अथवा जो पर्याय बीत चुकी है उसको वर्तमानमें

॥२२५॥

कहना द्रव्यनिक्षेप है। जैसे राजाके पुत्रको राजा कहना। राजाका पुत्र राजा नहीं है होनेवाला राजा है उसको राजा कहना द्रव्यनिक्षेप है। अथवा जो पहले दीवान था अब दीवान नहीं है तथापि उसको दीवान कहना द्रव्यनिक्षेप है। इसीप्रकार वर्तमानमें जो पर्याय है उसको भी द्रव्य निक्षेप कहते हैं। उसके दो भेद हैं एक आगमद्रव्यनिक्षेप और दूसरा नोआगमद्रव्यनिक्षेप ॥७॥

आगे आगमद्रव्यनिक्षेपको कहते हैं।

जीवः स्यादुपयोगो नो विज्ञातसमतागमः।
आगमादन्यो नोआगमाख्यः स त्रिविधो यथा ॥ ८ ॥

जो सामायिकके स्वरूपको निरूपण करनेवाले शास्त्रोंका ज्ञाता है परतु उसमें उसका उपयोग न हो, उसका पठन, पाठन, चिंतवन, स्मरण आदि न करता हो उस जीवको आगमद्रव्यसामायिक कहते हैं। जो आगमसे भिन्न हो उसको नोआगम कहते हैं। उसके तीन भेद हैं ॥८॥

आगे उन्हीं तीनों भेदोंको बतलाते हैं।

ज्ञायकांगं भविष्यंस्तद्व्यतिरिक्तमिति त्रिधा।
तेष्वाद्यं भाव्यतिक्रान्तवर्त्तमानाविकल्पतः ॥ ९ ॥

नोआगमद्रव्यके तीन भेद हैं- ज्ञायकशरीर, भावी और तद्व्यतिरिक्त। सामायिक शास्त्रके जाननेवाले अनुपयुक्त आत्माके शरीरको ज्ञायकशरीर कहते हैं उसके तीन भेद हैं- भूत, भविष्यत् और वर्तमान। सामायिक आगमको जाननेवाला जिस शरीरको धारण करता है वह वर्तमान ज्ञायकशरीर है। वह जो शरीर आगे धारण करेगा उसको भविष्यत् ज्ञायकशरीर कहते हैं। तथा जो शरीर पहले छोडा था उसको भूत कहते हैं। उस भूत शरीरके तीन भेद हैं- च्युत, च्यावित, और त्यक्त। जो पके हुए फलके समान आयुके पूर्ण होनेपर अपने आप छूट जाय उसको च्युत कहते है। जो शरीर शस्त्रके प्रहारसे, विपके भक्षण करनेसे, श्वासोच्छ्वासके रोकनेसे तथा और भी

ऐसे ही कारणोंसे छूट जाय उसको च्यावित कहते हैं। तथा जो शरीर समाधिमरणके द्वारा छोड दिया जाय उसको त्यक्त कहते हैं। ये सब ज्ञायकशरीरके भेद हैं। जो आगे चलकर सामायिक शास्त्रका जाननेवाला होगा उसको भावीनोआगमद्रव्यसामायिक कहते हैं। तद्व्यतिरिक्तके दो भेद हैं- एक कर्म और दूसरा नोकर्म। सामायिक करनेवाले जीवोंके द्वारा संचित होनेवाले तीर्थकर आदि शुभ कर्मोंको कर्मतद्व्यतिरिक्तनोआगमद्रव्यसामायिक कहते हैं। नोकर्मतद्व्यतिरिक्त तीन प्रकार है- सचित्त, अचित्त और मिश्र। उपाध्यायादिकको सचित्त, पुस्तकादिकको अचित्त और दोनोंको मिश्र कहते हैं।

इन्हीं सब भेदोंको आगे बतलाते हैं।

आधाराऽऽधेयधर्मोपचारेणांगत्रयस्य च।
तत्त्वं धनुःशतं भुंक्ते धावतीत्यत्र वा तथा ॥ १० ॥

ज्ञायकशरीरके जो भूत, भविष्यत् और वर्तमान नामके तीन भेद बतलाये हैं वे सब आधार और आधेयमें रहनेवाले धर्मोंके उपचारसे बतलाये हैं। जैसे सौ धनुष पृथ्वीका उपभोग करता है। अथवा सौ धनुष पर्यंत पृथ्वीपर दौडता है। यहांपर केवल आधाराधेयका उपचार रूप धर्म है।

स्याच्च्युतं च्यावितं त्यक्तमित्यतीतं त्रिभेदगम्।
च्युतं त्यागं विनाऽऽयुष्यक्रमक्षयगतात्मकम् ॥ ११ ॥

उसमेंसे भूत शरीरके तीन भेद हैं। च्युत, च्यावित और त्यक्त। उसमेंसे शरीरका त्याग तो न किया जाय, किंतु अनुक्रमसे आयुका क्षय होते २ पूर्ण आयुके क्षय होनेपर जो शरीर छूट जाता है उसको च्युत कहते हैं ॥ ११ ॥

आगे च्यावित और त्यक्तका स्वरूप कहते हैं।

च्यावितं कदलीघातपातितं त्यागवर्जितम्।
त्यक्तं भक्तादिकत्यागैर्घाताऽघातगतात्मकम् ॥ १२ ॥

जिस शरीरका समाधिमरणके द्वारा त्याग तो न किया हो किंतु विष शस्त्रादिकके द्वारा कदलीघात होगया हो उसको च्यावित कहते हैं । तथा जो आहार और कषायके त्यागपूर्वक घातरूप अथवा अघातरूप शरीरका त्याग किया जाता है उसको त्यक्त कहते हैं ॥ १२ ॥

आगे आयुके छेद होनेके—नाश होनेके कारण बतलाते हैं ।

विषास्त्रघातभीरक्तक्षयसंक्लेशवेदना– ।
ऽऽहारोच्छ्वासनिरोधाः स्युरायुष्यच्छेदकारिणः ॥ १३ ॥

इंद्रियोंके अधिक विषयसेवन करनेसे, अस्त्र शस्त्रका घात होनेसे, भय होनेसे, रुधिरका क्षय होनेसे, परिणामोंमें संक्लेशता उत्पन्न होनेसे, रोगादिककी वा शोकादिकी वेदना होनेसे, आहार और श्वासोच्छ्वासका निरोध होनेसे आयुका क्षय होजाता है । अर्थात् ये सब आयुके क्षय होनेके कारण है ॥ १३ ॥

आगे भावी वा भविष्यत् नोआगमद्रव्यका स्वरूप कहते हैं ।

स्याद्भाव्यर्पितपर्यायो भविष्यद्राजनामभाक् ।
भविष्यद्राजपर्यायो वोपचारान्नृपात्मजः ॥ १४ ॥

जो पर्याय अभी उत्पन्न नहीं हुई है किंतु आगे होनेवाली है उसको भावी अथवा भविष्य नोआगमद्रव्यनिक्षेप कहते हैं । जैसे राजाका पुत्र राजा नहीं है किंतु भविष्यमें राजा होनेवाला है । उसको उपचारसे राजा कहना भावीनोआगमद्रव्यनिक्षेप है ॥ १४ ॥

आगे तद्व्यतिरिक्तके भेद कहते हैं ।

कर्मनोकर्मभेदं स्यात्तृतीयं तत्र कर्म यत् ।
चारित्रमोहमन्दानुभावद्रव्यैनसस्तातिः ॥ १५ ॥

तद्व्यतिरिक्तके दो भेद हैं– एक कर्म और दूसरा नोकर्म । चारित्रमोहनीय कर्मके मंद उदयसे

॥२२८॥

जो द्रव्यपापोंका नाश होजाता है तथा उससे जो तीर्थंकरादिक प्रकृतियोंका बंध होता है वह कर्म-तद्व्यतिरिक्तसामायिकद्रव्यनिक्षेप है ॥ १५ ॥

आगे नोकर्म द्रव्यसामायिकको कहते हैं।

नोकर्म मृत्सुवर्णाश्ममाणिक्याऽहिस्रगादिकम् ।
समताकारणं बाह्यभावभावावलोकिनः ॥ १६ ॥

बाह्य पदार्थोंके स्वभावको जाननेवाले मुनियोंके जो मिट्टी, सोना, पत्थर, माणिक, सर्प, माला आदि पदार्थोंको समताका कारण समझना नोकर्मतद्व्यतिरिक्तसामायिकद्रव्यनिक्षेप है ॥ १६ ॥ इस प्रकार द्रव्यनिक्षेपका स्वरूप बतलाया ।

अब आगे भावनिक्षेपका स्वरूप कहते हैं।

अर्पितेन विवर्तेन वर्त्तमानेन संयुतम् ।
द्रव्यं भावो भवेद्भावमात्रं वा विनयाश्रयः ॥ १७ ॥

जिस पदार्थका वर्तमानमें जो स्वरूप है उसकी जो पर्याय है उसीके अनुसार वैसा ही उसका स्वरूप कहना भावनिक्षेप है । अथवा विनयके साथ होनेवाला जो आत्माका परिणाम है उसको भी भावसामायिक कहते हैं ॥ १७ ॥

आगे भावनिक्षेपके भेद कहते हैं।

भाव आगमनोआगमद्विभेदस्तयोर्भवेत् ।
आगमः समताशास्त्रार्थोपयोगयुतो यतिः ॥ १८ ॥

इस भावनिक्षेपके दो भेद है- एक आगमभावनिक्षेप और दूसरा नोआगमभावनिक्षेप। समता अथवा सामायिकशास्त्रके जाननेवाले तथा उसी शास्त्रमें अपना उपयोग लगानेवाले आत्माको आगम भावसामायिक कहते हैं ।

भावार्थ— जो सामायिकशास्त्रको जानते है और जिन्होंने अपना उपयोग उसीमे लगा रक्खा है ऐसे मुनियोंको आगमभावसामायिकनिक्षेप कहते हैं ॥ १८ ॥

आगे नोआगमभावनिक्षेपके भेद कहते हैं।

द्विभेद उपयुक्तस्तत्परिणत इतीतरः ।
शास्त्रं विनोपयुक्तोऽस्यामुपयुक्त इति स्मृतः ॥ १९ ॥

नोआगमभावनिक्षेपके दो भेद हैं— एक उपयुक्त और दूसरा तत्परिणत । जो सामायिकशास्त्रके विना ही सामायिकमें उपयोग लगा रहा है—सामायिकके अर्थका विचार कर रहा है उसको उपयुक्त नोआगमभावसामायिक कहते हैं ॥ १९ ॥

आगे समताका स्वरूप कहते हैं।

समः स्याद्रत्यरत्याप्तिहेतुवस्तुसमो यमी ।
समस्य भावः समता तोषरोषव्यपेतता ॥ २० ॥

जो मुनि रागद्वेष उत्पन्न करनेवाले पदार्थोंमें भी रागद्वेष धारण नहीं करते उनमें भी सम—भाव धारण करते हैं—दोनोंको समान मानते हैं उनकी उस माननको सम कहते हैं। समका जो भाव है उसको समता कहते हैं। वह समता रागद्वेषके अभावरूप पडती है।

भावार्थ— रागद्वेष उत्पन्न होनेके कारण मिलनेपर भी रागद्वेष न करना समता है ॥ २० ॥

आगे सामायिक शब्दका अर्थ बतलाते हैं।

सं यः स्वार्थनिवृत्त्यात्मनेन्द्रियाणामयोऽयनम् ।
समयः सामायिकं नाम स एव समताह्वयम् ॥ २१ ॥

सामायिक शब्द समय शब्दसे बना है। समयको ही सामायिक कहते हैं। यहां पर स्वार्थमें इकण् प्रत्यय हुआ हैं। जो समयका अर्थ है वही सामायिकका अर्थ है। तथा समय

शब्द सम् और अय इन दो शब्दोंसे बना है। सम् शब्दका अर्थ अपने विषयका छोडना है और अय शब्दका अर्थ प्राप्त होना है। इंद्रियोंका अपने २ विषयोंको छोडकर आत्मामें प्राप्त होना-आत्मामें लीन होजाना समय है। समयको ही सामायिक कहते हैं और इसी सामायिकको समता कहते हैं ॥ २१ ॥

आगे और भी सामायिक शब्दका अर्थ बतलाते हैं।

समस्यारागरोषस्य सर्ववस्तुष्वयोऽयनम् ।
समायः स्यात्स एवोक्तं सामायिकमिति श्रुते ॥ २२ ॥

सम शब्दका अर्थ रागद्वेष रहित होना है। और अय शब्दका अर्थ प्राप्त होना है। जो समस्त पदार्थोंमें रागद्वेष रहित होकर प्राप्त होना है-समस्त पदार्थोंमें रागद्वेषका त्याग कर देना है उसको समाय कहते है। और उसीको अर्थात् समस्त पदार्थोंमें रागद्वेषके त्याग करनेको सामायिक कहते हैं ऐसा शास्त्रोंमें वर्णन किया है ॥ २२ ॥

आगे तत्परिणतनोआगमभावसामायिकका स्वरूप कहते हैं।

समतोपेतचित्तो यः स तत्परिणताह्वयः ।
प्रकृतोऽत्रायमन्यासु क्रियास्वेवं निरूपयेत् ॥ २३ ॥

जो मुनि अपने हृदयमें समताको धारण कर रहा है, जिसने रागद्वेषका सर्वथा त्याग कर दिया है उसको तत्परिणतनोआगमभावसामायिक कहते हैं। जिसप्रकार ये नाम, स्थापना, द्रव्य, और भाव आदि निक्षेप सामायिकमें लगाये हैं उसीप्रकार चतुर्विंशतिस्तव, वंदना, प्रतिक्रमण आदि स्तवमें लगा लेना चाहिये ॥ २३ ॥

सर्वव्यासंगनिर्मुक्तः संशुद्धकरणत्रयः ।
धौतहस्तपदद्वन्द्वः परमानन्दमन्दिरम् ॥ २४ ॥

चैत्यचैत्यालयादीनां स्तवनादौ कृतोद्यमः ।
भवेदनन्तसंसारसन्तानोच्छित्तये यतिः ॥ २५ ॥

जो मुनि सब तरहके व्यापारोंसे रहित हैं, जिनके मन, वचन, काय शुद्ध हैं, जिनके हाथ, पैर सब धुले हुए हैं और जो परम आनंदके स्थान हैं ऐसे मुनि अपने अनंत संसारकी परपराको नाश करनेके लिये जो चैत्य अर्थात् अरहत देवकी प्रतिमाकी तथा चैत्यालयोंकी स्तुति करते हैं उसको स्तव अथवा चतुर्विंशतिस्तव (चोवीस तीर्थंकरोंकी स्तुति) कहते हैं ।

भावार्थ— चोवीस तीर्थंकरोंका एक २ हजार आठ नामोंसे उनके अर्थके अनुसार स्तुति करना

सामायिकका विशेष खुलासा

सामायिकके विषयमें निक्षेपोंका जो वर्णन किया है उसका अभिप्राय यह है कि यदि विना निक्षेपके शास्त्रोंका व्याख्यान किया जाय तो कभी २ वक्ता तथा श्रोता दोनोंके मोक्षमार्गकी प्रवृत्ति प्रतिकूल होसकती है । वह प्रतिकूल प्रवृत्ति न हो इसलिये आचार्योंने निक्षेपोंका वर्णन किया है। जैसे शुभाशुभ नाम सुनकर रागद्वेषका त्याग करना नामसामायिक है । सुंदर अथवा असुदर स्थापनामें रागद्वेषका त्याग करना स्थापनासामायिक है । सोना, चांदी, मोती, माणिक, मिट्टी, काठ, ढेला, पत्थर, लोहा, कांटा आदि सबको समान देखना किसीमें रागद्वेष न करना वा उनकी भूत, भविष्य पर्यायोंमे रागद्वेष न करना द्रव्यसामायिक है । मनोहर क्षेत्रमें राग नहीं करना तथा बुरे- अमनोज्ञ क्षेत्रमें द्वेष नहीं करना क्षेत्रसामायिक है । वर्षाऋतु, शरद्ऋतु, हेमंतऋतु, शिशिरऋतु, वसंतऋतु, ग्रीष्मऋतुमें तथा रातमे वा दिनमे, कृष्णपक्षमें वा शुक्लपक्षमें रागद्वेष नहीं करना समस्त कालको एकसा मानना कालसामायिक है । तथा समस्त जीवोंमें मैत्रीभाव धारण करना अथवा अशुभ परिणामोंका सर्वथा त्याग करदेना भावसामायिक है । इसप्रकार इन निक्षेपोंके द्वारा सामायिकका निरूपण किया है ।

॥२३२॥

सो चतुर्विंशतिनाम स्तव है। चोवीरा तीर्थंकरोंके कृत्रिम वा अकृत्रिम स्थानोंकी अथवा कृत्रिम अकृत्रिम स्थापनाओंकी स्तुति करना सो स्थापनाचतुर्विंशतिस्तव है। तीर्थंकरोंके वर्ण आदि भेदोंसे अलग अलग स्तुति करना द्रव्यचतुर्विंशतिस्तव है। कैलाश, सम्मेदशिखर, गिरनार, पावापुर आदि तीर्थंकरोंके निर्वाण क्षेत्रोंकी स्तुति करना सो निर्वाणक्षेत्रस्तुति है। तीर्थंकरोंके पच कल्याणकोंके समयकी स्तुति करना कालस्तुति है। चोवीस तीर्थंकर वा आचार्य आदिके गुणोंकी स्तुति करना सो भावस्तुति है। एक तीर्थंकर वा आचार्य आदिका नाम उच्चारण करना नामवंदना है। एक तीर्थंकर वा आचार्य आदिके प्रतिबिंबकी वंदना करना स्थापनावंदना है। उनके शरीरकी वंदना करना द्रव्यवंदना है। जिन जिन स्थानोंमें वे विराजे हैं उनकी वंदना करना क्षेत्रवंदना है। जिस समयमें वे हुए हैं उस समयकी वंदना करना कालवंदना है। शुद्ध परिणामोंसे उनके गुणोंकी वंदना करना सो भाववंदना है। इसीप्रकार नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावके आश्रय होनेवाले अतिचारोंका मन, वचन, काय और कृत, कारित, अनुमोदनासे संशोधन करना सो नामस्थापनादिक प्रतिक्रमण है। अयोग्य नामस्थापनाका मन, वचन, काय और कृत, कारित, अनुमोदनासे त्याग करना नामस्थापनाप्रत्याख्यान है। पापबंधके कारणभूत द्रव्य चाहे निर्दोष भी हो तो भी उसका त्याग करना द्रव्यप्रत्याख्यान है। असंयमके कारण भूत क्षेत्रका त्याग करना क्षेत्रप्रत्याख्यान है। असंयमके हेतुभूत कालका त्याग करना कालप्रत्याख्यान है। मिथ्यात्व असंयम कषायोंका मन, वचन, काय, कृत, कारित, अनुमोदनासे त्याग करना भावप्रत्याख्यान है। कठिन और असुहावने शब्दोंके द्वारा लगनेवाले अतिचारोंका कायोत्सर्गके द्वारा संशोधन करना नामकायोत्सर्ग है। स्थापनाके द्वारा आये हुए अतिचारोंको संशोधन करनेके लिये कायोत्सर्ग करना स्थापना कायोत्सर्ग है। सावद्य द्रव्योंके सेवन करनेसे उत्पन्न हुए अतिचारोंको दूर करनेके लिये कायोत्सर्ग करना द्रव्यकायोत्सर्ग है। सावद्य क्षेत्रसे लगे हुए अतिचारोंको दूर करनेके लिये कायोत्सर्ग करना क्षेत्रकायोत्सर्ग है। सावद्य कालके द्वारा आये हुए अतिचारोंको दूर करनेके लिये कायोत्सर्ग करना

॥२३३॥

कालकायोत्सर्ग है और मिथ्यात्व आदिके अतिचारोंको संशोधन करनेके लिये किये हुए कायोत्सर्गको भावकायोत्सर्ग कहते हैं ॥ २४-२५ ॥

आगे नामस्थापनादिकका उदाहरण दिखलाते हैं।

यथा निश्चेतनाश्चिन्तामणिकल्पमहीरुहाः।
कृतपुण्यानुसारेण तदभीष्टफलप्रदाः ॥ २६ ॥
तथाऽर्हदादयश्चास्तरागद्वेषप्रवृत्तयः।
भक्तभक्त्यनुसारेण स्वर्गमोक्षफलप्रदाः ॥ २७ ॥ युग्मम्।

जिसप्रकार चिंतामणि रत्न अचेतन होता है तथा कल्पवृक्ष सब अचेतन होते हैं और वे सब अपने २ पुण्यके अनुसार अभीष्ट फल देनेवाले होते हैं उसीप्रकार रागद्वेष तथा सब प्रकारकी प्रवृत्तियोंसे रहित अरहंतादिक भी अपने भक्त पुरुषोंकी भक्तिके अनुसार स्वर्ग और मोक्षफलके देने-वाले होते हैं ॥ २६-२७ ॥

गरापहारिणी मुद्रा गरुडस्य यथा तथा।
जिनस्याऽप्येनसो हंत्री दुरितारातिपातिनः ॥ २८ ॥

जिसप्रकार गरुडकी मुद्रा विषको दूर करनेवाली होती है। उसीप्रकार पापरूपी समस्त शत्रुओंको नाश करनेवाले भगवान् जिनेंद्र देवकी मूर्ति भी समस्त पापोंको नाश करनेवाली होती है।

सुमनःसंगमादंगतीह सूत्रं पवित्रताम्।
पिष्टः प्रकृष्टमाधुर्यं प्रकृष्टेक्षुरसाद्यथा ॥ २९ ॥
चंपापावादिनिर्वाणक्षेत्रादीनि पवित्रताम्।
वंद्यतां च व्रजंत्येव वंद्यसंगमतस्तथा ॥ ३० ॥ युग्मम्।

जिसप्रकार इस लोकमें फूलोंके समागमसे सूत्र भी पवित्रताको प्राप्त होजाता है। तथा

॥२३४॥

जिसप्रकार उत्तम ईखके रसके संयोगसे आटा भी उत्तम मधुरताको प्राप्त होजाता है। उसीप्रकार इंद्रादिक देवोंके द्वारा वंदनीय ऐसे भगवान् जिनेंद्रदेवके संबधसे चंपापुर, पावापुर, गिरनार आदि निर्वाणक्षेत्र भी तथा आदि शब्दसे उनके कल्याणकोंका समय भी वंदनीय होजाता है ॥ २९-३० ॥

मत्वेति जिनगेहादि त्रिःपरीत्य कृतांजलिः ।
प्रकुर्वंस्तच्चतुर्दिक्षु त्र्यावर्त्तां शिरोनातिम् ॥ ३१ ॥
घोरसंसारगंभीरवारिराशौ निमज्जताम् ।
दत्तहस्तावलंबस्य जिनस्येक्षार्थमाविशेत् ॥ ३२ ॥ युग्मम् ।

यही समझकर भगवान् जिनेन्द्रदेवके चैत्यालय आदिकी तीन प्रदक्षिणा देकर तथा हाथ जोडकर प्रत्येक दिशामें तीन २ आवर्तके हिसाबसे चारों दिशाओंमें आवर्त करके तथा चारों दिशाओंमें शिरोनति करके घोर संसाररूपी गंभीर समुद्रमें डूबते हुए प्राणियोंको हस्तावलंबन देनेवाले भगवान् जिनेंद्रदेवके दर्शन करनेके लिये उस चैत्यालयमें वा जिनालयमें प्रवेश करना चाहिये ॥ ३१-३२ ॥

जिनेशतारकाधीशपादसंपादितोत्सवः ।
श्रीलीलामन्दिरस्वीयलोचनेन्दीवरः पुनः ॥ ३३ ॥
ईर्याऽऽगःशुद्धये व्युत्सर्गं कृत्वाऽऽसीनोऽनुकंपया ।
आलोच्य समतां वर्यां कुर्यादात्मेच्छयाऽन्यदा ॥ ३४ ॥ युग्मम् ।

भगवान् जिनेंद्रदेवरूपी चन्द्रमाके चरणकमलोंको देखकर जिसको अत्यंत आनंद प्राप्त हुआ है तथा जिसने अपने नेत्ररूपी चन्द्रविकासी कमलोंको लक्ष्मीकी लीलाका स्थान बना लिया है ऐसे उन मुनिराजोंको दयापूर्वक बैठकर ईर्यापथशुद्धि करनेके लिये कायोत्सर्ग करना चाहिये तथा आलोचना करनी चाहिये। फिर किसी दूसरे समय अपनी इच्छानुसार उत्तम समता धारण करनी चाहिये ॥ ३३-३४ ॥

लक्षणं समतादीनां पुरोक्तं किन्तु वर्ण्यते ।
व्युत्सर्गावसरोच्छ्वाससंख्यानामादि साम्प्रतम् ॥ ३५ ॥

इनमेंसे समता, वंदना आदिका लक्षण तो पहले कह ही चुके हैं । अब कायोत्सर्ग, कायोत्सर्गका समय, कायोत्सर्ग करनेके लिये श्वासोच्छ्वासोंकी संख्या तथा नाम आदिको कहते हैं ।

क्रियायामस्यां व्युत्सर्गं भक्तेरस्याः करोम्यहम् ।
विज्ञाप्येति समुत्थाय गुरुस्तवनपूर्वकम् ॥ ३६ ॥
कृत्वा करसरोजातमुकुलालंकृतं निजम् ।
भाललीलासरः कुर्यात् त्र्यावर्त्ता शिरसो नतिम् ॥ ३७ ॥ युग्मम् ।

कायोत्सर्ग करनेके पहले मुनिराजको सूचित करना चाहिये कि " मैं इस क्रियामें इस भक्तिका कायोत्सर्ग करता हूं । " यह सूचित कर फिर उठकर गुरुस्तवन करना चाहिये । फिर अपने ललाटरूपी क्रीडा करनेके सरोवरको दोनों हाथरूपी कमलोंमे मुकुलित कर अर्थात् दोनों हाथोंको जोडकर उनसे सुशोभित करना चाहिये । फिर तीन आवर्त कर शिरोनति करनी चाहिये ।

आद्यस्य दंडकस्यादौ मंगलादेरयं क्रमः ।
तदन्तेऽप्यंगव्युत्सर्गः कार्योऽतस्तदनन्तरम् ॥३८॥
कुर्यात्तथैव ' थोस्सामी ' त्याद्यार्याद्यंतयोरपि ।
इत्यस्मिन् द्वादशावर्त्ताः शिरोनतिचतुष्टयम् ॥ ३९ ॥ युग्मम् ।

पहले दंडकके प्रारंभमें मंगलादिक करनेका यह क्रम है । फिर उस दंडकके अंतमें कायोत्सर्ग करना चाहिये । उसके अंतमें थोस्सामी आदि आर्याको लेकर अंततक पाठ करना चाहिये । इसके आदि अंतमें कायोत्सर्ग करना चाहिये । इस कायोत्सर्गमें बारह आवर्त और चार शिरोनति करनी चाहिये ॥ ३८-३९ ॥

॥२२६॥

ग्रंथारंभे समाप्तौ च स्वाध्याये स्तवनादिषु ।
सप्तविंशतिरुच्छ्वासा व्युत्सर्गे दुर्मनस्यपि ॥ ४० ॥

ग्रंथके प्रारंभमें, ग्रंथकी समाप्तिमें, स्वाध्यायमें, स्तुतिमें और मनमें किसी प्रकारकी दुष्टता उत्पन्न होनेपर सत्ताईस श्वासोच्छ्वाससे कायोत्सर्ग करना चाहिये ॥ ४० ॥

व्रतेष्वन्यतमस्याऽतिचारशुद्धेर्दिनस्य च ।
स्यात्प्रतिक्रमणेऽष्टाग्रशतं रात्र्यास्तु तद्दलम् ॥ ४१ ॥

व्रतोंमेंसे किसी भी व्रतमें अतिचार लगनेपर उसकी शुद्धिके लिये जो कायोत्सर्ग किया जाता है वह एकसौ आठ श्वासोच्छ्वास किया जाता है । इसीप्रकार दिनके प्रतिक्रमणके कायोत्सर्गमें भी एकसौ आठ श्वासोच्छ्वास होते हैं । तथा रात्रिके प्रतिक्रमणमें उससे आधे अर्थात् चौअन श्वासोच्छ्वास कायोत्सर्ग करना चाहिये ॥ ४१ ॥

पाक्षिके त्रिशतं चातुर्मासिके स्याच्चतुःशतम् ।
शतानि पंच संवत्सरस्य षट्सुक्रियान्तगे ॥ ४२ ॥
पंचविंशतिरुच्छ्वासा गोचरेर्यातिचारयोः ।
जिनसाधुनिषद्यानां विण्मूत्रोत्सर्जनेऽनसि ॥ ४२ ॥

पाक्षिक प्रतिक्रमणमें तीनसौ श्वासोच्छ्वाससे कायोत्सर्ग करना चाहिये । चातुर्मासिक प्रतिक्रमणमें चारसौ श्वासोच्छ्वाससे कायोत्सर्ग करना चाहिये । वार्षिक प्रतिक्रमणमें पांचसौ श्वासोच्छ्वाससे कायोत्सर्ग करना चाहिये । इसीप्रकार छह आवश्यक क्रियाओंके अंतमें पच्चीस श्वासोच्छ्वाससे कायोत्सर्ग करना चाहिये । आहारके लिये जो चर्या की जाती है उसमें तथा ईर्यापथ शुद्धिपूर्वक किसी दूसरे गांवसे आनेके बाद उसमें लगे हुए अतिचारोंको शुद्ध करनेके लिये पच्चीस श्वासोच्छ्वाससे कायोत्सर्ग करना चाहिये । समवसरण वा कल्याणकोंके स्थानोंमें प्राप्त होनेपर वा

वा मुनियोंकी निषिधिका स्थानमें पहुंचनेपर तथा मलमूत्र करलेनेपर पच्चीस २ उच्छ्वासमे कायोत्सर्ग करना चाहिये ॥ ४२-४३ ॥

देवतास्तवने भक्ती चैत्यपंचगुरूभयोः ।
चतुर्दश्यां तयोर्मध्ये श्रुतभक्तिर्विधीयते ॥ ४४ ॥

देवताका स्तवन करनेमें अर्थात् जिनवंदना करनेमें चैत्यभक्ति और पचगुरुभक्ति की जाती है । तथा चतुर्दशीके दिन पहले चैत्यभक्ति फिर श्रुतभक्ति और अतमे पचगुरुभक्ति करनी चाहिये ॥ ४५ ॥

स्यात्सिद्धश्रुतचारित्रशान्तिभक्तिचतुष्टयम् ।
अष्टम्यां श्रुतभक्त्योनमेतत्तीर्थेशजन्मानि ॥ ४५ ॥

अष्टमीके दिन सिद्धभक्ति, श्रुतभक्ति, चारित्रभक्ति और शांतिभक्ति ये चार भक्तियां पढनी चाहिये । तथा तीर्थंकरोंके गर्भ, जन्म कल्याणकोंके समयमें सिद्धभक्ति, चारित्रभक्ति और शांतिभक्ति करनी चाहिये ॥ ४५ ॥

पाक्षिके जिनचैत्ये च यद्यष्टम्यादिकर्मणाम् ।
संयोगो देवतापूजादर्शनस्तवनैः सह ॥ ४६ ॥
प्राक् शांतिभक्तितस्तेषु चैत्यपंचगुरूभयोः ।
भक्ती स्तः सिद्धभक्तिः स्यात्सिद्धप्रतिकृतिस्तुतौ ॥ ४७ युग्मम् ।

पाक्षिक प्रतिक्रमण करते समय अथवा जिनचैत्यवदना करते समय यदि अष्टमी वा चतुर्दशीके कार्योंका संयोग मिल जाय अर्थात् उस दिन यदि अष्टमी वा चतुर्दशीका भी कार्य करना पडे और पाक्षिक प्रतिक्रमण वा चैत्यवदना भी करना पडे तो देवपूजन, दर्शन तथा स्तवनके साथ चैत्यभक्ति, पंचगुरुभक्ति और शांतिभक्ति करनी चाहिये । तथा सिद्धप्रतिमाकी स्तुति करते समय

सिद्धभक्ति करनी चाहिये ॥ ४६–४७ ॥

चतुर्दशीदिने कर्त्तुं क्रियां न लभते यदि ।
धर्मकार्यादिनाऽष्टम्याः क्रिया कार्या तु पाक्षिके ॥ ४८ ॥

यदि रथयात्रा वा निर्वाणक्षेत्रके लिये गमन करना आदि धार्मिक कार्यके कारण चतुर्दशीके दिन उस दिनकी पूर्ण क्रिया न हो सके तो पौर्णमासी वा अमावस्याके दिन अष्टमीकी क्रिया करनी चाहिये अर्थात् सिद्ध, श्रुत, चारित्र और शांतिभक्ति करना चाहिये ॥ ४८ ॥

नन्दीश्वरक्रियायां स्तः सिद्धनन्दीश्वरोभयोः ।
भक्ती पंचगुरूणां च शान्तिभक्तिस्तदन्तगा ॥ ४९ ॥

नंदीश्वर पर्वके दिन सिद्धभक्ति और नंदीश्वरभक्ति करनी चाहिये । तदनंतर अर्थात् सिद्ध भक्ति और नंदीश्वरभक्तिके बाद पंचगुरुभक्ति और शांतिभक्ति करनी चाहिये ॥ ४९ ॥

स्यात्सिद्धचैत्ययोः पंचगुरूणां स्नपनस्तवे ।
भक्तिः सशान्तिभक्तिस्तु हीनमध्याद्विभक्त्यदः ॥ ५० ॥
स्थिरेतरप्रतिष्ठायां चतुर्थस्नपने पुनः ।
चलचैत्यप्रतिष्ठायाः पूर्वोक्तस्नपनाक्रिया ॥ ५१ ॥ युग्मम् ।

अभिषेकवंदनाकी क्रियामें सिद्धभक्ति, चैत्यभक्ति, पंचगुरुभक्ति और शांतिभक्ति पढनी चाहिये। स्थिर वा मूल नायक बिंबप्रतिष्ठामें तथा चलबिंबप्रतिष्ठाकी क्रियामें इन भक्तियोंमेंसे मध्यकी दो भक्तियां छोडकर और केवल सिद्धभक्ति और शांतिभक्ति करनी चाहिये । चल जिनबिंबके चतुर्थ अभिषेकमें अभिषेकवंदनाकी क्रिया करनी चाहिये अर्थात् सिद्धभक्ति, चैत्यभक्ति पंचगुरुभक्ति और शांतिभक्ति पढनी चाहिये ॥ ५०–५१ ॥

॥२३९॥

स्थिरप्रतिष्ठास्नानेऽस्मिन्नेषैवाऽऽलोचनान्विता ।
चारित्रभक्तिः स्यात्किन्तु सिद्धभक्तेरनन्तरम् ॥ ५२ ॥

स्थिर जिनबिंबप्रतिष्ठाके चौथे दिनके अभिषेकमें आलोचना करनी चाहिये और सिद्धभक्तिके अनंतर चारित्रभक्ति करनी चाहिये । अर्थात् सिद्धभक्ति, चारित्रभक्ति, बडी आलोचना और शांतिभक्ति पढनी चाहिये ॥ ५२ ।

सिद्धभक्तिर्मुनौ ज्येष्ठे सिद्धान्तविदि सा युता ।
श्रुतभक्त्याऽऽचार्यभक्त्या तु गणिन्येतत्त्रयं पुनः ॥ ५३ ॥
सूरौ सैद्धान्तिकेऽल्पेऽपि प्रतिमायोगसंस्थिते ।
सिद्धभक्तिर्भवेद्योगशान्तिभक्ती च संयते ॥ ५४ ॥ युग्मम् ।

बडे मुनियोंकी वंदना सिद्धभक्ति पढकर करनी चाहिये । यदि वे मुनि सिद्धांतके जानकार हों तो सिद्धभक्ति और श्रुतभक्ति पढकर वंदना करनी चाहिये । आचार्यकी वंदना सिद्धभक्ति और आचार्यभक्ति पढकर करनी चाहिये । यदि आचार्य सिद्धांतके जानकार हो तो सिद्धभक्ति, श्रुतभक्ति और आचार्यभक्ति पढकर उनकी वंदना करनी चाहिये । जो मुनि थोडे दिनके दीक्षित हैं वे भी यदि प्रतिमायोग धारण करें तो अन्य समस्त मुनियोंको सिद्धभक्ति, योगिभक्ति और शांतिभक्ति पढकर उनकी वंदना करनी चाहिये ॥ ५३–५४ ॥

अत्र चरित्रभक्तिश्चेत्सिद्धभक्तेरनन्तरम् ।
योगभक्त्या परीतिश्च परिनिष्क्रमणाक्रिया ॥ ५५ ॥

दीक्षाकल्याणककी क्रियामें सिद्धभक्ति, चारित्रभक्ति, योगिभक्ति और शांतिभक्ति पढनी चाहिये । योगिभक्ति पढते हुए प्रदक्षिणा देनी चाहिये ॥ ५५ ॥

ज्ञानोत्पत्तौ क्रियैषैव सिद्धभक्तेरनन्तरम् ।
श्रुतभक्तिश्च स्यात्किन्तु जिननिर्वाणभूष्वपि ॥ ५६ ॥
परिनिर्वाणभक्तिस्तु योगभक्तेरनन्तरम् ।
परिनिर्वाणभक्त्या तु त्रिःपरीत्य क्रिया भवेत् ॥ ५७ ॥ युग्मम् ।

केवलज्ञान कल्याणककी क्रिया करते समय सिद्धभक्ति, श्रुतभक्ति, चारित्रभक्ति, योगभक्ति और शांतिभक्ति पढनी चाहिये । निर्वाणकल्याणककी क्रियाओंके समय सिद्धभक्ति, श्रुतभक्ति चारित्रभक्ति योगभक्ति, निर्वाणभक्ति और शांतिभक्ति पढनी चाहिये । निर्वाणभक्ति पढते समय तीन प्रदक्षिणा देनी चाहिये ॥ ५६–५७ ॥

सिद्धनिर्वाणयोः पंच गुरूणां भक्तिरप्यतः ।
स्याच्छान्तिभक्तिः श्रीवर्द्धमाननिर्वाणवासरे ॥ ५८ ॥

भगवान् श्रीवर्द्धमान स्वामीके निर्वाणके दिन सिद्धभक्ति, निर्वाणभक्ति, पचगुरुभक्ति और शांतिभक्ति पढनी चाहिये ॥ ५८ ॥

समाधिविधिना सम्यक् सामान्ये संयते मृते ।
सिद्धभक्तिर्भवेद्योगशान्तिभक्तिद्वयं ततः ॥ ५९ ॥

यदि समाधिमरणपूर्वक सामान्य मुनिका स्वर्गवास हुआ हो तो सिद्धभक्ति, योगभक्ति और शांतिभक्ति पढनी चाहिये ॥ ५९ ॥

यद्यत्र श्रुतभक्तिः स्यात्सिद्धभक्तेरनन्तरम् ।
कृतिकर्मेति निर्दिष्टं साधौ सिद्धान्तवेदिनि ॥ ६० ॥

यदि वे मुनि सिद्धांतके जानकार हों तो उनके समाधिमरण होनेपर सिद्धभक्ति, श्रुतभक्ति, योगभक्ति और शांतिभक्ति पढनी चाहिये ॥ ६० ॥

सामान्यमुनिकर्मैव व्रतिन्युत्तरयोगिनि ।
स्यात्तु चारित्रभक्तिश्च सिद्धभक्तेरनन्तरम् ॥ ६१ ॥

जो मुनि उत्तर गुणोंको धारण करनेवाले हों तो उनके समाधिमरण होनेपर सिद्धभक्ति, चारित्रभक्ति, योगभक्ति और शांतिभक्ति पढनी चाहिये ॥ ६१ ॥

स्यात्सिद्धश्रुतचारित्रयोगभक्तिचतुष्टयम् ।
शान्तिभक्तिश्च सिद्धान्तवेदिन्युत्तरयोगिनि ॥ ६२ ॥

यदि वे मुनि उत्तर गुणोंको धारण करनेवाले हों और सिद्धांतके भी जानकार हों तो सिद्ध-भक्ति, श्रुतभक्ति, चारित्रभक्ति, योगभक्ति और शांतिभक्ति पढनी चाहिये ॥ ६२ ॥

आचार्येषु चतुर्थेषु योगभक्तेरनन्तरम् ।
सूरिभक्तिर्भवेदष्टौ निषद्यादेहयोरिमाः ॥ ६३ ॥

आचार्यके समाधिमरण होनेपर सिद्धभक्ति, योगभक्ति, आचार्यभक्ति, शांतिभक्ति पढनी चाहिये । सिद्धांतवेत्ता आचार्यके समाधिमरण होनेपर सिद्धभक्ति, श्रुतभक्ति, योगभक्ति, आचार्य-भक्ति और शांतिभक्ति पढनी चाहिये । उत्तर गुणोंको धारण करनेवाले आचार्योंके समाधिमरण होनेपर सिद्धभक्ति, चारित्रभक्ति, योगभक्ति, आचार्यभक्ति, शांतिभक्ति पढनी चाहिये । उत्तर गुणोंको धारण करनेवाले और सिद्धांतके जानकार आचार्योंके समाधिमरण होनेपर सिद्धभक्ति, श्रुतभक्ति योगभक्ति, आचार्यभक्ति और शांतिभक्ति पढनी चाहिये । मुनि और आचार्यके समाधिमरणमें पढी जानेवाली भक्तियां उनके शरीर और निषद्यास्थानकी क्रिया करते समय पढनी चाहिये । तथा वंद-नाके समय भी पढनी चाहिये ॥ ६३ ॥

सिद्धश्रुतयोर्भक्ती श्रुतपंचम्यां तु वाचना ।
स्वाध्यायः शान्तिभक्त्यन्तमस्य निष्ठापनं ततः ॥ ६४ ॥

श्रुतपंचमीके दिन सिद्धभक्ति और श्रुतभक्ति करनी चाहिये । फिर श्रुतस्कंधकी स्थापना करनी चाहिये तदनंतर बृहत् वाचना स्वीकार करनी चाहिये । श्रुतभक्ति आचार्यभक्ति पढकर स्वाध्याय करना चाहिये । श्रुतभक्ति पढकर स्वाध्याय पूर्ण करना चाहिये । अंतमें शांतिभक्ति पढकर श्रुत पंचमीकी क्रिया पूर्ण करनी चाहिये ॥ ६४ ॥

एतत्संन्यासप्रारंभे शांतिभक्तिर्न हीह तु ।
श्रुतपंचमीक्रिया स्यादस्य निष्ठापने पुनः ॥ ६५ ॥
महत्यो भक्तयः स्वाध्यायेषु संन्यासगे मुनौ ।
योगभक्तिर्विधातव्या योगग्रहणमोक्षयोः ॥ ६६ ॥ युग्मम् ।

श्रुतपंचमीके दिन जो क्रियाए की जाती हैं वे सब क्रियाए सन्यासके प्रारंभमें भी करनी चाहिये उनमेंसे केवल शांतिभक्ति छोड देनी चाहिये । जैसे श्रुतपंचमीकी क्रियामें श्रुतपचमीकी स्थापना की जाती है उसीप्रकार सन्यासकी स्थापना करनी चाहिये । सन्यासकी स्थापनाके प्रारंभमें सिद्धभक्ति, श्रुतभक्ति पढनी चाहिये । सन्यासकी स्थापनाके दूसरे दिन स्वाध्यायकी स्थापना बडी श्रुतभक्ति और बडी आचार्यभक्ति पढकर करनी चाहिये । सन्यासस्थित मुनिके स्वर्गवासके एक दिन पहले बडी श्रुतभक्ति पढकर स्वाध्यायकी समाप्ति करनी चाहिये । उन मुनिके स्वर्गवासके बाद शांतिभक्ति पढनी चाहिये । (जिसने स्वाध्याय प्रारंभ किया है उसको वहीं सोना चाहिये) योगभक्ति पढकर रात्रियोग धारण करना चाहिये तथा योगभक्ति पढकर ही रात्रियोगका त्याग करना चाहिये ॥ ६५–६६ ॥

सिद्धप्रतिक्रमणनिष्ठितकरणभक्तयः ।
चतुर्विंशतितीर्थेशभक्तिश्च नियमे यतेः ॥ ६७ ॥

सिद्धभक्ति, प्रतिक्रमण, वीरस्तुति और चतुर्विंशति तीर्थंकरभक्ति ये भक्तियां मुनियोंके नियममें

ही आजाती हैं अर्थात् प्रतिक्रमणमें करनी पडती है ॥ ६७ ॥

पाक्षिकचातुर्मासिकसांवत्सरिककर्मसु ।
प्रतिक्रमणसंज्ञेषु नियमोक्तक्रियैव तु ॥ ६८ ॥
पश्चाच्चारित्रभक्तिः स्यात्सिद्धभक्तेः क्रियान्तगाः ।
चारित्रबृहदालोचनाघ्वाचार्यत्रिभक्तयः ॥ ६९ ॥
चारित्रबृहदालोचगुरुभक्तिद्वयं विना ।
शेषाः शेषेषु कर्त्तव्याः स्युः प्रतिक्रमणेषु ताः ॥ ६९ ॥

पाक्षिक प्रतिक्रमण, चातुर्मासिक प्रतिक्रमण और सांवत्सरिक प्रतिक्रमणमें प्रतिदिनके नियममें कही हुई क्रियाए करनी चाहिये । तदनंतर सिद्धभक्तिके अनंतर चारित्रभक्ति, चारित्रकी बडी आलोचना, और लघु आचार्यभक्ति पढनी चाहिये । अभिप्राय यह है कि पाक्षिक, चातुर्मासिक और वार्षिक प्रतिक्रमणोंमें सिद्धभक्ति, चारित्रभक्ति, प्रतिक्रमण, वीरस्तुति, चतुर्विंशति तीर्थंकरभक्ति, चारित्रालोचना, गुरुभक्ति, बृहदालोचना, गुरुभक्ति, लघु आचार्यभक्ति करनी चाहिये । पाक्षिक, चातुर्मासिक और वार्षिक प्रतिक्रमणोंको छोडकर शेष प्रतिक्रमणोंमें चारित्रकी बडी आलोचना और गुरुभक्तिको छोडकर शेष सब भक्तियां पढनी चाहिये ॥ ६८–७० ॥

प्राक् सिद्धयोगभक्ती स्तो दीक्षाग्रहणलुंचने ।
तल्लुंचनावसाने तु सिद्धभक्तिर्विधीयते ॥ ७१ ॥

दीक्षा ग्रहण करते समय और लोच करते समय सिद्धभक्ति और योगभक्ति पढनी चाहिये । दीक्षाके अंतमें तथा केशलोचके अंतमें सिद्धभक्ति पढनी चाहिये ॥ ७१ ॥

स्तः सिद्धयोगभक्ती द्वे प्रत्याख्याने तदन्तगा ।
सूरिभक्तिर्भवेत्सिद्धभक्तिर्निष्ठापनेऽस्य तु ॥ ७२ ॥

आचार्यके समीप प्रत्याख्यान करना हो अर्थात् आहारके बाद उपवासकी प्रतिज्ञा लेनी हो तो सिद्धभक्ति और योगभक्ति पढकर लेनी चाहिये। साथमें आचार्यभक्ति पढकर उनकी वंदना भी करनी चाहिये। तथा सिद्धभक्ति पढकर उसको पूर्ण करना चाहिये। अर्थात् आचार्यसे चर्याकी आज्ञा लेते समय सिद्धभक्ति पढनी चाहिये। इसीको प्रत्याख्यानका त्याग कहते हैं ॥ ७२ ॥

ताः स्युर्मंगलगोचारप्रत्याख्याने तु भक्तयः।
महत्यः शान्तिभक्तिश्च सूरिभक्तेरनन्तरम् ॥ ७३ ॥

मंगलगोचर प्रत्याख्यानमें ऊपर लिखी भक्ति करनी पडती है अतर केवल इतना है कि आचार्यभक्तिके बाद बडी शांतिभक्ति करनी चाहिये। अर्थात् महासिद्धभक्ति और महायोगभक्ति पढकर प्रत्याख्यान ग्रहण करना चाहिये फिर महाआचार्य और महाशांतिभक्ति करनी चाहिये ॥ ७३ ॥

श्रुतसूरिभक्तिपूर्वं स्वाध्यायं प्रविधाय तु।
निष्ठापयेदमुं काले श्रुतभक्त्या यथोदिते ॥ ७४ ॥

श्रुतभक्ति और आचार्यभक्ति पढकर स्वाध्यायका प्रारंभ करना चाहिये और श्रुतभक्ति पढकर स्वाध्यायकी समाप्ति करनी चाहिये ॥ ७४ ॥

भवेन्मंगलगोचारमध्यान्हे स्नपनस्तवः।
सवर्षाकालयोगस्याऽदाननिष्ठापनेऽपि तु ॥ ७५ ॥
योगभक्तिर्भवेदत्र सिद्धभक्तेरनन्तरम्।
सिद्धान्तवाचनायाः श्रुतपंचम्याः क्रियोदिताः ॥ ७६ ॥ युग्मम्।

वर्षाकालके प्रारंभमें और अंतमें जो क्रिया की जाती है उसको "मंगलगोचर" कहते हैं। जैसे मंगलगोचर प्रत्याख्यान वा मंगलगोचर अभिषेक। वर्षाकालके योगके प्रारंभमें और अंतमें अभिषेक और वंदना की जाती है उस समय सिद्धभक्ति और योगभक्ति पढनी चाहिये। जो क्रियाएं

श्रुतपंचमीके दिन बतलाई हैं वे सब क्रियाएं सिद्धांतकी वाचनामें करनी चाहिये ॥ ७५-७६ ॥

सिद्धान्तार्थाधिकाराणामादावन्ते च भक्तयः ।
तिस्रः सिद्धश्रुताऽऽचार्यसंश्रिताः परिकीर्त्तिताः ॥ ७७ ॥

सिद्धांतशास्त्रोंके स्वाध्यायमें किसी अधिकारके प्रारंभ होते समय अथवा अंत होते समय सिद्धभक्ति, श्रुतभक्ति और आचार्यभक्तिके साथ २ तीन भक्तियां बतलाई हैं ॥ ७७ ॥

कुर्याद् व्युत्सर्गमेकैकं समाप्तौ भक्तिपूर्वकम् ।
सिद्धान्तार्थाधिकाराणां विद्याविद्याफलाप्तये ॥ ७८ ॥

विद्या और विद्याके फलको प्राप्त करनेके लिए सिद्धांतशास्त्रोंके अधिकार समाप्त होते समय भक्तिपूर्वक एक २ कायोत्सर्ग करना चाहिये ॥ ७८ ॥

आगे आचार्यपद ग्रहण करते समय क्या करना चाहिये सो कहते हैं ।

ज्ञानविज्ञानसंपन्नः स्थविरः प्रश्रयाश्रयः ।
गुरूणां सन्निधौ सिद्धसूरिभक्ती विधाय तु ॥ ७९ ॥
गुर्वाज्ञया समादाय गणेशपदवीं ततः ।
शांतिभक्तिं यतिः कुर्याद्गुर्वादीनामपि स्तवम् ॥ ८० ॥ युग्मम् ।

जो मुनि ज्ञान और विज्ञान दोनोंसे सुशोभित हैं, जो स्थविर वा वृद्ध हैं, और जो अत्यंत विनयवान् है ऐसे मुनिको आचार्यपद दिया जाता है । सबसे पहले वे मुनि आचार्य वा गुरुके समीप बैठकर सिद्धभक्ति तथा आचार्यभक्ति करते हैं । फिर गुरुकी आज्ञासे आचार्यपदको स्वीकार करते हैं (गुरु समस्त संघके सन्मुख उनसे कहते हैं कि " आजसे तुम प्रायश्चित्तशास्त्रका अध्ययन और दीक्षा देने आदिका आचार्यपदका कार्य कर सकते हो आजसे तुम्हें ये कार्य करने चाहिये " इसप्रकार कहकर वे गुरु उनको पीछी समर्पण करते हैं वे साधु उस पीछीको सादर

स्वीकार करते हैं इसीको आचार्यपदका ग्रहण कहते हैं। यह कार्य किसी शुभ मुहूर्तमें किया जाता है।) तदनंतर वे नवीन आचार्य शांतिभक्ति करते हैं और गुरुओंकी स्तुति करते हैं।

आगे कायोत्सर्गकी विधि कहते हैं।

ऋज्वंगस्थाने व्युत्सर्गे लीलाऽऽलंबितदोर्युगे।
समांगुलीचतुष्कान्तरस्थपादेऽप्यकंपिते ॥ ८१ ॥
कुड्याश्रितं लतावक्रं स्तंभावष्टंभकुंचिते।
स्तनेक्षाकाकदृक्शीर्षकंपितं युगकन्धरम् ॥ ८२ ॥
भ्रूक्षेपोत्तारितोन्मत्तापिशाचाष्टदिशेक्षणम्।
ग्रीवाऽवनमनं मूकसंज्ञा चांगुलिचालनम् ॥ ८३ ॥
निष्ठीवनं खलिनितं शवरीगुह्यगूहनम्।
कपित्थमुष्टिग्रीवोन्नमनं शृंखलिताव्हयम् ॥ ८४ ॥
मालिकोद्वहनं स्वांगस्पर्शनं घोटकांघ्रि च।
स्थानं द्वात्रिंशादित्येते त्याज्या दोषास्तथा परे ॥ ८५ ॥ पंञ्चकम् ॥

कायोत्सर्ग करते समय शरीरके स्थान सब सरल होने चाहिये। दोनों भुजाएं लीलापूर्वक नीचेकी ओर लटकती हुई रहनी चाहिये। पैरोंकी उंगलियां सब समान रहनी चाहिये। ऊंची नीची न हों दोनों पैरोंमें चार अंगुलका अंतर होना चाहिये तथा दोनों पैर निश्चल होने चाहिये। इसप्रकार कायोत्सर्ग किया जाता है। वह कायोत्सर्ग बत्तीस दोषोंको टालकर किया जाता है।

आगे उन्हीं दोषोंके नाम गिनाते हैं—

१. किसी दीवालके सहारे खडा होना कुड्याश्रित नामका दोष है। २. वायुके द्वारा हिलती

हुई लताके समान शरीरको हिलाते रहना लतावक्र नामका दोष है । ३. किसी खंभेके सहारे खडे होना अथवा खंभेके समान खडे होना स्तभावष्टंभ नामका दोष है । ४. शरीरके अवयवोंको संकोच कर खडे होना कुंचित नामका दोष है । ५. अपनी छातीको आगे निकालकर इसप्रकार खडे होना जिससे छाती दिखाई दे, इसको स्तनेक्षा दोष कहते है । ६. कौएके समान इधर उधर देखते रहना काकदृक् नामका दोष है । ७ शिरको हिलाते जाना शीर्षकंपित नामका दोष है । ८. जिस बैलपर जूआ रक्खा जाता है वह जिसप्रकार अपनी गर्दन आगेको लंबी कर देता है उसीप्रकार जो गर्दनको आगेकी ओर लंबी कर खडा हो तो वह युगकधर नामका दोष है । ९ कायोत्सर्गमें भ्रकुटियोंका चल जाना भ्रूक्षेप नामका दोष है । १०. मस्तकको ऊपर उठाकर कायोत्सर्ग करना उत्तरित नामका दोष है । ११- कायोत्सर्गमें उन्मत्तके समान शरीरका घुमाते रहना उन्मत्त नामका दोष है । १२. पिशाचके समान कपते रहना पिशाचनामका दोष है । १३. पूर्व दिशाकी ओर देखना, १४. आग्नेय दिशाकी ओर देखना । १५. दक्षिण दिशाकी ओर देखना, १६.नैऋत दिशाकी ओर देखना १७. पश्चिम दिशाकी ओर देखना, १८. वायव्य दिशाकी ओर देखना १९. उत्तर दिशाकी ओर देखना, २०. ईशान दिशाकी ओर देखना, इसप्रकार आठों दिशाओंके ओर देखना आठ दोष कहे जाते हैं । २१ गर्दनको नीचा कर खडे होना ग्रीवावमन नामका दोष है, २२. गूंगे मनुष्यके समान मुख और नासिकाके विकारोंमे इशारा करना मूकसंज्ञा नामका दोष है, २३. उंगलियोंके द्वारा गिनना अगुलिचालननामका दोष है, २४. थूकना निष्ठीवननामका दोष है, २५. लगाम लगाये हुए घोडेके समान दांतोंको घिसना शिरको हिलाना आदिको खलीनित दोष कहते हैं, २६. भीलिनीके समान हाथोंसे गुह्य स्थानोंको ढककर खडे होना शबरीगुह्यगूहन नामका दोष है,

---

१- अन्य ग्रंथोंमें दिशाओंके अवलोकनको एक ही दोष माना है तथा उसके बदले वयोपेक्षा अधिक आयु हो जानेसे कायोत्सर्ग न करना, कालापेक्षा, कालकी संकीर्णतासे कायोत्सर्ग न करना, व्याक्षेपासन-मूढता लोभाकुलित पापकर्मार्जित आदि दोष माने हैं ।

॥२४८॥

स्वीकार करते हैं इसीको आचार्यपदका ग्रहण कहते हैं। यह कार्य किसी शुभ मुहूर्तमें किया जाता है।) तदनंतर वे नवीन आचार्य शांतिभक्ति करते हैं और गुरुओंकी स्तुति करते हैं।

आगे कायोत्सर्गकी विधि कहते हैं।

ऋज्वंगस्थाने व्युत्सर्गे लीलाऽऽलंबितदोर्युगे।
समांगुलीचतुष्कान्तरस्थपादेऽप्यकंपिते ॥ ८१ ॥
कुड्याश्रितं लतावक्रं स्तंभावष्टंभकुंचिते।
स्तनेक्षकाकदृक्शीर्षकंपितं युगकन्धरम् ॥ ८२ ॥
भ्रूक्षेपोत्तरितोन्मत्तापिशाचाष्टदिशेक्षणम्।
ग्रीवाऽवनमनं मूकसंज्ञा चांगुलिचालनम् ॥ ८३ ॥
निष्ठीवनं खलिनितं शबरीगुह्यगूहनम्।
कपित्थमुष्टिग्रीवोन्नमनं शृंखलिताव्हयम् ॥ ८४ ॥
मालिकोद्वहनं स्वांगस्पर्शनं घोटकांघ्रि च।
स्थानं द्वात्रिंशदित्येते त्याज्या दोषास्तथा परे ॥ ८५ ॥ पंचकम् ॥

कायोत्सर्ग करते समय शरीरके स्थान सब सरल होने चाहिये। दोनों भुजाएं लीलापूर्वक नीचेकी ओर लटकती हुई रहनी चाहिये। पैरोंकी उंगलियां सब समान रहनी चाहिये। ऊंची नीची न हों दोनों पैरोंमें चार अंगुलका अंतर होना चाहिये तथा दोनों पैर निश्चल होने चाहिये। इसप्रकार कायोत्सर्ग किया जाता है। वह कायोत्सर्ग बत्तीस दोषोंको टालकर किया जाता है।

आगे उन्हीं दोषोंके नाम गिनाते हैं—

१. किसी दीवालके सहारे खडा होना कुड्याश्रित नामका दोष है। २. वायुके द्वारा हिलती

हुई लताके समान शरीरको हिलाते रहना लतावक्र नामका दोष है । ३. किसी खंभेके सहारे खडे होना अथवा खंभेके समान खडे होना स्तंभावष्टंभ नामका दोष है । ४. शरीरके अवयवोंको संकोच कर खडे होना कुंचित नामका दोष है । ५. अपनी छातीको आगे निकालकर इसप्रकार खडे होना जिसमे छाती दिखाई दे, इसको स्तनेक्षा दोष कहते हैं । ६. कौएके समान इधर उधर देखते रहना काकदृक् नामका दोष है । ७ शिरको हिलाते जाना शीर्षकंपित नामका दोष है । ८. जिस बैलपर जूआ रक्खा जाता है वह जिसप्रकार अपनी गर्दन आगेको लंबी कर देता है उसीप्रकार जो गर्दनको आगेकी ओर लंबी कर खडा हो तो वह युगकंधर नामका दोष है । ९. कायोत्सर्गमें भ्रकुटियोंका चल जाना भ्रूक्षेप नामका दोष है । १०. मस्तकको ऊपर उठाकर कायोत्सर्ग करना उत्तरित नामका दोष है । ११- कायोत्सर्गमें उन्मत्तके समान शरीरका घुमाते रहना उन्मत्त नामका दोष है । १२. पिशाचके समान कपते रहना पिशाचनामका दोष है । १३. पूर्व दिशाकी ओर देखना, १४. आग्नेय दिशाकी ओर देखना । १५. दक्षिण दिशाकी ओर देखना, १६.नैऋत दिशाकी ओर देखना १७. पश्चिम दिशाकी ओर देखना, १८. वायव्य दिशाकी ओर देखना १९. उत्तर दिशाकी ओर देखना, २०. ईशान दिशाकी ओर देखना, इसप्रकार आठों दिशाओंके ओर देखना आठ दोष कहे जाते हैं । २१ गर्दनको नीचा कर खडे होना ग्रीवाधमन नामका दोष है, २२. गूंगे मनुष्यके समान मुख और नासिकाके विकारोंसे इशारा करना मूकसंज्ञा नामका दोष है, २३. उंगलियोंके द्वारा गिनना अंगुलिचालननामका दोष है, २४. थूकना निष्ठीवननामका दोष है, २५. लगाम लगाये हुए घोडेके समान दांतोंको घिसना शिरको हिलाना आदिको खलीनित दोष कहते हैं, २६. भीलिनीके समान हाथोंसे गुह्य स्थानोंको ढककर खडे होना शबरीगुह्यगूहन नामका दोष है, [1]

१- अन्य ग्रंथोंमें दिशाओंके अवलोकनको एक ही दोष माना है तथा उसके बदले वयोपेक्षा अधिक आयु हो जानेसे कायोत्सर्ग न करना, कालापेक्षा, कालकी संकीर्णतासे कायोत्सर्ग न करना, व्याक्षेपासन—मूढता लोभाकुलित पापकर्मार्जित आदि दोष माने हैं ।

॥२४८॥

२७. कैथके समान मुट्ठियोंको बांधकर खडे होना कपित्थमुष्टि नामका दोष है, २८. गर्दनको ऊंची कर खडे होना ग्रीवोन्नमन नामका दोष है, २९. अपने पैरोंको सांकलसे बंधे हुएके समान करके खडे होना शृंखलित नामका दोष है, ३०. मस्तकको किसी रस्सी वा माला आदिके सहारे रखकर खडा होना मालिकोद्वहन नामका दोष है, ३१. इधर उधरसे शरीरका स्पर्श करना स्वांग-स्पर्शन नामका दोष है, ३२, घोडेके समान एक पैरको ऊंचा कर खडे होना घोटकांघ्रि नामका दोष है। कायोत्सर्गके ये बत्तीस दोष हैं। तथा इनके सिवाय और भी जो दोष हैं उनको छोडकर कायोत्सर्ग करना चाहिये ॥ ८१-८५ ॥

आगे पल्यंकासनका स्वरूप बतलाते हैं।

वामान्तर्गुल्फेऽवामस्य गुल्फो बाह्यः स्थितस्तयोः।
पादयोरूरुमूलस्थं पल्यंके पार्ष्णियुग्मकम् ॥ ८६ ॥
गुल्फस्थोत्तानवामस्योत्तानावामकरः समः।
पल्यंकेऽत्रासने स्याच्चेत्कायोत्सर्गः सुसौष्ठवः ॥ ८७ ॥

कायोत्सर्गमें दो आसन होते हैं- एक खड्गासन और दूसरा पद्मासन। खड्गासनका लक्षण पहले कह चुके है। पद्मासनका लक्षण यह है— एडीके बगलमें जो उठी हुई हड्डी है उसको गुल्फ कहते हैं। और एडीके पिछलभागको पार्ष्णि कहते हैं। प्रत्येक पैरमें दो गुल्फ होते हैं-एक भीतरकी ओर जिसको अंतर्गुल्फ कहते हैं और एक बाहरकी ओर जिसको बाह्यगुल्फ कहते हैं। दोनों पैरोंके गुल्फोंमेंसे बायें पैरका भीतरी गुल्फ तथा दायें पैरका भीतरी गुल्फ अर्थात् दोनों पैरोंके दोनों भीतरी अंतर्गुल्फ जिसमें बाहर निकले हुए दिखाई दे रहे हैं तथा दोनों पैरोंकी दोनों पार्ष्णि वा एडी जघाके मूल भागमें लगी हुई हैं और जिसकी हथेली ऊपरकी ओर है ऐसा बांया हाथ गुल्फोंके ऊपर रखा हुआ है तथा उस बांये हाथके ऊपर दायां हाथ भी उसीप्रकार ऊपरकी

॥२४९॥

ओर हथेली किये हुए रक्खा हुआ है । इसप्रकार वैठनेसे जो आसन बनता है उसको पल्यंकासन कहते हैं । ऐसे पल्यंकासनसे यह कायोत्सर्ग बहुत अच्छी तरहसे होता है ॥ ८६-८७ ॥

त्रिशुद्धो द्वादशावर्त्तो द्विनिषण्णे चतुर्नतो ।
बद्धांजुलो त्यजेद्दोषान् कृतिकर्मव्रजेऽप्यमून् ॥ ८८ ॥

वंदना करनेवालेको मन, वचन, काय तीनों शुद्ध रखना चाहिये, बारह आवर्त करने चाहिये, आदि अंतमें दो वार बैठकर नमस्कार करना चाहिये, चारों दिशाओंमें चार नमस्कार करने चाहिये । तथा दोनों हाथ जोडकर वंदनाके बत्तीस दोषोंसे रहित होकर वंदना करनी चाहिये ॥ ८८ ॥

आगे वंदनाके बत्तीस दोषोंको कहते हैं ।

स्तब्धः प्रविष्टोऽनालब्धमालब्धं परिपीडितम् ।
दोलायितं मनोदुष्टं मत्स्योद्धर्त्तनभेषितम् ॥ ८९ ॥
हीनाधिकर्द्धिगौरवशेषगौरवघर्घरम् ।
भेष्यत्वं स्तानितं मूकमुन्मस्तकमनादृतम् ॥ ९० ॥
तर्जितं शब्दितं संघकरमोचितं कुंचितम् ।
वेदिकाबद्धक्रोधादिशल्याचार्यादिदर्शनम् ॥ ९१ ॥
प्रत्यनीकं सुललितादृष्टे कच्छपरिंगितम् ।
हेलितं त्रिवलितं चेति द्वात्रिंशदमी मताः ॥ ९२ ॥ चतुष्कम् ।

१. किसी मदसे उन्मत्त होजाना स्तब्ध नामका दोष है, २. अरहंतादिकके अत्यंत निकट होकर वंदना करना प्रविष्ट नामका दोष है, ३- उपकरणोंकी आशा रखते हुए आवश्यक करना

॥२५०॥

अनालब्ध नामका दोष है, ४. उपकरणोंके प्राप्त होनेपर आवश्यक करना आलब्ध नामका दोष है, ५. वदना करते समय जंघाओंपर हाथ फेरते जाना परपीडित नामका दोष है, ६. झूलाके समान शरीरको आगे पीछे हिलाते जाना दोलायित नामका दोष है, ७. अपने मनमें आचार्यादिके ऊपर आक्षेप करना मनोदुष्ट नामका दोष है, ८. मछलीके समान कमरको निकालकर वंदनाके लिये बैठना मत्स्योद्वर्तन नामका दोष है, ९. किसी डरसे डरकर वदना करना भेपित नामका दोष है, १०. मात्रासे कम क्रिया करना हीन दोष है, ११. मात्रासे अधिक क्रिया करना अधिक दोष है, १२. ऋषि, मुनि, यति, अनगार चारों प्रकारके मुनियोंका समुदाय मेरा भक्त हो जायगा ऐसा भाव रखकर वदना करना ऋद्धिगौरव दोष है, १३. अपने माहात्म्यकी इच्छा रखकर वा भोजन उपकरण आदिकी इच्छा रखकर वंदना करना गौरव दोष है; १४. अपने शब्दसे दूसरोंके शब्दोंको आच्छादित करना घर्घर नामका दोष है, १५. गुरु आदिसे डरकर वदना करना भेप्यत्व नामका दोष है, १६. गुरु आदिसे छिपाकर वंदना करना स्तेनित नामका दोष है, १७. इशारे करना अथवा वदनाके पाठको मुखके भीतर ही बोलना जिससे सुनाई न पडे वह मूक दोष है, १८. मस्तकको ऊंचा नीचा करना उन्मस्तक नामका दोष है, १९. आदररहित क्रियाएं करना अनादृत दोष है, २०. अपनी तर्जनी अंगली उठाकर शिष्योंको भय उत्पन्न करते हुए वदना करना तर्जित दोष है, २१. बातचीत करते हुए वंदना करना शब्दित दोष है, २२ मुझसे वदनादिक क्रियाएं जबर्दस्ती कराई जाती हैं इसप्रकारके भाव रखना सघकरमोचित दोष है, २३. मस्तकको हाथोंसे स्पर्श करना अथवा मस्तकको जंघाओंके मध्यमें रखना कुंचित नामका दोष है, २४. भुजाओंसे जघाओंका बांध लेना अथवा अपने स्तनोंको हाथोंसे मर्दन करना वेदिकाबद्ध दोष है, २५. दोषी पुरुषोंपर क्षमा नहीं करना क्रोधादि-शल्य दोष है, २६. आचार्यकी दृष्टि बचाकर वंदना करना आचार्यादिदर्शन दोष है, २७. अपनी प्रति-कूल वृत्ति रखकर गुरुकी आज्ञाका खंडण करना प्रत्यनीक दोष है, २८. गागाकर वंदनाका पाठ बोलना सुललित नामका दोष है, २९. आचार्यादिकके देखते हुए वदनादिक करना दृष्टिदोष है,

॥२५१॥

३० यदि बैठे ही बैठे आगे सरकनेकी क्रिया करता हुआ वंदना करे तो कच्छपरिंगित नामका दोष है, ३१ वंदना करते समय हँसी करना हेलित दोष है, ३२ ललाटपर रेखाएं पडजाना अथवा कमर गर्दन आदिमें बल पडजाना त्रिवलित दोष है। इसप्रकार वंदनाके ये बत्तीस दोष हैं ॥८९–९२॥

आगे भगवान् अरहंत देवकी स्तुति करते हैं।

श्रीपादद्वयस्यासीद्मरीचिकुरोऽम्बरम् ।
यस्य स्याद्वादिनो विश्ववेदिनः पातु नो जिनः ॥ ९३ ॥

जो भगवान् अरहंतदेव स्याद्वाद विद्याको प्रकाशित करनेवाले हैं, तीनों लोकोंके समस्त तत्त्वोंको और उनकी समस्त पर्यायोंके जानकार हैं और जो अंतरंग बहिरंग लक्ष्मीकी किरणोंके द्वारा उदय होनेवाले अपूर्व चंद्रमा हैं। तथा जिन अपूर्व चंद्रमारूपी भगवान्का प्रकाश समस्त देवांगनाओंके केशरूपी नीले आकाशमें व्याप्त हो रहा है ऐसे वे श्री अरहंत भगवान हम लोगोंकी रक्षा करें ॥ ९३ ॥

विपक्षक्षयजानंतानंतज्ञानादिसद्गुणः ।
दद्यादद्य स नः प्राज्यं वृजिनारिजयं जिनः ॥ ९४ ॥

ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अंतराय कर्मके नाश होनेसे अनंतज्ञान, अनंतदर्शन अनंतसुख और अनंतवीर्यरूप अनतचतुष्टय श्रेष्ठ गुण जिनके प्रगट हो चुके हैं ऐसे वे भगवान् जिनेंद्र देव आज हम लोगोंको पापरूपी महा शत्रुओंका विजय प्रदान करें ॥ ९४ ॥

आगे सिद्धोंकी स्तुति करते हैं।

नष्टदुष्टाष्टकर्माणस्ते पुष्टाष्टगुणर्द्धयः ।
त्रिलोकीमस्तकोत्तंसाः सिद्धा नः सन्तु सिद्धिदाः ॥ ९५ ॥

जिनके ज्ञानावरणादिक आठों दुष्ट कर्म नष्ट होगये हैं तथा सम्यक्त्वादिक आठ गुणरूपी ऋद्धियोंसे जो परिपूर्ण हैं और जो तीनों लोकोंके मस्तकपर मुकुटके समान सुशोभित हैं ऐसे वे सिद्ध भगवान् हम लोगोंको सब प्रकारकी सिद्धि देनेवाले हों ॥ ९५ ॥

आगे आचार्यकी स्तुति करते हैं ।

निराकृत्यान्तरं ध्वान्तं सूरिसूरः करोत्वरम् ।
सन्मानसांबुजानंदममन्दं वाक्करैर्वरैः ॥ ९६ ॥

इस संसारमें आचार्य सूर्यके समान हैं । जिसप्रकार सूर्य अंधकारको नष्ट कर अपनी किरणोंसे समस्त कमलोंको प्रफुल्लित करता है उसीप्रकार आचार्यरूपी सूर्य अपनी सर्वोत्तम वचनरूपी किरणोंसे अंतरंगके पापरूप अंधकारको नष्टकर श्रेष्ठ पुरुषोंके मनरूपी कमलको अत्यंत आनंदित करो ।

आगे उपाध्यायकी स्तुति करते हैं ।

कुर्वन्नखर्वदुर्वादिमदाद्विरदमर्दनम् ।
स्याद्वादाद्रावुपाध्यायासिन्धुरारिर्विजृंभताम् ॥ ९७ ॥

इस संसारमें उपाध्याय अनेक हाथियोंको नाश करनेवाले सिंहके समान है । जिसप्रकार सिंह अनेक हाथियोंके मानमर्दन कर पर्वतोंपर आनंद किया करता है उसीप्रकार उपाध्यायरूपी सिंह बडे भारी प्रतिवादियोंके मदरूपी हाथियोंको मर्दन करते हुए स्याद्वादरूपी पर्वतपर सदा काल विहार करो ॥ ९७ ॥

आगे साधुओंकी स्तुति करते हैं ।

रत्नत्रयामृतांभोधिविधवः साधवः श्रियम् ।
दद्युरात्मर्द्धिनिर्धूतदुरितध्वान्तवृत्तयः ॥ ९८ ॥

जो रत्नत्रयरूपी अमृतके समुद्रको बढानेके लिये चंद्रमाके समान हैं और अपनी ऋद्धियोंसे जिन्होंने पापरूपी- अंधकारकी समस्त प्रवृत्तियोंको उडादिया है ऐसे समस्त साधुजन हम लोगोंको

॥२५३॥

मोक्षरूपी लक्ष्मी दें ॥ ९८ ॥

आगे पंचपरमेष्ठीकी स्तुति करते हैं ।

त्रिजगद्गुरवः सर्वैर्गुणैर्गुरव इत्यमी ।
गुरवः पंच नः पान्तु पापापायनिकायतः ॥ ९९ ॥

जो तीनों जगतके गुरु हैं और जो गुणोंसे भी सबके गुरु वा सबसे बडे हैं ऐसे अरहंत सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, सर्वसाधु पांचों ही परमेष्ठी समस्त पापोंक समूहको नाश कर हम लोगोंकी रक्षा करें ॥ ९९ ॥

आगे रत्नत्रयकी स्तुति करते हैं ।

लोकत्रयेशदत्तार्घ्यमप्यनर्घ्यं महोदयम् ।
रत्नत्रयं पवित्रं नः पुनातु हृदयं सदा ॥ १०० ॥

इन्द्र, नरेंद्रादिक तीनों लोकोंके स्वामी जिसके लिये अर्घ देते हैं, जो अमूल्य है, जिसका महान् उदय है और जो परमपवित्र है ऐसा रत्नत्रय मेरे हृदयको सदा पवित्र करो ॥ १०० ॥

आगे धर्मकी स्तुति करते हैं ।

स्तुत्यः स्तुतिशतैर्धर्मः शर्मदो यो गुणात्मकः ।
गुणिनः सद्गुणाश्चैते भवन्तु मम मंगलम् ॥ १०१ ॥

सैकडों स्तुतियोंसे जिसकी स्तुति की जाती है, जो सबका कल्याण करनेवाला है और अनेक गुणोंसे भरपूर है ऐसा यह धर्म हमारा सदा कल्याण करो इसीप्रकार रत्नत्रयादिक गुण तथा उन गुणोंको धारण करनेवाले ये गुणी पुरुष मेरे लिये मंगल देनेवाले हों ॥ १०१ ॥

आगे भगवान् चंद्रप्रभकी स्तुति करते हैं ।

॥२५४॥

यत्कान्तकान्तिः कुमुदं वितन्वती ।
तनोत्यलं तत्कमलोत्सवं नवम् ॥
निरस्तदोषाऽभ्युदयाक्षयश्रियं ।
क्रियात्स चंद्रप्रभदेववल्लभः ॥ १०२ ॥

जिनके शरीरकी कांति कुमुद अर्थात् पृथ्वीभरको आनदित करती है अथवा कमोदिनियोंको भी प्रफुल्लित करती है, तथा भव्यरूपी अपूर्व कमलोंको भी प्रफुल्लित करती है, जो समस्त इंद्रादिक देवोंके स्वामी है और जिनकी अतरग और बहिरग लक्ष्मीका उदय समस्त दोषोंको नष्ट करनेवाला है अथवा समस्त रात्रियोंको नष्ट करनेवाला है ऐसे वे श्रीचन्द्रप्रभ भगवान् हम लोगोंको मोक्षरूप अक्षय लक्ष्मीको देनेवाले हों ॥ १०२ ॥

इसप्रकार श्री वीरनंदि सिद्धांतचक्रवर्तिविरचित श्रीआचारसार नामके
शास्त्रकी चावली (आगरा) निवासी, देहली प्रवासी 'धर्मरत्न'
लालारामशास्त्रीद्वारा निर्मित सरल हिंदी भाषाटीकामें
आवश्यकोंके स्वरूपको वर्णन करनेवाला यह
नौवां अधिकार समाप्त हुआ ।



॥ अथ दशमोऽधिकारः ॥

यद्वाक्यामृतमाजवंजवदवोत्तप्तात्मनामात्मनां
नानैनश्चिततापलोपनपरं श्रीशीतलः शीतलम् ।
यस्यांगस्य मरीचिमंडलमिलानंदेंदिरामन्दिरं
पायात्पार्वणशीतरश्मिरुचिरः सोऽयं जिनाधीश्वरः ॥ १ ॥

दशवां अधिकार.

जिनके वचनरूपी अमृत संसाररूपी दावानल अग्निसे तप्तायमान हुए प्राणियोंके अनेक प्रकारके पापोंके समूहसे उत्पन्न हुए संतापको दूर करनेवाले हैं और जिनके शरीरकी शीतल किरणें पृथ्वीमंडलके आनंदरूपी लक्ष्मीका मंदिर हैं ऐसे पूर्णमासीके चन्द्रमाके समान अत्यंत देदीप्यमान श्रीजिनेंद्रदेव श्रीशीतलनाथभगवान् हम लोगोंकी रक्षा करें ॥ १ ॥

आगे मुनिपदकी प्रशंसा करते हैं ।

दीक्षां पीठिकयोदितेन विधिना शिक्षां गृहीत्वा समा-
चारेणानुमतो गणेन गणिना प्राप्तश्च सत्सूरिताम् ।
षट्त्रिंशद्गुणभूषणो व्यपगतव्यापद्गणं सद्गणं
रक्षन् यः समयं नयत्यतितरां धन्यः स मान्यो मुनिः ॥ २ ॥

जिन्होंने पीठिका वा पहले अध्यायमें कही हुई विधिके अनुसार दीक्षा धारण कर ली है, तथा दूसरे अधिकारमें कही हुई समाचार नीतिके अनुसार जिन्होंने शिक्षा ग्रहण कर ली है, जिनको समस्त संघ और आचार्य मानते हैं, जिन्होंने श्रेष्ठ आचार्यपद धारण किया है, जो आचार्यके

॥२५६॥

छत्तीस गुणोंसे सुशोभित है, जिनकी आपत्तियोंका समस्त समूह नष्ट होगया है और समस्त संघकी रक्षा करनेमें तत्पर हैं। इसप्रकार जो आचार्य अपना दीर्घ काल व्यतीत करते हैं वे आचार्य समस्त संसारमें माननीय होते हुए धन्य गिने जाते हैं॥ २॥

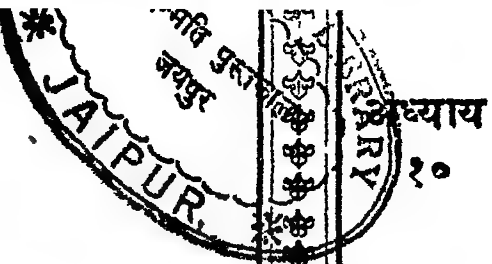
आगे ऐसे मुनियोंको क्या करना चाहिये सो कहते हैं।

ज्योतिःशास्त्रविनूतजातकमतान्नानानिमित्तक्षणात्
प्रश्नाच्चायचयग्रहावलिवलक्षीणत्वसंप्रेक्षणात्।
प्रश्नस्याक्षरलक्षणेक्षणवशात्कालागमात्स्वायुषो
मानं द्वादशवर्षसंमितमतो हीनं च निश्चित्य सः॥ ३॥
पश्चाच्चारुतरात्मसंस्करणधीर्द्धीरो मुमुक्षुर्गणी
प्रीत्या पालितमात्मनात्मनि महास्नेहानुवंधे महत्।
वृन्दं तुन्दिलवालरोगिसुतपःशैक्षादिभिक्ष्वन्वितं
प्रारोप्यात्मभरं वरं गणधरे सद्वृत्तलक्ष्मीधरे॥ ४॥
रक्षादक्षतमं गणस्य गणिनं सर्वं गणं चादरा-
दाहूय प्रियवाक्चयामृतरसासारेण चेतोगतम्।
तापं तस्य निरस्य दुस्तरतरं जातं वियोगाद्गुरोः
स्वस्यातो नियतं विहारमपरं कुर्वन्मुनीन्द्रोत्तमः॥ ५॥ त्रिकम्।

ऐसे मुनिराजको किसी ज्योतिःशास्त्रसे वा विनूत नामके जातक शास्त्रसे, वा अनेक प्रकारके निमित्तशास्त्रोंसे, वा अनेक प्रकारके प्रश्नोंसे, अपने ग्रहोंके अपचय होनेसे वा ग्रहोंके वलका

क्षीण होनेसे, प्रश्नोंके अक्षरोंके लक्षणको देखकर, कालशास्त्रको देखकर अथवा और किसी भी प्रकारसे अपनी आयुका निश्चय करना चाहिये तथा आयुके विषयमें यह निश्चय कर लेना चाहिये कि मेरी आयु बारह वर्ष प्रमाण रह गई है अथवा उससे कम रहगई है । ऐसा निश्चय उन मुनिराजको कर लेना चाहिये । तदनतर अपने सर्वोत्तम संस्कार करनेमें (समाधिमरण धारण करनेमें वा मोक्ष प्राप्त करनेमें) जिनकी बुद्धि लग रही है, जो अत्यंत धीरवीर हैं, मोक्ष प्राप्त करनेकी इच्छा जिनको लग रही है और जो सबके नायक है ऐसे उन आचार्यको उचित है कि वे जिसमें बडा भारी समुदाय है, जो पूज्य हैं, जिसमें कितने ही मुनि थोडी आयुवाले बालक हैं, कितने ही मुनि रोगी हैं, कितने मुनि जलोदर आदि ऐसे रोगोंसे पीडित हैं, जिनके उदर बढ रहे हैं, कोई महा तपस्वी हैं, कोई पढने योग्य हैं ऐसे उन मुनियोंके सघको तथा बडे भारी स्नेहके कारणभूत अपने आत्मामें अपने ही आत्माके द्वारा बडे प्रेमपूर्वक जिसका पालन किया है, जिसमें उन सबकी रक्षाका ध्यान रक्खा जाता है, सबके द्वारा सम्यक्चारित्रके पालन करानेका ध्यान रक्खा जाता है ऐसे उस आचार्यपनेके सर्वोत्तम समस्त भारको किसी ऐसे नवीन आचार्यको सौंप देना चाहिये । जो श्रेष्ठ चारित्ररूपी लक्ष्मीको धारण करनेवाले हों । तदनतर उन पहले आचार्यको उचित है कि वे उस संघकी रक्षा करनेमें अत्यत चतुर ऐसे उन नवीन आचार्यको आदरपूर्वक बुलावें, तथा साथमें उस समस्त सघको भी आदरपूर्वक बुलावें । फिर प्रिय वचनोंके समूहरूपी अमृतके रसकी वर्षासे अर्थात् सुमधुर उपदेश देकर उस नवीन आचार्यके हृदयमें वा समस्त सघके हृदयमें प्राप्त हुए पापोंको दूर करें अथवा गुरुके वियोगसे उत्पन्न हुई कलुषताको दूर करें । इतना सब काम करलेनेके बाद उन उत्तम मुनिराजको अपना दूसरा अनियत विहार करना चाहिये । नियत विहारमें ठहरनेका स्थान निश्चित रहता है परंतु अनियत विहारमें ठहरनेका स्थान कोई निश्चित नहीं रहता ॥ ३–५ ॥

आगे अनियत विहार करनेसे क्या लाभ होता है सो कहते हैं ।



प्रेक्ष्यन्ते बहुदेशसंश्रयवशात्संवेगिताद्यात्य-
स्तीर्थाधीश्वरकेवलोद्गममहीनिर्वाणभूम्यादयः ।
स्थैर्यं धैर्यविरागतादिषु गुणेष्वाचार्यवर्येक्षणा-
द्विद्यावित्तसमागमादधिगमो नूत्नार्थसार्थस्य च ॥ ६ ॥

अनियत विहार करनेमें अनेक देशोंका आश्रय लेना पडता है जिससे संवेग, वैराग्य आदि गुणोंको धारण करनेवाले अनेक आप्तजनोंके- पूज्य पुरुषोंके दर्शन होते हैं, तीर्थंकरोंको जहां जहां केवलज्ञान प्रगट हुआ है अथवा जहां जहां निर्वाण प्राप्त हुआ है उन समस्त तीर्थक्षेत्रोंके दर्शन प्राप्त होते हैं। अनेक उत्तमोत्तम आचार्योंके दर्शन करनेसे धीरता, वैराग्य आदि उत्तम गुणोंमें स्थिरता प्राप्त होती है और विद्यारूपी धनकी प्राप्ति होती है। तथा विद्यारूपी धनकी प्राप्ति होनेसे निश्चित अर्थोंके समूहका ज्ञान होता है। ये सब लाभ अनियत विहार करनेसे होते हैं।

सद्रूपं बहुसूरिभाक्तिकयुतं क्षामादिदोषोज्झितं
क्षेत्रं पात्रमपीक्ष्यते तनुपरित्यागस्य निःसंगता ।
सर्वस्मिन्नपि चेतनेतरबहिःसंगे स्वशिष्यादिके
गर्वस्यापचयः परीषहजयः सल्लेखना चोत्तमा ॥ ७ ॥

तदनंतर उन मुनिराजको सल्लेखना धारण करनेके लिये ऐसा क्षेत्र देखना चाहिये जहांपर राजा उत्तम धार्मिक हो, जहांके लोग सब आचार्यादिकोंकी बहुत भक्ति करनेवाले हों, तथा जहां-पर निर्धन और दरिद्र प्रजा न हो। इसीप्रकार पात्र ऐसे देखने चाहिये जिनके शरीरके त्याग करनेमें भी निर्मोहपना हो, चेतन वा अचेतन आदि समस्त बाह्य परिग्रहोंसे भी निर्मोहपना हो तथा अपने शिष्यादिकोंमें भी अभिमान न हो और जो परिषहोंको अच्छीतरह जीतनेवाले हों ऐसे क्षेत्र और पात्रोंको अच्छीतरह देखकर सल्लेखना धारण करनी चाहिये ॥ ७ ॥

॥२५९॥

आगे सलेखनाके वारह वर्ष किस प्रकार व्यतीत करने चाहिये सो कहते हैं ।

सम्यकायकषायकार्श्यकरणं सल्लेखनाद्या वरै–
योगैर्वर्षचतुष्टयं रसपरित्यागैस्तथाद्धद्वयम् ।
सौवीरान्नरसोज्झनैराभिषवान्नेनाद्धमेतद्दलं
बाह्यैर्मन्दतपोभिरुग्रनियमैरब्दार्धमंगार्दनम् ॥ ८ ॥

अच्छीतरह काय और कषायको कृश करना घटाना सल्लेखना है इसको बाह्य सल्लेखना कहते हैं । इसके धारण करनेका उपाय यह है कि चार वर्ष तो श्रेष्ठ योग धारण कर अर्थात् उग्रोग्र तप और नियम धारण करते हुय व्यतीत करना चाहिये । चार वर्ष रसोंका त्याग करते हुए पूर्ण करना चाहिये । दो वर्ष सौवीर अन्न अर्थात् कांजी आदि अन्न मात्रका त्याग कर व्यतीत करना चाहिये । एक वर्ष दूध छाछ आदि पतले पौष्टिक पदार्थोंको ग्रहण करते हुय व्यतीत करना चाहिये । फिर छह महिने मदमंद रीतिसे उपवास आदि बाह्य तपश्चरण– कर पूर्ण करने चाहिये । और फिर शेषके छह महीने (मरणसमयके छह महीने) कठिन नियमोंको धारण कर व्यतीत करने चाहिये ॥ ८ ॥

कालं कायबलं च देशमशनं पानं प्रकृत्यादिकं
ज्ञात्वा पित्तकफानिलैर्निजगतेर्न स्याद्यथा विक्रिया ।
कर्त्तव्या विदुषा तथोक्तविधिभिर्बाह्यैस्तपः प्रक्रमै–
राचार्योऽनुमतैः समाधिफलदैरेषांगसल्लेखना ॥ ९ ॥

तदनंतर वर्षाऋतु, ग्रीष्मऋतु, वा शीतऋतु आदि कालको अच्छीतरह देखकर, अपने शरी– रके बलको अच्छीतरह देखकर, देशको देखकर, भोजन पान आदिकी सामग्रीको देखकर, और अपनी वात, पित्त, कफ जनित प्रकृतिको देखकर, तथा वात, पित्त, कफ आदिके दोषोंसे अपनी

बुद्धिका किसी प्रकारका विकार प्राप्त न हो इस रीतिसे शास्त्रोंमें लिखी हुई विधिके अनुसार ध्यानरूपी उत्तम फलको देनेवाले और आचार्योंको मान्य ऐसे बाह्य तपश्चरणोंको धारण कर उन विद्वान् मुनियोंको सल्लेखना धारण करनी चाहिये। इस सल्लेखनाको अंग सल्लेखना अथवा शरीरको कृश करना कहते हैं ॥ ९ ॥

आगे कषाय सल्लेखनाका स्वरूप कहते हैं।

सद्ध्यानप्रकरैः कषायविषया सल्लेखना श्रेयसी
स्वेष्टानिष्टवियोगयोगयुगजे बाधानिदानोद्भवे।
इत्यार्त्तस्य चतुर्विधस्य विजयो हिंसामृषास्तेयसं-
रक्षानन्दविभेदतोऽशुभकृतो ध्यानस्य रौद्रस्य च ॥ १० ॥

कषायोंको कृश करना कषायोंको कम करना कषाय सल्लेखना है। वह उत्तम सल्लेखना उत्तम ध्यानके समूहसे होती है अर्थात् श्रेष्ठ ध्यान धारण करनेसे कषायें नष्ट होती है। कषायोंको नष्ट करनेका सबसे अच्छा उपाय आर्तध्यानके और रौद्रध्यानका जीतना है। आर्तध्यानके चार भेद हैं इष्ट पदार्थोंके वियोगसे उत्पन्न होनेवाला पहला आर्तध्यान है, अनिष्ट पदार्थोंके संयोगसे उत्पन्न होनेवाला दूसरा आर्तध्यान हैं। रोग वा पीडासे उत्पन्न होनेवाला तीसरा आर्तध्यान है और निदानसे उत्पन्न होनेवाला चौथा आर्तध्यान है। इसीप्रकार रौद्रध्यानके चार भेद हैं। हिंसामें आनंद मानना पहला रौद्रध्यान है झूठ बोलनेमें आनंद मानना दूसरा रौद्रध्यान है चोरीमें आनंद मानना तीसरा रौद्रध्यान है और परिग्रहोंकी रक्षा करनेमें आनंद मानना चौथा रौद्रध्यान है। इसप्रकार चारों आर्तध्यान और चारों रौद्रध्यानोंके जीतनेसे कषायोंको नाश करनेवाली कषाय सल्लेखना होती हैं ॥ १० ॥

आगे ध्यानकी सामग्री बतलाते हैं।

॥२६१॥

ध्यातृध्यानविचिंत्यचिंतनफलान्यंगानि चत्वारि तैः
स्याद् ध्यानं सदसच्च तत्र भवति ध्यातोत्तमैरन्वितः ।
आद्यैः संहननैस्त्रिभिस्त्रिभिरुपेतोऽन्त्यैः स नाऽस्मिन्पुनः
चिन्तातर्वहिरंगकारणसृणिप्रेर्यो हि कार्यद्विपः ॥ ११ ॥

ध्यानके चार अंग हैं ध्यान करनेवाला ध्याता, ध्यान करना, ध्यान करने योग्य पदार्थ, और ध्यानका फल, इन चारोंके संयोग मिलनेसे ध्यान होता है। वह दो प्रकार है। एक श्रेष्ठ ध्यान और दूसरा अशुभ ध्यान। उनमेंसे शुभ वा शुद्ध ध्यान ऐसे उत्तम ध्यान करनेवालोंके होता है जिनके वज्रवृषभनाराच, वज्रनाराच और नाराचये पहले तीन उत्तम संहनन होते हैं। तथा जिनके अर्द्धनाराच, कीलक और असम्प्राप्तासृपाटिक ये तीन संहनन होते हैं उनके उत्तम ध्यान नहीं होता। यह चिंतवन वा ध्यान हृदयरूप हाथीका एक कार्य है तथा वह हृदयरूप हाथी अंतरंग बहिरंग कारणरूपी अंकुशके आधीन है।

भावार्थ— चिंतवन करना मनका कार्य है वह मन अंतरंग और बहिरंग कारणोंके आधीन है। अंतरंग और बहिरंग जैसी कारण सामग्री मिलती है वैसाही कार्य वा वैसाही शुभ अशुभ चिंतवन उस मनसे होता है ॥ ११ ॥

आगे ध्यानका लक्षण कहते हैं।

एकस्मिन्विषयेऽग्रमाननमभूदस्या मतेरित्यसा-
वेकाग्रा विषयोपयोगनिरता चिन्ता निरोधोऽचला-
वस्था स्यान्निजगोचराचलमनो ध्यानं तदंतर्मुहू-
र्तावस्थानमतीवदुर्धरतया नाऽतः परं तिष्ठति ॥ १२ ॥

इस बुद्धिका वा मनके कार्यका किसी एक विषयमें अग्र होना मुखरूप होना एकाग्र कहलाता

॥२६२॥

है । इस विषयके एकाग्ररूपसे किसी विषयमें उपयोगका लीन हो जाना अन्य समस्त चिंतव-
नोंको ऐककर उसी एक पदार्थका चिंतवन करना तथा उससमयमें अचल अवस्थाका हो जाना
अपने आत्मामें मनका अचल वा निश्चल हो जाना ध्यान है । मनकी इसप्रकार निश्चल अव-
स्थाका होना अत्यत कठिन है और इसीलिये वह ध्यान अधिकसे अधिक समयतक हो तो अंतर्मुहूर्त-
तक होता है इससे अधिक समयतक कभी नहीं हो सकता ॥ १२ ॥

आगे अशुभ ध्यानकी योग्यता दिखलाते हैं ।

मिथ्यात्वोरुतमास्तिरस्कृतसुदृग्ज्ञानोऽधिकक्रोधवान्
स्तब्धः सत्स्वपि वंचनांचितमतिर्लुब्धः परार्थेष्वपि ।
दुर्लेश्यावशगाशयश्च भवति ध्याताऽशुभध्यानयो-
र्ध्येयं ध्यानविशेषलक्षणविनिर्देशक्षणे लक्ष्यते ॥ १३ ॥

जिसने मिथ्यात्वके उदयरूप घोर अंधकारसे सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानका तिरस्कार कर
दिया है अर्थात् जो तीव्र मिथ्यादृष्टी है, क्रोधी है, अभिमानी है, जिसकी बुद्धि श्रेष्ठ पुरुषोंके
ठगनेमें ही सदा लगी रहती है जो दूसरोंके धनमें भी तीव्र लोभ करता है। और जिसका हृदय
अशुभ लेश्याओंके वशीभूत है ऐसा जीव अशुभ ध्यानको धारण करनेवाला होता है । तथा उस
समय वह पुरुष जिस पदार्थका चिंतवन करने लग जाता है वही उसका ध्येय वा ध्यानका विषय पड
जाता है । इसप्रकार ध्यानका सामान्य वर्णन किया ॥ १३ ॥

अब आगे अनुक्रमसे चारों आर्तध्यानोंका स्वरूप कहते हैं उसमेंभी

पहले इष्ट वियोगज आर्तध्यानको कहते है ।

जीवाजीवकलत्रपुत्रकनकाऽगारादिकादात्मनः
प्रेमप्रीतिवशात्मसात्कृतबहिःसंगाद्वियोगोद्गमे ।

॥२६३॥

क्लेशेनेष्टवियोगजार्त्तमचलं तच्चिन्तनं मे कथं
न स्यादिष्टवियोग इत्यपि सदा मन्दस्य दुःकर्मणः ॥१४॥

जीव, अजीव, स्त्री, पुत्र, सोना, चांदी, घर आदि जिन जिन इष्ट पदार्थोंको इस जीवने अपने प्रेम वा प्रीतिके कारण अपने मान रक्खे है ऐसे वाह्य पदार्थोंके वियोग होनेपर दुःख होता है और उस दुःखसे इष्ट वियोग जन्य आर्तध्यान होता है। तथा मेरे यह इष्ट वियोग किसी प्रकार भी मत हो अथवा मेरे इष्टका वियोग किस प्रकार नहीं होगा इसप्रकार जो अज्ञानी और पापी जीवोंके निश्चल चिंतवन होता है वा सदा वना रहता है उसको इष्ट वियोग जन्य आर्तध्यान कहते हैं ॥ १४ ॥

आगे अनिष्ट संयोगज नामके आर्तध्यानको कहते हैं।

क्रूरैर्व्यन्तरचौरवैरिमनुजैर्व्यालैर्मृगैरापदि
प्राप्तायां गरलादिकैश्च महती तन्नाशचिन्ताऽऽपदा ।
संयोगो न भवेत् सदा कथमिति क्लेशातितुन्नं मनः
चार्त्तध्यानमनिष्टयोगजनितं जातं दुरन्तैनसः ॥१५॥

अत्यंत क्रूरताको धारण करनेवाले व्यंतर, चोर, वैरी, मनुष्य, सर्प, सिंह और विष आदिके द्वारा किसी भी प्रकारकी आपत्ति आजानेपर उसके नाश होनेकी जो वडीभारी चिंता होती है उसके नाश होनेका जो चिंतवन होता है तथा ऐसी आपत्ति मुझपर कभी न आवे अथवा किस उपायसे मुझपर ऐसी आपत्ति नहीं आसकती इसप्रकारके क्लेशोंसे जो मन सदा दुःखी रहता है वह अनिष्ट संयोगसे उत्पन्न हुआ आर्तध्यान कहलाता है। ऐसा आर्तध्यान वडे भारी पाप कर्मके उदयसे होता है ॥ १६ ॥

आगे पीडा जनित आर्तध्यानको कहते हैं।

॥२६४॥

रहती है। ऐसे उस दुःखको निगोदादिक दुःख देनेवाला निदान नामका आर्तध्यान कहते है।

भावार्थ– इस लोक संबंधी वा परलोक संबंधी भोगोपभोगोंकी तीव्र लालसाओंका होना निदान नामका आर्तध्यान है।

आगे जिसके आर्तध्यान होता हैं उसके कैसे लक्षण होते हैं सो कहते हैं।

ग्लान्यश्रूद्गमशोकशोषजडतामूर्छांगकंपोत्कता
निः श्वासस्वरभंगकार्ष्ण्यकृशतामौनाऽभिवीक्षामृति–
प्रस्वेदाऽनिमिषेणास्थितिरुजायाञ्चामृषोक्त्यादयः
स्पष्टाः स्वस्यपरस्यवाऽऽर्त्तजनितास्तज्ज्ञापकाः कायिकाः ॥१८॥

हृदयमें ग्लानि उत्पन्न होना, आसुओंका निकलना, शोक होना, शरीरका सूखना, चेष्टा रहित होना, मूर्च्छाका आजाना, शरीरका कंपना कार्यको जल्दी करना, लंबी श्वास लेना, स्वरभंग हो जाना, शरीर और मुखपर कालिमाका आजाना, शरीरका कृश हो जाना, मौन धारण करना, सामने देखते रहना, मरणको प्राप्त हो जाना, पसीना आना, नेत्रोंकी टिमिकारका न लगना, स्थिरताका न होना, रोगी होना, याचना करना, झूट बोलना, आदि शरीरमें उत्पन्न होनेवाले चिन्ह अपनेमें उत्पन्न हो वा कोई इन चिन्होंको किसी दुसरेमें उत्पन्न करे तो समझना चाहिये कि उसके आर्तध्यान है क्योंकि ये सब चिन्ह स्पष्ट रीतिसे आर्तध्यानसे ही उत्पन्न होते है और उसके आर्तध्यानको ही सूचित कहते हैं ॥ १८ ॥

आगे इस आर्तध्यानकी निरुक्ति पूर्वक इसका स्वरूप और इसका फल कहते हैं।

अर्तिर्दुःखमसातजातजनितं स्यादार्त्तमत्तौं भवं
पापाऽऽदाननिदानमार्द्रसिचयं यद्वद्रजःसंश्रयम्।

॥२६६॥

बाधासंजनितार्त्तमार्तिनिहितं स्वान्तं नितान्तास्थिरं
तीव्राद्धिश्वपरीषहान्मम कदा विश्लेष इत्यांगिनः ।
दीनस्यास्तविशिष्टवस्तुविषयज्ञानस्य न स्यात्कथं
क्लेशाल्या मम जातु संगम इति क्लिष्टं च तत्स्यान्मनः ॥ १६ ॥

'अनेक पीडाओंसे उत्पन्न हुआ दुःख तथा अनेक आंतरिक व्याधियोंसे परिपूर्ण और अत्यत अस्थिर वा डवांडोल मेरा मन इन व्याधियोंसे कब अलग होगा मेरे साथ जो सब प्रकारके ये दुःख लग रहे हैं इनसे मेरा पिंड कब छूटेगा' इसप्रकार जो विशेष विशेष पदार्थोंको न जाननेवाले दीन पुरुषके हृदयमें बार बार चिंतवन होता है अथवा 'मुझे थोडासा क्लेश भी प्राप्त न हों' इसप्रकार उस अज्ञानी जीवके हृदयमें क्लेश उत्पन्न होता है वह पीडा वा रोग जनित तीसरा आर्तध्यान कहलाता है ॥ १६ ॥

आगे निदानसे उत्पन्न होनेवाले आर्तध्यानको कहते हैं ।

नानोपायचयेन नीचचरितैर्भ्रान्त्वा विशालामिला–
माभीलं मकराकरं च बहुशो तुच्छेच्छया प्राप्य यत् ।
प्राप्यं पुण्यवता जनेन कनकं कान्तं च कान्तादिकं
तत्कांक्षाक्षुभिता मतिर्बत निदानार्त्तं महार्तिप्रदम् ॥१७॥

यह जीव अनेक प्रकारके बहुतसे उपायोंसे, वा नीच आचरणोंसे बडे भारी धन वा सुन्दर–
॥२६५॥ स्त्रियोंकी लालसासे भालोंके रहनेतक अर्थात् पृथ्वीके अंततक इस विशाल पृथ्वीमें परिभ्रमण करते ॥२६५॥
हैं अनेक बार मगर मच्छोंसे भरे हुए इस महासागरमें परिभ्रमण करते हैं और इसप्रकार अनेक कष्ट सहन करते हुए पुण्यवान मनुष्योंके द्वारा प्राप्त होने योग्य सुवर्णादिक धनको सुंदर स्त्री आदिकोंको प्राप्त करते हैं परंतु फिर भी उनकी बुद्धि उन पदार्थोंकी ओर अधिक प्राप्त होनेकी उत्कृष्ट लालसासे सदा क्षुभित रहती है। दुखी

मिथ्यादृष्टिगुणादिषड्गुणपदं येन प्रमादास्पदं
दुर्लेश्यात्रयजं सुदुःखजनकं तिर्यग्गतिप्रापकम् ॥१९॥

अर्ति शब्दका अर्थ दुःख है। जा दुःखसे उत्पन्न हो असाता वेदनीय कर्मके उदयसे उत्पन्न हो उसको आर्तध्यान कहते हैं अथवा जो दुःखमें उत्पन्न हो उसको आर्तध्यान कहते हैं। जिसप्रकार गीले कपडेपर धूलिका समूह चिपक जाता है उसीप्रकार यह आर्तध्यान भी अनेक पापरूप कर्मोंको ग्रहण करनेवाला है। इससे अनेक प्रकारके पाप कर्मोंका बंध होता है। यह आर्तध्यान मिथ्यादृष्टि नामके पहले गुणस्थानसे लेकर छठे गुणस्थानतक होता है इसीलिये यह आर्तध्यान प्रमाद उत्पन्न करनेका कारण है। वा प्रमादोंका स्थान है। यह आर्तध्यान कृष्ण नील कापोत, इन तीन अशुभ लेश्याओंसे उत्पन्न होता है अनेक प्रकारके वडे वडे दुःखोंको उत्पन्न करनेवाला है और तिर्यंच गतिमें पहुचानेवाला है अर्थात् तिर्यंच गतिका कारण है ॥ १९ ॥ इसप्रकार आर्तध्यानका स्वरूप कहा।

अब आगे रौद्रध्यानका स्वरूप कहते हैं।

हिंसानन्दमसातकारणगणैर्हिंसारुचिर्देहिनां
भेदच्छेदविदारणासुहरणैरन्यैश्च तैर्दारुणैः।
रोषेर्ष्याद्युदितैरसत्यवचनैरन्यस्य हान्या मृषा–
नंदं रौद्रमसातसन्ततिपदे मिथ्याप्रलापे रुचिः ॥ २० ॥

उसमें भी पहले हिंसानंद और षानंद नामके दो रौद्रध्यानोंका स्वरूप कहते हैं। जीवोंका भेदन करना, छेदन करना, विदारन करना, प्राणोंका हरण करना तथा अन्य ऐसे ही ऐसे भयानक दुःख देनेवाले अनेक कारणोंसे जीवोंकी हिंसा करनेमें रुचि वा प्रेम होना हिंसानद नामका रौद्रध्यान है। इसीप्रकार क्रोध वा ईर्ष्या आदिसे उत्पन्न होनेवाले असत्य वचनोंसे अथवा अन्य जीवोंको

॥२६७॥

हानि पहुंचाकर दूसरोंको अनेक प्रकारके दुःख पहुंचानेके स्थान ऐसे मिथ्या बोलनेमें, झूठमूठकी बकवाद करनेमें, प्रेम वा रुचिका होना मृषानंद नामका रौद्रध्यान है ॥ २० ॥

आगे स्तेयानंद और परिग्रहानंद नामके रौद्रध्यानका लक्षण कहते है ।

स्तेयानन्दमवाप्य यत्परधनं वंद्यादिनिंद्योहितै–
रानंदित्वमवाप्तुमुत्सुकतरं चेतश्च तैस्तद्भवेत् ।
स्वं संरक्ष्य विपक्षदूरमुदिता तोषोग्रता या तु सं–
रक्षानंदमपि स्ववस्तु निखिलं निर्वैरि कुर्वे इति ॥२१॥

जिस परधनको पाकर वंदीखानेमें रहनेकी निंदनीय वासनाके द्वारा भी आनंदको प्राप्त होनेवाला हृदय उत्सुकरूप होता है ऐसे परधनको पाकर चित्तका उत्सुकरूप होना स्तेयानंद नामका तीसरा रौद्रध्यान है । तथा "मै अपने समस्त पदार्थोंको शत्रुओंसे रहित कर दूंगा" इसप्रकार जो शत्रुओंके दूर हो जानेपर अपने धनकी रक्षामें भारी संतोष उत्पन्न होता है उसको सरक्षानंद नामका चौथा रौद्रध्यान कहते हैं ॥ २१ ॥

आगे रौद्रध्यानके चिन्ह बतलाते हैं ।

अक्षापाटवमाननाऽक्ष्यरुणता दाहश्च देहे महान्
हेत्युत्क्षेपविरूक्षवाग्भृकुटयः शक्तिप्रशंसात्मनः ।
स्वेदस्वाधरनिष्ठुरग्रहकराघातांगकंपादय :
कायांकाः स्वपराववोधविषयास्तद्रौद्रभावोद्भवाः ॥२२॥

इंद्रियोंके विषयोंमें बेपरवाहीका होना, मुख तथा नेत्रोंका लाल हो जाना, शरीरमें बडे भारी दाहका होना, शस्त्रोंका प्रहार करना, बचन और भृकुटियोंका कुटिल हो जाना, अपनी शक्तिकी प्रशंसा करना, पसीनेका आजाना, होठोंका कठोरतासे डसना, हाथोंका पटकना, और शरीरका कपंना

आदि शरीरमें उत्पन्न होनेवाले चिन्ह उसको भी मालूम पडते हों, वा दूसरोंको मालूम पडते हों तो समझना चाहिये कि उसके रौद्रध्यान है। क्योंकि ये सब शरीरके चिन्ह रौद्रध्यानसे ही उत्पन्न होते हैं ॥ २२ ॥

आगे इस रौद्रध्यानका निरुक्तिपूर्वक स्वरूप कहते हुए
इसका फल बतलाते हैं।

रुद्रःक्रूरतराशयो गतदयो रौद्रं हि रुद्रे भवं
आर्द्रे चर्म यथोरुधूलिनिलयं तद्वत्कुकर्मालयम् ।
पंचस्वादिगुणेषु तीव्रतरतत्कृष्णात्रिलेश्योद्गतं
प्रोद्यत्तीव्रतरार्त्तिनारकगतिप्राप्तेर्निमितं मनम् ॥ २३ ॥

रुद्र शब्दका अर्थ अत्यंत क्रूर हृदयका होना है। ऐसे दयारहित क्रूर हृदयसे जो ध्यान होता है उसको रौद्रध्यान कहते हैं। जिसप्रकार गीले चमडेपर बहुतसी धूलि जम जाती है उसीप्रकार इस रौध्यानसे अनेक प्रकारके तीव्र पापकर्मोंका बंध होता है। यह रौद्रध्यान पहलेसे लेकर पांचवें गुणस्थानतक होता है। अत्यंत तीव्र ऐसी कृष्ण नील कापोत इन तीनों अशुभ लेश्याओंसे यह उत्पन्न होता है। और जिसमें अत्यंत तीव्र ऐसी असह्य वेदनाएं प्राप्त होती रहतीं है इसप्रकार यह नरकगतिके प्राप्त होनेका कारण है। इसप्रकार रौद्रध्यानका स्वरूप कहकर अशुभ ध्यानोंका स्वरूप समाप्त किया ॥ २३ ॥

आगे उत्तमध्यान कहां कराना चाहिये सो बतलाते हैं।

ध्याताऽपेतजनोक्तगीतिवितताऽऽतोद्यादिकोलाहले
स्थाने स्थावरजंगमांगिरहिते पूते नितांतं समे ।

निश्छिद्रे निरुपद्रवे पृथुशिलेलाद्ये सुखस्पर्शिनि
प्रध्यानाभिरतः स्थितो न नियमः स्वभ्यस्तयोगे त्वयम् ॥२४॥

जिस स्थानपर मनुष्योंके गीत, नृत्य, वाजे आदिका कोलाहल न हो, जिसमें त्रस वा स्थावर जीवोंका निवास न हो, जो पवित्र हो, सर्वथा समान हो, छिद्र रहित हो, जिसका स्पर्श कोमल और सुखकर हो, ऐसी किसी वडी शिलापर वा पृथ्वीपर वैटकर ध्यान करनेवाले ध्याताको ध्यानमें लीन होना चाहिये। परंतु जिन मुनिराजको ध्यान करनेका अच्छा अभ्यास है उनकेलिये यह नियम नहीं है वे चाहें जहां वैठकर या खडे होकर ध्यान कर सकते है। २४

आगे ध्यान करनेवाला कैसा होना चाहिये सो कहते हैं।

यानांगावयवप्रचालनबचोजृंभाद्यभावो मुनि–
र्व्युत्सर्गेण समावलंबकशिलास्तंभो निखातो यथा।
पर्यंकेन यथासुखं स्वमनसः शय्यादिभिर्वा स्थितो
निःसंगोऽस्तसमस्तवाह्यविषयव्यापृत्यशेषेन्द्रियः ॥२५॥
प्राणापानावीनिग्रहादतितरां भ्रांतिर्मतेरुच्छ्वस–
न्मन्दं मन्दमतो न नेत्रयुगलं सम्याग्निमीलन्न च।
प्रोन्मीलन्दशनैर्मनाग्दशनपंक्त्यग्राणि विभ्रन्मनः—
शांतिं मूर्त्तिमतीमिवार्त्तिजयिनीं स्वां मूर्त्तिमप्यूर्जिताम् ॥२६॥
सद्दृष्टिर्मृदुताऽऽर्जवादिसहितः श्रेण्योरशेषश्रुतः
स्याद् ध्याता दशपूर्वविच्च नवपूर्वज्ञो परत्राऽपि च

॥२७०॥

आगे शुभध्यानके भेद बतलाते हैं।

धर्म्यं शुक्लमिति द्विभेदमुदितं सद्ध्यानमाद्यं तयो-
राज्ञाऽपायविपाकगाच्च विचयात्संस्थानगात्स्याच्चतु- ।
र्भेदं भूरिविकल्पजालकलितं जैनान्नयान्नैगमा—
त्सर्वं सर्वविदो बचो न हि नयापेतं यतो वस्तु च ॥२८॥

इस श्रेष्ठ ध्यानके दो भेद हैं एक धर्म्यध्यान और दूसरा शुक्लध्यान उसमेंसे धर्म्यध्यानके चार भेद है। आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय, और संस्थानविचय। यदि भगवान् जिनेंद्रदेव के कहे हुए नैगमनयसे देखा जाय तो इसी धर्मध्यानके अनेक भेद हैं। और इसका भी कारण यह है कि भगवान् सर्वज्ञदेव के कहे हुए वचन और संसारके समस्त पदार्थ नयोंके ही आधीन है। न तो भगवान् सर्वज्ञदेवका कोई वचन ऐसा है जो नयोंसे रहित हो और न संसारमें कोई पदार्थ भी ऐसा हैं जो नयोंसे रहित हो। नय अनेक हैं और उनके द्वारा पदार्थोंका स्वरूप अनेक प्रकारसे कहा जाता है। उन सबका ध्यान धर्मध्यानमें होता है इसलिये धर्मध्यानके अनेक भेद हो जाते हैं॥ २८॥

आगे आज्ञाविचय नामके धर्मध्यानका स्वरूप कहते हैं।

विज्ञातुं न तु शक्यमावृतियुताध्यक्षानुमानादिना
त्यक्षानंतविवर्तवर्त्तिसकलं वस्त्वस्तदोषार्हताम् ।
आज्ञावाग्विचयस्तयोक्तमनृतं नैवेति तद्वस्तुन-
श्चिन्ताज्ञाविचयो विदुर्नयचयः संज्ञानपुण्योदयः ॥२९॥

इससंसारमें बहुतसे पदार्थ अतीन्द्रिय हैं तथा अनंत भेदोंसे अनंत गुण पर्यायोंसे भरपूर हैं। वे सब पदार्थ न तो ज्ञानावरणकर्म सहित इंद्रियोंसे होनेवाले सांव्यवहारिक प्रत्यक्षज्ञानसे

॥२७२॥

ध्येयन्यस्तमना निरस्तनियमः कालेषु संध्यादिषु
निर्वाणोचितमाद्यसंहननमेवाऽस्मिन्पुनर्ध्यातरि ॥२७॥ (त्रिकम्)

जो गमन न कर रहा हो, शरीरके अवयवोंको चलायमान न कर रहा हो, वचन न बोल रहा हो, जंभाई न ले रहा हो, जिसप्रकार पृथ्वीमें गढी हुई शिला अचल होती है अथवा पृथ्वीमें गढाहुआ स्तंभ अचल होता है उसीप्रकार जो कायोत्सर्ग पूर्वक अचल विराजमान हों, पर्यंकासनसे इस प्रकार विराजमान हों जिससे कि अपने मनको बहुत अच्छीतरह सुख मिलता रहे अथवा शय्यासनसे वा अन्य किसी आसनसे विराजमान हों अथवा कायोत्सर्गसे खडे हों जो बाह्य अभ्यंतर समस्त परिग्रहसे रहित हों, समस्त इन्द्रियोंसे अलग हों ऐसे मुनि ध्यान करने योग्य होते हैं । ॥ २५ ॥ यदि वे अपने श्वासोच्छ्वासको रोकलें तो बुद्धि अत्यंत भ्रष्ट हो जाती है इसलिये उससमय धीरे धीरे श्वास लेते रहते हैं, अपने दोनों नेत्रोंको न तो अच्छीतरह बन्द करलेते हैं और न अच्छीतरह खोललेते हैं किंतु जिसप्रकार उनकी दृष्टि नासिकापर पडती रहे अन्यत्र न पडे इसप्रकार अधखुले नेत्र रखते हैं । दांतोंके द्वारा दांतोंकी एक मुख्य पंक्ति बना लेते हैं अर्थात् ऊपर नीचेके दांत मिलाकर एक पक्तिमें कर लेते हैं । मूर्तिमान् शांतिके समान मनकी शांतिको धारण करते हैं और समस्त परीषहोंको जीतने वाली ऐसी अपनी उत्कृष्ट मूर्तिको धारण करते हैं । इसप्रकारके मुनि ध्यान करने योग्य ध्याता कहे जाते हैं। ॥ २६ ॥ 'आगे फिर भी ध्याताकी योग्यता दिखलाते हैं ।' जो सम्यग्दृष्टी हों, मार्दव आर्जव आदि उत्तम गुणोंसे सुशोभित हों, उपशमश्रेणी वा क्षपकश्रेणीमें आरूढ हों, जो पूर्ण श्रुतज्ञानके जानकार हों, जो ग्यारह अंग दशपूर्व अथवा ग्यारह अंग नौ पूर्वके जानकार हों, ध्यान करने योग्य आत्मा वा अन्य समस्त पदार्थोंमें जिन्होंने अपना मन लगाया हो, और संध्या आदि समयमें अर्थात् ध्यानके समयमें जिन्होंने अन्य सब नियम छोड दिये हों ऐसे मुनि ध्यान करने योग्य ध्याता कहे जाते हैं । ऐसे उत्तम ध्यानियोंके निर्वाण प्राप्त करने योग्य ऐसा वज्रवृषभनाराच नामका पहला संहनन होता हैं ॥ २७॥

ध्येयन्यस्तमना निरस्तानियमः कालेषु संध्यादिषु
निर्वाणोचितमाद्यसंहननमेवाऽस्मिन्पुनर्ध्यातरि ॥२७॥ (त्रिकम्)

जो गमन न कर रहा हो, शरीरके अवयवोंको चलायमान न कर रहा हो, वचन न बोल रहा हो, जभाई न ले रहा हो, जिसप्रकार पृथ्वीमें गढी हुई शिला अचल होती है अथवा पृथ्वीमें गढाहुआ स्तंभ अचल होता है उसीप्रकार जो कायोत्सर्ग पूर्वक अचल विराजमान हों, पर्यंकासनसे इस प्रकार विराजमान हों जिससें कि अपने मनको बहुत अच्छीतरह सुख मिलता रहे अथवा शय्यासनसे वा अन्य किसी आसनसे विराजमान हों अथवा कायोत्सर्गसे खडे हों जो बाह्य अभ्यंतर समस्त परिग्रहसे रहित हों, समस्त इन्द्रियोंसे अलग हों ऐसे मुनि ध्यान करनें योग्य होते हैं । ॥ २५ ॥ यदि वे अपने श्वासोच्छ्वासको रोकलें तो बुद्धि अत्यंत भ्रष्ट हो जाती है इसलिये उससमय धीरे धीरे श्वास लेते रहते हैं, अपने दोनों नेत्रोंको न तो अच्छीतरह बंद करलेते हैं और न अच्छीतरह खोललेते हैं किंतु जिसप्रकार उनकी दृष्टि नासिकापर पडती रहे अन्यत्र न पडे इसप्रकार अधखुले नेत्र रखते हैं । दांतोंके द्वारा दांतोंकी एक मुख्य पंक्ति बना लेते हैं अर्थात् ऊपर नीचेके दांत मिलाकर एक पंक्तिमें कर लेते हैं । मूर्तिमान् शांतिके समान मनकी शांतिको धारण करते हैं और समस्त परीषहोंको जीतनें वाली ऐसी अपनी उत्कृष्ट मूर्तिको धारण करते हैं । इसप्रकारके मुनि ध्यान करने योग्य ध्याता कहे जाते हैं । ॥ २६ ॥ ‘ आगे फिर भी ध्यानाकी योग्यता दिखलाते हैं । ’ जो सम्यग्दृष्टी हों, मार्दव आर्जव आदि उत्तम गुणोंसे सुशोभित हों, उपशमश्रेणी वा क्षपकश्रेणीमें आरूढ हो, जो पूर्ण श्रुतज्ञानके जानकार हों, जो ग्यारह अंग दशपूर्व अथवा ग्यारह अंग नौ पूर्वके जानकार हों, ध्यान करने योग्य आत्मा वा अन्य समस्त पदार्थोंमें जिन्होंने अपना मन लगाया हो, और संध्या आदि समयमें अर्थात् ध्यानके समयमें जिन्होंने अन्य सब नियम छोड दिये हों ऐसे मुनि ध्यान करने योग्य ध्याता कहे जाते हैं । ऐसे उत्तम ध्यानियोंके निर्वाण प्राप्त करने योग्य ऐसा वज्रवृषभनाराच नामका पहला सहनन होता हैं ॥ २७॥

॥२७१॥

आगे शुभध्यानके भेद बतलाते हैं।

धर्म्यं शुक्लमिति द्विभेदमुदितं सद्ध्यानमाद्यं तयो-
राज्ञाऽपायविपाकगाच्च विचयात्संस्थानगात्स्याच्चतु- ।
र्भेदं भूरिविकल्पजालकलितं जैनान्नयान्नैगमा—
त्सर्वं सर्वविदो बचो न हि नयापेतं यतो वस्तु च ॥२८॥

इस श्रेष्ठ ध्यानके दो भेद हैं एक धर्म्यध्यान और दूसरा शुक्लध्यान उसमेंसे धर्म्यध्यानके चार भेद है। आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय, और संस्थानविचय। यदि भगवान् जिनेंद्रदेव के कहे हुए नैगमनयसे देखा जाय तो इसी धर्मध्यानके अनेक भेद हैं। और इसका भी कारण यह है कि भगवान् सर्वज्ञदेव के कहे हुए बचन और संसारके समस्त पदार्थ नयोंके ही आधीन है। न तो भगवान् सर्वज्ञदेवका कोई बचन ऐसा है जो नयोंसे रहित हो और न संसारसे कोई पदार्थ भी ऐसा हैं जो नयोंसे रहित हो। नय अनेक हैं और उनके द्वारा पदार्थोंका स्वरूप अनेक प्रकारसे कहा जाता है। उन सबका ध्यान धर्मध्यानमें होता है इसलिये धर्मध्यानके अनेक भेद हो जाते हैं॥ २८॥

आगे आज्ञाविचय नामके धर्मध्यानका स्वरूप कहते हैं।

विज्ञातुं न तु शक्यमावृतियुताध्यक्षानुमानादिना
त्यक्षानंतविवर्तवर्त्तिसकलं वस्त्वस्तदोषार्हताम् ।
आज्ञावाग्विचयस्तयोक्तमनृतं नैवेति तद्वस्तुन-
श्चिन्ताज्ञाविचयो विदुर्नयचयः संज्ञानपुण्योदयः ॥२९॥

इससंसारमें बहुतसे पदार्थ अतीन्द्रिय हैं तथा अनंत भेदोंसे अनंत गुण पर्यायोंसे भरपूर है। वे सब पदार्थ न तो ज्ञानावरणकर्म सहित इंद्रियोंसे होनेवाले सांव्यवहारिक प्रत्यक्षज्ञानसे

जाने जा सकते है और न ज्ञानावरणकर्मके साथ साथ होनेवाले अनुमान ज्ञानसे जाने जा सकते हैं । किंतु वे सब पदार्थ अठारह दोषोंसे रहित भगवान् सर्वज्ञ अरहंतदेवके ज्ञान गोचर होते हैं और उन्हींकी आज्ञारूप बचनोंसे कहे जाते हैं । भगवान् अरहंतदेव सर्वज्ञ और वीत-राग है इसलिये उनके कहे हुए वचन कभी मिथ्या नहीं होते । इसप्रकार उनके कहे हुए पदार्थोंका चिंतवन करना, उनकी आज्ञाका प्रसार करना, आज्ञाविचय नामका पहला धर्म्यध्यान है। यह आज्ञाविचय नामका धर्म्यध्यान मिथ्यानयोंके समूहसे सर्वथा रहित है और इसके साथ साथ ही सम्यग्ज्ञान और श्रेष्ठ पुण्यका उदय खूब होता है ।

भावार्थ— सूक्ष्म पदार्थोंका स्वरूप यदि अपने अल्पज्ञानमें न आवे तो उनका श्रद्धान भग-वान् सर्वज्ञदेवके कहे अनुसार कर लेना आज्ञाविचय नामका धर्म्यध्यान है ॥ २९ ॥

आगे अपायविचयधर्मध्यानका स्वरूप कहते हैं ।

दुःकर्मात्मदुरीहितैरुपाचितं मिथ्याविरत्यादिभि-
र्व्यापज्जन्मजरामृतिप्रभृतयो वाऽपाय एनःकृताः ।
जीवेनादिभवे भवेत्कथमतोऽपायादपायः कदा
कस्मिन्केन ममेत्यपायविचयः सत्कारणादीक्षणम् ॥३०॥

अपने आत्माका अहित करनेवाले जो मिथ्यात्व अविरत कषाय प्रमाद हैं उनके द्वारा जो पापरूप कर्म इकठे होते हैं वा इकठे हुए हैं उनको अपाय कहते हैं । अपाय शब्दका अर्थ नाश है । ये पापरूप कर्म भी आत्माका नाश करनेवाले हैं आत्माके शुद्ध स्वरूपको नाश कर नरकादिकमें डाल देते हैं इसलिये इन पापरूप कर्मोंको अपाय कहते हैं । अथवा पाप कर्मोंके उदयसे उत्पन्न होनेवाले अनेक प्रकारकी आपत्तियां, जन्म, मरण, बुढापा आदि दोषोंको भी अपाय कहते है । यह मेरा जीव इन अपायोंके कारण अनादिकालसे इस संसारमें

॥२७३॥

परिभ्रमण कर रहा है। सो अब यह मेरा जीव इन अपायोंसे संसारमें परिभ्रमण करनेवाले पापरूप कर्मोंसे अथवा जन्ममरणोंसे कब अलग होगा ? कब छूटेगा ? किस क्षेत्रमें छूटेगा ? और किन उपायोंसे छूटेगा ! इस प्रकार उन कारणोंको कर्मोंसे छूटनेके उपायोंको अच्छीतरह देखना, विचारना, चिंतवन करना, अपाय विचय नामका धर्मध्यान है। ३० ॥

आगे विपाकविचय नामके धर्मध्यानका स्वरूप कहते हैं।

गत्यादौ परिणामतस्तनुभृतां प्राप्तोदयोदीरणं
क्लेशाश्लेषकरं सुखोत्करकरं कर्माशुभं तच्छुभम् ।
शक्त्या युक्तमसंख्यलोकमितषट्स्थानान्वितस्थानया
इत्येवं विचयो विपाकविचयः प्रत्यस्तदोषोच्चयः ॥३१॥

ये जीव अपने परिणामोंसे शुभ अथवा अशुभ कर्मोंका बंध करते हैं उनका उदय उन जीवोंके प्रत्येक गतिमें प्राप्त होता है। उनमेंसे जो शुभकर्मोंका उदय होता है वह अनेक प्रकारका सुख देनेवाला होता है और अशुभकर्मका उदय सब प्रकारके दुःखोंको देनेवाला होता है। कोई कर्म अपनी स्थिति पूरी होनेपर उदयमें आता है और कोई कर्म स्थिति पूरी हुये विना ही उदयमें आजाता है॥ उन समस्त कर्मोंमें असंख्यात लोक प्रमाण छहों स्थानोंमें होनेवाली हानि वा वृद्धिकी शक्ति होती है अनंतभागवृद्धि असंख्यातभागवृद्धि संख्यातभागवृद्धि संख्यातगुणवृद्धि असंख्यातगुणवृद्धि और अनंतगुणवृद्धि इस प्रकार छह प्रकारसे वृद्धि होती है और अनंतगुणहानि असंख्यातगुणहानि संख्यातगुणहानि संख्यातभागहानि असंख्यातभागहानि अनंतभागहानि इसप्रकार छह रूपसे हानि होती है। इसप्रकार असंख्यातलोकप्रमाण हानिवृद्धि होनेकी शक्ति उन कर्मोंमें रहती है। इसप्रकार कर्मोंके उदय उदीरणाका विचार करना चिंतवन करना विपाक विचय नामका तीसरा धर्मध्यान है। यह तीसरा धर्मध्यान समस्त दोषोंसे रहित है। इसके चिंतवन करनेसे समस्त दोष नष्ट हो जाते हैं अर्थात् रागद्वेषादिक समस्त विकार दूर हो जाते है।

आगे संस्थानविचयका स्वरूप कहते हैं।

संस्थानं यदानित्यताऽशरणता संसार एकाकिता–
ऽन्यत्वं चाशुचिताऽऽस्रवः सुनयतः स्यात्संवरो निर्जरा।
लोको बोध्यतिदुर्लभत्वमपरो धर्मस्तादित्यन्वितं
भेदैः स्वैर्विचयोऽस्य चिंतनमनुप्रेक्षा स्मृतं द्वादश ॥३२॥

अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचि, आश्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधिदुर्लभ और धर्म ये बारह अनुप्रेक्षाएं कहलातीं हैं। श्रेष्ठ नयोंके अनुसार इन बारह अनुप्रेक्षांओंका चिंतवन करना तथा प्रत्येक अनुप्रेक्षाके होनेवाले अनेक भेदोंके साथ उनका चिंतवन करना संस्थानविचय नामका धर्मध्यान कहलाता है ॥ ३२ ॥

आगे अनुक्रमसे उन्हीं बारह अनुप्रेक्षांओंका वर्णन करते हैं।

उत्पत्तिः प्रलयश्च पर्ययवशाद्द्रव्यात्मना नित्यता
वस्तूनां निचये प्रतिक्षणमिहाज्ञानाज्जनो मन्यते।
नित्यत्वं द्रवदंबुदीपकलिकास्थैर्यं यथार्थादिके
नष्टे नष्टधृतिः करोति बत शोकार्तो वृथाऽऽत्मीयके ॥३३॥

उसमें भी पहले अनित्यानुप्रेक्षा का स्वरूप कहते हैं। संसारके पुत्र स्त्री धन धान्य आदि चेतन वा अचेतनरूप समस्त पदार्थ पर्यायकी अपेक्षासे प्रतिक्षण उत्पन्न होते रहते हैं और प्रतिक्षण नष्ट होते रहते हैं। तथा द्रव्यकी अपेक्षासे सदा नित्य बने रहते हैं। परंतु ये संसारी जीव अपनी अज्ञानताके कारण उनको सदा नित्य मानते रहते हैं। परंतु उन पदार्थोंको सर्वथा नित्य मानना ऐसा है जैसे बूंद बूंद पडते हुए जलका नित्य और स्थिर मानना अथवा दीपककी शिखाको नित्य और स्थिर मानना। जिसप्रकार दीपककी शिखा

और बूंद बूंद पडता जल नित्य और स्थिर नहीं है उसीप्रकार पर्यायार्थिकनयसे संसारके कोई भी पदार्थ नित्य नहीं हैं। इसीलिये वे पदार्थ स्वाभाविक रीतिसे नष्ट होते हैं और जिनसे अपना संबंध है ऐसे अपने पुत्र स्त्री धन धान्य आदिके नष्ट होनेपर धैर्य रहित यह जीव व्यर्थ ही शोक और दुःख करता है यह बडे दुःखकी बात है। इसप्रकार बार बार चिंतवन करना अनित्यानुप्रेक्षा है। इसके चिंतवन करनेसे इष्ट वियोग होनेपर भी इस जीव को कभी क्लेश और आर्तध्यान नहीं होता है॥ ३३ ॥

आगे अशरणानुप्रेक्षाका स्वरूप कहते हैं।

मंत्रास्तंत्रतातिस्तदान्वितकृतिर्दुर्गा द्विषद्दुर्गमा
भृत्याः किं न भृताः सुहृत्ततिरपीत्येतेषु सत्स्वप्यगुः।
सर्वे पूर्वमहीभृतः क्षतिमतः कस्यापि कालत्रये
त्राताऽत्रास्ति न नाशमीयुषि पुरा पुण्यार्जिते वाऽऽयुषि ॥३४॥

पहले अनेक चक्रवर्ती राजाओंने अनेक मंत्र किये, अनेक तत्र किये, अनेक मंत्र-तंत्रोंका आराधन किया अनेक औषधियां प्राप्त कीं, शत्रुओंके द्वारा अजेय ऐसे गढ वा किले बनवाये सेना आदिरूपसे अनेक सेवक पाले और अनेक मित्र बनाये परंतु इन सबके रहते हुए भी पहलेके वे सब राजा मरणको प्राप्त हुए।
इससे सिद्ध होता है कि पहले जन्ममें पुण्यरूप कार्योंके द्वारा जितनी आयुका बंध किया है उस आयुके पूर्ण होनेपर तीनों कालोंमें भी इससंसारमें कोई किसीका रक्षक नहीं होता। इसप्रकार चिंतवन करना अशरणानुप्रेक्षा है। इसप्रकारके चिंतवन करनेसे किसीके मरणादिक होनेपर भी अथवा अपना मरण होनेपर भी परिणामोंमें संक्लेशता नहीं होती है ॥३४॥

आगे संसारानुप्रेक्षाका स्वरूप कहते हैं।

वृत्त्या जातिगतिष्ववाप्तकरणोऽनंतांगहारः सदा
प्रोद्भूतिप्रलयो नरामरमृगाद्याहार्यपर्यायवान् ।
हित्वा सात्त्विकभावजातमितरैर्भावैः स्वकर्मोद्भवै-
र्जीवोऽयं नटवद्भ्रमत्यभिनवः सर्वत्र लोकत्रये ॥ ३५ ॥

जिसप्रकार नट अपने स्वाभाविकरूपको छोडकर अपने कार्योंसे उत्पन्न हुए अन्य अनेक रूपोंको धारण कर परिभ्रमण किया करता है । उसीप्रकार यह जीव अपने आत्माके निजस्वभावको छोडकर अपने कर्मोंसे उत्पन्न हुए तथा अपने स्वभावसे भिन्न ऐसे औदयिक वा क्षायोपशमिक आदि भावोंसे नये नये रूप धारण करता हुआ तीनों लोकोंमें सर्वत्र परिभ्रमण करता है । जिसप्रकार नट नृत्य करता हुआ परिभ्रमण करता है उसीप्रकार यह जीव भी पंच परावर्तन पूर्ण करता हुवा परिभ्रमण करता है । जिसप्रकार नट अनेक प्रकारके रूप वा स्वांग धारण करता हुवा परिभ्रमण करता है उसी प्रकार यह जीव भी अनेक प्रकारकी जातियां और अनेक प्रकारकी गतियोंको धारण करता हुआ परिभ्रमण करता है जिसप्रकार नट अपने हाथपैरोंके संयोगसे भ्रमण करता है । उसीप्रकार यह जीव भी इंद्रियोंके संयोगको पाकर परिभ्रमण करता है जिसप्रकार नट शरीरके अनंत विकारोंको धारण करता हुआ भ्रमण करता है उसीप्रकार वह जीव भी अनंत शरीरोंको प्राप्त और नाश करता हुआ परिभ्रमण करता है जिसप्रकार नट अनेक रूप बदलता है उसी प्रकार यह जीव भी सदा उत्पन्न होता रहता है और सदा मरणको प्राप्त होता रहता है । नट जिसप्रकार कभी किसी का रूप धारण करता है और कभी किसीका रूप धारण करता है उसी प्रकार यह जीव भी कभी मनुष्य पर्याय धारण करता है, कभी देव पर्याय धारण करता है, कभी पशु पर्याय धारण करता है और कभी नारकपर्याय धारण करता है । इसप्रकार नटकेसमान यह जीव अपने स्वभावको छोडकर अन्य अनेक पर्यायें धारण करता हुआ तीनों लोकोंमें सर्वत्र परिभ्रमण किया करता है । इसप्रकार चिंतवन करना संसारानुप्रेक्षा है । इसके चिंतवन कर-

नेसे इस जीवको संवेग और वैराग्य बढता है ॥ ३५ ॥

आगे एकत्व भावनाका स्वरूप कहते हैं।

कोऽप्याप्तः स्वजनोऽनुगोऽस्ति न परो वा याति जन्मांतरं
जीवे जन्मनि वाऽत्र मित्रनिकरैः किं नाशितं वा हृतम्।
चित्रं गात्ररुजादिजं हृदयजं वाऽसातमेकस्ततो
मृत्यूत्पत्तिनिवृत्तिषु प्रणयिनोऽन्येऽर्थेष्वनर्थो निजः ॥३६॥

यह जीव जब मरकर दूसरा जन्म धारण करने के लिये जाता है तब इस संसारमें कोई भी ऐसा अपना कुटुंबी अथवा कोई दूसरा मनुष्य नहीं है जो साथ जाने-के लिये तैयार हो। इस जन्ममें इस जीवको शरीरके रोगोंसे उत्पन्न होनेवाले अनेक दुःख होते हैं और अनेक मानसिक दुःख होते हैं परंतु उन दुःखोंको आजतक क्या किसी भी मित्रोंके समूहने नाश कर दिखलाया है ? अथवा उन दुःखोंको आजतक किसीने भी दूर किया है ?

भावार्थ— कोई किसीका दुःख वा शोक दूर नहीं करसकता इस लिये कहना चाहिये जन्ममरण धारण करनेमें वा मोक्ष प्राप्त करनेमें यह जीव अकेला ही है। अकेला ही जन्म लेता है, अकेला ही मरता है, अकेला ही दुःख भोगता है और अकेला ही मुक्त होता है। मित्र कुटुंबी आदि सब केवल धनके साथी है अतएव धन कमानेके लिये परिश्रम करना व्यर्थ है। आश्चर्य है कि यह जीव फिर भी धन कमानेमें लगा रहता हैं. ऐसा चिंतवन करना एक-त्वानुप्रेक्षा हैं। इसके चिंतवन करनेसे ममत्वबुद्धि छूट जाती है ॥ ३६ ॥

आगे अन्यत्वानुप्रेक्षाका स्वरूप कहते हैं।

॥२७८॥

चैतन्यं जडतैकताऽवयाविसंदोहोदिताऽनेकता
नित्यत्वं क्षयिता च मूर्त्तिवियतिर्मूर्तत्वमित्यादिभिः ।
भेदं देहिशरीरयोरागणयन् किं नेक्षते वृद्धिम-
देहं खेदिनि देहिनि स्थितमतिक्रांतेऽत्र दुर्मित्रवत् ॥३७॥

आत्मा और शरीरको भिन्न भिन्न मानना अन्यत्वानुप्रेक्षा है। यह आत्मा चैतस्वरूप है, और शरीर जड है, आत्मा नित्य है, शरीर विनाशीक हैं, आत्मा अमूर्त्त है, शरीर मूर्त्त है। इसप्रकार आत्मा और शरीरमें प्रत्यक्ष अतर है तथापि आत्मा और शरीरको एक मानता हुआ उन दोनों में किसी भी प्रकारकी भिन्नता को न समजता हुआ अज्ञानी जीव यह भी नहीं देखता कि यह आत्मा तो मरनेपर अत्यंत दुखी होता हुआ परलोक को चला जाता है और कुमित्रके समान यह शरीर वृद्धिको प्राप्त होता हुआ भी यहा ही पडा रहता है।

भावार्थ— इसप्रकार समजकर आत्माको शरीरसे भिन्न मानना और भिन्न ही चिंतवन करना अन्यत्वानुप्रेक्षा हैं इसके चिंतवन करनेसे मरनेपर भी दुःख नहीं होता हैं॥ ३७ ॥

आगे अशुचित्वानुप्रेक्षाका स्वरूप कहते हैं।

रेतः शोणितजातिधातुनिचितं प्रच्छादितं चर्मणा
सान्द्रोद्रिक्तगलन्मलं बहुविलैरंगं जुगुप्सानुगाम् ।
भीतिं किं न तनोत्यसंस्कृतिबहिश्चर्मात्रगात्रे न चेत्
स्प्रष्टुं द्रष्टुमपि क्षमोऽस्ति किमिदं त्रातुं पतत्र्यादितः ॥३८॥

यह शरीर रुधिर वीर्यसे बना हुआ है, मांसादिक सप्त धातुओंसे भरा हुआ है, चमडेसे ढका हुआ है नाक, कान, आख, मुह आदि अनेक छिद्रोंसे बहुतसा मल इसमेंसे सदा निकलता रहता है, तथा घृणाका स्थान है। ऐसा यह शरीर यदि वस्त्रादि भूषणोंसे अच्छा न रक्खा

जाय, नहा धोकर ठीक न रक्खा जाय तो किसको भय उत्पन्न नहीं करता है अर्थात् यदि यह शरीर संभालकर न रक्खा जाय तो भयानक दिखाई पडता है। यदि इस शरीरपर चमडा न लपेटा होता तो फिर क्या इस शरीरको कोई देख भी सकता है ! अथवा पक्षियोंसे वा पशुओंसे इसकी काई रक्षा भी कर सकता है।

भावार्थ— यदि ऊपरसे चमडा न लपेटा हो तो मांसमय इस शरीरको कोई देख भी नहीं सकता और न चील गीद आदि पक्षियोंसे तथा कुत्ता गादिड आदि पशुओंसे इसकी कोई रक्षा कर सकता है। इसप्रकार चिंतवन करना अशुचित्वानुप्रेक्षा है। इसका चिंतवन करनेसे वैराग्य बढता है, शरीरसे ममत्व छूटता है ॥ ३८ ॥

आगे आस्रवानुप्रेक्षाका स्वरूप कहते हैं।

देहे स्नेहयुते लगत्यविरतं रेणोर्गणोऽयं यथा
मिथ्यावृत्तकषाययोगकलुषेऽजस्रं सजंत्यांगीनि ।
तद्वत् स्वैकशरीरगाः सुमिलिताऽनंताणवो वर्गणा
विश्वात्मावयवेष्वनंतगणना नो कर्मणां कर्मणाम् ॥३९॥

जिसप्रकार चिकने शरीरपर धूलिका समूह निरंतर लगा करता है उसीप्रकार मिथात्व, अविरत, कषाय, प्रमाद, योग आदिके द्वारा कलुषताको प्राप्त हुए आत्मामें तथा आत्माके समस्त अवयवोंमें, प्रदेशोंमें, ज्ञानावरणादिक आठों कर्मोंके अनंतानंत वर्गणाए प्रति समय आकर मिलतीं रहतीं हैं तथा औदारिक, वैक्रियिक, आहारक इन तीन शरीर और छह पर्याप्तियोंके योग्य नो कर्मोंकी अनंतानंत वर्गणाए प्रतिसमयमें आकर इस अपने शरीरमें मिलती रहती हैं। इसप्रकार चिंतवन करना आस्रवानुप्रेक्षा है। इसके चिंतवन करनेसे आस्रवके रोकनेमें प्रवृत्ति होती है ॥ ३९ ॥

आगे संवरानुप्रेक्षाका स्वरूप कहते हैं।

॥२८०॥

दष्टे दुष्टविषाहिनाऽगीनि यथा नष्टप्रचेष्टे विषं
पुष्यज्जांगुलिकेन मंत्रबलिना संस्तंभितं तिष्ठति ।
सम्यक्त्वव्रतनिष्कषायपरिणामाऽयोगताभिस्तथा
मिथ्यात्वादिचतुःस्वहेतुविगमान्नूत्नैनसां नागमः ॥ ४० ॥

जैसे किसी प्राणीको दुष्ट विषवाला सर्प काटले और उस विषसे यह प्राणी मूर्च्छित हो जाय तथा वह विष चढने लगे तो मंत्र तंत्रके बलको धारण करनेवाला कोई गारुडी वा सपेरा वा मंत्रवादी अथवा विषवैद्य उस विषको स्तंभित कर देता है चढनेसे रोक देता है उससमय वह विष वहीं ठहर जाता है आगे नहीं बढता। उसीतरह सम्यग्दर्शन, व्रत, कषाय रहित परिणाम होनेसे और मन वचन कायकी क्रियारूप योगोंका अभाव होनेसे कर्मोंके आनेके कारण मिथ्यात्वादिक सब नष्ट हो जाते हैं, अर्थात् सम्यग्दर्शनके होनेसे मिथ्यात्व नष्ट हो जाता है, व्रत धारण करनेसे अविरत नष्ट हो जाते हैं कषाय रहित परिणाम होनेसे कषायें नष्ट हो जातीं हैं और मन वचन कायकी क्रियाओंका अभाव होनेसे योग नष्ट हो जाते हैं इसप्रकार सम्यग्दर्शन, व्रत, निष्कषाय, और अयोगोंके होनेसे कर्मोंके कारणभूत मिथ्यात्वादिक सब नष्ट हो जाते हैं। तथा कर्मोंके आनेके कारणभूत मिथ्यात्वादिकके नष्ट होनेसे नवीन पापरूप कर्मोंका आस्त्रव नहीं होता अर्थात् आते हुए सब कर्मरुक जाते हैं। कर्मोंका रुकजाना, अर्थात् आस्त्रवका अभाव हो जाना ही संवर है। यही आत्माको सुखका कारण है। इसप्रकार चिंतवन करना सवरानुप्रेक्षा है। इसके चिंतवन करनेसे संवरमें प्रवृत्ति होती है ॥४०॥

आगे निर्जरानुप्रेक्षाका स्वरूप कहते हैं।

संश्लिष्टात्मबलस्य निर्गलनतो निःशेषविश्लेषत–
श्रान्तबाह्यचतुः स्वहेतुवशतः स्वर्णोपले स्वर्णता ।

॥२८१॥

यद्वद्धेहिनि कर्मणोऽशगलनान्निःशेषाविश्लेषतः
सम्यक्त्वग्रहणाद्यनेककरणैस्तद्वाद्विशुद्धात्मता ॥ ४१ ॥

जिसप्रकार मिट्टीसे मिले हुए स्वर्णपाषाणमेंसे थोडा थोडा मैल गलने लगे तथा अग्निमें गलाना, ताडना, घिसना, छेदना आदि अंतरंग बाह्य चारों कारणोंसे उस सुवर्णपाषाणमेंसे समस्त मैल मिट्टी छूट जाय अलग हो जाय तो वह सुवर्ण पाषाण शुद्ध सुवर्णरूप हों जाता है। उसप्रिकार यदि कर्मसहित इस आत्मासे थोडे थोडे कर्मोंके अंश नष्ट होते जायं तथा सम्यग्दर्शनका ग्रहण करना आदि करणरूप लब्धियोंसे वा व्रत तप परीषहजय आदि कारणोंसे अथवा रत्नत्रय और उत्तम क्षमादिक दशलक्षणिक कारणोंसे कर्मों के अंश सब छूटते जायं और समस्त कर्मोंका नाश हो जाय तो आत्माकी पूर्ण शुद्धता प्रगट हो जाती है।

भावार्थ– कर्मों की निर्जरा होते होते समस्त कर्मोंका नाश हो जानेसे आत्माकी परम शुद्धता प्रगट हो जाती है। इस प्रकार चिंतवन करना निर्जरानुप्रेक्षा है। इसके चिंतवन करनेसे कर्मोंकी अधिक निर्जरा करनेमें प्रवृत्ति होती है। ॥४१॥

आगे लोकानुप्रेक्षाका स्वरूप कहते हैं।

मध्यांशः परितोऽप्यनंतवियतो लोकस्त्रिवाताऽऽवृतः
पंचद्रव्यचितः प्रकर्तृरहितो नित्यः सदाऽवस्थितः।
संस्थानेन तु सुप्रतिष्ठकसमोऽसंख्यप्रदेशप्रमो
मध्यस्थत्रसनालिरत्र भाविना स्पष्टं न दृष्टं पदम् ॥४२॥

यह लोकाकाश चारों ओर फैले हुए अनंत आकाशके मध्यभाग में स्थित है, घनवात अम्बुवात और तनुवात इन तीन प्रकार वायुसे वेष्टित है, अर्थात् तीनों प्रकार महावायुओंके सहारे टिका हुवा है। वह वायु आकाश में निराधार है तथा वह वायु यदि किसी पदार्थके चारों ओर

हो और चारों ओरसे उस पदार्थपर वायुका दवाव पडता हो तो वह पदार्थ ज्यों का त्यों उसी स्थानपर टिका रहेगा चारों ओरसे समान दवाव पडनेपर वह पदार्थ इधर उधर नहीं हिल सकेगा, जिसप्रकार अरवों खरवों मन पानीसे भरे हुए वादल साधारणवायुके सहारे टिके रहते हैं उसी प्रकार यह लोकाकाश महावायुके सहारे टिका हुवा है। जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, और काल इन पांचो द्रव्यों- से भरा हुवा है, अथवा यों कहना चाहिये कि जितने आकाशमें ये पांचो द्रव्य रहते हैं उसीको लोक कहते हैं, यह लोक किसीका बनाया हुवा नहीं है अनादि कालसे वरावर ज्योंका त्यों चला आ रहा है और अनंत कालतक ज्यों का त्यों बना रहेगा, कभी इसका नाश नहीं होगा, यह लोक नित्य है, सदाकाल ज्यों का त्यों रहनेवाला है, इसका आकार सुप्रतिष्ठ अर्थात् ठोणाके समान है, नीचे चौडा है क्रमसे कम होते होते मध्यमें बहुत कम चौडा रह गया है, ऊपर फिर चौडा होता गया है और तीन चौथाई भागसे फिर कम होते होते ऊपरका भाग मध्यके भागके वरावर होगया है। इसप्रकार इसका आकार है, इस लोकाकाशके असख्यात प्रदेश हैं, इसके मध्यमें एक त्रसनाली है जिसमें त्रस जीव रहते हैं। इसी त्रसनालीमें सबसे ऊपर परम सिद्धस्थान है जो इस संसारी जीवने आजतक न देखा है और न स्पर्श किया है। इसप्रकार चिंतवन करना लोकानुप्रेक्षा है। इसके चिंतवन करनेसे संसारसें भयभीतपना प्रगट होता है और मोक्षके प्राप्त करनेकी तीव्र इच्छा होती है ॥ ४२ ॥

आगे वोधिदुर्लभानुप्रेक्षाका स्वरूप कहते हैं।

नैकाक्षैर्विकलाक्षपंचकरणासंज्ञव्रजैर्जातु या
लब्धा बोधिरगण्यपुण्यवशतः संपूर्णपर्याप्तिभिः।
भव्यैः संज्ञिभिरासलब्धिविधिभिः कै त्कदाचित् क्वचित्
प्राप्या सा रमतां मदीयहृदये स्वर्गापवर्गप्रदा ॥ ४३ ॥

रत्नत्रयकी प्राप्तिको वोधि कहते हैं, यह वोधि वा रत्नत्रयकी प्राप्ति न तो एकेन्द्रिय

॥२८३॥

जीवोंको होती है न द्वीन्द्रिय, त्रींद्रिय, चतुरिंद्रिय जीवोंको होती है और न असैनी पंचेंद्रिय जीवोंको होती है। इन जीवोंको रत्नत्रयकी प्राप्ति कभी नहीं होती है। जिन जीवोंके पुण्य कर्मका उदय महान होता है, जिनको पूर्ण पर्याप्तियां प्राप्त हो जाती हैं, जो सैनी पंचेन्द्रिय होते हैं, भव्य होते हैं, और जिनको करणादि पांचोंलब्धियां प्राप्त हो जातीं है ऐसे कितने ही जीवोंको किसी समयमें किसी क्षेत्रमें उस रत्नत्रयकी प्राप्ति होती है। वह रत्नत्रयकी प्राप्ति स्वर्ग मोक्षकी देने-वाली है। अतएव प्राप्त होनेपर वह रत्नत्रयकी प्राप्ति मेरे हृदयमें सदा विराजमान रहो सदा दैदीप्यमान रहो॥ ४३ ॥

आगे धर्मानुप्रेक्षाका स्वरूप कहते हैं।

दाताऽभीष्टविशिष्टवस्तुनिचयस्याकांक्षिणेऽपि क्षणा-
द्धर्त्तार्त्तेर्नरनारकादिभवसंभूतेः स्मृतेर्भीकृतेः।
हंताऽऽक्रान्तजगत्त्रयांतकरिपोर्यः स्वान्तगः संस्तुत-
स्त्राताऽत्राणशरीरिणां न हि परो धर्मात्सुशर्मप्रदात् ॥ ४४ ॥

यह अहिंसारूप धर्म आकांक्षा करनेवाले जीवोंको इच्छानुसार विशेष पदार्थोंके समूहको क्षण-मात्रमें देनेवाला हैं तथा जिनका स्मरण करनेमात्रसे अत्यंत भय उत्पन्न होता है ऐसे मनुष्य तिर्यंच और नरकादि अनंत भवोंमें उत्पन्न होनेवाले दुःखोंको क्षणमात्र में नष्ट करनेवाला है तीनों लोकों को आक्रांत करनेवाले तीनों लोकों को अपने वश में करनेवाले कालरूपी शत्रुको नष्ट करने-वाला है और सबकेद्वारा स्तुति करने योग्य है अथवा सब इसकी स्तुति करते है ऐसा यह धर्म सर्वोत्तम मोक्षसुखको देनेवाला है तथा जिनका रक्षक कोई नहीं है ऐसे संसारी जीवोंकी स्वयं रक्षा करनेवाला यही धर्म है। इस धर्मके सिवाय और कोई भी इन संसारी जीवोंकी रक्षा कर-नेवाला नहीं है। इसप्रकार चिंतवन करना धर्मानुप्रेक्षा है। इसके चिंतवन करनेसे धर्ममें प्रेम बढता है

॥२८४॥

सम्यग्दर्शनकी वृद्धि और शुद्धि होती है ॥ ४४ ॥

आगे इस धर्मध्यानके चिन्ह वा लक्षण बतलाते हैं।

श्रद्धानं सदशंकितादिसदनं तत्त्वार्थसंचिन्तनं
संवेगः प्रशमो दयेन्द्रियदमः प्राज्योद्यमः संयमः।
वैराग्यं वरगुप्तिताऽतिमृदुता निर्मायिताऽसंगता
धर्मस्येति समस्तवस्तुपरमोपेक्षा च लक्ष्मोदितम् ॥ ४५ ॥

श्रेष्ठ निःशंकित, निःकांक्षित आदि आठों अगोंका घर ऐसे विशुद्ध सम्यग्दर्शनका होना, जीव अजीव आदि समस्त पदार्थोंका चिंतवन करना, संसारसे भय उत्पन्न होना, अथवा धर्म वा धर्म के फलमें रुचि वा प्रेमका होना, परिणामोंका अत्यत शांत होना, दयारूप परिणामोंका होना, इन्द्रियोंको दमन करना, कर्मोंके नाश करने के लिये श्रेष्ठ उद्यम करना, संयमका पालन करना, वैराग्य धारण करना, श्रेष्ठ गुप्तियोका पालन करना अर्थात् मन वचन कायको वशमें करना, अत्यंत कोमल परिणामोंका होना, मायाचारीका सर्वथा त्याग कर देना, परिग्रहोंका सर्वथा त्याग कर देना, और संसारके इष्ट अनिष्ट समस्त पदार्थों से ऊदासीनता धारण करना और सबसे राग द्वेपका त्याग कर देना इस धर्मध्यान के लक्षण हैं चिन्ह हैं। जिनके ये चिन्ह हों उन के धर्मध्यान समझना चाहिये। अथवा जिसके धर्मध्यान होता है उस के ये चिन्ह अवश्य होते हैं।

आगे धर्मध्यानका निरुक्तिपूर्वक अर्थ और उसका फल आदि बतलाते हैं।

धर्म्यं स्यान्निखिलार्थसार्थनिहितं चित्तं समं संस्थितं
सम्यग्दृष्टयतादिसप्तमगुणांतेषु प्रवृद्धं क्रमात्
साक्षात्संवरनिर्जरादिकरणं नानात्मनां कर्मणां
सलेश्यात्रयजं च नाकसुखदं प्राग्रं क्रमात्सिद्धिदम् ॥४६॥

समस्त पदार्थों के धर्ममें समस्त पदार्थों के यथार्थ स्वरूप में लगा हुवा जो हृदय है उसको धर्म्य कहते हैं अथवा समता परिणामोंमें लगे हुये हृदयको धर्म्य कहते हैं ऐसे हृदयसे चिंतवन किया जो ध्यान है उसको धर्मध्यान कहते हैं। यह धर्मध्यान अविरत सम्यग्दृष्टी नामके चौथे गुणस्थानसे प्रारंभ होता है और अनुक्रमसे बढता हुवा सातवें गुणस्थानके अंततक जाता है। यह धर्मध्यान ज्ञानावरणादिक अनेक प्रकारके कर्मोंका संवर करने के लिये साक्षात् कारण है। इससे अनेक प्रकार के कर्मोंका सवर और निर्जरा होती है। यह धर्मध्यान पीत पद्म शुक्ल इन तीन शुभ लेश्याओं से उत्पन्न होता है, स्वर्ग के सुख प्रदान करता है, अर्थात् स्वर्गका कारण है अत्यत उत्तम है तथा अनुक्रमसे मोक्षपदको देनेवाला है। इसप्रकार धर्मध्यानका स्वरूप कहा ॥४६॥

अब आगे शुक्लध्यानका स्वरूप कहते हैं उसमें भी पहले शुक्ल ध्यानके भेद कहते हैं।

शुक्लध्यानमतश्चतुर्विधमिदं प्रोक्तं वितर्कौ पृथ–
क्त्वैकत्वानुगतावुभावपि सवीचारेतरौ स्तः क्रमात्।
कार्यस्यातिशयेन जातपरमाह्लानं तु सूक्ष्मक्रियं
ध्यानं ह्यप्रतिपाति तादृशसमुच्छिन्नक्रियं चेत्यपि ॥४७॥

शुक्लध्यानके चार भेद है। इनमें पहला शुक्लध्यान वितर्क सहित हैं पृथक्त्व सहित है और विचार सहित है। दूसरा शुक्लध्यान वितर्क सहित है एकत्व सहित है और वीचार सहित है, अर्थात् शुक्लध्यानका पहला भेद पृथक्त्ववितर्क सवीचार है और दूसरा भेद एकत्ववितर्क अवीचार है। श्रुतज्ञानको वितर्क कहते हैं सब योगोंसे होनेवालेको पृथक्त्व कहते हैं और संक्रमणको वीचार कहते हैं जो सब योगोंसे हो श्रुतज्ञान सहित हो और जिसमें अर्थ व्यंजन योगोंकी सक्रांति हो उसको पृथक्त्व वितर्क वीचार कहते हैं। जो किसी एक योगसे हो श्रुतज्ञान सहित हो और अर्थ व्यंजन योगोंकी संक्रातिसे रहित हो उसको एकत्व वितर्क अविचार कहते हैं। इसप्रकार

एकत्वेन न पर्ययान्तरतया जातो वितर्कस्य य–
द्यो वीचार इहैकवस्तुनि वचस्येकत्र योगेऽपि च ।
नार्थव्यंजनयोगजालचलनं तत्सार्थनामेत्यदो
ध्यानं घातिविघातजातपरमार्हन्त्यं द्वितीयं मतम् ॥४९॥

दूसरे शुक्लध्यानका नाम एकत्ववितर्क अवीचार है। यह ध्यान एकत्वरूप से अथवा पर्यायांतर रूपसे उत्पन्न होता है किसी एकही गुण वा पर्याय वा द्रव्यका चिंतवन करता है इसलिये इसका नाम एकत्व है। तथा श्रुतज्ञानके होता है इसलिये इसको वितर्क सहित कहते हैं। यह शुक्लध्यान एक ही पदार्थ में होता है एक ही वचनमें होता है और एक ही योगसे होता है। समें अर्थ, व्यंजन और योग संचार नहीं होता इसलिये इसको अवीचार कहते हैं अतएव इसका जो एकत्ववितर्कअवीचार नाम है वह सार्थक है। इस ध्यान के कारण घातिया कर्मोंका नाश होजाता है और घातिया कर्मों के नाश होनेसे अरहत अवस्थाकी अनंत चतुष्टय, गंधकुटी, समवसरण आदि अंतरंग बहिरंग अनेक विभूतियां प्राप्त हो जाती हैं। इसप्रकार यह दूसरा शुक्लध्यान सर्वोत्कृष्ट ध्यान है। ॥४९॥

आगे इन दोनों ध्यानोंका विशेष वर्णन करते हैं।

शुक्लेऽभ्यन्तरबाह्यकारणगणो न्यक्षं च तल्लक्षणं
धर्म्ये वा प्रथमं क्षयोपशमयोर्मोहस्य हेतुर्द्वयोः ।
श्रेण्योर्मोक्षविनाकृदं विलयकृद्घातित्रयस्यापरं
वर्यं क्षीणकषाय एव यमलं तच्छुक्ललेश्योद्भवम् ॥५०॥

इस पहले शुक्लध्यानमें अंतरंग और बाह्य कारण सामग्रीका समूह इन्द्रियातीत है। जिसप्रकार धर्म्यध्यानके लक्षण कहे गये हैं उसीप्रकार इस शुक्लध्यानका लक्षण भी उपशमश्रेणी

॥२८८॥

शुक्लध्यानके दो तो ये भेद हैं । शुक्लध्यानके तीसरे भेदका नाम सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति है । जिस में अत्यत सूक्ष्म क्रिया हो और छूटनेवाला न हो उसको सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति कहते हैं । यह ध्यान अतिशय कार्यको करता है इस लिये इस ध्यानका नाम परम वा सर्वोत्कृष्ट हैं । तथा इसी प्रकार शुक्लध्यानके चौथे भेदकी संज्ञा भी सर्वोत्कृष्ट है वह समस्त कर्मोंकी नाश करनेरूप सर्वोत्तम अतिशय कार्य को करती है इस लिये इसकी परमोत्तम संज्ञा है इस में सूक्ष्म क्रिया भी नहीं होती केवल शुद्ध आत्मा शुद्धात्मस्वरूपमें तन्मय हो जाता है इस लिये इस चौथे शुक्लध्यानका नाम समुच्छिन्नक्रियाप्रतिपाति है । इसप्रकार पृथकत्ववितर्कवीचार, एकत्ववितर्कविचार, सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति और समुच्छिन्न क्रियाप्रतिपाति ये चार शुक्लध्यानके भेद हैं ॥४७॥

आगे पहले शुक्लध्यानका स्वरूप व्युत्पत्तिपूर्वक कहते हैं ।

आद्यं शुक्लमनेकधा स्वविषये वृत्त्या पृथक्त्वेन यत्
सर्वद्रव्यगतश्रुतस्य परमस्यास्मिन् वितर्कस्य यः ।
संचारोऽर्थवचस्त्रियोगगहने वीचार एषो भवे-
द्ध्यानं सार्थकनामधाम तदिदं स्यादिष्टसंपत्प्रदम् ॥४८॥

यह पहला शुक्लध्यान अपने ध्यान करने योग्य विषयों में पृथक् पृथक् रूपसे परिवर्तन करता रहता है इसलिये यह अनेक प्रकार का कहा जाता है। यह शुक्लध्यान समस्त द्रव्योंको जाननेवाले श्रुतज्ञानी के होता है। इस लिये यह सवितर्क कहलाता है। तथा इसमें अर्थ वचन और योगोंका संचार होता रहता है इसलिये यह सवीचार कहलाता है । इसप्रकार पृथक्त्ववितर्क और वीचार सहित होनेसे इसको पृथक्त्ववितर्कवीचार शुक्लध्यान कहते हैं। इसका यह नाम ऊपर लिखे अनुसार सार्थक है । यह शुक्लध्यान अनेक इष्ट संपदाओंको देनेवाला है ॥४८॥

आगे दूसरे शुक्लध्यानका स्वरूप कहते हैं ।

॥२८७॥

अथवा क्षपकश्रेणी इन दोनों श्रेणियोंमें मोहनीय कर्मका उपशम करना वा क्षय करना है। उपशम श्रेणीमें मोहनयि कर्मका उपशम करता जाता है और क्षपकश्रेणीमें मोहनीय कर्मका क्षय करता जाता है। यह पहला शुक्लध्यान मोक्षका परंपरा कारण है और स्वर्गका साक्षात् कारण है। दूसरा शुक्लध्यान उससे उत्तम है और ज्ञानावरण दर्शनावरण तथा अतराय इन तीनों घातिया कर्मोंके नाश करनेका कारण हैं। यह दूसरा शुक्लध्यान क्षीण कषायवाले बारहवें गुणस्थानवर्ती मुनियोंके ही होता हैं। पहला तथा दूसरा ये दोनों ही शुक्लध्यान शुक्ल लेश्यासे उत्पन्न होते हैं ॥५०॥

ध्यानं चिन्तनमेकवस्तुनि कियत्कालं मतं तच्छ्रुत–
ज्ञानं स्वावरणक्षयोपशमजं ध्यानोपचारस्ततः।
शश्वद्विश्वनिरन्तरावृतिहातिप्रत्यक्षवोधेऽर्हति
कर्मास्थित्यनुभागघातगलनाद्यर्थस्य तत्रेक्षणात् ॥ ५१ ॥

यह दूसरा शुक्लध्यान किसी एक ही पदार्थका चिंतवन करता है। इसका चिंतवन अंतर्मुहूर्त-तक ही होता है। श्रुतज्ञानावरणकर्मके क्षयोपशमसे उत्पन्न हुआ जो श्रुतज्ञान है, तद्रूप यह शुक्ल-ध्यान होता है। तीसरा शुक्लध्यान उपचारसे ध्यान कहलाता है। उसमें कुछ चिंतवन नहीं है। ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्मके अत्यंत क्षय हो जानेके कारण जिनके पूर्ण और सकल प्रत्यक्ष केवलज्ञान हो गया है ऐसे अरहंत भगवान्के यह तीसरा शुक्लध्यान होता है। उन अरहंत भगवानके कर्मोंकी स्थिति और अनुभाग नष्ट होता है यह सब ध्यानका कार्य प्रत्यक्ष दिखाई देता है इसलिये अनुमानसे यह सिद्ध हो जाता है कि उनके ध्यान है और वह तीसरा शुक्लध्यान है। क्योंकि ध्यानकेविना कर्म नष्ट होते ही नही है और अरहंतके कर्म नष्ट होते है इसलिये उनके ध्यान उपचारसे मानना पडता है ॥५१॥

आगे इसी सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति नामके तीसरे शुक्लध्यानका स्वरूप कहते हैं।

सूक्ष्मा क्वाष्टिगता क्रियेति तनुगो योगोऽत्र सूक्ष्मक्रियं
ध्यानं ह्यप्रतिपात्यनश्वरमिदं नामाऽस्य तत्सार्थकम् ।
तन्नात्युद्यतराघघातनसमुद्घातक्रियाऽनन्तरं
योगिन्यर्हति जीविते समुदभूदन्तर्मुहूर्ते स्थिते ॥५२॥

इस तीसरे शुक्लध्यानका नाम सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति है। इसमें समस्त क्रियाए अत्यंत सूक्ष्म हो जाती है तथा योग भी अत्यत सूक्ष्म हो जाता है। इसलिये इस ध्यानको सूक्ष्मक्रिय ध्यान कहते हैं। तथा यह ध्यान अविनश्वर है नष्ट नहीं होता इसलिये इस ध्यानको अप्रतिपाति कहते है। इसप्रकार सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति यह इस ध्यानका नाम सार्थक है। यह शुक्लध्यान सयोगी नाम के तेरहवें गुणस्थानमें होता है। जब भगवान् अरहंत देवकी आयु अंतर्मुहूर्त रह जाती है तब यह शुक्ध्लध्यान होता है। अपूर्व और प्रशस्त ऐसे अघा-तिया कर्मोंकी स्थिति अनुभाग आदि यदि आयु कर्मकी स्थिति से अधिक हों तो उस अधिक स्थिति अनुभाग को आयुके समान करने के लिये जो अरहंत भगवान् दंड कपाट प्रतर और पूर्णरूप समुद्घात करते है उस समय यह शुक्लध्यान होता है ॥५२॥

आगे समुच्छिन्नक्रिया नामके चौथे शुक्लध्यानका लक्षण कहते हैं।

योगोऽस्मिन्प्रहतो बभूव हि समुच्छिन्नक्रियं सुस्थितं
ध्यानं ह्यप्रतिपाति तेन तदभूदन्वर्थनामास्पदम् ।
लेश्यातीतमयोगकेवलिजिने शुक्लं चतुर्थं वरं
निर्मूलप्रविलीनसंसृतिगदं स्वात्मोपलब्धिप्रदम् ॥५३॥

चौथा शुक्लध्यान चौदहवें गुणस्थानमें अयोग केवली भगवान्‌के होता है। इसमें योग सब नष्ट हो जाते हैं इसीलिये इस ध्यानका नाम समुच्छिन्न क्रिया है। यह ध्यान अत्यंत

॥२९०॥

स्थिर रहता है, तथा यह ध्यान नष्ट नहीं होता-अविनश्वर है इसीलिये इसको अप्रतिपाती कहते है, अतएव इसका समुच्छिन्नक्रियाप्रतिपाती नाम सार्थक है। यह चौथा शुक्लध्यान विना किसी लेश्याके होता है। यह ध्यान सर्व श्रेष्ठ है इसमें जन्ममरणरूप ससार रोग मूल सहित नष्ट हो जाता है और आत्माके शुद्धस्वरूपकी प्राप्ति हो जाती हैं। ॥ ५३ ॥ इसप्रकार चारों ध्यानोंका निरूपण किया।

अब आगे आराधनाओंको आराधन करनेवाला कैसा होना चाहिये सो कहते हैं।

संस्कारातिशयः प्रसन्नहृदयस्त्यागी क्षमी प्रोद्यमी
प्रव्यक्तस्वपरास्थितिः शुभवचोरत्नावलीराजितः
शूरः शीलपरो गुणास्थिररुचिर्भव्योऽभिमानी परं
साध्वीं साधयाति स्वभावसुभगामाराधनां नायिकाम् ॥५४॥

जो भव्य हो, जिसके संस्कारोंका अतिशय प्राप्त हो, जिसका हृदय पवित्र हो, जो समस्त परिग्रहोंका त्यागी हो, क्षमा धारण करनेवाला हो, अच्छा उद्यमी हो, अपनी तथा अन्य सबकी परिस्थितिको प्रत्यक्ष जाननेवाला हो, जिसके बचन सुदर हों, जो रत्नत्रयसे सुशोभित हो, जो शूरवीर हो, शील पालन करनेमें तत्पर हो, मूलगुण और उत्तर गुणोंमें निश्चल रुचि वा श्रद्धा करनेवाला हो और जो अपनी प्रतिज्ञाओंका अभिमान रखता हो, की हुई प्रतिज्ञाओंसे कभी चलायमान न हो, ऐसे उत्तम मुनि स्वभावसे ही सुंदर सर्वश्रेष्ठ और सबमें मुख्य ऐसी उत्तम आराधनाओंको आराधन करते हैं ॥ ५४

आगे आराधनाकी विधि बतलाते हैं।

शेषेऽल्पे निजजीवने जनहितं देशं महीशान्वितं
नानाजैनजनास्पदं सुखपदं सत्संगिनां योगिनाम्।

॥२९१॥

संप्राप्यात्ममनोगतं बहुमतं सम्यङ्‍निवेद्य स्थितः
सूरिभ्यः सकलैश्च तैः सुविदितः संघान्वितैः स्वीकृतः ॥५५॥

जब अपनी आयु थोडी रह जाय तब उस आराधना करनेवालेको किसी ऐसे देशमें पहुंचना चाहिये जिसमें सब लोगोंका कल्याण हो सकता हो, जिसमें श्रेष्ठ राजा शासन करता हो, जिसमें जैनधर्म धारण करनेवाले अनेक जन निवास करते हों जो उत्तम संघको साथ रखनेवाले मुनियोंके लिये सुख देनेवाला हो। ऐसे किसी देशमें जाकर किसी संघमें पहुंचना चाहिये। उस संघके नायक आचार्यके समीप बैठकर उनसे सबको मान्य ऐसा अपने मनका अभिप्राय प्रगट करना चाहिये। उस संघमें रहनेवाले समस्त लोगोंको मालूम हो जाना चाहिये और संघकी स्वीकारता मिल जानी चाहिये। इतनी सामग्री मिलनेपर वह आराधक आराधना करता है ॥ ५५ ॥

आगे इसकी और भी विधि कहते हैं।

आचार्यैः परिचर्यया‌ऽऽहिताहितैः सद्व्‍यूनपंचाशता
द्वाभ्यां वाऽतिजघन्यतः परिवृतः प्रीत्योत्तमार्थार्थ्यतः।
आलोच्यांऽऽत्मकृतं कृती त्रिकरणैर्दोषं विशुद्धाशयः
श्रुत्वातः प्रवरं प्रतिक्रमणमप्यारुह्य सत्संस्तरम् ॥५६॥
प्राज्ञोऽसौ क्रमशोऽशनं परिहरन्नेकैकमास्वाद्य तत्
सम्यग्दर्शितमिष्टमिष्टमसकृत्कांक्षाक्षयार्थं बुधैः।
हित्वाऽतास्त्रिविधाशनं धृतिकरं किं स्तोकमेतन्मया
भुक्तात्पूर्वमनेकमेरुमहतो मे तृप्तिकस्येत्यतः ॥५७॥

॥२९२॥

त्यक्त्वाऽतः कुशलः क्रमेण विविधं धीरःसमाध्याप्तये
पानं सिक्थयुतं विलेपि सरसं निःस्नेहमच्छं पयः ।
किं तृप्तिर्भवतीयतो भवभवे पीतादजातेत्यतो
नानानीरधिनीरतोऽतिमहतो मे कर्मघर्मार्त्तिनः ॥ ५८ ॥
ज्ञाताऽऽस्वादसमस्तवस्तुभिरलं बाह्यैरसारैः परं
जैनेन्द्रं वचनामृतं जननमृत्यातंकनाशीति तत् ।
धृत्वा पंचगुरून्मनस्यविचलं तन्मंत्रमुच्चारयन्
धर्म्यं शुक्लमपि प्रकृष्टफलदं ध्यायंस्तनुं व्युत्सजेत् ॥ ५९ ॥

(चतुष्कम्)

जो आचार्य दूसरोंकी सेवा, परिचर्या, वैयावृत्य आदि करनेमें ही अपना हित समझते हैं ऐसे अधिकसे अधिक अडतालीस आचार्य हों अथवा कमसे कम दो आचार्य (निर्यापकाचार्य–आराधना करानेमें तत्पर रहनेवाले) हों, उनके आधीन रहकर बडे प्रेमसे उत्तम सन्यासरूप आराधनाको धारण करनेकी इच्छा रखते हुए उन कृती मुनिराजको शुद्ध हृदयसे मन, वचन, काय इन तीनों योगोंके द्वारा अपने किये हुए समस्त दोषोंकी–समस्त पापोंकी आलोचना करनी चाहिये अर्थात् आचार्यसे अपने समस्त दोष निवेदन करने चाहिये । फिर उत्तम प्रतिक्रमण सुनना चाहिये और फिर उन आराधना करनेवाले मुनिराजको उत्तम सांथरेपर विराजमान होना चाहिये । फिर उन बुद्धिमान् आराधकको अनुक्रमसे भोजनका त्याग करना चाहिये । उसके त्याग करनेकी विधि यह है कि भोजन करनेमें उसकी वार वार इच्छा न हो इसके लिये जो जो इष्ट भोजन हैं वे सब उसको दिखाने चाहिये और उसकी इच्छा हो तो खानेके लिये भी कहना चाहिये तथा साथमें उसको समझना भी चाहिये । उसको समझलेना भी चाहिये कि मैंने पहले अनंत जन्मोंमें मेरुपर्वतसे भी

॥२९३॥

अधिक अनेक भोजन किये हैं परतु मुझे कभी तृप्ति नहीं हुई फिर क्या इस थोडेसे भोजनसे मुझे तृप्ति हो सकती है? अर्थात् कभी नहीं। इसप्रकार विद्वानों के द्वारा समझ लेनेपर उसे पीने योग्य पेय पदार्थोंको छोडकर बाकीके तीनों प्रकार के भोजनोंका त्याग कर देना चाहिये तदनंतर उस धीर, वीर ओर बुद्धिमान् आराधक को समाधिमरण धारण करने के लिये अनुक्रमसे मांड, लेप करने योग्य चासनी आदि रस, चिकनाई रहित पतले पदार्थ और स्वच्छ जल इन अनेक प्रकार के पेय पदार्थोंका भी त्याग कर देना चाहिये। उनके त्याग करते समय विचार करना चाहिये कि मैं कर्मरूपी उष्णतासे अत्यंत दुःखी हू उस कर्मरूपी उष्णताको दूर करने के लिये मैंने प्रत्येक भवमें अनेक समुद्रोंके जलसे भी अधिक और वहुत अधिक जल पीया तथापि मुझे तृप्ति नहीं हुई– मेरी वह कर्म जनित वेदना नष्ट नहीं हुई, फिर क्या इन थोडेसे पेय पदार्थोंसे मुझे तृप्ति हो सकती है? कभी नहीं। ऐसा समझकर उस आराधकको समस्त पेय पदार्थोंका त्याग कर देना चाहिये। तदनंतर उसे चिंतवन करना चाहिये। कि मैंने इन समस्त पदार्थोंका स्वाद जान लिया है। ये संसारके समस्त वाह्य पदार्थ असार हैं इनमें कुछ सार नहीं है अतएव इनसे मुझे कुछ प्रयोजन नहीं हैं इनको तो दूरसे ही छोड देना अच्छा है। संसारमें एक जिनेंद्र देवके ही वचनरूपी अमृत ऐसे हैं जो जन्म मरणरूपी रोगको नाश करनेवाले हैं यही चिंतवन कर उस आराधकको अपने हृदयमें पंच परमेष्ठियोंको निश्चल रीतिसे स्थापन करना चाहिये। पंच परमेष्ठियोंके वाचक "णमो अरहताणं" इत्यादि णमोकार मंत्रका उच्चारण करना चाहिये और सर्वोत्तम फल देनेवाले धर्म्यध्यान वा शुक्लध्यानको धारण करना चाहिये। इसप्रकार पच परमेष्ठियोंको स्मरण करते हुये और णमोकार मत्रका उच्चारण करते हुए और धर्म्यध्यान वा शुक्लध्यान धारण करते हुये अपने शरीरको त्याग कर देना चाहिये ॥ ५६–५९ ॥

देवैस्तिर्यगचेतनैश्च मनुजैः प्राप्तोपसर्गस्तदा
त्यक्त्वाऽऽहारशरीरसंगमखिलं वाधाऽविरामावधि।

सावद्यं सकलं च निर्मलमना ध्याने प्रशस्ते स्थित-
स्तिष्ठेत्पंचगुरूनभिमतफलप्राप्त्यभ्युपायानपि ॥६०॥

यदि किसी मुनिके ऊपर देव वा तिर्यंच द्वारा किया हुआ उपसर्ग आजाय वा बिजली मेघ आदि अचेतन पदार्थोंके द्वारा किया हुआ उपसर्ग आजाय अथवा मनुष्योंके द्वारा किया हुआ उपसर्ग आजाय तो उससमय जबतक वह उपसर्ग दूर न हो तबतक के लिये उनको सब प्रकारके आहारका त्याग कर देना चाहिये, सब प्रकारके परिग्रहोंका त्याग कर देना चाहिये, शरीरसे ममत्वका त्याग कर देना चाहिये और समस्त पापोंका त्याग कर देना चाहिये। इन सबका त्याग कर उन्हें अपना हृदय शुद्ध बनालेना चाहिये, धर्मध्यान वा शुक्लध्यान इन प्रशस्त ध्यानोंमें लीन हो जाना चाहिये और अपनी इच्छानुसार फल देनेवाले—मोक्षफलकी प्राप्ति करानेवाले ऐसे पच परमेष्ठियोंका स्मरण करते हुए विराजमान रहना चाहिये। ॥६०॥

आगे समाधिमरणके भेद और उनका स्वरूप बतलाते हैं।

इंगिन्यां चान्यसंपादितहितविरतौ वर्णितो योऽत्र भक्त-
प्रत्याख्याने क्रमोऽसौ निरतिशयमृतौ स्वोपकारप्रवृत्तौ।
ज्ञेयः प्रायोपगत्यां स्वपरहितकृत्यक्तवांच्छाप्रवृत्तौ
ताभिः सप्ताष्टजन्मस्वगतदुरिता मोक्षलक्ष्मीं लभन्ते ॥६१॥

समाधिमरण तीन प्रकार है। इंगिनीमरण, भक्तप्रत्याख्यानमरण, और प्रायोपगमनसन्यास। इंगिनीसन्यासमें अन्यके द्वारा की हुई वैयावृत्तिसे विरक्त रहता है अर्थात् अन्य किसीसे वैयावृत्य वा सेवा शुश्रूषा नहीं कराता। अतिशय रहित भक्तप्रत्याख्यान मरणमें अपनी वैयावृत्य अपने आपभी करता है और अन्य लोगोंसे भी कराता है। दोनो प्रकारके वैयावृत्यमें उसकी प्रवृति होती है। तथा तीसरे प्रायोपगमन संन्यासमें न तो स्वयं अपने आप वैयावृत्य करता है और न

॥२९५॥

दूसरेसे कराता है। उसके वैयावृत्य करने कराने मात्रकी इच्छाका भी त्याग हो जाता है। इस—
प्रकार जो इन तीनों प्रकार के संन्यासोंमेंसे कोई भी एक संन्यास धारण करते हैं वे सात आठ
भवमें समस्त पापोंसे रहित ऐसी मोक्षलमीको अवश्य प्राप्त होते हैं ॥६१॥

दीक्षामादाय शिक्षामथ गणधरतां रक्षणार्थं गणस्य
संस्कारं स्वस्य भावैः शमदमविभैवयोंऽत्र सल्लेखनां च ।
क्रोधादीनां विधाय प्रथितपृथुयशाः साधयेदुत्तमार्थं
सः स्यात्सद्भव्यसस्योत्पलनिकरमुदे मेघचन्द्रो मुनीन्द्रः ॥६२॥

जो मुनि श्रीजैनेश्वरी दीक्षा धारण कर समाचारनीति के द्वारा समस्त शिक्षाओंको ग्रहण करते
हैं, फिर सधकी रक्षा करने के लिये गणधरपद वा आचार्य पद को स्वीकार करते हैं, अपने शुद्ध
परिणामों से आत्माका शुद्ध संस्कार करते हैं, शांत परिणामोंको धारण करना तथा इंद्रियोंको दमन
करना आदि आत्म जन्य विभूतियों से क्रोधादिक समस्त कषायोंकी सल्लेखना करते हैं समस्त कषा—
योंको कृष करते हैं और इसप्रकार अपने बडे भारी यशको संसारभरमें फैलाकर मोक्षरूप सर्वोत्तम
पुरुषार्थ को सिद्ध कर लेते हैं वे श्रेष्ठ भव्यरूपी धान्य और कमलों के समूहको प्रफुल्लित कर—
ने के लिये मुनिराज मेघचन्द्र के समान सुशोभित होते हैं। जिसप्रकार मेघोंकी वर्षासे धान्य
बढते हैं और चन्द्रमाके उदयसे रात्रि विकासी कमल खिलते हैं उसी प्रकार सल्लेखना वा समाधि—
मरण धारण करनेवाले मुनिराजोंसे भी इस संसारके समस्त भव्य जीव बढते हैं और प्रफुल्लित होते
हैं। इस आचारसारनामके महाग्रन्थके मूलकर्ता श्री आचार्य वीरनंदि सिद्धांतचक्रवर्ती हैं।
उनके गुरु वा पिताका नाम श्री आचार्य मेघचन्द्र है। आचार्य ने अपने गुरुका स्मरण करने वा
उनकी महिमा प्रगट करने के लिए ही इस श्लोकमें ऐसा श्लेषालंकारसे परिपूर्ण उपमालंकार दिया
है जिससे उपमा भी ठीक बैठ जाय और अपने गुरुका नाम भी आजाय। इससे यह भी

॥२९६॥

सिद्ध होता है कि जिसप्रकार गुरुराज मेघचद्रने समाधिमरण धारणकर भव्य जीवोंको आल्हादित किया है उसीप्रकार समाधिमरण धारण करनेवाले मुनिराज भव्य जीवोंको सदा आल्हादित करते रहते हैं। ॥ ६२ ॥

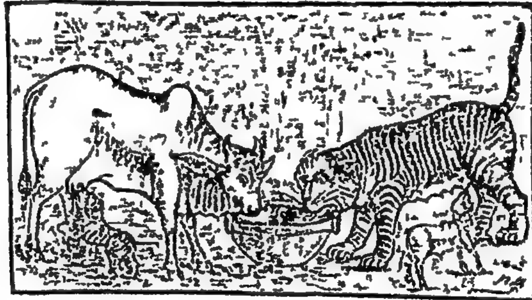
आगे अध्यायके अंतमें श्री श्रेयांसनाथकी स्तुति करते हैं।

श्रेयोनाथ ! सरस्वतीश्वरतया रत्नाकरत्वेन तु
गांभर्यिंण वरेण निर्मलतया वार्द्धिः समोस्तु त्वया।
किं वंद्या जलधेः सदा प्रमुदितत्रैलोक्यसंसेव्यता
लक्ष्मीश्चाक्षयसंगमाऽस्ति परमा मूर्तिर्मनोहारिता ॥ ६३ ॥

हे भगवान् श्रेयांसनाथ ! यद्यपि आपभी सरस्वतीके स्वामी है दिव्यध्वनिरूपी सरस्वतीके नायक हैं और समुद्र भी सरस्वती—नदीका स्वामी है। आपभी सम्यग्दर्शन आदि अनेक रत्नोंकी खानि हो— अनेक रत्न आपमें भरे हुए है उसीप्रकार समुद्र भी अनेक रत्नोंकी खानि है— उसमें भी बहुतसे रत्न भरे हैं, आपभी गंभीर है, समुद्र भी गंभीर है, आपभी उत्तम हैं समुद्र भी उत्तम है, तथा आपभी अत्यंत निर्मल वा शुद्ध है समुद्र भी अत्यंत निर्मल और शुद्ध है। इन साधारण बातोंमें यद्यपि समुद्र आपकी समानता धारण करता है। तथापि सबके द्वारा वंदना करने योग्य, सदा प्रसन्न रहनेवाली, तीनों लोकोंके द्वारा सेवा करने योग्य और सदा अक्षय रहनेवाली ऐसी मोक्षरूपी अपूर्व लक्ष्मी क्या समुद्रके है ? अथवा आपके समान परम मनोहरता और आपके समान परम शांत मूर्ति समुद्रके है ? अर्थात् नहीं।

भावार्थ— यद्यपि कुछ अंशोंमें समुद्र आपकी समानता रखता है तथापि आपके समान मनोहरता, परम शांत मूर्ति और मोक्षरूप अक्षय लक्ष्मी समुद्रके न है और न हो सकती है। अतएव समुद्र किसी भी प्रकारसे आपके समान नहीं हो सकता। ऐसे हे श्रेयांसनाथ ! मै आपकी सदा स्तुति करता हूं। ॥ ६३ ॥

इसप्रकार श्री वीरनंदि सिद्धातचक्रवर्ति विरचित
श्री आचारसार नामके शास्त्रकी, चावली [आगरा]
निवासी देहली प्रवासी 'धर्मरत्न' पं. लालाराम
शास्त्री द्वारा निर्मित सरल हिंदी भाषा
टीकामें ध्यानके स्वरूपका वर्णन कर-
नेवाला यह दशवा अधिकार
समाप्त हुवा.



अथैकादशोऽधिकारः ॥११॥

श्रियं ममैनास्तामिरक्षयोज्ज्वलां
सन्मार्गगः श्रीविमलः क्रियात्सदा ।
जिनो निजानंतवरैर्गुणोत्करै-
र्विराजमानो जनताब्जभास्करः ॥ १ ॥

॥२९८॥

ग्यारहवां अधिकार.

जो भगवान् श्री विमलनाथ स्वामी सूर्यके समान हैं। जिसप्रकार सूर्य कमलोंको प्रफुल्लित करता है उसी प्रकार जो मनुष्यके समूहरूपी कमलोंको प्रफुल्लित करते हैं, जिसप्रकार सूर्य अनेक किरणों से सुशोभित है उसी प्रकार जो भगवान् अपने अनंत उत्तम गुणोंके समूहसे सुशोभित हैं, सूर्य जिसप्रकार श्रेष्ठ आकाश मार्गसे गमन करता है उसी प्रकार जो भगवान् श्रेष्ठ मोक्षमार्गमें गमन करते है और सूर्य जिसप्रकार निर्मल है उसप्रिकार जो भगवान् समस्त दोषोंसे रहित निर्मल हैं। इसप्रकार सूर्य के समान भगवान् विमलनाथ तेरहवें तीर्थंकर मुझे पापरूपी अंधकारके नाश होनेसे प्राप्त होनेवाली सर्वोत्तम मोक्षरूपी लक्ष्मीको सदा प्रदान करते रहें ॥१॥

जीवस्य कर्मणो भेदवेदनायेदमुच्यते ।
संक्षेपेणाज्ञसंज्ञप्त्यै जीवकर्मप्ररूपणम् ॥ २ ॥

आगे जीव और कर्मों के भेदोंको जानने के लिये अजानकार जीवोंको अत्यंत संक्षेपसे जीव और कर्मोंके संबधको कहनेवाला जीवकर्म प्ररूपणनामका अधिकार कहते हैं ॥२॥

जीवो गुणोऽस्य पर्याप्तिः प्राणः संज्ञा तु मार्गणाः ।
चतुर्दशोपयोगश्चेत्याद्यं विंशतिभेदगम् ॥ ३ ॥

जीवसमास, गुणस्थान, पर्याप्ति, प्राण, संज्ञा, चौदह मार्गणा, और उपयोगके भेदसे वीस प्ररूपणा कही जाती हैं ॥३॥

आगे क्रमसे इन्हीं वीस प्ररूपणाओंका वर्णन करते हैं। उसमें भी सबसे पहले जीवसमास बतलाते हैं।

त्रसादीनां चतुर्युग्मेष्वाविरुद्धोदयान्वितान् ।
जातिकर्मोदयाज्जीवसमासाः स्युश्चतुर्दश ॥ ४ ॥

त्रस स्थावर, बादर सूक्ष्म, पर्याप्तक अपर्याप्तक और प्रत्येक साधारण ये चार युग्म या चार जोडे कहलाते हैं। इन त्रसादिकों के चारों जोडोंमें से अविरुद्ध उदय होनेके साथ एकेंद्रिय आदि जाति कर्मोंके उदय होनेसे चौदह जीवसमास हो जाते हैं।

भावार्थ— एकेंद्रिय, दो इंद्रिय तेइन्द्रिय चौइन्द्रिय पंचेन्द्रिय जीवोंके ही बादर, सूक्ष्म, पर्याप्तक अपर्याप्तक, सैनी असैनी और त्रस, स्थावर के अविरुद्धताके साथ उदय होनेसे चौदह भेद हो जाते हैं।

आगे उन्हीं चौदह भेदोंको दिखलाते हैं।

त एते स्थूलसूक्ष्मैकाक्षद्वित्रिचतुरिन्द्रियाः।
संज्ञ्यसंज्ञ्यंगिपंचाक्षपर्याप्तेतरसंज्ञकाः ॥ ५ ॥
संग्रहीतविशेषाद्धिसामान्यत्वादितीरिताः।
नैगमाश्रयणादेवमन्यत्रापि निरूपयेत् ॥ ६ ॥ (युग्मम्)

एकेन्द्रियसूक्ष्म, एकेन्द्रियस्थूल, दोइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चौइन्द्रिय, असैनीपंचेन्द्रिय, और सैनी पंचेन्द्रिय ये सात भेद होते हैं ये सातोंही पर्याप्तक होते हैं और सातोंही अपर्याप्तक होते है। इसप्रकार चौदह भेद होजाते है। उनके क्रमसे नाम ये हैं। एकेन्द्रियसूक्ष्मअपर्याप्तक १ एकेन्द्रियसूक्ष्मपर्याप्तक, २ एकेन्द्रियस्थूलअपर्याप्तक, ३ एकेन्द्रियस्थूलपर्याप्तक, ४ दोइन्द्रिय, अपर्याप्तक ५ दोइन्द्रियपर्याप्तक, ६ तेइन्द्रियअपर्याप्तक, ७ तेइन्द्रियपर्याप्तक, ८ चौ इन्द्रिय अपर्याप्तक ९ चौइन्द्रियपर्याप्तक, १० असैनी पंचेन्द्रिय अपर्याप्तक ११ असैनी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक १२ सैनीपंचेन्द्रियअपर्याप्तक १३ और सैनी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक १४ ऐसे चौदह भेद होते है ॥५॥

ये जो ऊपर चौदह भेद बतलाये हैं सो तिर्यक्सामान्य और ऊर्ध्वता सामान्यके विशेष भेदोंको लेकर ही वर्णन किये हैं। यदि नैगम नयके आश्रयसे इनके भेद किये जायं तो और

॥३००॥

भी अनेक भेद होते हैं उन सबका यथायोग्य रीतिसे निरूपण कर लेना चाहिये। जैसे ५७ वा ९८ जीवसाभास होते है ॥६॥

आगे योनियोंके भेद कहते हैं।

सचित्ताऽचित्तमिश्रोष्णा शीता मिश्रा च संवृता।
विवृतेत्यंगिनामष्टौ स्युः सन्मूर्च्छनयोनयः ॥७॥

सम्मूर्च्छन जीवोंकी सचित्त, अचित्त, सचित्ताचित्त, उष्ण, शीत, शीतोष्ण, संवृत, विवृत ये आठ योनियां हैं। इन आठ-प्रकारकी योनियोंसे सम्मूर्च्छन जीव उत्पन्न होते हैं॥ ७॥

सचित्ताचितयोर्मिश्रा संवृतेतरयोरपि।
शीतोष्णमिश्राः पंचैवं जीवानां गर्भयोनयः ॥८॥

गर्भज जीव सचित्ताचित्त, संवृतविवृत, शीत, उष्ण और शीतोष्ण इन पांचप्रकारकी योनियोंसे उत्पन्न होते हैं॥ ८॥

उपपादयोनयः स्युः शीतोष्णाचित्तसंवृताः।
संवृतैकेन्द्रियेऽन्येषु विवृतोष्णा त्वग्निकायिके ॥९॥

औपपादिक जीव अर्थात् देव और नारकी जीव शीत, उष्ण, अचित्त और संवृत इन चार योनियोंसे उत्पन्न होते हैं। एकेन्द्रिय जीवोंकी संवृत योनि है, दोइन्द्रिय तेइन्द्रिय चौइन्द्रिय और पचेन्द्रिय सम्मूर्च्छन जीवोंके विवृत योनि हैं अग्निकायिक जीवोंके उष्ण योनि है॥ ९॥

जराय्वंडजपोताः स्युर्गर्भेऽप्येवोपपादिकाः।
नाकिनो नारकाश्चान्ये स्युः सम्मूर्च्छनयोनयः ॥ १०॥

जरायुज, अंडज, और पोत जीव गर्भसे ही उत्पन्न होते हैं। जिनके ऊपर जरा आती है उनको जरायुज कहते हैं। अंडोंसे उत्पन्न होनेवाले अंडज है और जिनपर जरा न हो तथा जो

पैदा होते ही भाग निकलें ऐसे हरिण सिंह आदि पोत कहलाते हैं। ये सब गर्भसे ही उत्पन्न होते हैं। देव नारकी उपपाद जन्मसे उत्पन्न होते हैं। देव और नारकियोंके उत्पन्न होनेका स्थान विशेष होता है वहीं पर की पुद्गल वर्गणाएं शरीररूप परिणत हो जाती हैं। इसको उपपाद जन्म कहते हैं। गर्भसे उत्पन्न होनेवाले और उपपादसे उत्पन्न होनेवाले जीवोंको छोडकर बाकीके समस्त जीव सम्मूर्च्छनसे उत्पन्न होते हैं। जहां कहीं शरीरकी सामग्री प्राप्त होनेपर चारों ओरसे शरीर बन जाय उसको सम्मूर्च्छन कहते हैं ॥ १० ॥

आगे योनियोंके चौरासी लाख भेद बतलाते हैं।

सप्त सप्त निगोदद्वयोर्वीतोयाग्निवायुषु ।
प्रत्येके दश योनीनां षडपिंडाद्विकलेन्द्रिये ॥११॥
पंचाक्षे नारके देवे चत्वारि तु चतुर्दश ।
नरे चतुरशीतिः स्युर्लक्षाण्येवं विशेषतः ॥१२॥

नित्य निगोदकी सात लाख योनियां हैं, इतर निगोदकी सात लाख योनियां है, पृथ्वी कायिकजीवोंकी सात लाख हैं, अग्निकायिक जीवोंकी सात लाख हैं, जलकायिक जीवोंकी सात लाख हैं वायु कायिक जीवोंकी सात लाख हैं। प्रत्येकवनस्पतिकायिक जीवोंकी दश लाख हैं। दोइन्द्रिय जीवोंकी दो लाख, तेइन्द्रिय जीवोंकी दो लाख, चौइन्द्रिय जीवोंकी दो लाख, पंचेन्द्रिय पशुओंकी चार लाख, नारकियोंकी चार लाख, देवोंके चार लाख, और मनुष्योंकी चौदह लाख योनियां हैं। इसप्रकार समस्त जीवोंकी मिलकर सब चौरासी लाख योनियां है ॥ ११—१२ ॥

आगे और भी योनियोंके भेद बतलाते हैं।

न जन्म शंखावर्त्तायां तीर्थेशाश्चक्रिणो बलाः ।
कूर्मोन्नतायां स्युश्चान्ये वंशपत्राकृतौ परे ॥१३॥

॥३०२॥

योनियां तीन प्रकार हैं शंखावर्त योनि, कूर्मोन्नत योनि और वंशपत्र योनि । इनमेंसे शंखावर्त योनिमें गर्भ धारण होता ही नहीं है। तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलभद्र आदि कूर्मोन्नत योनि-से उत्पन्न होते हैं तथा अन्य सब जीव वंशपत्र योनिसे उत्पन्न होते हैं ॥ १३ ॥

आगे नारकियोंकी अवगाहना बतलाते हैं।

आदीन्द्रके त्रिहस्ताः स्युराद्युर्व्यामन्तिमेन्द्रके।
सप्तचापास्त्रिहस्ताश्च षडंगुल्यस्तनूच्छ्रयः ॥१४॥
द्वितीयाद्युर्वरान्तेन्द्रकेषु स्याद्विगुणः क्रमात्।
नारकाणामयं हानिवृद्धी स्यातां परेषु तु ॥१५॥

नरककी सात पृथिवी हैं उसमें पहली पृथिवीके पहले पटलमें इन्द्रक विमानमें जो नारकी हैं उनकी उंचाई तीन हाथ है । तथा उसी पहली पृथ्वीके अंतिम पटलके इन्द्रक विमानमें जो नारकी हैं उनके शरीरकी उंचाई सात धनुष तीन हाथ छह अंगुल है । दूसरी पृथिवीके अंतिम पटलके नारकियोंकी उंचाई इससे दूनी है और इसीप्रकार सातवीं पृथ्वीतक बराबर दूनी दूनी चली गई है अंतके नरकमें शरीरकी उंचाई पांचसौ धनुष है । इसप्रकार सब नरकोंमें शरीरकी उंचाई न्यूनाधिक है ॥ १४-१५ ॥

भावार्थ— पहली पृथ्वीमें १३ पटल हैं तीस लाख विल हैं शरीरकी उंचाई सात धनुष तीन हाथ छह अंगुल है उत्कृष्ट आयु १ सागर जघन्य दश हजार वर्ष है दूसरी पृथ्वीमें ११ पटल हैं २५ लाख विल हैं, शरीरकी उंचाई १५ धनुष, २ हाथ १२ अंगुल है । उत्कृष्ट आयु ३ सागर जघन्य १ सागर है। तीसरी पृथ्वीमें ९ पटल हैं १५ लाख विल हैं, शरीरकी उंचाई ३१ धनुष १ हाथ है । उत्कृष्ट आयु ७ सागर जघन्य ३ सागर है । चौथी पृथ्वीमें ७ पटल हैं १० लाख विल हैं, शरीरकी उंचाई ६२ धनुष २ हाथ है, उत्कृष्ट आयु १० जघन्य ७ सागर है। पांचवी पृथ्वीमें ५ पटल हैं

३ लाख विल हैं शरीरकी उंचाई १२५ धनुष है, उत्कृष्ट आयु १७ सागर जघन्य १० सागर है। छठी पृथ्वीमें ३ पटल हैं ९९९९५ विल है। शरीरकी उंचाई २५० धनुष है, उत्कृष्ट आयु २२ सागर जघन्य १७ सागर हैं। सातवीं पृथ्वीमें एक पटल है ५ विल हैं शरीरकी उंचाई ५०० धनुष है उत्कृष्ट आयु ३३ सागर जघन्य २२ सागर है।

आगे शरीरकी अवगाहना कहते हैं।

ऋज्व्या गत्या समुत्पन्नस्तृतीयसमयेऽवरः।
देहः सूक्ष्मनिगोदस्य लब्ध्यपर्याप्तकस्य च ॥१६॥

जो जीव ऋजुगातिसे उत्पन्न हुआ है ऐसे सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीवके तिसरे समयमें शरीरकी अवगाहना घनांगुलके पल्यका असख्यातवां भाग प्रमाण होती है। यही सबसे जघन्य अवगाहना है। इसका कारण यह है कि उसका आकार पहले समयमें लंबाई लिये हुए चौकोर रहता है दूसरे समयमें सम चौकोर रहता है और तीसरे समयमें गोल हो जाता है। गोल होनेसे ही वह सबसे जघन्य वा छोटा हो जाता है ॥ १६ ॥

पल्याऽसंख्येयभागेन विभक्तं स्याद्ध नांगुलम्।
चतुर्वृद्धियुतोऽप्यस्मादालापादीदृशो मतः ॥ १७ ॥

उस तीसरे समयकी अवगाहनाका प्रमाण पल्यके असंख्यातवें भागमें विभक्त घनांगुल प्रमाण है यद्यपि इसमें चारों प्रकार संख्यातभागवृद्धि, सख्यातगुणवृद्धि, असंख्यातभागवृद्धि, असंख्यातगुणवृद्धि ये चारों प्रकारकी वृद्धि होती हैं। तथापि आलाप वा कथनकी अपेक्षा वह जीव घनांगुलके असंख्यातवें भाग प्रमाण ही कहलाता हैं ॥ १७ ॥

लब्धिनिर्वृत्यपर्याप्तपर्याप्तेष्ववरो वरः
निर्वृत्यपूर्णपूर्णेषु विशेषः केषुचिद्यथा ॥ १८ ॥

लब्ध्यपर्याप्तक, निर्वृत्यपर्याप्तक, और पर्याप्तक इन सबमें क्रमसे जघन्य उत्कृष्ट अवगाहना समझनी चाहिये । किंतु इन तीनोंमें जो कोई विशेष है वह इसप्रकार है ॥ १८ ॥

घनांगुलस्य संख्येयभागः स्यादवरः क्रमात् ।
पूर्णद्वित्रिचतुःपंचाक्षाणां संख्यातसंगुणम् ॥१९॥

घनांगुलके संख्यातवें भाग तो द्वीन्द्रिय पर्याप्तककी जघन्य अवगाहना है । और वही जघन्य अवगाहना अनुक्रमसे तेइन्द्रिय चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीवोंके सख्यात संख्यातगुणी है ॥१९॥

अब आगे इनके स्वामी बतलाते हैं ।

तज्जघन्यमणुंधर्यां कुंथावप्यवगाहनम् ।
स्यात्काणमाक्षिकायां च सिक्थमत्स्ये यथाक्रमम् ॥२०॥

द्वीन्द्रिय जीवोंमें अणुंधरीमें, तेइन्द्रिय जीवोंमें कुंथुमें, चोइन्द्रिय जीवोंमें काणमक्षिकामें और पंचेन्द्रिय जीवोंमें सिक्थमत्स्यमें क्रमसे जघन्य अवगाहना होती है ॥ २० ॥

वरं त्रिचतुर्द्व्यक्षा प्रतिष्ठितेंगमपूर्णके ।
पंचाक्षे च ततः पूर्णेऽमीषां संख्यातसंगुणम् ॥ २१ ॥

तेइन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, दोइन्द्रिय, प्रतिष्ठितप्रत्येकवनस्पति और पंचेन्द्रियपर्याप्तक इन सब जीवोंमें उत्कृष्ट अवगाहना संख्यातगुणी है । कमलकी अवगाहना कुछ अधिक एक हजार योजन है और वह केवल लंबाईकी अपेक्षासे हैं । द्वीन्द्रियकी बारह योजन, तेइन्द्रियकी तीन कोस, चतुरिन्द्रियकी एक योजन, और पंचेन्द्रिय महामत्स्यकी अवगाहना एक हजार योजन है । यहांपर इतना और समझलेना चाहिये कि कमलकी लंबाईकी अपेक्षासे हैं और पंचेन्द्रिय पर्याप्तक महामत्स्यकी अवगाहना घन क्षेत्रकी अपेक्षासे हैं । इसलिये कमलकी अवगाहनासे महामत्स्यकी अवगाहना बडी है २१

आगे द्वीप समुद्रोंका वर्णन करते हैं ।

जंबूद्वीपः सुवृत्तोऽसौ मध्यलोकाऽतिमध्यगः ।
लक्षयोजनविस्तारस्ततः स्याल्लवणार्णवः ॥२२॥
धातकीखंडद्वीपोऽतः स्यात्कालोदकवारिधिः ।
स्तः पुष्करवरौ द्वीपसागरौ वारुणीवरौ ॥२३॥
तथा क्षीरघृतक्षौद्रवरनन्दीश्वरादयः ।
मध्ये प्रशस्तनामानोऽसंख्येयाः समनामकाः ॥२४॥

मध्यलोकमें असख्यात द्वीप और असख्यात समुद्र हैं । सबके मध्यमें जबूद्वीप है, वह जम्बू-
द्वीप गोल है, मध्यलोकके अत्यंत मध्यमें है और एक लाख योजन चौडा है । उसके चारों ओर
लवण समुद्र है उसको घेरे हुए धातकीद्वीप है । उसके चारों ओर कालोदधि समुद्र है । उसको
घेरे हुए पुष्करवर द्वीप है । उसके चारों ओर पुष्करवर समुद्र है । उसके बाद वारुणीवर द्वीप है ।
फिर वारुणीवर समुद्र है । उसको घेरे हुए क्षीरवर द्वीप है फिर क्षीरवर सागर है । तदनंतर घृतवर
द्वीप है, घृतवर समुद्र है । उसको घेरे हुए क्षौद्रवर द्वीप है, उसके चारों ओर क्षौद्रवर समुद्र है ।
फिर नंदीश्वर द्वीप है, नदीश्वर समुद्र है । इसप्रकार द्वीप और समुद्रोंके एकसे नाम है और इस
मध्यलोकमें असंख्यात द्वीप हैं ओर असंख्यात समुद्र हैं ॥ २२–२४ ॥

स्वयंभूरमणद्वीपसागरावन्तसंस्थितौ ।
सर्वे सार्द्धाद्विकोद्धारसागरोपमसम्मिताः ॥२५॥

इन सब द्वीपसमुद्रोंके अंतमें जो द्वीप है उसका नाम स्वयभूरमण द्वीप है और उसको घेरे
हुए जो सबसे अंतिम समुद्र है उसका नाम स्वयंभूरमण समुद्र है । ढाई उद्धार सागरमें जितने रोमोंकी
संख्या होती है उतनी संख्या इन द्वीप समुद्रोंकी है ॥ २५ ॥

॥३०६॥

जंबूद्वीपात्तु विष्कंभा द्विगुणाद्विगुणाः क्रमात् ।
पूर्वं पूर्वं परिक्षिप्ता वलयाकृतयोऽखिलाः ॥२६॥

पहले जंबूद्वीपकी चौडाई एक लाख योजन बता चुके हैं । इससे दूनी लवण समुद्रकी चौडाई है । उससे दूनी धातकीद्वीपकी है इसप्रकार सब द्वीप समुद्रोंकी चौडाई पहले पहलेसे दूनी दूनी चली गई है । ये सब द्वीप समुद्र एक दूसरेको घेरे हुए हैं और सब कंकणके आकारके हैं ॥ २६॥

स्वस्वनामरसास्वादा लवणो वारुणीवरः ।
वार्द्धी क्षीरघृतवरौ चत्वार इति कीर्त्तिताः ॥२७॥
कालोदपुष्करवरस्वयंभूरमणार्णवाः ।
जलास्वादास्त्रयः क्षौद्ररसाः शेषास्तु सागराः ॥२८॥

लवण समुद्रका स्वाद लवणके समान है, वारुणीवर समुद्रका स्वाद वारुणी अर्थात् मद्यके समान है, क्षीरसागरका स्वाद दूधके समान है और घृतवर समुद्रका स्वाद घीके समान है । इस– प्रकार इन चार समुद्रोंके जलका स्वाद तो अपने अपने नामके अनुसार हैं । तथा कालोदक समुद्र, पुष्करवर समुद्र और स्वयंभूरमण समुद्रके जलका स्वाद साधारण जलके समान है । और बाकीके समस्त समुद्रोंके जलका स्वाद क्षौद्रके (शहतके) रसके समान मीठा समझना चाहिये ॥ २७-२८ ॥

आमानुषोत्तरान्मर्त्या यतः सोन्वर्थसंज्ञकः ।
पुष्करद्वीपमध्यस्थः स गिरिर्वलयाकृतिः ॥२९॥

तीसरे पुष्कर द्वीपके मध्यभागमें एक ककणके आकारका पर्वत है जिसका नाम मानुषोत्तर पर्वत है । मनुष्योंका निवास वा रहन सहन जाना आना आदि सब मानुषोत्तर पर्वततक ही है आगे नहीं है । इसीलिये इस पर्वतका मानुषोत्तर नाम सार्थक है । जो मनुष्योंके क्षेत्रसे आगे हो उसको मानुषोत्तर कहते है ॥ २९ ॥

स्वयंभूरमणद्वीपमध्यस्थाद्वलयाकृतेः
स्वयंप्रभाचलात्सर्वा कर्मभूमिर्बहिः स्थिता ॥३०॥

जिसप्रकार पुष्कर द्वीपके मध्यभागमें मानुषोत्तर पर्वत है उसीप्रकार अंतके स्वयंभूरमण द्वीपके मध्यभागमें भी एक स्वयप्रभ नामका पर्वत है। यह पर्वत भी उस द्वीपके मध्यमें रों ओर कंकणके आकारका पडा हुआ है। उस पर्वतसे आगे आधे स्वयंभूरमण द्वीपमें और समस्त स्वयंभूरमण समुद्रमें कर्मभूमि समझनी चाहिये ॥ ३० ॥

स्वयंप्रभाचलादारात्परतो मानुषोत्तरात्।
मध्या भूरन्तरद्वीपा जघन्या भोगभूमयः ॥३१॥

मानुषोत्तर पर्वतसे आगे स्वयंप्रभ पर्वततक जितने असख्यात द्वीप समुद्र है उन सबमें मध्यम भोगभूमिका समय रहता है। तथा छ्यानवे अंतर्द्वीप हैं उन सबमें जघन्य भोगभूमि समझनी चाहिये ॥ ३१ ॥

क्रोशोनं योजनं दैर्घ्यमेकं द्वादश साधिकम्।
सहस्रयोजनं गोम्यां भृंगे शंखेऽम्बुजे वरम् ॥३२॥

तेइन्द्रिय लाल वीछूका सबसे बडा शरीर तीन कोश लंबा होता है। चौइन्द्रिय भौरेका शरीर एक योजनका होता है। दोइन्द्रिय शंखका शरीर कुछ अधिक बारह योजनका होता है और कमलका सबसे बडा शरीर एक हजार योजनका होता है ॥ ३२ ॥

सम्मूर्च्छनजपर्याप्ते स्वयंभूरमणांबुधौ।
सहस्रयोजनं मत्स्ये सरित्संगेऽस्य तद्दलम् ॥३३॥

स्वयंभूरमण समुद्रमें एक पर्याप्तक मत्स्य (महामत्स्य) होता है उसका शरीर एक हजार योजनका होता है। वह महामत्स्य सम्मूर्च्छनजन्मसे उत्पन्न होता है। तथा उसी स्वयंभूरमण समुद्रमें

नदियोंके संगमपर पांचसौ योजनका मत्स्य होता है ॥ ३३ ॥

लवणाब्धौ सरित्संगमेस्याष्टादशतद्दलम् ।
कालोदकाब्धौ तत्सिंधुसंगे च द्विगुणं ततः ॥३४॥

लवणसमुद्रमें अठारह योजनका मत्स्य होता है तथा लवणसमुद्रमें नदियोंके संगमपर नौ योजनका मत्स्य होता है और कालोदसमुद्रमें छत्तीस योजनका मत्स्य होता है और इसी कालोद-समुद्रमें नदियोंके संगमपर इससे आधा अर्थात् अठारह योजनका मत्स्य होता है ॥ ३४ ॥

जलस्थलखगापूर्णे खगपूर्णे च गर्भजे ।
सम्मूर्च्छनस्थलखगे पूर्णे चाप पृथक्त्वगः ॥३५॥

गर्भसे उत्पन्न होनेवाले अपर्याप्तक जलचर, अपर्याप्तक स्थलचर, अपर्याप्तक नभचर, पर्याप्तक नभचर, तथा सम्मूर्च्छनसे उत्पन्न होनेवाले पर्याप्तक स्थलचर और पर्याप्तक नभचरके शरीरकी अव—गाहना पृथक्त्व धनुष है तीनसे ऊपर और नौसे नीची सख्याको पृथक्त्व कहते है । अर्थात् इन जीवोंकी शरीरकी अवगाहना तीन धनुषसे लेकर नौ धनुपतक है ॥ ३५ ॥

जलस्थलखगापूर्णे स्यात्सम्मूर्च्छनजन्मानि ।
वरो वितस्तिर्देहोल्पः कुंथुमात्रः पयश्चरे ॥३६॥

सम्मूर्च्छनजन्मसे उत्पन्न होनेवाले अपर्याप्तक जलचर, अपर्याप्तक स्थलचर और अपर्याप्तक नभ-चर जीवोंकी उत्कृष्ट अवगाहना एक वितस्ति (आधा हाथ वा एक विलस्त) है । तथा जलचर जीवोंमें कुंथु जातिके जीवोंकी जघन्य अवगाहना एक विलस्त है ॥ ३६ ॥

जलगे गर्भजे पूर्णे स्यात्पंचशतयोजनम् ।
स्थलगे गर्भजे पूर्णे त्रिक्रोशं तिर्यगंगिनि ॥३७॥

जो जीव गर्भसे उत्पन्न होनेवाले पर्याप्तक जलचर है उनकी उत्कृष्ट अवगाहना पांचसौ

॥३०९॥

योजन है। तथा गर्भसे उत्पन्न होनेवाले पर्याप्तक स्थलचर तिर्यंचोंकी उत्कृष्ट अवगाहना तीन कोश है ॥ ३७ ॥

त्रिभोगभूजे त्रिद्व्येकक्रोशाः स्युः कर्मभूमिजे ।
चापाः पंचशतं पंचविंशतिश्च नरे वरन् ॥३८॥

मनुष्योंके शरीरकी अवगाहना उत्तम भोगभूमिमें तीन कोश हैं, मध्यम भोगभूमिमें दो कोश है, जघन्य भोगभूमिमें एक कोश है। इसीप्रकार कर्मभूमिके मनुष्योंकी उत्कृष्ट अवगाहना पांचसौ पचीस धनुष है ॥ ३८ ॥

आगे देवोंके शरीरकी अवगाहना बतलाते हैं।

चापाः स्युरसुरे पंचविंशतिः शेषभावने ।
व्यन्तरेषु दशोत्सेधो ज्योतिष्के सप्तदेहगः ॥३९॥

असुरकुमार देवोंके शरीरकी अवगाहना पचीस धनुष है, असुरकुमार देवोंको छोडकर बाकीके भवनवासी देवोंकी तथा व्यंतरदेवोंके शरीरकी अवगाहना दश धनुष हैं और ज्योतिषी देवोंके शरीरकी अवगाहना सात धनुष है ॥ ३९ ॥

कल्पेषु द्विद्विचतुर्षु स्युश्चतुर्षु द्वयोर्द्वयोः ।
सप्त षट् पंच चत्वारस्त्रयः सार्द्धाः करास्त्रयः ॥४०॥

सौधर्म ऐशान स्वर्गमें देवोंके शरीरकी आवगाहना सात हाथ है, सानत्कुमा माहेन्द्र स्वर्गमें देवोंके शरीरकी अवगाहना छह हाथ हैं। ब्रह्म, ब्रह्मोत्तर, लांतव, कापिष्ट इन चार स्वर्गोंमें देवोंके शरीरकी अवगाहना पांच हाथ है। शुक्र, महाशुक्र, सतार, सहश्रार इन चार स्वर्गोंमें शरीरकी अवगाहना चार हाथ है। आनत प्राणत इन दो स्वर्गोंके देवोंकी अवगाहना साडे तीन हाथ है। आरण अच्युत स्वर्गोंमें शरीरकी अवगाहना तीन हाथ है। इसप्रकार सोलह स्वर्गोंमें शरीरकी उंचाईका प्रमाण समझना चाहिये ॥ ४० ॥

त्रित्रित्रिग्रैवेयकेष्वनुदिशानुत्तरेष्वतः ।
स्युः सार्द्धद्विद्विद्व्यर्द्धैककराः काये दिवौकसाम् ॥ ४१ ॥

तीन अधोग्रैवेयकों में ढाई हाथका शरीर है। तीन मध्यम ग्रैवेयकोंमें दो हाथका शरीर है, तीन उपरिम ग्रैवेयकों में डेड हाथका शरीर है। नौ अनुदिशोंमें तथा विजय वैजयंत जयंत अपराजित सर्वार्थसिद्धि इन पांचों अनुत्तर विमानों में एक हाथका शरीर है ४१ इसप्रकार शरीरकी अवगाहनाएं बतलाई।

अब आगे जीवों के कुलकोडि बतलाते हैं।

कुलानां कोटिलक्षाणि स्युर्भूतोयाग्निवायुषु ।
द्व्युत्तरा विंशतिः सप्त त्रीणि सप्त यथाक्रमम् ॥ ४२ ॥
अष्टाविंशतिः सप्ताष्टौ नवार्द्धोनत्रयोदश ।
वनस्पतौ द्व्यक्षे त्र्यक्षे चतुरक्षे पयश्चरे ॥ ४३ ॥
नव दश द्वादशोरःपारिसर्पे चतुष्पदे ।
विहंगे द्वादश नरे नारके पंचविंशतिः ॥ ४४ ॥
देवे षड्विंशतिस्तेषां कोटिलक्षाणि पिंडतः ।
सार्द्धसप्तनवत्यग्रशतमात्राणि देहिनाम् ॥ ४५ ॥

कुलोंकी करोडों संख्याको कुलकोडि कहते हैं। पृथ्वीकायिक जीवों के बाईस लाख कुलकोडि है। जलकायिक जीवों के सात लाख कुलकोडि है। अग्निकायिक जीवों के तीन लाख कुलकोडि है। वनस्पतिकायिक जीवों के अट्ठाईस लाख कुलकोडि हैं। दो इन्द्रिय जीवों के सात लाख कुलकोडि हैं। ते इन्द्रिय जीवों के आठ लाख कुलकोडि हैं। चौइन्द्रिय जीवों के नौ लाख कुलकोडि हैं जलचर जीवों के साडेबारह लाख कुलकोडि है। सरीसर्पजीवों के नौ लाख कुलकोडि है। चतुष्पद जीवो के दश लाख कुलकोडि है। पक्षियों के बारह लाख कुलकोडि हैं। मनुष्य के बारह लाख कुल-

कोडि हैं और नारकियों के पच्चीस लाख कुलकोडि है। इसप्रकार देवों के छवीस लाख कुलकोडि हैं। इन सब जीवों के एकसौ साडे सत्तानवे लाख कुलकोडि हैं।

आगे सब जीवों की आयु बतलाते हैं।

भौमभावनयोरायुर्जघन्यं चादिमेन्द्रके ।
दशाब्दनां सहस्राणि घर्मायां नवतिर्वरम् ॥ ४६ ॥
लक्षाणां नवतिः पूर्वकोट्योऽसंख्या दशांशकः ।
रत्नाकरोपमस्यास्यां द्वितीयादीन्द्रकत्रये ॥ ४७ ॥
एकात्रिसप्ताद्युपमा दश सप्तदश क्रमात् ।
द्वाविंशतिस्त्रयस्त्रिंशदाद्युर्व्याद्यान्तिमेन्द्रके ॥ ४८ ॥

भवनवासी देवोंकी, व्यंतरदेवोंकी तथा पहले नारक के पहले पटलके इन्द्रक नरक में नारकियों की जघन्य आयु दश हजार वर्ष है। तथा पहले नरक के पहले पटल के नारकियों की उत्कृष्ट आयु नव्वे हजार वर्षकी जाननी चाहिये। पहली पृथ्वीके दूसरे पटल के इन्द्रक नरक में नव्वे लाख पूर्वकी आयु है। तीसरे पटलमें असंख्यात करोड पूर्वकी आयु है। चौथे पटलमें एक सागरका दशवां भाग है। पहली पृथ्वी के अंतिम पटलके इन्द्रक नरकमे उत्कृष्ट आयु एक सागर है। दूसरी पृथ्वीके अंतिम पटलके अंतिम इन्द्रकमें उत्कृष्ट आयु तीन सागर है। तीसरी पृथ्वीके अंतिम पटलके इन्द्रक नरकमें उत्कृष्ट सात सागर है। चौथी पृथ्वीके अंतिम पटलके अंतिम इन्द्रकमे दश सागर है। पांचवी पृथ्वीके अंतिम पटलके इन्द्रक नरकमें उत्कृष्ट सत्रह सागर है। छठी पृथ्वीके अंतिम पटलके इन्द्रक नरकमें उत्कृष्ट आयु बाईस सागर है। और सातवीं पृथ्वीके पटलके इन्द्रकमें नारकियोंकी उत्कृष्ट आयु तेतीस सागर है॥ ४६—४८॥

॥३१२॥

प्रथमादिवरायुष्यं समयोत्तरमीरितम् ।
द्वितीयादिजघन्यायुरिति कल्पेष्वयं क्रमः ॥ ४९ ॥

पहली आदि पृथ्वीके नारकीयोंकी जो उत्कृष्ट आयु है एक समय अधिक वह दुसरी आदि पृथ्वीके नारकियोंकी जघन्य आयु समझलेना चाहिये । यही क्रम कल्पवासी देवों में समझलेना चाहिये ॥ ४९॥

आगे तिर्यंचोंकी आयु बतलाते हैं ।

आयुरन्तर्मुहूर्त्तः स्यादेषोऽप्यष्टादशांशकः ।
तछ्वासस्य जघन्यं नृतिरश्चां लब्ध्यपूर्णके ॥ ५० ॥

लब्ध्यपर्याप्तक मनुष्य और तिर्यंचोंकी आयु उत्कृष्ट अंतर्मुहूर्त है और जघन्य एक उछ्वासका अठारहवां भाग है ॥ ५० ॥

शुद्धोर्व्यायुः सहस्राणि द्वादश द्व्यग्रविंशतिः ।
खरोर्व्यां सप्त वर्षाणां तोयेऽग्नौ स्याद्दिनत्रयम् ॥ ५१ ॥

शुद्ध पृथ्वीकायिक जीवोंकी उत्कृष्ट आयु बारह हजार वर्ष है । कठोर पृथ्वीकायिक जीवोंकी आयु बाईस हजार वर्ष है। जलकायिक जीवोंकी उत्कृष्ट सात वर्ष है । अग्निकायिक जीवोंकी उत्कृष्ट आयु तीन दिन है ॥ ५१ ॥

त्रीण्यब्दानां सहस्राणि वायुजीवे वनस्पतौ ।
सहस्राणि दश द्व्यक्षे द्वादशाब्दानि केवलम् ॥ ५२ ॥

वायुकायिक जीवोंकी उत्कृष्ट आयु तीन हजार वर्ष है । वनस्पतिकायिक जीवोंकी उत्कृष्ट आयु दश हजार वर्ष हैं । दो इन्द्रिय जीवोंकी आयु बारह वर्ष है ॥ ५२ ॥

दिनान्येकोनपंचाशत् त्र्यक्ष्ये स्युश्चतुरिन्द्रिये ।
मासाः षड्विहगेऽब्दानां सहस्राणि द्विसप्ततिः ॥ ५३ ॥

ते इन्द्रिय जीवोंकी उत्कृष्ट आयु उनंच्वास दिन है। चौ इन्द्रिय जीवोंकी उत्कृष्ट आयु छह महीना है। पंचेन्द्रियोंमें पक्षियोंकी उत्कृष्ट आयु बहत्तर हजार वर्ष है ॥ ५३ ॥

द्विचत्वारिंशदब्दानां सहस्राणि भुजंगमे ।
नवोऽरःपरिसर्पाणां पूर्वांगानि वरायुषि ॥ ५४ ॥

सर्पोंकी आयु ब्यालीस हजार वर्ष है। तथा छाती से सरकनेवाले सरीसृप आदि जीवोंकी उत्कृष्ट आयु नौ पूर्वांग है ॥ ५४ ॥

पूर्वकोट्यवरे संज्ञिन्यप्येतौ भोगभूमिषु ।
त्रसाः सम्मूर्च्छिनो ये च न भवन्ति स्वभावतः ॥ ५५ ॥

सेनी जलचर जीवोंकी उत्कृष्ट आयु एक करोड पूर्वकी है। भोगभूमिमें सम्मूर्च्छन त्रस जीव स्वभावसे ही नहीं होते हैं ॥ ५५ ॥

जघन्यमध्यमोत्कृष्टभोगभूमिष्ववस्थितम् ।
स्यादेकद्वित्रिपल्यायुर्नित्यास्वन्यासु तद्वरम् ॥ ५६ ॥
पूर्वकोट्येकपल्यं च पल्यद्वयमिति त्रयम् ।
समयेनाधिकं तासु नृतिर्यक्ष्ववरं क्रमात् ॥ ५७ ॥

भोगभूमियां दो प्रकार हैं। एक नित्य भोगभूमि और दूसरी अनित्यभोगभूमि। हैमवत-क्षेत्र, हरि क्षेत्र और देवकुरुके समान जिनमें सदा भोगभूमि रहती है उनको नित्य भोगभूमि कहते हैं। तथा ऐरावतके समान जिनमें कालके अनुसार कभी भोगभूमि आजाय और कभी कर्म-भूमि आजाय ऐसी भोगभूमिको अनित्य भोगभूमि कहते हैं। नित्यभोगभूमियोंकी जघन्य भोगभूमियोंमें जीवोंकी (मनुष्य तिर्यंचोंकी) आयु एक पल्य है। मध्यम भोगभूमिमें दो पल्य है और उत्कृष्ट भोगभूमियोंमें तीन पल्य है। अनित्य भोगभूमियोंमें यह उत्कृष्ट आयु समझना चाहिये। पहले कालमें

॥३१४॥

उत्कृष्ट तीन पल्य, जघन्य एक समय अधिक दो पल्य। दूसरे कालमें उत्कृष्ट दो पल्य, जघन्य एक समय अधिक एक पल्य, तसिरे कालमें उत्कृष्ट एक पल्य, जघन्य एक समय अधिक एक करोड पूर्वकी समझना चाहिये ॥ ५६—५७ ॥

कर्मभूमिषु सर्वासु पूर्वकोटी मता स्थितिः ।
वरार्यम्लेच्छखंडोत्थवियच्चरनरेषु तु ॥ ५८ ॥

कर्मभूमियों में आर्यखंड, म्लेच्छखडोंमें उत्पन्न होनेवाले और विद्याधर मनुष्य तिर्यंचोंकी उत्कृष्ट आयु एक करोड पूर्वकी होती है ॥ ५८ ॥

पूर्वकोटी वरं कर्मभूष्वायुस्तुर्यकालवत् ।
आनित्यकर्मभूषु स्यान्म्लेच्छाविद्याधरक्षितौ ॥ ५९ ॥

अनित्य कर्मभूमियों में जो म्लेच्छखड हैं और विद्याधरोंकी भूमियां हैं उन में चौथे कालके समान कर्मभूमि बनी रहती है और उत्कृष्ट आयु एक करोड पूर्व की होती है ॥ ५९ ॥

असुरेऽर्णवोपमः स्यान्नागे पल्यत्रयं क्रमात् ।
सुपर्णद्वीपशेषेषु भौमे चार्द्धार्द्धहीनकम् ॥ ६० ॥

असुरकुमार देवोंकी उत्कृष्ट आयु एक सागर है। नागकुमार देवोंकी तीन पल्य है। सुपर्णकुमार जाकके देवोंकी उत्कृष्ट आयु ढाई पल्य है। द्वीपकुमार देवोंकी दो पल्य है और विद्युत्कुमार, अग्निकुमार, वातकुमार, स्तनितकुमार, उदधिकुमार और दिक्कुमार देवोंकी डेड डेड पल्यकी उत्कृष्ट आयु है ॥ ६० ॥

लक्षसहस्रशताब्दैर्युक्तं पल्यं विधाविने ।
शुक्रे क्रमाद्गुरौ पल्यं ग्रहेष्वन्येषु तद्दलम् ॥ ६१ ॥

चंद्रमाकी उत्कृष्ट आयु एक पल्य एक लाख वर्ष है। सूर्य देवकी आयु एक पल्य एक

॥३१५॥

हजार वर्ष है। शुक्रकी आयु एक पल्य सौ वर्ष है। बृहस्पतिकी आयु एक पल्य है। अन्य सब ग्रहोंकी आयु आधा आधा पल्य समझना चाहिये ॥ ६१ ॥

परा पल्यचतुर्भागः स्थितिस्तारासु तद्दलम् ।
जघन्या पल्यमेकं स्यात्सौधर्मैशानकल्पयोः ॥ ६२ ॥

तारोंकी आयु चौथाई पल्य है। ताराओंकी जघन्य आयु चौथाई पल्यकी भी आधी अर्थात् एक अष्टमांश पल्य या पल्यका आठवां भाग है। सौधर्म ऐशान स्वर्गों में देवोंकी जघन्य आयु एक पल्य है ॥ ६२ ॥

देवेषु द्वौ वरा सप्त स्थितिर्दश चतुर्दश ।
कल्पे द्वाविंशतिर्यावत् द्व्युत्तराः सागरोपमाः ॥ ६३ ॥

स्वर्गों में देवोंकी उत्कृष्ट आयु पहले दूसरे स्वर्ग मे कुछ अधिक दो सागर है। सानत-कुमार माहेन्द्र नामके तीसरे चौथे स्वर्ग में देवोंकी उत्कृष्ट आयु कुछ अधिक सात सागर है। ब्रह्म ब्रह्मोत्तर नामके पांचवे छठे स्वर्ग में कुछ अधिक दश सागर है। लांतव कापिष्ट नामके सांतवें आठवें स्वर्य में कुछ अधिक चौदह सागर है। शुक्र महाशुक्र नाम के नौवें दशवें स्वर्गमें देवोंकी उत्कृष्ट आयु कुछ अधिक सोलह सागर है। सतार सहस्रार नाम के ग्यारहवें बारहवें स्वर्ग मे कुछ आधिक अडारह सागर है। आनत प्राणत नाम के तेरहवें चौदहवें स्वर्ग में देवोंकी उत्कृष्ट आयु वीस सागर है। 'आरण अच्युत नाम के पद्रहवें सोलहवें स्वर्ग में उत्कृष्ट आयु बाईस सागर है ॥ ६३ ॥

उपर्येकोत्तरस्तावत्स्युस्त्रयस्त्रिंशदान्तिमे ।
सौधर्मैशानजा एव देव्यः स्युः स्वस्वकल्पगाः ॥ ६४ ॥

आगे नौ ग्रैवयक अनुदिश और अनुत्तर विमानों में एक एक सागर अधिक आयु बढ़ती

॥३१६॥

गई है। अधोग्रैवेयक के प्रथम ग्रैवेयक मे तेईस सागर है। दूसरे ग्रैवेयक मे चौवीस सागर है। तीसरे ग्रैवेयक में पचीसि सागर है। मध्यम ग्रैवेयक के पहले ग्रैवेयक में छव्वीस सागर है। मध्यम ग्रैवेयक के दूसरे ग्रैवेयक में सत्ताईस सागर है। मध्यम ग्रैवेयक के तीसरे ग्रैवेयक में अट्ठाईस सागर है। उपरिम ग्रैवेयक के प्रथम ग्रैवेयक मे उन्तीस सागर है। उपरिम ग्रैवेयक के द्वितीय ग्रैवेयक मे तीस सागर है। उपरिम ग्रैवेयक के तृतीय ग्रैवेयक मे इकतीस सागर है। नव अनुदिशों में अहमिंद्रोंकी उत्कृष्ट आयु बत्तीस सागर है। विजय वैजयंत जयंत अपराजित और सर्वार्थसिद्धि इन पांचों अनुतर विमानों में अहमिंद्रोंकी उत्कृष्ट आयु तेतीस सागर है। देवियां सब सौधर्म और ऐशान स्वर्गमे ही उत्पन्न होती है। और स्वर्गों मे उत्पन्न नहीं होतीं। वहींसे सोलह स्वर्गके देव अपनी अपनी नियोगिनियों को ले जाते है ॥ ६४ ॥

अल्पं कल्पद्वये पल्यं साधिकं जीवनं वरम् ।
सौधर्मे पंच पल्यानि तानीशानादिषु क्रमात् ॥ ६५ ॥
एकादशसु कल्पेषु द्व्याधिकानि तु चतुर्ष्वतः ।
सप्तोत्तराणि देवीनामहमिन्द्रस्ततः परम् ॥ ६६ ॥

सौधर्म ऐशान स्वर्ग में देवांगनाओंकी जघन्य आयु कुछ अधिक एक पल्य है। सौधर्म में देवियोंकी उत्कृष्ट आयु पांच पल्य है। फिर ग्यारह स्वर्गतक दो दो पल्य बढते गये है। और अंतके चार स्वर्गों में सात सात पल्य बढते गये है। अर्थात् दूसरे स्वर्ग मे सात पल्य, तीसरे सानत्कुमार स्वर्ग में देवियोंकी उत्कृष्ट आयु नौ पल्य, चौथे माहेन्द्र स्वर्ग में ग्यारह पल्य, पांचवें ब्रह्म स्वर्ग में तेरह पल्य, छठे ब्रह्मोत्तर स्वर्ग मे पंद्रह पल्य, सातवें लांतव स्वर्ग मे सत्रह पल्य, आठवें कापिष्ट स्वर्ग मे उनईस पल्य, नौवें शुक्र स्वर्ग में इकईस पल्य, दशवे महाशुक्र स्वर्ग में तेईस पल्य, ग्यारहवें सतार स्वर्ग मे पच्चीस पल्य, बारहवें सहस्रार स्वर्गमें सत्ताईस पल्य, तेरहवें

॥२१७॥

आनतस्वर्ग में चौंतीस पल्य, चौदहवें प्राणत स्वर्गमें इकतालीस पल्य, पंद्रहवें आरण स्वर्गमें अडतालीस पल्य और सोलहवें अच्युत स्वर्गमे पचवन पल्यकी देवांगनाओंकी उत्कृष्ट आयु है। सोलह स्वर्ग से आगे अहमिंद्र हैं। वहांपर देवांगनाओंका सर्वथा अभाव है ॥ ६५—६६ ॥

यत्किल्विषिकसन्मोहा लान्तवान्तं भवन्ति ते ।
अच्युतावधि कंदर्पा आभियोग्यसुरा अपि ॥ ६७ ॥

१ किल्विषक जातिके देव और २ सम्मोह जातिके देव सातवें लांतव स्वर्गतक ही होते हैं। तथा ३ कंदर्प जातिके देव और ४ आभियोग्य जातिके देव सोलहवें अच्युत स्वर्गतक ही होते हैं ॥६७॥

सारस्वतादयो ब्रह्मलोके लौकान्तिकामराः ।
तेषामष्टावरिष्टे तु नवायुः सागरोपमाः ॥ ६८ ॥

पांचवें ब्रह्मस्वर्ग के अंतिम पटल में जो देव होते हैं उनको लौकांतिक देव कहते हैं। उन लौकांतिकोंके सारस्वत, आदित्य, आदि अनेक भेद हैं। उन सब लौकांतिक देवोंकी उत्कृष्ट और जघन्य आयु आठ सागर है। तथा अरिष्ट जातिके लौकांतिक देवों की नौ सागर है ॥ ६८ ॥

---

१ जो मनुष्य पर्याय में गीत नृत्य वादित्रसे अपनी जीविका करते हैं ऐसे जीव शुभ परिणामोंसे यदि देव हों तो किल्विषक जाति के होते हैं। २ जो मनुष्यपर्याय में रत्नत्रयके विरुद्ध पापरूप उपदेश देतें है और स्वयं स्वपरज्ञान रहित होते हैं वे मरकर यदि देव हों तो सम्मोह जातिके देव होते हैं।

३ जो मनुष्यपर्याय में सदा काम सेवन के परिणाम रखते हैं व्यभिचार सेवनके लिये स्त्री पुरुषों को मिला दिया करते हैं अर्थात् त्रिटपना करते है ऐसे मनुष्य यदि शुभ परिणामोंसे देव हों तो कंदर्प जाति के देव होते हैं। ४, जो मनुष्यपर्यायमें दासपने का काम करते है वे यदि शुभ परिणामोंसे देव हों तो आभियोग्य जातिके देव होते हैं।

आगे देवोंका आहार स्वासोच्छ्वास बतलाते हैं।

आहारस्मृतिरुच्छ्वासः सागरोपमसंख्यकैः।
समासहस्रैः पक्षैश्च यथासंख्यं सुरायुषि ॥ ६९ ॥

देवोंकी आयु जितने सागरकी होती है उतने ही हजार वर्ष बाद उन देवोंके आहारका स्मरण हो जाता है। तथा जितने सागरकी आयु होती है उतने पक्ष वीतनेपर वे स्वासोच्छ्वास लेते हैं। इसप्रकार उनके आहार और स्वासोच्छ्वासका क्रम समझना चाहिये ॥ ६९ ॥ इसप्रकार जीवसमासका निरूपण किया।

अब आगे गुणस्थानों के नाम कहते हैं।

मिथ्यादृष्टिः सासादनो मिश्रः सुदृगसंयतः।
देशव्रती प्रमत्तः स्यादप्रमतश्च संयतः ॥ ७० ॥
स्यातामपूर्वकरणानिवृत्तिकरणौ ततः।
स्युः सूक्ष्मसांपरायोपशान्तक्षीणकषायकाः ॥ ७१ ॥
जिनः सयोगोऽयोगः स्युश्चतुर्दश गुणा इति।
मोहयोगसमुद्भूताः सिद्धास्तद्गुणनिर्गताः ॥ ७२ ॥ (त्रिकम्)

मिथ्यादृष्टी, सासादन, मिश्र, असंयतसम्यग्दृष्टी, देशविरत, प्रमत्त, अप्रमत्तसंयत, अपूर्वकरण, आनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मसांपराय, उपशांतमोह, क्षीणमोह, सयोगिकेवली और अयागकेवली ये चौदह गुणस्थान है। ये चौदह गुणस्थान मोह और योगसे उत्पन्न होते हैं। पहला गुणस्थान दर्शनमोहके उदयसे, दूसरा तीसरा चौथा दर्शनमोहके अनुदयसे, पांचवा छठा सातवा चारित्रमोहके क्षयोपशमसे, आठवा नवमा दशवा मोहनीके उपशम वा क्षयसे, ग्यारहवा मोहनीके उपशमसे, बारहवा मोहनीके क्षयसे होता है। तेरहवां गुणस्थान काययोगसे और चौदहवां गुणस्थान अयोगसे होता हैं। भगवान सिद्धपरमेष्ठि

इन चौदहों गुणस्थानोंसे पारंगत हो जानेपर होते हैं, अर्थात् चौदह गुणस्थानोंसे रहित होते हैं ॥ ७०-७२ ॥

आगे छह पर्याप्तियोंको कहते हैं।

स्युराहारशरीराक्षोच्छ्वासभाषामनांस्त्विमाः।
पर्याप्तयः समन्तादात्मस्थशक्तिसमृद्धयः ॥ ७३ ॥

चारों ओरसे प्रगट होनेवाली आत्माकी शक्तियोंकी ऋद्धियोंका नाम पर्याप्ति है अर्थात् आत्माकी शक्तियों के प्रगट होनेकी सामर्थ्य जो आत्मामें चारों ओरसे प्रगट होती है उनको पर्याप्ति कहते है। ऐसी पर्याप्तियां छह हैं। आहारपर्याप्ति, शरीरपर्याप्ति, इन्द्रियपर्याप्ति, श्वासोच्छ्वासपर्याप्ति, भाषा-पर्याप्ति और मनःपर्याप्ति ॥ ७३ ॥

सादिदेहोदयादासां प्रारंभोऽक्रमतः क्रमात्।
अन्तर्मुहूर्ते निष्पत्तिरपर्याप्तिस्त्वपूर्णता ॥ ७४ ॥

औदारिक वैक्रियिक वा आहारक शरीरनामकर्म के उदयसे इन पर्याप्तियोंका प्रारभ तो विना किसी क्रमके एक साथ होता है। तथा अनुक्रमसे एक एक अंतर्मुहूर्त में इनकी पूर्णता हो जाती है। इसप्रकार इन छहोंकी पूर्णता भी अंतर्मुहूर्त में ही हो जाती है। इन पर्याप्तियोंकी पूर्णता न होना अपर्याप्ति है। इन पर्याप्तियों में से जबतक शरीरपर्याप्ति पूर्ण नहीं होती तबतक अपर्याप्तक कहलाता है और शरीर पर्याप्ति के पूर्ण होनेपर पर्याप्तक कहलाता है ॥ ७४ ॥

एकाक्षे विकलाक्षेषु चासंज्ञिनि संज्ञिनि।
चतस्रः पंच पंचैताः षड् भवन्ति यथाक्रमम् ॥ ७५ ॥

एकेन्द्रिय जीवों के चार पर्याप्तियां होती है (भाषा और मन पर्याप्ति नहीं होती) दो इन्द्रिय तेइन्द्रिय चौइन्द्रिय और असेनीपंचेन्द्रिय जीवों के मन के विना पांच पर्याप्तियां होती है। तथा सेनी पंचेन्द्रिय जीवों के छह पर्याप्तियां होती है ॥ ७५ ॥

॥३२०॥

नारकाणां खरः कायोऽत्यशुभाभिन्नाविक्रियः ।
करालः कालो दुर्गन्धो धातूनोन्तर्मूहूर्त्ततः ॥ ७६ ॥

नारकियोंका शरीर अत्यंत कठोर होता है, अत्यत अशुभ होता है, उनके शरीरकी विक्रि-या अभिन्न होती है अर्थात् वे अपने शरीरकी विक्रिया अलग वा पृथक् नहीं कर सकते। दूसरा किसी प्रकारका शरीर नही वना सकते। अपनेही शरीरको अशुभ रूप परिणत कर सकते हैं ॥ इसप्रकार उनका शरीर विकराल होता है, अत्यत दुर्गंधमय होता है, धातु उपधातुओं से रहित होता है और अतर्मुहूर्त में उत्पन्न हो जाता है ॥ ७६ ॥

अणिमादिगुणं सप्तधात्वपेतं मनोहरम् ।
जायतेऽन्तर्मुहूतेन देवांगे नवयौवनम् ॥ ७७ ॥

देवोंके शरीरमे आणिमा- छोटेसे छोटा शरीर वना लेना, महिमा वडा शरीर बना लेना, गरि-मा भारी शरीर वना लेना, लाघिमा- हलका शरीर वना लेना, प्राप्ति- चाहे जहां प्राप्त हो जाना, प्राकाम्य- इच्छानुसार कार्य कर लेना, ईशित्व- सवके स्वामीपणा प्रगट करना, वशित्व- सवको वशमे कर लेना, ये आठ ऋद्धियां होती हैं, देवोंका शरीर सात धातु उपधातुओं से रहित होता है, अत्यत मनोहर होता है और अतर्मुहूर्त में ही नवयौवन अवस्थाको प्राप्त हो जाता है। इसप्रकार पर्याप्तियों-का वर्णन किया ॥ ७७ ॥

आगे प्राणोंका वर्णन कहते हैं ।

पंचाक्षायुर्मनोवाक्कायाऽऽनापाना दशांगिनः ।
प्राणंत्यैभिरिति प्राणा बाह्यैरन्नादिभिर्यथा ॥ ७८ ॥

स्पर्शन, रसना, घ्राण चक्षु और श्रोत्र ये पांच इन्द्रियां कहलाती है। मन वचन काय ये तीन बल कहलाते हैं। पांच इन्द्रियां, तीन वल, आयु और स्वासोछ्वास ये दश प्राण कहलाते

॥३२१॥

लाते है। जिसप्रकार ये संसारी जीव अन्न जलादि बाह्य पदार्थों से जीवित रहते हैं। उसीप्रकार ये संसारीजीव इन दश प्राणों से जीवित रहते हैं इसलिये इनको प्राण कहते हैं ॥ ७८ ॥

संज्ञादौ स्युर्दशैकैकहीनास्तेन्त्ये द्विवर्जिताः।
पूर्णे त्वपूर्णके सप्त सप्तैकैकविहीनकाः ॥ ७९ ॥

सैनी पचेन्द्रियके ये दश प्राण होते हैं। असेनी पंचेन्द्रिय जीवों के मनको छोडकर बाकी के नौ प्राण होते है। चतुरिन्द्रिय जीवोंके मन और कर्ण इद्रियको छोडकर बाकी आठ होते हैं। तेइन्द्रिय जीवों के मन कर्ण और चक्षु इन्द्रिय के विना सात प्राण होते हैं, दोइन्द्रिय जीवें के मन, कर्ण, चक्षु और नासिका इन्द्रियके विना बाकीके छह प्राण होते हैं। एकेन्द्रिय जीवों के स्पर्शनइन्द्रिय, काय,बल आयु और स्वासोच्छ्वास ये चार प्राण होते हैं। ये प्राण पर्याप्तक जीवों के समझना चाहिये। अपर्याप्तक जीवों के स्वासोच्छ्वास भाषा, मन नहीं होता इसलिये अपर्याप्तक एकेन्द्रियके तीन, दोइन्द्रियके चार, तेइन्द्रियके पांच, चौइन्द्रियके छह, तथा सैनी असेनी पचेन्द्रियके सात प्राण होते है ॥ ७९ ॥

आगे संज्ञा बतलाते हैं।

संज्ञा वाञ्छाश्चतस्रः स्युरत्राऽमुत्र च दुःखदा।
आहारे भयतो मैथुनेऽङ्गिनां ताः परिग्रहे ॥ ८० ॥

इच्छकानाम संज्ञा है। संज्ञाए चार हैं। आहारकी इच्छा आहारसंज्ञा है, भयसे डरनेकी इच्छा होना भयसंज्ञा है, मैथुनकी इच्छा होना मैथुनसंज्ञा है और परिग्रहकी इच्छा होना परिग्रहसंज्ञा है। ये चारों ही संज्ञाए इसलोकमें तथा परलोकमें दोनों लोकमें अनंत दुःख देनेवाली हैं ॥ ८० ॥

आगे चौदह मार्गणाओंको कहते हैं।

ते गताविन्द्रिये काये योगे वेदकषाययोः ।
संयमे दर्शने ज्ञाने लेश्याभव्यत्वयोरपि ॥ ८१ ॥
सम्यक्त्वसंज्ञित्वाऽऽहारे गुणिनो मार्गणा इति ।
मृग्यन्त एभिरिति वा स्वकर्मभ्यश्चतुर्दश ॥ ८२ ॥ (युग्मम्)

गति, इंन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्यत्व, संज्ञी और आहार ये चौदह मार्गणाएं हैं । चौदह गुणस्थानों में रहनवाले जीव इन ऊपर लिखी चौदह मार्गणाओं में रहते हैं अथवा इन चौदह मार्गणाओं के द्वारा अन्वेषण किये जाते हैं अर्थात् जाने जाते हैं । इसलिये इनको मार्गणा कहते हैं मार्गणा शब्दका अर्थ अन्वेषण करना वा जानना है । ये चौदह मार्गणाएं अपने अपने कर्मके उदयसे होतीं हैं ॥ ८१-८२ ॥

आगे गतिमार्गणा के भेद बतलाते हैं।

गतयो नारकातिर्यङ्मनुष्यामरपर्ययाः ।
चतस्रोगतिकर्माणि तत्तन्निर्मापकानि वा ॥८३॥

गतियां चार है । नरकगति, तिर्यंचगति, मनुष्यगति और देवगति । इन गतियोंको उत्पन्न करनेवाले चार ही कर्म हैं । नरकगतिनामकर्म के उदयसे नरकगति होती है । तिर्यंच गति नामकर्म के उदयसे तिर्यंचगति होती है । मनुष्यगतिनामकर्म के उदयसे मनुष्यगति होती है और देवगतिनामकर्म के उदयसे देवगति होती है ॥८३।

आगे इन्द्रियमार्गणा के भेद कहते हैं ।

स्पर्शनादीन्द्रियैर्युक्ता रसनाद्येकवृद्धिभिः ।
एकद्वित्रिचतुःपंचाक्षांगिनः स्वोक्तकर्मभिः ॥ ८४ ॥

इन्द्रियां पांच हैं। स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण इनमें से एकेन्द्रिय नामकर्म के उदय से स्पर्शन इन्द्रियको धारण करनेवाले एकेन्द्रिय जीव कहे जाते हैं। दोइन्द्रियनामकर्म के उदयसे स्पर्शन और रसना इन दोइन्द्रियोंको धारण करनेवाले दोइन्द्रिय जीव कहलाते हैं। तेइन्द्रिय नामकर्म के उदयसे स्पर्शन रसना और घ्राण इन तीन इन्द्रियोंको धारण करनेवाले तेइन्द्रिय जीव कहलाते हैं। चौइन्द्रिय नामकर्मके उदय से स्पर्शन, रसना, घ्राण और चक्षु इन चार इन्द्रियोंको धारण करनेवाले चौइन्द्रिय जीव कहलाते हैं। पंचेन्द्रिय नामकर्म के उदयसे स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण इन पांचों इन्द्रियोंको धारण करनेवाले पचेन्द्रिय जीव कहलाते हैं ॥८४॥

भूवारिवह्निवातांगा ये वनस्पतिकायिकाः ।
स्थूलाः सूक्ष्माश्च ते सर्वे भवंत्येकेन्द्रियांगिनः ॥ ८५ ॥

पृथ्वीकायिक जीव, जलकायिक जीव, अग्निकायिक जीव, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक ये पांच प्रकारके स्थावर हैं। ये पांचों प्रकारके स्थावर जीव सूक्ष्म भी होते हैं और स्थूल भी होते हैं ये सब एकेन्द्रिय जीव होते हैं ॥८५॥

शंखशुक्तिनखक्षुल्लकक्षोदिककपर्दिकाः ।
गंडूपदोदरकृम्याद्याश्च ते द्वीन्द्रियांगिनः ॥ ८६ ॥

शंख, सीप, नख जातीके जीव, क्षुल्लक जाति के जीव, कौडी, कपर्दी, गिडोरे, गिंजाई, पेटमेंसे निकलनेवाली लट आदि सब दोइन्द्रिय जीव हैं ।८६॥

गोभींन्द्रगोपवृश्चिकयूकालिक्षापिपीलिकाः ।
कुन्थुस्त्रीमत्कुणाद्याश्च जिनेन्द्रैस्त्रीन्द्रियाः स्मृताः ॥ ८७ ॥

गोभी जातिके बीछू, इन्द्रगोप (बरसातमें होनेवाला लाल कीडा) बीछू, जू, लीख, चींटी, कुंथु, खटमल आदि सब सर्वज्ञजिनेन्द्रदेवने तेइन्द्रिय जीव बतलाये हैं ।८७॥

भृंगः पतंगः कीटश्च दंशो मशकमाक्षिके ।
मधुगोमाक्षिकाद्याश्च देहिनश्चतुरीन्द्रियाः ॥ ८८ ॥

भौंरा, पतंग, दीपपर आनेवाले छोटे छोटे कोड, डांस, मच्छर, मक्खियां, मधुमक्खियां, टीडी आदि सब जीव चौइन्द्रिय जीव कहलाते हैं ॥८८॥

जलस्थलखगास्ते ये मीननागशुकादय ।
ज्ञेयाः पंचेंद्रियाः सर्वे नारकाश्च नराः सुराः ॥ ८९ ॥

मगर, मत्स्य, मछली, मेडक, जलचर जीव, हाथी, घोडे, आदि स्थलचर जीव, तोंत कबूतर आदि नभचर जीव, नारकी, मनुष्य और, देव सब पंचेन्द्रिय जीव समझने चाहिये । इसप्रकार इन्द्रियमार्गणाका निरूपण किया ॥८९॥

अब आगे कायमार्गणा कहते हैं ।

पृथ्विव्यप्तेजोवायुवनस्पतित्रसकायिकाः ।
जीवाः षडिति पृथ्व्यादिनामकर्मविशेषजाः ॥ ९० ॥

पृथ्विकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक और त्रसकायिक ये छह कायके जीव कहलाते हैं । ये सब अपने अपने नामकर्मके उदयसे होते है । पृथ्वीकायिक स्थावरनामकर्मके उदयसे पृथ्वीकायिक जीव होते है । जलकायिक स्थावरनामकर्मके उदयसे जलकायिक, आग्निकायिक स्थावरनामकर्म के उदयसे अग्निकायिक, वायुकायिक स्थावरनामकर्म क उदयसे वायुकायिक और वनस्पतिकायिक स्थावरनामकर्म के उदयसे पनस्पतिकायिक होते हैं । त्रसनामकर्म के उदयसे त्रसकायिक होते हैं ॥९०॥

॥३२५॥

मसूरिकापयोबिन्दुसूचीवृन्दध्वजोपमाः ।
कायाश्चतुर्षु पृथ्व्यादिष्वन्त्ययोर्विविधाः स्मृताः ॥९१॥

पृथ्वीकायिकजीवोंका आकार मसूर के समान है। जलकायिकजीवोंका आकार जलकी बूंदों के समान है। अग्निकायिक जीवोंका आकार सुइयों के समूहके समान है वायुकायिक जीवोंका आकार ध्वजाओं के समान है और वनस्पतिकायिक तथा त्रसकायिक जीवोंका आकार अनेक प्रकार है ॥ ९१ ॥

समचतुरस्रं न्यग्रोधस्वाती द्वे च वामनम् ॥
कुब्जं हुंडमिति प्रोक्तं संस्थानं षड्विधं जिनैः ॥९२॥

समचतुरस्रसंस्थान, न्यग्रोधपरिमंडलसंस्थान, स्वास्तिकसंस्थान, वामनसंस्थान, कुब्जकसंस्थान और हुंडकसंस्थान इसप्रकार भगवान अरहंतदेवने छह संस्थान बतलाये हैं ॥९२॥

हुंडं पुंनारकैकाक्षाद्यसंज्ञ्यंतेषु सामरे ।
भोगभूजे भवेदाद्यं सर्वाण्यन्येषु देहिषु ॥९३॥

नारकी, जीवों के, एकेन्द्रिय दोइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चौइन्द्रिय और असैनी पंचेन्द्रिय जीवों के हुंडकसंस्थान होता है। भोगभूमिया और देवों के समचतुरस्र संस्थान होता है। इनको छोड कर बाकीके जीवोंके सब संस्थान होते हैं ।९३।

रसरत्नशिलालोहवालुकागेरिकादयः ।
मृदश्च पृथ्वीतत्कायाः पृथ्वीकायिकांगिनः ॥ ९४ ॥

पारा, रत्न, शिला, लोहा, वालू रेत, गेरू, और मिट्टी आदि जितनी पृथ्वीमय पदार्थ है वे सब पृथ्वीकायिक जीव समझना चाहिये ॥ ९४ ॥

नदीनदसमुद्रादिजलवर्षाम्बुसीकराः ।
स्युः प्रालेयादयश्चापस्तदप्कायाः स्वकायिकाः ॥९५ ॥

नदी नद समुद्र आदि के पानी में वरसने के पानी में वरफ ओले पाला आदि जितनी जलमय चीजें है वे सब जलकायिक जीव कहलाते हैं ॥९५॥

स्युरंगाराः स्फुलिंगाश्च ज्वालाश्चाप्यन्यवन्हयः ।
तेजांसि तच्छरीरा ये ते तेजस्कायिकाः स्मृताः ॥९६॥

अंगार फुलिंग लौं वाली अग्नि, आदि जितनी अग्निरूप वा तेजरूप पदार्थ हैं वे सब अग्निकायिक हैं ॥९६॥

वातो वात्या महावाता व्यजनादिभवाश्च ये ।
ते वातास्तच्छरीराः स्युरंगिनो वातकायिकाः ॥९७॥

साधारण बायु, महावायु वा पंखा आदिसे प्रगट होनेवाली जितनी प्रकारकी वायु हैं वे सब जीव वायुकायिक हैं ॥९७॥

ते वनस्पतयो वृक्षक्षुपवल्लीतृणादय ।
उद्वेजनक्रियाभाजस्त्रसाः स्युर्द्वीन्द्रियादयः ॥९८॥

वृक्ष वेल छोटे पौधे आदि जितनी वनस्पतियां है वे सव वनस्पतिकायिक जीव हैं॥ जिनमें उद्वेजनरूप क्रिया होती है वे सव दोइन्द्रिय तेइन्द्रिय चौइन्द्रिय पचेन्द्रिय त्रसकायिक जीव है ॥ ९८ ॥

आगे योग मार्गणाको कहते हैं ।

कर्मादाननिमित्तात्मप्रयत्नो योग इष्यते ।
देहनामैनसः पाकात्प्रदेशस्पंदलक्षण ॥९९ ॥

॥३२७॥

मनोयोगः स वाग्योगः काययोग इति त्रिधा ।
मनोवचनपर्याप्तिकायवत्सु क्रमेण नु. ॥ १०० ॥

पापकर्मों के उदयसे प्राणियों के आत्माके प्रदेशोंका परिस्पद होना योग है अथवा कर्मों के ग्रहण करने के लिये कारणभूत जो आत्माका प्रयत्न है उसको योग कहते हैं । उस योग के तीन भेद हैं मनोयोग वचनयोग और काययोग ये तीनों योग क्रमसे मनःपर्याप्ति वचन पर्याप्ति कायवान् में अनुक्रमसे होते हैं ॥ ९९–१०० ॥

आगे वेदमार्गणाको कहते हैं ।

स्त्री पुमान् षण्ढ इत्येवं भावा वेदास्त्रयोंऽगिषु ।
ते स्त्रीपुंषण्ढवेदैनः प्रदेशोदयसंभवाः ॥१०१॥

भाववेद तीन हैं स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद । स्त्रीवेद नाम के पापकर्म के उदयसे स्त्रीवेद होता है । पुरुषवेद नामक पापकर्म के उदयसे पुरुष वेद होता है और नंपुसक वेद नाम. के पापकर्म के उदयसे नपुंसक वेद होता है ॥ १०१ ॥

स्त्रीपुंवेदाः सुरा भोगभूमिजाताश्च नारकाः ।
षण्ढाः सम्मूर्च्छिनश्चान्ये नृतिर्यश्चस्त्रिवेदिनः ॥ १०२ ॥

समस्त देवपर्याय मे तथा भोगभूमियों में स्त्रीवेद और पुरुषवेद दो ही वेद होते हैं । नारकी और सम्मूर्च्छन से उत्पन्न होनेवाले समस्त जीव नपुंसक ही होते हैं । तथा अन्य समस्त मनुष्य तिर्यंचों के स्त्रीवेद पुरुषवेद और नपुंसक तीनों वेद होते हैं ॥१०२॥

ईशानान्ते प्रवीचारः स्याद्द्वयोस्त्रिचतुर्ष्वतः ।
शरीरे स्पर्शे रूपे च शब्दे चित्ते ततो न सः ॥१०३॥

भवनवासी व्यंतर ज्योतिष्क और सौधर्म ईशान स्वर्गमें मनुष्यों के समान शरीर से प्रवीचार (मैथुन सेवन) होता है। सानत्कुमार माहेन्द्र नाम के तीसरे चौथे स्वर्गमें अपनी देवांगनाओंको स्पर्श करने के मात्रसे प्रवीचार होता है। पांचवें छठे सातवें आठवें स्वर्गमें अपनी देवांगनाओंका रूप देखकर तृप्ति होती है। नववें दशवें ग्यारहवें बारहवें स्वर्ग में अपनी देवागनाओंके शब्द सुननेमात्र से तृप्ति होती है। और तेरहवें चौदहवें पंद्रहवें सोलहवें स्वर्ग के देवों के अपनी देवांगनाओं के स्मरण करने मात्र से सतोष होता है। इसप्रकार सोलह स्वर्गतक देवोंका प्रवीचार बतलाया। आगे नवग्रैवेयक अनुदिश और पचोतरों में कामका विकारही नहीं है। इसलिये वे परमसुखी हैं ॥१०३॥

आगे कषाय मार्गणाको कहते हैं।

चतुःकषायाः क्रुन्मानमायालोभा विपाकजाः।
चतुःकषायाः सामान्यक्रोधादिद्रव्यकर्मणः ॥१०४॥

कषाय चार हैं क्रोध, मान, माया और लोभ। सामान्य क्रोधकषायके उदयसे क्रोध होता है। सामान्य मान कषायके उदयसे मान होता है। सामान्य मायाकषायके उदयसे माया होती है और सामान्य लोभ कषायके उदयसे लोभ होता है ॥१०४॥

आगे ज्ञान और संयम मार्गणाको कहते है।

ज्ञानमष्टाविधं ज्ञातं पुरा स्युः सप्त संयमाः।
चारित्रपंचकं देशसंयमासंयमान्वितम् ॥१०५॥
प्रत्याख्यानकषायोदयेन स्याद्देशसंयमः।
विविधासंयमो भावोऽप्रत्याख्यानकषायतः ॥१०६॥

ज्ञानके आठ भेद हैं उनका विशेष वर्णन पहले कह चुके हैं। संयमके सात भेद हैं, सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसांपराय और यथाख्यात ये पांच तो चारित्र, तथा देशसंयम और असंयम इसप्रकार सात संयम कहलाते हैं। पांचों चारित्रोंका वर्णन पहले कह चुके हैं। प्रत्याख्यानावरण कषायके उदयसे देशसंयम होता है और अप्रत्याख्यानावरण कषायके उदयसे अनेक प्रकारका असंयम होता है ॥१०५–१०६॥

आगे दर्शनमार्गणाको कहते हैं।

दर्शनं ग्रहणं सामान्यात्मनस्तच्चतुर्विधम् ।
अचक्षुश्चक्षुरवधिः केवलं चेति वर्णितम् ॥१०७॥

आत्माके जो सामान्य रीतिसे जो पदार्थोंका दर्शन होता है उसको दर्शन कहते हैं। उस दर्शनके चार भेद हैं। अचक्षु दर्शन, चक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन। ऐसा भगवान जिनेन्द्र देवने कहा है ॥१०७॥

चक्षु शेषेन्द्रियज्ञानहेतू चक्षुरचक्षुषी ।
विभंगावधिहेतुः स्यादेकं त्ववधिदर्शनम् ॥१०८॥

चक्षुदर्शन चक्षुज्ञानका और अचक्षुदर्शन बाकीकी समस्त इन्द्रियोंसे होनेवाले ज्ञानका कारण है और विभंगावधिका कारण है। और अवधिदर्शन एक अवधिज्ञानका कारण है ॥१०८॥

चक्षुरचक्षुरवधिदर्शनावरणैनसाम् ।
क्षयोपशमतश्चक्षुर्दर्शनादित्रयं भवेत् ॥१०९॥

चक्षुदर्शनावरण कर्मके क्षयोपशमसे चक्षुदर्शन होता है। अचक्षुदर्शनावरणकर्मके क्षयोपशमसे अचक्षुदर्शन होता है और अवधिदर्शनावरणकर्मके क्षयोपशमसे अवधि दर्शन होता है ॥१०९॥

समं केवलबोधेन केवलं दर्शनं भवेत् ।
निजावरणानि शेषक्षयात्क्षायिकमक्रमात् ॥११०॥

केवलदर्शनावरण कर्मके वा दर्शनावरण कर्मके अत्यंत क्षय होनेसे केवलज्ञानके साथ जो दर्शन होता है वह केवलदर्शन है। यह दर्शन क्षायिक भाव है और विना किसी क्रम के समस्त पदार्थों-को और उसकी भूत भविष्यत समस्त पर्यायों को एकसाथ देखता है ॥११०॥

आगे लेश्या मार्गणाको कहते हैं ।

कृष्णनीलकपोताख्या लेश्यास्तिस्रोऽशुभाः शुभाः ।
स्युस्तेजःपद्मशुक्लाख्याः कषायोन्मिश्रयोगजाः ॥१११॥

कषायो मे मिलेहुए आत्माके परिणामों को लेश्या कहते हैं। कृष्ण, नील और कापोत ये तीन लेश्याएं तो अशुभ लेश्याए कहलाती हैं। तथा पीत, पद्म, शुक्ल ये तीन लेश्याए शुभ कहलाती हैं ॥१११॥

आगे भव्यत्व मार्गणाको कहते हैं ।

निर्वाणयोग्यता भव्यताऽन्याऽनिर्वाणयोग्यता ।
अष्टकर्मोदयाज्जाते अप्येते पारिणामिकौ ॥११२॥

जिस जीव में निर्वाण प्राप्त होनेकी योग्यता प्रगट हो उसको भव्य कहते हैं और जिस जीवमें निर्वाण प्राप्त होनेकी योग्यता कभी प्रगट न हो उसको अभव्य कहते हैं। ये दो-नों भाव यद्यपि किसी भी विशेष कर्म के उदयसे नहीं होते समुदाय रूपसे आठों कर्मों के उद-यसे होते हैं तथापि इनको पारिणामिक भाव कहते हैं ॥ ११२॥

आगे सम्यक्त्व मार्गणाको कहते हैं ।

षद् सम्यक्त्वानि पूर्वोक्तवेदकादिरुचित्रयम् ।
मिथ्यात्वसम्याङ्मिथ्यात्वसासादनगुणैः सह ॥११३॥

पहले कहे हुए देव शास्त्र गुरुका श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। उसके तीन भेद है। औपशमिक सम्यग्दर्शन क्षायिक सम्यग्दर्शन और क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन इसप्रकार सम्यग्दर्शन के तीन भेद तो ये होते हैं। तथा मिथ्यात्व सम्यमिथ्यात्व और सासादन ये तीन सम्यक्त्व मार्गणा के और भेद हैं। इसप्रकार सम्यक्त्व मार्गणा के सब छह भेद हैं ॥११३॥

मिथ्यात्वंकर्मणः पाकान्मिथ्यात्वं मिश्रताभवेत् ।
सम्याङ्मिथ्यात्वकर्मोदयात्तु श्रद्धानघातिनः ॥११४॥

इनमें से सम्यग्दर्शनके तीन भेद तो पहले अच्छी तरह बता चुके हैं। मिथ्यात्व कर्म के उदयसे मिथ्यात्व होता है। सम्यग्मिथ्यात्वप्रकृति के उदयसे सम्याग्मिथ्यात्व होता है। यह सम्यग्मिथ्यात्व भी यथार्थ श्रद्धानका घात करनेवाला होता है ॥११४॥

दृङ्मोहस्योदयादिभ्यो यत्र सासादनो गुणः ।
जात औदायिकोऽपि स्यात्तदयं पारिणामिकः ॥११५॥

सासादनरूप परिणाम यद्यपि अनन्तानुबंधी कर्म के उदयसे होते हैं तथापि दर्शनमोहनीय कर्मके उदयसे वा, उपशमसे वा क्षयसे वा क्षयोपशमसे नहीं होते अतएव इन सासादन परिणामों को पारिणामिक कहते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि पहले के चार गुणस्थान दर्शन मोहनी के संबंधसे होते हैं सासादन गुणस्थान दर्शनमोहनीयके संबंधसे नहीं होता किंतु अनंतानुबंधीके उदयसे होता है। अतएव दर्शनमोहनीका संबंध न होने से इसको पारिणामिक कहा है ॥ ११५ ॥

आगे संज्ञी मार्गणाको कहते हैं।

॥३३२॥

संज्ञित्वं समनस्कत्वं शिक्षाऽऽदानादियोग्यता ।
भवेदसंज्ञिता संज्ञिलक्षणलाक्षितत्वतः ॥११६॥

जिसके मन हो उसको संज्ञी वा सैनी कहते हैं तथा मन उसीके समझना चाहिये जो शिक्षा ग्रहण कर सके वा इशारे समझ सके। जिसमें ऐसी योग्यता न हो अर्थात् शिक्षा आदिको ग्रहण करनेवाला मन न हो, उसको असंज्ञी वा असैनी समझना चाहिये ॥११६॥

आगे आहार मार्गणाको कहते हैं ।

नोकर्माऽऽदानमाहारः सादिदेहत्रयोदयात् ।
नोकर्माऽऽहरणाभावस्त्वनाहारः प्ररूपितः ॥ ११७ ॥

औदारिक वैक्रियिक आहारक नामा नामकर्मके उदयसे जो इन्हीं तीन शरीरों के योग्य पुद्गलों का ग्रहण करना है उसको आहार कहते हैं। तथा जहांपर ऊपर लिखे हुए तीन शरीरोंके योग्य पुद्गलों का ग्रहण नहीं होता उसको अनाहार कहते हैं ।११७॥ इसप्रकार चौदह मार्गणाओंका निरूपण किया

आगे उपयोगका स्वरूप कहते हैं ।

साकार उपयोगः स्यादुपयोगोऽष्टबोधजः ।
अनाकारश्चतुर्दर्शनोत्थस्तौ जीवलक्षणम् ॥११८॥

उपयोग के दो भेद हैं एक साकार और दूसरा अनाकार, आठ प्रकार ज्ञानसे उत्पन्न होनेवाला उपयोग साकार उपयोग हैं और चार प्रकार के दर्शनसे उत्पन्न होनेवाला उपयोग अनाकार उपयोग है। ये दोनों ही उपयोग जीवके लक्षण कहे जाते हैं ॥११८॥ इसप्रकार वीस प्ररूपणाओंका निरूपण किया।

आगे किन किन जीवोंकी उत्पत्ति कहां कहांसे होती है सो दिखलाते हैं ।

॥३३३

नृतिर्यक्संज्ञिपर्याप्तकर्मभूगर्भजे जनिः ।
सुराणां नारकाणां च सप्तम्याः स्यात्तिरश्चि तु ॥११९॥

सामान्य रीतिसे देव अपनी आयु पूरी कर मनुष्य तथा तिर्यंचों में ही उत्पन्न होते हैं और कर्मभूमि में सैनी पर्याप्तक गर्भज ही होते हैं। सातवें नरक से निकलकर यह जीव तिर्यंच ही होता है ॥११९॥

तीर्थेशाश्चरमांगाश्च संयता देशसंयताः ।
तुर्यादिसप्तम्यंताभ्यश्च्युता नो नारकाः क्रमात् ॥१२०॥

चौथे नरकसे निकलकर तीर्थंकर नहीं होते। तीसरे नरकमे निकलकर तीर्थंकर हो सकते हैं। पांचवें नरकमे निकलकर चरमशरीरी नहीं होते। छटे नरकसे निकलकर संयमी नहीं होते और सातवे नरकसे निकलकर देशसयमी नहीं होते ।१२०॥

नारकोऽनन्तरं न स्याच्चक्रेशः केशवो बल ।
शलाकपुरुषा नैव नृतिर्यग्-भवनत्रयम् ॥१२१॥

नरकसे निकलकर चक्रवर्ती, नारायण और बलभद्र नहीं होते। तथा मनुष्य, तिर्यंच, भवनवासी व्यतर और ज्योतिषी देवोंमे आकर शलाका पुरुष नहीं होते ॥१२१॥

च्युतो न केशवोऽनुदिशानुत्तरविमानतः ।
संज्ञिपूर्णेषु जायन्ते आसहस्रारतश्च्युताः ॥१२२॥

अनुदिश और अनुत्तर विमानसे चयकर नारायण नहीं होते। सहस्रार स्वर्गतकसे चयकर सैनी पर्याप्तक ही होते हैं ॥१२२॥

भवन्त्यनन्तरं देवा ये आ ईशानतश्च्युताः ।
अप्रतिष्ठितप्रत्येकस्थूलभूतोयपूर्णगाः ॥१२३॥

ईशानतक स्वर्ग से चयकर देव अप्रतिष्ठित प्रत्येक स्थूल पृथ्वीकायिक और अप्रतिष्ठित प्रत्येक पर्याप्तक स्थूल जलकायिक जीव होते हैं ॥ १२३ ॥

तिर्यक्षु मर्त्यातिर्यंचस्ते तेजोवायुवर्जिताः ।
नृषु पंचेन्द्रियाः पूर्णा नारकेष्वमरेष्वपि ॥१२४॥

मनुष्य और तिर्यंच मरकर अग्निकायिक और वायुकायिक जीवोंको छोडकर बाकीके तिर्यंचों में उत्पन्न होते हैं तथा तीर्थंकरों को छोडकर पंचेंद्रिय पर्याप्तक मनुष्यों में उत्पन्न होते हैं ॥ और नरक तथा देवों में भी उत्पन्न होते हैं ॥ १२४ ॥

अष्टवाराद्द्विवारान्तं घर्मोर्व्यादिष्वसंज्ञिनः ।
सरीसृपाः खगाः सर्पाः सिंहाः कान्ता नराप्चराः ॥१२५॥

यदि असैनी जीव पहले नरक में एकवार दोवार तीनवार आदि कईवार जायं तो अधिक से अधिक आठवारतक जाते हैं। सरीसृप अर्थात् विषमरा ऐसे जीव दूसरे नरकमें बराबर जाय तो अधिकसे अधिक सातवारतक जाते हैं। पक्षीगण यदि तीसरे नरकमें बराबर जायं तो अधिकसे अधिक छह वारतक जाते हैं। सर्प यदि चौथे नरक में बराबर जायं तो अधिकसे अधिक पांचवारतक जाते हैं। सिंह यदि पांचवें नरक में बराबर जाय तो अधिकसे अधिक चारवारतक जाता है। स्त्री यदि छठे नरक में बराबर जाय तो अधिकसे अधिक तीनवारतक जाती है। मनुष्य तथा मत्स्यादिक जलचर जीव यदि सातवें नरकमें बरा-बर जायं तो दोवारतक जाते है।(कोई मनुष्य सातवें नरक में जाकर फिर तिर्यंच पर्याय धारण कर सातवें नरकमें जाना दोवार जाना कहलाता है)। ये ऊपर लिखे जीव इसनिरकतक जा सकते हैं आगे नहीं जाते। असैनी पहलेतक, सरीसृप दूसरेतक, पक्षी तीसरेतक, सर्प चौथेतक, सिंह पांचवेंतक, स्त्री छठेतक, और मनुष्य मत्स्य सातवेंतक जाते हैं। इससे आगे नहीं जाते ॥१२५॥

॥ ३३५॥

भौमभावनयोः पूर्णो असंज्ञी भोगभूमिजाः ।
तापसप्रवराश्चापि जायन्ते भुवनत्रये ॥१२६॥

पर्याप्तक असैनी भोगभूमिया जीव मरकर भवनवासी और व्यंतरों में उत्पन्न होते हैं। तथा मिथ्यादृष्टि श्रेष्ठ तपस्वी भी मरकर भवनवासी व्यंतर और ज्योतिषी देवों में उत्पन्न होते हैं ॥१२६॥

सद्दृष्टिभोगभूजाताः सौधर्मैशानकल्पयोः ।
पर्याप्ताः कर्मभूसंज्ञिमानवा भोगभूमिषु ॥१२७॥

सम्यग्दृष्टी भोगभूमियां जीव मरकर सौधर्म और ईशान स्वर्ग में उत्पन्न होते हैं। तथा कर्मभूमिमें उत्पन्न हुए सैनी पर्याप्तक मनुष्य भोगभूमियों में उत्पन्न होते हैं ॥१२७॥

परिव्राट् ब्रह्मकल्पान्तं यात्युग्राचारवानपि ।
आजीवकः सहस्रारकल्पान्तं दर्शनोज्झितः ॥१२८॥

मिथ्यादृष्टी परिव्राजक मरकर पांचवें स्वर्गतक जाते हैं तथा उग्र आचरणों को धारण करनेवाले आजीवक वा परमहंस मिथ्यादृष्टी जीव बारहवें सहश्रार स्वर्गतक जाते हैं ॥१२८॥

यान्त्यच्युतान्तमुत्कर्षात्तिर्यंचो मानवा अपि ।
सम्यग्दर्शनसंपन्नाऽसंयता देशसंयताः ॥१२९॥

सम्यग्दर्शनसे सुशोभित होनेवाले संयमी मनुष्य, सम्यग्दृष्टी देशसंयमी मनुष्य वा तिर्यंच सम्यग्दृष्टी असंयत मनुष्य वा तिर्यंच अधिकसे अधिक सोलहवें अच्युत स्वर्गतक उत्पन्न होते हैं ॥ १२९ ॥

मर्त्यासंयतसद्दृष्टिदेशव्रातिकुदृष्टयः ।
येन्त्यग्रैवेयकान्तं ते यान्ति सद्द्रव्यसंयमात् ॥१३०॥

चत्वारि पंच सर्वाणि चत्वारि नरकादिषु ।
पंचेन्द्रिये त्रसे सर्वाण्याद्यं त्वन्याक्षकाययोः ॥१३५॥

नरक में नारकियोंके पहले चार गुणस्थान होते हैं। तिर्यंचों के पांच गुणस्थान होते हैं। मनुष्योंके सब गुणस्थान होते हैं देवों के भी पहले चार गुणस्थान होते हैं। इन्द्रिय मार्गणामें पंचेन्द्रियों के सब गुणस्थान होते हैं। एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय, तेइन्द्रिय चौइन्द्रिय जीवों के एक मिथ्यात्व गुणस्थान होता है कायमार्गणामें त्रसकायिक जीवों के सब गुणस्थान होते हैं। स्थावर कायिक जीवों के एक मिथ्यात्व गुणस्थान होता है ॥१३५॥

संज्ञ्याद्याः क्षीणमोहान्ताः संयोगान्ताश्च ते क्रमात् ।
मोषाभयमनोवाक्षु मनोवाक्वपरेष्वपि ॥१३६॥

संज्ञीसे आदि लेकर बारहवें गुणस्थानतक असत्यमनयोग, उभयमनोयोग, असत्यवचनयोग उभयवचनयोग होते हैं तथा संज्ञीसे आदि लेकर तेरहवें गुणस्थानतक ये दोनों योग भी होते हैं और बाकी के अर्थात् सत्य और अनुभय मन वचन योग भी होते हैं ॥१३६॥

पर्याप्तद्वीन्द्रिया आदिस्तुरीयवचने पुनः ।
स्थावरादिसयोगान्ताः पूर्णा औदारिके मताः ॥१३७॥

||३३८|| पर्याप्तक द्वीन्द्रिय आदि चतुर्थ वचन अर्थात् अनुभय वचन में होते हैं उनके अनुभय वचन होता है। पर्याप्तक स्थावर आदि से लेकर सयोगीपर्यंत औदारिक काययोग में होते हैं इनके औदारिक काययोग होता है ॥१३७॥

कुदृक्सासादनोऽपूर्णः सुदृक् पुंवेद्यसंयतः ।
कवाटयोगी तन्मिश्रे मर्त्यतिर्यक्षु तद्द्वयम् ॥१३८॥

असयत सम्यग्दृष्टी मनुष्य, देशव्रती सम्यग्दृष्टी मनुष्य और मिथ्यादृष्टी जीव द्रव्य संयमको श्रेष्ठ रीतिसे पालन करनेके कारण मरकर अंतिम ग्रैवेयकतक उत्पन्न होते हैं ॥१३०।

यान्ति सर्वार्थसिध्यंतं नराः संयमिनश्च्युताः ।
सर्वार्थसिद्धिजा मोक्षगाः स्युर्लौकान्तिका अपि ॥१३१॥

सयमी मनुष्य स्वर्गों में सर्वार्थसिद्धितक जाते हैं तथा सर्वार्थसिद्धि के अहमिंद्र और लौकांतिक देव वहांसे चयकर मनुष्य होकर अवश्य ही मोक्ष जाते हैं ॥१३१॥

सलोकपालाः शक्रादिदक्षिणेन्द्रा दिवश्च्युताः ।
शक्राग्रमाहिषीयुक्ता नृषु निर्वान्त्यनन्तरम् ॥१३२॥

दक्षिण दिशा के स्वर्गोंके इन्द्र, लोकपाल और उनकी मुख्य इन्द्राणी वहांसे चयकर मनुष्य होकर मोक्ष ही जाते हैं ॥१३२॥

यस्यां जातिजरामृत्युक्लेशाश्लेषो न विद्यते ।
सोक्ता सिद्धगतिर्याति तां मर्त्या गुणभूषणाः ॥१३३॥

जिसमें जन्ममरण और बुढापे आदिके दुःखोंका सर्वथा संबंध न हो, उसको सिद्ध गति वा मोक्ष कहते हैं। जो मनुष्य रत्नत्रयसे सुशोभित होते हैं। रत्नत्रयको पूर्ण रीतिसे पालन करते हैं वे जीव उस सिद्ध गति वा मोक्षमें जाते हैं ॥१३३।

आगे इन प्ररूपणाओं को गुणस्थानोंके साथ संबंध मिलानेके लिये कहते हैं।

प्ररूपणानामन्योन्ययोजनक्रमबुद्धये ।
गुणस्थानानि योज्यन्ते मार्गणादिषु केषुचित् ॥१३४॥

इन प्ररूणाओं को परस्पर एक दूसरे के साथ संबंध मिलाने के लिये मार्गणाओंमें गुणस्थान मिलाते हैं अर्थात् किस किस मार्गणामें कौन कौन गुणस्थान होते है सो दिखलाते हैं ॥१३४॥

॥३३७॥

मिथ्यादृष्टी, सासादनसम्यग्दृष्टी, अपर्याप्तकसम्यग्दृष्टी, पुरुषवेदीअसंयमी और कपाट समुद्घातको धारण करनेवाले सयोगकेवलीके औदारिक मिश्र काययोग होता है। तथा मनुष्य और तिर्यंचों के औदारिक और औदारिकमिश्र दोनों काययोग होते हैं ॥१३८॥

पूर्णे वैक्रेयिकोऽपूर्णे तान्मिश्रः सुरनारके।
मिश्रे न मिश्रः सासादनोत्पत्तिर्नरकेषु न ॥१३९॥

पर्याप्तक देव व नारकियों के वैक्रियिक काययोग है। अपर्याप्तक देव नारकियों के वैक्रियिकमिश्र काययोग है वैक्रियिक काययोगमें पहले चार गुणस्थान हैं। तथा वैक्रियिक मिश्र काययोग में मिश्र गुणस्थान नही है पहला दूसरा व चौथा गुणस्थान है। नारकियों के सासादन गुणस्थान नहीं है ॥१३९॥

आहारदेहपर्याप्त्या पूर्णापूर्णप्रमत्तयोः।
अन्तर्मुहूर्तकालौ तु आहाराऽऽहारमिश्रकौ ॥१४०॥

आहारपर्याप्तक और आहारक अपर्याप्तक जीव छठे गुणस्थानमें होते हैं इनका दोनोंका काल अंतर्मुहूर्त होता है। अतएव आहारक काययोग और आहारक मिश्रकाययोग दोनोंका काल अंतर्मुहूर्त समझना चाहिये ॥१४०॥

कुदृक्सासादनसुदृक्चतुर्गतिगविग्रहे।
कार्मणस्तु सयोगस्य प्रतरे लोकपूरणे ॥१४१॥

मिथ्यादृष्टी सासादनसम्यग्दृष्टी और सम्यग्दृष्टी जीवों के चारों गतियोंकी विग्रहगति में कार्मणकाययोग है। तेरहवें गुणस्थान में रहनेवाले सयोगीकेवलीके प्रतर और लोकपूर्ण समुद्घात करतेसमय कार्मण काययोग होता है ॥१४१॥

आगे वेदोंमें गुणस्थान बतलाते हैं।

स्थावरादिस्ववेदाऽनिवृत्यंताः स्युर्नपुंसके ।
असंज्ञ्यादिस्ववेदानिवृत्यंताः शेषवेदयोः ॥१४२॥

नपुंसक वेदमें स्थावर आदि मिथ्यात्व गुणस्थान से लेकर नौवें अनिवृत्तिकरण गुणस्थानके अवेदभागतक गुणस्थान समझना चाहिये। बाकीके स्त्रीवेद और पुरुषवेद में असैनी पंचेन्द्रिय मिथ्यादृष्टी से लेकर आनिवृत्तिकरण नामके नैवें गुणस्थानके अवेदभागतक, गुणस्थान होते हैं ॥१४२॥

कुदृगाद्यनिवृत्तिद्वित्रिचतुर्भागगा गुणाः ।
क्रोधत्रये क्रमाल्लोभे सूक्ष्मलोभान्तिका दश ॥१४३॥

क्रोध, कषाय मिथ्यादृष्टी गुणस्थानसे लेकर आनिवृत्ति करण गुणस्थान के दूसरे भागतक होता हैं। मानकषाय में मिथ्यादृष्टी गुणस्थानसे लेकर आनिवृत्ति करण के तीनभागतक गुणस्थान होते हैं। माया कषायमें मिथ्यादृष्टी गुणस्थानसे लेकर अनिवृत्तिकरणके चार भागतक गुणस्थान होते हैं। तथा लोभ कषायमे पहले मिथ्यात्वगुणस्थान से लेकर दशवें सूक्ष्मसांपरायतक गुणस्थान होते हैं ॥१४३॥

आगे ज्ञान में गुणस्थान लगाते हैं।

एकेन्द्रियादिपर्याप्तसंज्ञ्याद्याद्यगुणद्वये ।
स्यातां मतिश्रुताज्ञाने विभंगोऽपि यथाक्रमम् ॥१४४॥
चतुर्थषष्ठप्रभृतिक्षीणमोहान्तगाः क्रमात् ।
ज्ञानत्रये मनःपर्ययेऽर्हत्सिद्धेषु केवलम् ॥१४५॥

कुमतिज्ञान कुश्रुतज्ञान एकेन्द्रिय जीवों से लेकर पर्याप्तक सैनी पंचेन्द्रिय तक जीवों के पहले दूसरे गुणस्थान में होते हैं। तथा विभंगावधिज्ञान भी पहले दूसरे गुणस्थानमें ही होता है। सम्यक्मतिज्ञान सम्यक्श्रुतज्ञान और सम्यक अवधिज्ञान ये तीनों सम्यकज्ञान चौथे गुणस्थानसे

॥३४०॥

लेकर बारहवें क्षीणमोह गुणस्थानतक होते हैं। तथा मनःपर्यय ज्ञान छठे गुणस्थानसे बारहवें गुणस्थानतक होता हैं। भगवान् अरहंत देवके अर्थात् तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान में तथा गुणस्थानों से रहित सिद्ध भगवान् के केवलज्ञान होता है ॥ १४४-१४५ ॥

आगे संयम में गुणस्थान बतलाते हैं।

असंयमे चतुर्थान्ताः पंचमो देशसंयमे।
प्रमत्ताद्यानिर्वृत्यंता यमे सामायिकद्वये ॥१४६॥
परिहारर्द्धौ प्रमत्ताप्रमत्तौ सूक्ष्मलोभकः।
स्यात्सूक्ष्मसांपरायेऽन्ये यथाख्यातेऽतनौ न सः ॥१४७॥

असंयममें पहले चार गुणस्थान होते हैं। देशसंयम में पांचवा गुणस्थान होता है। सामायिक और छेदोपस्थापना नाम के संयममे छठे गुणस्थान से लेकर नौवें गुणस्थानतक सात गुणस्थान होते हैं। परिहारविशुद्धि नामके चारित्र में छठा और सातवां गुणस्थान होते हैं। सूक्ष्मसांपराय नाम के संयम मे दशवां गुणस्थान होता है। यथाख्यात संयममें ग्यारहवां बारहवां तेरहवां चौदहवां गुणस्थान है और शरीररहित सिद्धों के कोई संयम नहीं है ॥ १४६-४७ ॥

आगे दर्शन में गुणस्थान बतलाते है।

चतुरक्षैकाक्षायतराद्दृष्ट्याद्यास्तु दर्शने।
छद्मस्थान्ताः स्मृताश्चक्षुष्यचक्षुष्यवधौ क्रमात् ॥१४८॥

चक्षुदर्शनवाले जीव चौइन्द्रिय जीवों से लेकर [पहले गुणस्थानसे] बारहवें गुणस्थानतक होते हैं अचक्षुदर्शनवाले जीव एकेन्द्रिय से आदि लेकर पहले गुणस्थानसे बारहवें गुणस्थानतक होते है। अवधिदर्शनवाले जीव चौथे गुणस्थान से लेकर बारहवें गुणस्थानतक होते है ॥ १४८ ॥

आगे केवलदर्शन के गुणस्थान बताकर लेश्याके गुणस्थान कहते है।

केवले जिनसिद्धाः स्युः स्थावराद्याश्चतुर्गुणाः।
अप्रशस्तात्रिलेश्यासु प्रमत्तान्ताश्च कीर्तिताः ॥१४९॥

केवलदर्शनवाले जीव केवली भगवान् अर्थात् तेरहवे चोदहवें गुणस्थानवर्ती जीव होते हैं। तथा गुणस्थानसे रहित सिद्ध भगवान् होते है। लेश्याओं में पहलेकी जो कृष्ण, नील कापोत, तीन अशुभ लेश्याएं हैं वे स्थावर जीवों मे आदि लेकर अर्थात् पहले गुणस्थानसे लेकर चौथे गुणस्थानतक होती हैं। तथा पीत लेश्या पहले गुणस्थानसे लेकर छठे गुणस्थानतक होती है ॥ १४९ ॥

शुभलेश्यासु संज्ञ्यादिसप्तमान्तास्ततोऽपरे।
शुक्लायां स्युः सयोगान्ता लेश्यातीतास्ततः परे। ॥१५०॥

पद्मलेश्या सैनी पचेंद्रियसे लेकर-पहले गुणस्थानसे लेकर सातवें गुणस्थानतक होती है। शुक्ललेश्या पहले गुणस्थानसे लेकर सयोगी नाम के तेरहवें गुणस्थानतक होती है। चौदहवें गुणस्थान में तथा सिद्ध भगवान् के कोई लेश्या नहीं है ॥१५०॥

आगे भव्यत्व मार्गणामें और सम्यक्त्व मार्गणा में गुणस्थान बतलाते हैं।

भव्ये सर्वगुणस्थानान्यभव्ये प्रथमो गुणः।
मिथ्यात्वादित्रये मिथ्यादृष्ट्याद्याः स्युस्त्रयो गुणाः ॥१५१॥

भव्य जीवोंके चौदह गुणस्थान होते हैं। अभव्य के एक मिथ्यात्व गुणस्थान ही होता है। मिथ्यात्व नामकी सम्यक्त्वमार्गणा में एक मिथ्यात्व गुणस्थान होता है। सासादन नामकी सम्यक्त्वमार्गणामें सासादन गुणस्थान होता है। मिश्र नामकी सम्यक्त्व मार्गणा में मिश्र-गुणस्थान होता है ॥१५१॥

॥३४२॥

वेदकाद्यौपशमयोश्चतुर्थाद्याश्चतुर्गुणाः ।
चतुर्थाद्युपशान्तान्ता द्वितीयोपशमे मताः ॥१५२॥

क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन में तथा औपशमिक सम्यग्दर्शन में चौथा पांचवां छठा सातवां ये चार गुणस्थान होते हैं। द्वितीयोपशम सम्यग्दर्शन में चौथे गुणस्थानसे लेकर ग्यारहवें गुणस्थानतक आठ गुणस्थान होते हैं ॥ १५२ ॥

आगे क्षायिक सम्यक्त्व और संज्ञी मार्गणामें गुणस्थान बतलाते हैं।

सिद्धान्ताः स्युश्चतुर्थाद्याः सम्यक्त्वे क्षायिके वरे ।
संज्ञिनि द्वादश गुणा मिथ्यादृष्टिरसंज्ञिनि ॥१५३ ॥

क्षायिक सम्यग्दर्शन चौथे गुणस्थानसे लेकर चौदहवें गुणस्थानतक होता है तथा सिद्ध भगवान् में भी होता है। सैनी पंचेन्द्रिय जीवों के पहले गुणस्थान से लेकर बारहवें गुणस्थानतक बारह गुणस्थान होते हैं। असैनी के एक पहला ही गुणस्थान होता है ॥१५३॥

आगे आहारक मार्गणाके गुणस्थान बतलाते हैं।

कुदृष्ट्यादिसयोगान्ता आहारे कार्मणे स्थिताः ।
अयोगिनश्चानाहारे सिद्धा निर्धूतकार्मणाः ॥ १५४॥

आहार मार्गणा में मिथ्यात्व नामके पहले गुणस्थान से लेकर सयोगी केवली नाम के तेरहवें गुणस्थानतक तेरह गुणस्थान हैं। अनाहार मार्गणामें कार्मण काययोग और चौदहवां गुणस्थान है समस्त कर्मोंको नाश करनेवाले सिद्ध भगवान् भी अनाहारक ही होते हैं ॥१५४॥

आगे चौदह जीवसमासोंमें गुणस्थान बतलाते हैं।

चतुर्दशसु मिथ्यादृक्पूर्णेऽपूर्णे च संज्ञिनि ।
सासादनायतसुदृक्प्रमत्तास्तु गुणास्त्रयः ॥१५५॥

चौदह प्रकार के जीवसमासों में पृथ्वीकाय सूक्ष्मवादर, जलकायिक सूक्ष्मवादर, तेजःकायिक सूक्ष्मवादर, वायुकायिक सूक्ष्मवादर नित्यनिगोद सूक्ष्मवादर इतर निगोद सूक्ष्मवादर, सप्रातिष्ठित अप्रतिष्ठित, विकलत्रय- दोइन्द्रिय तेइन्द्रिय, चौइन्द्रिय, पंचेन्द्रिय असैनी सैनी इनमें मिथ्यात्व गुणस्थान होत हैं। अपर्याप्तक सैनी में मिथ्यात्व सासादन अव्रतसम्यग्दृष्टी और प्रमत्त ये चार गुणस्थान होते हैं। यहां प्रमत्त गुणस्थान आहारक मिश्रकी अपेक्षा है ॥१५५॥

पूर्णे जीवसमासे स्युः संज्ञिनोऽन्ये जिनौ विना।
एवं जीवसमासेषु मार्गणा अपि योजयेत् ॥१५६॥

इन्हीं चौदह प्रकारके जीवसमासोंमें जो सैनी पर्याप्तक हैं उनके तेरहवें चौदहवें गुणस्थानको छोडकर बाकी के बारह गुणस्थान होते हैं। इसप्रिकार जीवसमासोंमें मार्गणाओं को भी लगालेना चाहिये ॥१५६॥ इसप्रकार मार्गणाओं में गुणस्थान लगाकर बतलाये

अब आगे जीवोंकी संख्याकी न्यूनाधिकता कहते हैं।

सप्तम्याः श्रेण्यसंख्यातभागमात्रास्ततः क्रमात्।
घर्मांया नारका यावदसंख्यातगुणाः स्मृताः ॥१५७॥

सातवें नरकमें नारकियों की संख्या जगतश्रेणीके असंख्यातवें भागमात्र है। इनसे असंख्यात गुणे नारकी छठे नरकमें हैं। छठे नरकके नारकियों से असंख्यात गुणे पांचवें नरकके नारकियोंकी संख्या है। इनसे असंख्यात गुणे चौथे नरकके नारकी हैं। इनसे असंख्यात गुणे तीसरे नरक के नारकी हैं। इनसे असंख्यात गुणे दूसरे नरकके नारकी हैं और इनसे असंख्यात गुणे पहले नरकके नारकी है ॥१५७॥

पंचाक्षाः प्रतराऽसंख्यभागमात्रास्ततोऽधिकाः।
चतुस्त्रिद्वीन्द्रिया जीवाः क्रमात्ते त्रसकायिकाः ॥१५८॥

पंचेन्द्रिय जीव जगतप्रतर के असंख्यातवें भाग मात्र हैं। उनसे अधिक चतुरिन्द्रिय जीव हैं। उनसे अधिक तेइन्द्रिय हैं और उनसे अधिक दोइन्द्रिय जीव है। इसप्रकार त्रसकायिक जीवोंकी संख्या समझनी चाहिये ॥१५८॥

असंख्यलोकाः स्युस्तेजस्कायिकाः क्रमशोऽधिकाः।
तदसंख्येयभागेन पृथ्व्यप्पवनकायिकाः ॥१५९॥

तेजस्कायिक जीव असंख्यात लोकप्रमाण हैं। उनसें उनके असंख्यातवें भागप्रमाण अधिक पृथ्वीकायिक हैं। पृथ्विकायिक जीवोंसे असंख्यातवें भागप्रमाण अधिक जलकायिक हैं और उनसे असंख्यातवें भागप्रमाण अधिक वायुकायिक जीव हैं ॥१५९॥

अनंतानंतसंख्याता निगोदाः क्रमशोऽधिकाः।
वनस्पतय एकाक्षास्तिर्यञ्चश्च यथोचि म ॥१६०॥

निगोदिया जीव अनतानत हैं। एकेन्द्रिय वनस्पती तिर्यंच यथायोग्य रीतिसे क्रमसे इनसे अधिक संख्यावाले समझने चाहिये ॥१६०॥

अन्तरद्वीपकुनराः संख्याता गुणिताः क्रमात्।
संख्यातरूपैः कुरुषु हरिरम्यकवर्षयोः ॥१६१॥
हैमवतभूहैरण्यवतोर्व्योर्भोगभूमिजा।
भरतैरावतक्षेत्रे विदेहे पूर्णमानवाः ॥१६२॥ युग्मं।

अंतर्द्वीप में रहनेवाले कुभोगभूमियां मनुष्य संख्यात हैं। इनसे संख्यागुणे देवकुरु वा उत्तरकुरुओंके मनुष्य हैं। इनसे संख्यातगुणे हरि क्षेत्रके तथा रम्यक्क्षेत्रके मनुष्य हैं और इनसे संख्यातगुणे मनुष्य हैमवत और हैरण्यवत क्षेत्रके मनुष्य है। यह भोगभूमिज मनुष्योंकी संख्या है। इन से संख्यातगुणे भरत ऐरावत और विदेह क्षेत्र के पर्याप्तक मनुष्य समझने चाहिये

लब्ध्यपूर्णा जगच्छ्रेण्यसंख्यभागामिता मताः ।
भरतादिषु कर्मावनीषु तेभ्योऽधिका नराः ॥१६३॥

भरतक्षेत्र आदिक जो कर्मभूमियां हैं उनमें रहनेवाले जो लब्ध्यपर्याप्तक मनुष्य हैं वे जगतश्रेणी के असंख्यातवें भागप्रमाण हैं यह संख्या भरतादिक के पर्याप्त मनुष्यों से अधिक समझनी चाहिये ॥ १६३ ॥

असंख्यश्रेणिं वैमानिकेभ्योऽसंख्यगुणाः क्रमात् ।
भावना वाना ज्योतिष्कास्तेभ्यः संख्यातसंगुणाः ॥१६४॥

वैमानिक देव असंख्यात श्रेणी प्रमाण हैं । उनसे संख्यातगुणे भवनवासी हैं उनसे संख्यातगुणे व्यंतर हैं उनसे संख्यातगुणे ज्योतिषी देव हैं ॥ १६४ ॥

मर्त्येभ्योऽसंख्यगुणिता असंख्यश्रेणिनारकाः ।
तेभ्यो देवास्ततः सिद्धाश्चसंख्यानंतसगुणाः ॥१६५॥

मनुष्यों से असंख्यातगुणे नारकी हैं और उनकी संख्या असंख्यातश्रेणी प्रमाण है । नार–कियों से देवोंकी संख्या असंख्यातगुणी हैं । तथा देवों से असंख्यात अनंतगुणी सिद्धोंकी संख्या है ॥ १६५ ॥

तिर्यंचोऽनंतगुणितास्तेभ्यः संसारिणोऽधिकाः ।
सिद्धराशिप्रमाणेन सर्वे जीवास्ततोऽधिकाः ॥१६६॥

सिद्धों से अनंत गुणे तिर्यंच हैं । संसारी जीव तिर्यंचों से भी अधिक हैं । तथा सिद्ध और ससारी दोनों की संख्या मिलाकर समस्त जीवोंकी संख्या होती है ॥१६६॥

आधारे बादराः सूक्ष्माः सर्वत्र त्रसनालिगाः ।
त्रसास्तु विकलाक्षाः स्युस्तिर्यग्लोके व्यवस्थिताः ॥१६७॥

बादर वा स्थूलजीव किसी न किसी के आधार रहते हैं। सूक्ष्म जीव समस्त लोकाकाश में भरे हुए हैं। दोइन्द्रिय तेइन्द्रिय चौइन्द्रिय आदि त्रस जीव त्रस नाली में भरे हुए हैं। इसप्रकार तिर्यंच तिर्यग्लोक में भरे हुए हैं ॥१६७॥

आगे यह जीव कर्मोंके आधीन हैं ऐसा दिखलाते हैं।

कर्मायत्तश्चिरं जीवः संसारे पर्यटत्यसौ।
प्रकृत्याऽष्टविधं त्वष्टचत्वारिंशच्छतं च तत् ॥१६८॥

यह जीव कर्मों के आधीन होकर चिरकालसे संसारमें परिभ्रमण कर रहा है। वे कर्म आठ हैं और उनके उत्तरभेद सब एक सौ अडतालीस हैं ॥१६८॥

यत्तत्राष्टविधं ज्ञानदर्शनावरणीयतः।
स्याद्वेदनीयमोहायुर्नामगोत्रान्तरायतः ॥१६९॥

ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अतराय ये आठ कर्म कहलाते हैं ॥१६९॥

ज्ञानं मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलम्।
आवृणोतीति तज्ज्ञानावरणं पंचभेदगम् ॥१७०॥

ज्ञान पांच हैं उनको आवरण करनेवाले कर्म भी पांच है। उनके नाम ये हैं। मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण, मनःपर्ययज्ञानावरण, और केवलज्ञानावरण ॥१७०॥

आगे दर्शनावरणके भेद कहते हैं।

स्त्यानगृद्धिर्निद्रानिद्राप्रचलाप्रचलाद्वयम्।
निद्रा च प्रचला चक्षुरचक्षुर्दर्शनावृती ॥१७१॥

॥३४७॥

अवधेः केलस्यापि दर्शनस्यावृती इति ।
चतुर्विधेऽपि स्वावार्ये दर्शनावृतयो नव ॥१७२॥ युग्मम् ।

चक्षुदर्शनावरण, अचक्षुदर्शनावरण अवधिदर्शनावरण केवलदर्शनावरण, निद्रा, निद्रानिद्रा, प्रचला, प्रचलाप्रचला और स्त्यानगृद्धि । ये नौ दर्शनावरण कर्म के भेद है । इनमेंसे पहले के चार अपने अपने दर्शनोंको ढकते हैं, आवरण करते है । इसलिये इनको दर्शनावरण कहते हैं ॥ १७१-१७२ ॥

आगे वेदनीय मोहनीय और आयु कर्म के भेद कहते हैं ।

सातासातद्वयं वेद्यं मोहोऽष्टाविंशतिर्मतः ।
मिथ्यात्वं सम्यङ्मिथ्यात्वं सम्यक्त्वं दृग्विमोहनम् ॥१७३॥
क्रोधादिभेदानंतानुबन्धी संज्वलनस्तथा ।
प्रत्याख्यानः कषायः स्यादप्रत्याख्यान इत्यमी ॥१७४॥
चारित्रमोहनीयं स्युर्नोकषायाश्च ते नव ।
पुरुषस्त्रीषण्ढवेदत्रयं रत्यरती तथा ॥१७५॥
हास्यशोकौ भयं जुगुप्सायुश्चतुर्विधम् ।
निरयायुस्तिर्यङ्मर्त्यसुरायूंषीति वर्णितम् ॥१७६॥

वेदनीय कर्म के दो भेद है । सातावेदनीय कर्म और असातावेदनीय कर्म । मोहनीय के अट्ठाईस भेद हैं । वे इसप्रकार है । मोहनीय के दो भेद हैं । दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय । दर्शनमोहनीयके तीन भेद है । मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्प्रकृतिमिथ्यात्व चारित्रमोहनीय के दो भेद हैं कषायवेदनीय और नोकषायवेदनीय । उसमस कषायवेदनीय के भी सोलह भेद है । अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ । अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया

लोभ । संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ ये सोलह कपायवेदनीय के भेद हैं। इसीप्रकार हास्य, रति, अरति, शोक भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुवेद और नपुंसकवेद ये नोकषाय के भेद है। इसप्रकार दर्शनमोहनीय के तीन भेद, चारित्रमोहनीयके सोलह और नौ मिलाकर पच्चीस भेद, दोनों-प्रकारकी मोहनीय के सब भेद अट्ठाईस होते है। आयु कर्म के चार भेद हैं। मनुष्यायु, तिर्यंचायु, नरकायु और देवायु ॥ १७२-१७६ ॥

आगे नामकर्मके तिरानवे भेद बतलाते हैं।

नाम त्रिनवतिभेदैर्गतिस्तत्र चतुर्विधा ।
जातिः पंचविधा पंचभेदभंगं च बन्धनम् ॥१७७॥

नाम कर्म के तिरानवे भेद है। वे इसप्रकार हैं। गति चार- नरकगति तिर्यंचगति मनुष्यगति और देवगति। जाति पांच, एकेन्द्रिय जाति, दोइन्द्रिय जाति, तेइन्द्रिय जाति, चौइन्द्रिय जाति और पंचेन्द्रिय जाति। शरीर नामकर्मके पांच भेद हैं। औदारिक, वैक्रियिक आहारक, तैजस और कार्मण। बंधन पांच हैं। औदारिक बंधन, वैक्रियिक बधन, आहारक बंधन, तैजस बंधन, और कार्मण बंधन। यहांतक उनईस भेद हुए ॥१७७॥

पंचभेदोऽगसंघातः स्युः संस्थानानि षट् तनोः ।
त्रीण्यंगोपांगनामानि देहसंहननानि षट् ॥१७८॥

संघात नामकर्म के पांच भेद हैं। औदारिक संघात, वैक्रियिक संघात, आहारक संघात, तैजससंघात और कार्मण संघात। संस्थान नामकर्म के छह भेद हैं। समचतुरस्त्रसंस्थान, न्यग्रोध परिमंडलसंस्थान, स्वाति संस्थान, कुब्जक सस्थान, वामन संस्थान और हुंकड संस्थान। अंगोपांगके तीन भेद हैं। औदारिक अंगोपांग, वैक्रियिक अंगोपांग और आहारक अंगोपांग। सहनन नामकर्म के छह भेद है। वज्रवृषभनाराचसंहनन, वज्रनाराचसहनन, नाराचसहनन, अर्द्धनाराचसंहनन, कीलक-

संहनन, असंप्राप्तासृपाटिकसंहनन। यहांतक उन्तालिस भेद हुए ॥१७८॥

वर्णाः पंच द्विगन्धौ स्युः पंच रसाः शाष्टकम्।
आनुपूर्व्यश्चतस्रोऽगुरुलघ्वेकं शरीगरम् ॥१७९॥

वर्णनामकर्म के पांच भेद हैं श्वेत, पीत, हरित, कृष्ण और रक्तवर्ण। गंधके दो भेद हैं सुगध और दुर्गंध। रसके पांच भेद हैं, खट्टा, मीठा, कडवा चरपरा, कषायला। स्पर्शके आठ भेद हैं। मृदु, कर्कश, गुरु, लघु, पीत, उष्ण, स्निग्ध रुक्ष। आनुपूर्व्य कर्मके चार भेद हैं। नरकगत्यानुपूर्वी तिर्यंचगत्यानुपूर्वी, मनुष्यगत्यानुपूर्वी और देवगत्यानुपूर्वी। अगुरुलघु एक है। यहांतक चौसठ भेद हुए १७९॥

अपघातपरघातोच्छ्वासाऽऽतापचतुष्टयम्।
उद्योतमेकं द्विविधं विहायोगतिकर्म यत् ॥१८०॥

उपघातनामकर्म परघातनामकर्म, उच्छ्वासनामकर्म, आताप नामकर्म और उद्योतनामकर्म ये पांच भेद हुए। तथा विहायोगति नामकर्म के दो भेद है प्रशस्तविहायोगति और अप्रशस्तविहायोगति। इसप्रकार इकहत्तर भेद होते हैं ॥१८०॥

त्रसबादरपर्याप्तप्रत्येकं स्यात् स्थिरं शुभम्।
सुभगं सुस्वरादेययशस्कीर्ति च सेतरम् ॥१८१॥
निर्माणमेकं स्यात्तीर्थकरनामप्यनुत्तरं।
उच्चनीचाद्विभेदस्य पात्रं तद्गोत्रकर्म यत् ॥१८२॥

त्रसनामकर्म, स्थावरनामकर्म, बादरनामकर्म, सूक्ष्मनामकर्म, पर्याप्तकनामकर्म, अपर्याप्तकनामकर्म, प्रत्येकनामकर्म, साधारणनामकर्म; स्थिरनामकर्म, अस्थिरनामकर्म, शुभनामकर्म, अशुभनामकर्म सुभगनामकर्म, दुर्भग नामकर्म, सुस्वर नामकर्म, दुःस्वरनामकर्म, आदेयनामकर्म, अनादेयनामकर्म, यशः

कीर्तिनामकर्म, अयशःकीर्तिनामकर्म निर्माणनामकर्म और तीर्थंकर नामकर्म। इसप्रकार नामकर्म के सब मिलाकर तिरानवे भेद होते हैं। गोत्रकर्म के दो भेद हैं एक उंच गोत्रका कारण और दूसरा नीचगोत्रका कारण ॥१८१–१८२॥

स्याद्दानलाभभोगोपभोगवीर्यान्तरायतः।
पंचभेदोऽन्तरायोऽयं दानाद्यन्तरमेति यत् ॥१८३॥

अंतराय कर्म के पाच भेद हैं। दानांतराय लाभांतराय भोगांतराय उपभोगांतराय वीर्यांतराय। जो दान लाभ भोग उपभोग और वीर्य में विघ्न कर दें उनको अंतराय कर्म हते हैं इसप्रकार आठों कर्मोंके सब मिलाकर एकसौ अडतालीस भेद हैं ॥१८३॥

आगे इन कर्मोंकी स्थिति बतलाते हैं।

त्रिंशत्याद्यन्तरायेषु कोटीकोट्यः परा स्थितिः।
सप्ततिर्मोहनीयस्य स्याद्विंशतिर्नामगोत्रयोः ॥१८४॥
सागराणां त्रयस्त्रिंशत्स्यादायुष्यपरा स्थितिः।
वेद्ये मुहूर्ताः स्युर्द्वादशाष्टौ ते नामगोत्रयोः ॥१८५॥
शेषेष्वन्तर्मुहूर्त्तः स्यादात्मना सह संस्थितेः।
कालः प्रतिक्षणं बद्धकर्मणां स्थितिरीरिता ॥१८६॥

ज्ञानावरण दर्शनावरण वेदनीय और अंतराय कर्मकी उत्कृष्ट स्थिति तीस कोडाकोडी सागर है। मोहनीयकी सत्तर कोडाकोडी सागर है। नाम गोत्रकी बीस कोडाकोडी सागर है। आयु कर्मकी उत्कृष्ट स्थिति तेतीस सागर है। वेदनीय कर्मकी जघन्य स्थिति बारह मुहूर्त है। नाम गोत्रकी आठ मुहूर्त है और बाकी के पांचों कर्मोंकी जघन्य स्थिति अंतर्मुहूर्त है प्रत्येक संसारी जीवके साथ प्रत्येक समयमें कर्मोंका बंध होता रहता है। इसप्रकार एक

॥३५१॥

एक समयमें जो कर्मोंका बध होता है उसकी उत्कृष्ट और जघन्य स्थिति ऊपर बतलाई है ॥ १८४--१८६ ॥

कर्मस्पर्शगुणो यस्तु सोऽनुभाग इतीष्यते ।
लतानिंवगुडाद्यात्मनानाभेदैस्त्रिजैर्युतः ॥१८७॥

कर्मका ˚ही जिसका फल है उसको अनुभागवंध कहते है यहांपर कर्मस्पर्शका आभिप्राय कर्मजनित फल है । उस अनुभागवंधके तीन भेद है घातियां कर्मों में तो लता, दारु अर्थात् काष्ठ, आस्थि और पाषाण ये चार भेद क्रमसे उत्तरोत्तर अनुभागवंधके होते हैं । इनमे देशघाती न दारुका कुछभाग प्रकृतियों में लताभाग रहता है और बाकी समस्त घातियों में काष्ठ आस्थि और पाषाणभाग अर्थात् कठिन कठिन भाग रहता है। अघातिया कर्मों में प्रशस्त प्रकृतियों मे तो गुड, खांड, शर्करा और अमृत ये उत्तरोतर चार भेद हैं । तथा अप्रशस्त प्रकृतियों में निंब, कांजी , विष, हलाहल ये चार भेद है। इसप्रकार सब कर्मों के अनुभाग तीन श्रेणियों में बटे हुए हैं ॥ १८७ ॥

संतानापेक्षयाऽनादिः सादिर्नूतनबन्धनात् ।
प्रदेशः कर्मणः स्कन्धः प्रकृत्यादित्रयात्मक ॥१८८॥

संतानकी अपेक्षासे कर्म सब अनादि कालसे इस जीवके -साथ लगे हुए हैं। तथा यह जीव प्रत्येक समयमें नये नये कर्मोंका बध करता रहता है इसलिये कर्म सादि भी हैं । प्रत्येक समयमें इस जीवके जो कर्मों के स्कंध आते रहते है और उनमें जो अनतानंत प्रदेश होते हैं उन प्रदेशोंको प्रदेशबंध ते है। वे प्रदेश जो आठों कर्मरूप परिणत हो जाते है उसको प्रकृतिबंध कहते हैं । इनमें आत्माके साथ रहनेकी जो कालकी मर्यादा नियत हो जाती है उसको स्थिति बंध कहते हैं। और उनमें जो फल देनेकी शक्ति हो जाती है उसको अनुभाग बध कहते हैं। इसप्रकार वह प्रदेशबध प्रकृतिबध, स्थितिबंध और अनुभागबधरूप परिणत

हो जाता है ॥१८८॥

जीवकर्मस्वरूपज्ञो विज्ञानातिशयान्वितः ।
कर्मनोकर्मनिर्मोक्षादात्मा शुद्धात्मतां व्रजेत् ॥ १८९ ॥

जो आत्मा ऊपर लिखे अनुसार जीव और कर्मों के स्वरूपको जानता है तथा जिसके ज्ञानका अतिशय विद्यमान है जो अतिशय ज्ञानी है जिसके केवलज्ञानादिक प्रगट होगये हैं ऐसा आत्मा ऊपर लिखे हुए आठों कर्मोंको और औदारिक वैक्रियिक आहारक इन तीन शरीर छह पर्याप्ति के योग्य पुद्गल वर्गणारूप नोकर्मोंको नाश कर देता है अर्थात् आठों कर्म और शरीरका नाश कर देता है तव वह आत्मा अत्यंत शुद्ध अवस्थाको प्राप्त होता है ॥ १८९ ॥

आगे अध्यायके अंतमें भगवान् अनंतनाथकी स्तुति करते हैं ।

श्रीमान्नः परमां रमां निरुपमां दद्यादनंतो जिनो
विज्ञानातिशयेन येन दुरितात्मानौ विभिन्नौ कृतौ ।
संपृक्तौ प्रतिपक्षहीनममितं प्राप्तं सदावस्थितं ।
शर्मानक्षजमक्षयं स्वतिशयं शुद्धात्मजातं नुतम् ॥ १९० ॥

जो भगवान् अनंतनाथ स्वामी अनत चतुष्टय आदि अंतरंग लक्ष्मी से और समवसरण आदि वहिरंग लक्ष्मी से सुशोभित हैं, अपने आत्मामें जो पापरूप कर्म अनादि कालसे मिल रहे थे उनको जिन्होंने स्वपर भेदविज्ञानरूप ज्ञानके अतिशयसे सर्वथा अलग अलग कर दिये अर्थात् जिन्हों ने समस्त कर्मोंको नष्ट कर दिया और जिनको कर्मोंके नष्ट होजाने से जो अपने प्रतिपक्षियों से—दुःखादिकसे सर्वथा रहित है जो सदा अनंत कालतक एकसा बना रहता है जो इन्द्रियों से उत्पन्न नहीं होता है किंतु शुद्ध आत्मासे उत्पन्न होता है, जो अक्षय है कभी नाश नहीं होता, जिसका अतिशय अत्यंत श्रेष्ठ है, जिसको सर्व नमस्कार करते हैं और जो अनंत स्वरूप है ऐसे अपने शुद्ध आत्मासे उत्पन्न

हुए सुखको जो प्राप्त हो चुके हैं अर्थात् ऐसा मोक्षरूप अनंत सुख जिन्होंने प्राप्त कर लिया है ऐसे चौदहवें तीर्थंकर परमदेव श्री अनंत भगवान् हमलोगोंको उपमारहित और सर्वोत्कृष्ट ऐसी मोक्षरूपी लक्ष्मी प्रदान करें ॥ १९० ॥

इसप्रकार श्री वीरनंदिसिद्धांतचक्रवर्तीविरचित श्रीआचारसार नामके
शास्त्रकी चावली (आगरा) निवासी देहलीप्रवासी "धर्मरत्न"
लालाराम शास्त्री द्वारा निर्मित सरलहिंदी भाषा–
टीकामें जीवकर्मप्ररूपणाके स्वरूपको वर्णन
करनेवाला यह ग्यारहवां अधिकार
समाप्त हुआ.



॥३५४॥

अथ द्वादशोऽधिकारः ॥ १२ ॥

बारहवां अधिकार

आगे अध्यायके आरंभमें भगवान् धर्मनाथकी स्तुति करते हैं।

सद्वंशजः पेशलविश्वशीलैः
श्लिष्टो गुणैर्पुष्टतरैर्विशिष्टैः।
दुरंतदुःकर्महरः कृतार्थो
धर्मो जिनः स्ताद्विजयश्रिये नः ॥ १ ॥

जो भगवान् धर्मनाथस्वामी श्रेष्ठ वंशमें उत्पन्न हुए हैं, जिन्होंने अपने आत्मामें समस्त अठारह शीलके भेद पुष्ट रीतिसे पालन कर लिये हैं जो अत्यंत पुष्ट और विशेष वा अतिशय सहित ऐसे मूल गुण तथा उत्तर गुणों से सुशोभित हैं, जिनका अंत अत्यंत दुःख दायी है अर्थात् जो अंतमें अत्यंत दुःख देते हैं ऐसे ज्ञानावरणादिक पापकर्मोंको जिन्हों न सर्वथा नाश कर दिया है और कृतकृत्य होचुके हैं मोक्षरूप परम पुरुषार्थको सिद्ध कर चुके हैं ऐसे भगवान् धर्मनाथ स्वामी हमलोगों के कर्मों को नाश होने से प्राप्त होनेवाली मोक्षरूपी लक्ष्मी प्रदान करें ॥ १ ॥

आगे शीलके अठारह हजार भेद कहते हैं।

धर्मैर्गुप्तिभिः करणसंज्ञाऽक्षप्राणसंयमैः।
अष्टादशसहस्राणि शीलान्यन्योऽन्यसंगुणैः ॥ २ ॥

॥३५५॥

उत्तम क्षमादिक दश धर्म, मनोगुप्ति, वचनगुप्ति काय गुप्ति ये तीन गुप्तियां, मनोयोग, वचनयोग काययोग इन तीन योगों के त्यागसे होनेवाला संयम, आहार, भय, मैथुन, परिग्रह इन चार संज्ञाओं के त्यागसे होनेवाला संयम, स्पर्शनादिक पांचों इन्द्रियों के त्यागसे होनेवाला संयम और दश प्राणों की दयासे होनेवाला संयम इनको परस्पर गुणा कर देनेसे अठारह हजार होते हैं ये सब शीलके भेद होते हैं। १०×३×३×४×५×१०= १८००० ये अठारह हजार शीलके भेद हैं ॥२॥

आगे दश धर्मों के नाम बतलाते हैं।

सत्क्षान्तिमार्दवार्जवशौचाऽऽकिंचन्यसंयमाः।
ब्रह्मचर्यतपःसत्यत्यागा धर्मा दश स्मृताः ॥ ३ ॥

उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव, उत्तम शौच, उत्तम सत्य, उत्तम संयम, उत्तम तप, उत्तम, त्याग, उत्तम आकिंचन्य, और उत्तम ब्रह्मचर्य ये दश धर्म कहलाते है ॥ ३ ॥

चत्वारः सत्क्षमाद्याः स्युश्चतुःक्रोधादिनिर्जयाः।
परिग्रहपरित्यागस्त्यागः शेषाः पुरोदिताः ॥ ४ ॥

इनमें से क्रोधको जतिना उत्ताम क्षमा है। मानको जीतना उतम मार्दव है। मायाको जीतना उतम आर्जव है लोभका त्याग उतम शौच है। तथा परिग्रह का न्याग करना त्याग है। बाकीके सत्य, संयम, तप अकिंचन्य और ब्रह्मचर्यका स्वरूप पहले कह चुके है ॥४॥

मनोवचनकायानां व्यापाराः करणास्त्रयः।
ज्ञातास्त्रिगुप्तयः संज्ञाश्चतस्रोऽक्षाणि पंच च ॥ ५ ॥

मन वचन और कायका कृत कारित और अनुमोदना रूप व्यापार है उसको तीन करण कहते हैं। इनका त्याग इनका संयम है। मनोगुप्ति वचन गुप्ति और कायगुप्ति ये तीन गुप्तियां हैं। आहार-सज्ञा, भयसंज्ञा, मैथुनसंज्ञा ओर परिग्रहसंज्ञा ये चार संज्ञाएं हैं। इनकी इच्छाका त्याग इनका संयम

॥३५६॥

है। स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र ये पांच इन्द्रियां हैं। इनके विषयोंका त्याग इनका संयम है ॥ ५ ॥

प्राणा दशोर्वीतोयाग्निमरुत्प्रत्येककायिकाः ।
अनंतकाया स्युर्द्वित्रिचतुःपंचेन्द्रियांगिनः ॥६॥

पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक, प्रत्येकवनस्पति, साधारणवनस्पति, दोइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, और पंचेन्द्रिय ये दश प्रकारके प्राणी हैं इनके प्राणोंकी दया पालन करना प्राणिसंयम है। इसप्रकार उन सबके भेद बतलाये ॥६॥

आगे इन सबकी संख्या और नाम अनुक्रमसे जाननेके लिये आलाप कहते हैं।

क्षमायुक्ते मनोगुप्ते सुमनस्यशनास्पृहे ।
स्पर्शनोर्वीयमे शीलमाद्यमेवं पराण्यपि ॥७॥

पहले इन सबको अलग अलग कोठोंमें नीचे लिखे अनुसार लिखना चाहिये। यथा— पहला आलाप— क्षमायुक्त, मनोगुप्ति पूर्वक, मनयुक्त आहारकी वांछारहित, स्पर्शनेन्द्रियके त्यागपूर्वक, पृथ्वीकायिक जीवोंकी रक्षापूर्वक शील पालन करना पहला भंग है। इसीप्रकार अलग अलग अठारह हजार भेद हो जाते हैं। उनके अलग अलग नाम निकालनेकी विधि आगे बतलाई है। वहांसे जानलेना चाहिये ॥ ७ ॥

आगे चौरासी लाख उत्तरगुणों के भेद कहते हैं।

एकविंशत्यहिंसाद्या अनतिक्रमणादयः ।
चत्वारः स्युः शतं प्राणप्राणिघातविवर्जनम् ॥८॥
प्रायश्चित्तानि शीलानामाराधनगुणा दश ।
आलोचनगुणाश्चैते गुणास्त्वन्योन्यसंगुणाः ॥९॥

शीलके १८००० भेदों को कहनेवाला नष्टोद्दिष्ट यंत्र

उत्तम क्षमा १	उत्तम मार्दव २	उत्तम आर्जव ३	उतम शौच ४	उ. सत्य ५	उ. संयम ६	तप ७	त्याग ८	आकिंचन्य ९	ब्रह्मचर्य १०
मनोगुप्ति ०	वचनगुप्ति १०	कायगुप्ति २०							
कृत त्याग म. ०	कारित त्याग व. ३०	अनुमो. त्याग का. ६०							
आहार त्याग ०	भयत्याग ९०	मैथुनत्याग १८०	परिग्रहत्याग २७०						
स्पर्शनत्याग ०	रसनात्याग ३६०	घ्राणत्याग ७२०	चक्षुत्याग १०८०	श्रोत्रत्याग १४४०					
पृथ्वीत्याग ०	जलत्याग १८००	अग्नित्याग ३६००	पवनत्याग ५४००	प्रत्येकत्याग ७२००	साधारणत्याग ९०००	दोइन्द्रियत्याग १०८००	तेइन्द्रित्याग १२६००	चोइन्द्रियत्या. १४४००	पंचेन्द्रियत्या. १६२००

अहिंसादिक के इकईस भेद हैं अनतिक्रमणादिक चार हैं। इनको परस्पर गुणा करनेसे चौरासी होते हैं। दशप्रकारके प्राणी होते हैं, तथा प्राण दश होते हैं॥ दशप्रकारके प्राणियों-के दश दश के हिसावसे सौ प्राण होते हैं। इनसे गुणा करनेसे चौरासी सौ भेद होते हैं। इनको दश प्रायश्चितके भेदोंसे गुणा करना चाहिये। दश शीलके भेदों से गुणा करना चाहिये और, दश आलोचनाके भेदों से गुणा करना चाहिये। इसप्रकार इन सबसे परस्पर गुणा करनेसे चौरासी लाख उत्तर गुण हो जाते हैं॥ ८-९ ॥

आगे इन सब भेदोंको अलग अलग बतलाते हैं।

व्रतान्यक्षनिरोधश्च मार्दवादिचतुष्टयम् ।
भीरत्यरतिजुगुप्साऽज्ञानपैशून्यवर्जनम् ॥१०॥
सम्यक्त्वमप्रमादश्च मनोवाक्कायगुप्तयः ।
एकविंशतिरित्येवमहिंसादिगुणाः स्मृताः ॥११॥

अहिंसा महाव्रत, सत्य महाव्रत, अचौर्य महाव्रत, ब्रह्मचर्य महाव्रत, परिग्रहत्याग महाव्रत, ये पांच तो महाव्रत, पांचों इन्द्रियोंका निरोध एक, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य ये चार मिल-कर दश होते हैं। भयकात्याग, रतिकात्याग, अरतिकात्याग, जुगुप्साकात्याग, अज्ञानकात्याग और पैशून्यका [चुगलखोरीका] त्याग इसप्रकार छह ये होते हैं। ये सब सोलह होते हैं। सम्यग्दर्शन एक, प्रमादका त्याग एक, मनोगुप्ति वचनगुप्ति कायगुप्ति, इसप्रकार पांच ये होते हैं। इसप्रकार ये अहिंसादिक इकईस भेद होते है ॥१०-११॥

आतिक्रमणव्यातिक्रमानाचारातिचारगाः
त्यागा अनतिक्रमणचतुष्टयमितीरितम् ॥१२॥

आतिक्रम, व्यातिक्रम, आतिचार और अनाचार इनका सर्वथा त्याग कर देना सो अनतिक्रम-णादिक चार कहलाते हैं। इनसे गुणा करनेसे चौरासी होते हैं ॥१२॥

दशप्राणैर्दशप्राणिष्वेकैकस्य वधाच्छतम् ।
प्राणप्राणिवधास्तेषां त्यागाः शतगुणा मताः ॥१३॥

पहले शीलोंके भेदोंमें दश प्रकारके प्राणी बतलाये हैं। तथा प्राणोंके दश भेद है। प्रत्येक प्राणी के दश दश भेदरूप प्राणोंके घातका त्याग करनेसे सौ प्रकारके प्राणों के घातका त्याग हो जाता है। इन से गुणा कर देनेसे चौरासीसौ भेद हो जाते ह ॥१३॥

आगे शीलोंके दोषोंके त्यागके दश भेद कहते हैं।

स्त्रीसंगोऽर्थार्जनं स्वांगमंडनं वृष्यभोजनम् ।
गीतं वाद्यं स्रगादिश्च शयनाशनभूषणम् ॥१४॥
रात्रिसंचरणं राजसेवा कुत्सितसंगमः ।
इत्यमीषां परित्यागा दश शीलप्रसाधकाः ॥१५॥

स्त्रीकेसाथ अत्यंत स्नेह करना १ सुवर्णादिक अर्थ वा धनका इकठा करना २ अपने शरीरको सुशोभित करना ३ पौष्टिक भोजन करना ४ गाना बजाना नृत्य करना आदि ५ पुष्पमाला अतर आदि सुगंधित पदार्थोंका लगाना ६ कोमल बिछौना गद्दी तकिया वा आभूषण आदि का लगाना ७ विना कामके रात्रिमें इधर उधर फिरना ८ राजाकी सेवा करना ९ और चोर व्यभिचारी आदि नीच मनुष्योंकी संगति रखना १० इन दश दोषोंका त्याग करना सो शीलको पालन करनेवाले हैं। इन दशसे गुणा कर देनेसे चौरासी हजार भेद होते हैं ॥१४—१५॥

दशाऽत्र पूर्वमुक्तानि प्रायश्चित्तानि विस्तरात् ।
आलोचनागास्त्यागाः स्युरालोचनगुणा दश ॥१६॥

प्रायश्चित्तके दश भेद विस्तार के साथ पहले कह चुके है। तथा आलोचनाके दश दोषों के

त्यागका वर्णन भी पहले कह चुके हैं। इसप्रकार इन दोनों दश दशोंसे गुणा करनेसे चौरासी लाख भेद होते हैं ॥१६॥

आगे इन चौरासीलाख उत्तरगुणोंका पहला आलाप कहते हैं।

सदयेऽतिक्रमापेते त्यक्तभूभूमिघातने।
सालोचने व्यपेतस्त्रीसंगे आकंपितोज्झिते ॥१७॥
आद्यो गुणो भवेदेवं शेषानुच्चारयेद्गुणान्।
गुणाश्चतुरशीतिः स्युर्लक्षाणीति प्रसिद्धिदाः ॥१८॥

अहिंसासहित, अतिक्रमरहित, पृथ्वीकायिक जीवोंके स्पर्शनइन्द्रिय प्राणका त्यागी, स्त्रीस्नेहरहित आलोचनासहित, आकंपित दोष रहित व्रतोंका पालन करना पहला आलाप है। इसीप्रकार सबको क्रमसे बदल बदल कर कहनेसे सब आलाप हो जाते हैं। सोही लिखा है। यह पहला गुण वा उस गुणको कहनेवाला आलाप है। इसीप्रकार अन्य सब गुणों के आला उच्चारण कर लेने चाहिये। इसप्रकार संसार में प्रसिद्ध चौरासी लाख उत्तर गुण होते हैं ॥ १७-१८ ॥

आगे इन अठारह हजार शील और चौरासी लाख उत्तरगुणोंको जोडने वा गिनती करनेका अनुक्रम बतलाते हैं।

गुणादौ पंच संख्यानं प्रस्तारः परिवर्त्तनम्।
नष्टमुद्दिष्टमित्येते गुणनादिक्रमा मताः ॥१९॥

इनकी संख्या लाने के पांच प्रकार है संख्या, प्रस्तार, परिवर्तन, नष्ट, उद्दिष्ट। आगे क्रमसे एकएकका स्वरूप कहते हैं ॥ १९ ॥

पूर्वेपूर्वेऽखिलाः सार्द्धमेकैकैरुत्तरोत्तरैः।
मिलन्तीति क्रमात्तांस्तैर्गुणिते प्रमितिर्मता ॥२०

पहले पहले के समस्त गुण आगे आगे के गुणोंसे मिलते है इसलिये ऊपरकी संख्याको नीचेकी सब संख्याओं से गुणा करनेसे संख्या आजाती है। यह संख्या लानेका क्रम है ॥२०॥

आगे प्रस्तारका लक्षण कहते हैं।

निक्षिप्याद्यादिकं पिंडं प्रति पिंडं क्रमात्क्षिपेत।
एकमेकं द्वितीयादेः समप्रस्तारके गुणे ॥२१॥

पहले पिंडका विरलन करे फिर उस सबके नीचे दूसरी संख्या रक्खे फिर सबको गुणा करे। फिर विरलन कर उसके नीचे नीचेकी संख्या रखकर गुणा करे इसप्रकार जितनी संख्या हो, उन सबके साथ करता जाय। सब संख्या के समाप्त होनेपर प्रस्तार संख्या निकल आती है। जैसे २१×४×१०×१०×१०×१०×१०= ८४००००० संख्या आजाती है। प्रस्तार लानेका यह क्रम है कि २१ को विरलन करे अर्थात् ११११ इसप्रकार इक्कईस जगह एक एक रक्खे, उसके नीचे चार चार रक्खे फिर गुणा करे, ८४ होते हैं। इन चौरासीका फिर विरलन देकर नीचेकी संख्या रक्खे फिर गुणा कर विरलन कर नीचेकी संख्या रखकर गुणा करता जाय। इसप्रकार करनेसे भी अंतमें ८४००००० हो जाते हैं। यह प्रथम प्रस्तारक्रम है इसको समप्रस्तार कहते हैं ॥२१॥

आगे विषम प्रस्तारको कहते हैं।

द्वितीयाद्यैर्मितं पिंडं निक्षिप्याद्यादिमत्र तु।
एकमेकं द्वितीयादेः प्रस्तारे विषमे क्षिपेत् ॥२२॥

पहली जो संख्या है उसको उतनी जगह रक्खो जितनी कि दूसरे पिंडकी संख्या है। फिर परस्पर गुणाकर उस संख्याको उतनी जगह रक्खो कि जितनी संख्या तीसरे पिंडकी है। फिर परस्पर गुणाकर उसको उतनी जगह रक्खो कि जितनी संख्या चौथे पिंडकी है। इसप्रकार सब पिंडरूप संख्या के साथ करनेसे विषम प्रस्तार होता है। इसप्रकार करनेसे भी वही चौरासी लाख

॥३६२॥

संख्या होती है। जैसे पहली संख्या २१ है दूसरे पिंडकी संख्या ४ है अतएव इकईसको चार जगह रक्खो। फिर परस्पर गुणा करनेसे ८४ होते है फिर चौरासीको दस जगह रक्खो क्योंकि तीसरे पिंडकी संख्या १० है फिर गुणा करो ८४० होते हैं। इसप्रकार सब संख्याओं के साथ गुणाकरनेपर ८४००००० लाख संख्या हो जाती है। यह विषम प्रस्तार कहलाता है ॥२२॥

अब आगे इन पिंडोंके परिवर्तन करनेका वा बदलनेका क्रम बतलाते हैं।

अन्तं गत्वाऽऽदिगे आद्ये द्वितीयोंऽकः सरत्युभौ।
अन्तं गत्वाऽऽदिसंस्थौ चेत्तृतीयोऽन्येष्वयं क्रमः ॥२३॥

जब पहला स्थान कहते कहते अंततक पहुंच जाय तब फिर वह पहलेपर आजाता है और जब वह पहले स्थानपर आजाता है तो दूसरा स्थान बदल जाता है। इसप्रकार बदलते बदलते जब दूसरा स्थान भी अंततक पहुंच जाता है तब फिर तीसरा स्थान बदलता है। इसीप्रकार सब स्थान समाप्त होनेपर सब आलाप होजाते हैं। जैसे १८००० शीलों में पहला स्थान उत्तम क्षमा, मनोगुप्तिकृतत्याग, आहारत्याग, स्पर्शनत्याग, पृथ्वीकायिकत्याग है। दूसरा स्थान उत्तममार्दव मनोगुप्तिकृतत्याग, आहार त्याग, स्पर्शन त्याग, पृथ्वीकायिक त्याग है। तीसरा स्थान उत्तम आर्जव के साथ बाकीके सब लगानेसे होता है। इसप्रकार जब धर्मों के दश स्थान पूरे होजायंगे तब मनोगुप्ति के स्थानपर वचनगुप्ति बदल जायगी। तथा वचनगुप्ति के दश स्थान पूरे होनेपर कायगुप्ति बदल जायगी और कायगुप्ति के दशस्थान पूरे होनेपर कृतका स्थान बदलकर कारित का होजायगा। इसीप्रकार अनुमोदनाका स्थान समाप्त होनेपर आहार त्याग के स्थानपर भयत्याग होजायगा। इस क्रमसे बदलते बदलते अठारह हजार अलग अलग नाम निकल आते हैं ॥२३॥

आगे नष्ट लानेकी विधि बताते हैं।

आद्यसंख्याहते स्वेष्टभाज्ये शुद्धोऽन्तसांस्थितः।
शेषे शेषमितस्थाने संस्थितोंऽकस्ततः परम् ॥२४॥

॥३६३॥

लब्धं रूपाधिकं भाज्यं भाज्यशेषेऽन्यथा पुनः ।
लब्धमेव स्वसंख्यायाः क्रियाऽन्या स्यात्पुरोदिता ॥२५॥

किसीने जितनेवां भंग पूछा हो उसका नाम बतलाने के लिये पहले पिंडका भाग देना चाहिये, भाग देनेपर जो बाकी बचे उतनेवीं सख्या पहले पिंडकी समझनी चाहिये, यदि भाग देनेपर कुछ न बचे तो उस पिंडका अंतिम स्थान समझना चाहिये। तथा भाग देनेपर जो लब्धि आवे उसमें एक मिलाकर दूसरे पिंडका भाग देना चाहिये। यह ध्यान रखना चाहिये ं कुछ न बचे उसमें लब्धि एक नहीं मिलाना चाहिये। दूसरे पिंडका भाग देनेपर जो बचे उतनेवां स्थान दूसरे पिंडका समझना चाहिये। यदि कुछ न बचे तो दूसरे पिंडका अंतिम स्थान समझना चाहिये। जहां कुछ न बचे वहां लब्धि में एक नहीं जोडना चाहिये। जहां कुछ बचे वहांपर एक जोड-कर अगले पिंडका भाग देना चाहिये। इसप्रकार करनेसे वह भंग निकल आता है। जैसे कि-सीने १८००० शीलों में से ८०० वां भंग पूछा। इसमें पहले धर्मोंकी संख्या १० का भाग देना चाहिये। ८००-१०=८०। इसमें कुछ नहीं बचा इसलिये धर्मों के स्थानमें अंतका ब्रह्मचर्यस्थान लेना चाहिये। इसमें कुछ नहीं बचा इसलिये लब्धि में १ नहीं जोडना चाहिये। ८० में ही दूसरे पिंड ३ का भाग देना चाहिये। ८०-३ = २६ बाकी २। इसमें २ बचे इसलिये इसमें दूसरा वचनगुप्तिका स्थान लेना चाहिये। फिर २६ में १ मिलाकर तीसरे पिंड ३ का भाग देना चाहिये। २६+१= २७-३ =९। इसमें कुछ नहीं बचा इसलिये अंतिम अनुमोदनाका स्थान लेना चाहिये। फिर ९ में चौथे पिंड ४ का भाग देना चाहिये। ९-४ = २ बाकी१। इसमें १ बचा इसलिये चौथे पिंडका पहलास्थान आहारत्याग लेना चाहिये। फिर २ में १ जोडकर पांच इन्द्रियोंका भाग देना चाहिये। २+१ = ३-५ = ० बाकी३ इसमें ३ बचे इसलिये तीसरा स्थान घ्राणेन्द्रिय का त्याग लेना चाहिये। फिर ० में १ मिला-कर जीवोंकी संख्या १० का भाग देना चाहिये। ०×१ = १-१० = ०बाकी१ इसमें १ बचा इसलिये पहला स्थान लेना चाहिये॥ इसप्रकार आठ सौ वां भंग ब्रह्मचर्य, वचनगुप्ति, अनुमोदनात्याग, आहारत्याग,

॥३६४॥

...त्याग पृथ्वीकायिक त्याग होता है। इसप्रकार सब भंग निकाले जा सकते हैं ॥२४--२५॥

आगे उदिष्ट लानेकी विधि कहते हैं।

ऊर्ध्वमात्मप्रमाणघ्ने रूपे तास्मिन्नधः क्रमात्।
स्वस्वसंख्याहते संख्या सर्वत्राऽनंकितोनितौ ॥२६॥

इसमें उस भंगका नाम दिया जाता है और उसकी संख्या पूंछी जाती है कि यह कौनसा भंग है। उसके लानेका यह क्रम है कि पहले १ स्थापन करे फिर नीचली संख्यासे गुणा करे फिर उसमें से अनंकित स्थानों को घटावे। जो स्थान कहा गया है उससे बाकी बचे स्थान अनंकित स्थान कहलाते हैं। घटानेपर जो संख्या आवे उसको नीचे से दूसरे स्थानको गुणा करे फिर अनंकित स्थान घटावे। इसप्रकार आगेकी सब संख्याओं के साथ कर लेनेपर उसकी संख्या आजाती है। जैसे १८००० शीलोंमें से ब्रह्मचर्य, वचनगुप्ति, अनुमोदनात्यागी, आहारत्याग, घ्राणेन्द्रियत्याग, पृथ्वीकायिकत्याग कौनसा भंग है। इसमें पहले १ स्थापनकर जीवोंकी संख्या १० से गुणा करो १×१० =१० फिर अनंकित ९ स्थान घटाओ क्योंकि पृथ्वीकायिकत्याग पहला स्थान है। १०–९=१ रहा फिर १ में ५ इन्द्रियों से गुणा करो १×५=५ अनंकित स्थान २ घटाओ। ५-२=३ इसको संज्ञाओंकी ४ संख्या से गुणा करो ३×४=१२ इसमें अनंकित स्थान ३ घटाओ १२--३=९। इसको कृतादिककी ३ संख्यासे गुणा करो ९×३=२७ इसमें अनंकित स्थान कोई नहीं है। इसको गुप्तियों के ३ स्थानसे गुणा करो २७×३=८१ इसमें से १ अनंकित स्थान घटाओ ८१–१=८० इसको धर्मों के १० स्थानों से गुणा करो ८०×१०=८०० इसमें अनंकित कोई नहीं है। क्योंकि धर्मका अंतिम स्थान है। इसप्रकार ऊपर लिखा भंग ८०० वां भंग आया। इसप्रकार सब भंगोंकी संख्या निकल सकती है। इसको उदिष्ट कहते हैं। इसप्रकार संख्यादिक पांच भेद बतलाये ॥२६॥

ये पालयंति शीलानि गुणांश्च प्रगुणाशयाः।
लभन्ते ते भवच्छेदादनंतसुखसम्पदम् ॥२७॥

॥३६५॥

अत्यंत उदार हृदयको धारण करनेवाले जो मुनिराज ऊपर लिखे हुए अठारह हजार शीलों-को पालन करते हैं तथा चौरासी लाख उत्तरगुणोंको पालन करते हैं वे इस जन्ममरण संसारको नाश कर अनंत सुखरूपी परम संपदाको प्राप्त होते हैं ॥२७॥

आगे अंतिम मंगल करते हैं।

प्रणतभुवननाथो धर्मतीर्थाधिनाथः ।
प्रहतदुरितवर्गः प्रोक्तसन्मुक्तिमार्गः ।
प्रशमितजनतार्तिः शुद्धदृग्ज्ञानमूर्तिः ।
प्रवरकनककान्तिः श्रेयसे वोऽस्तु शान्तिः ॥२८॥

जिन शांतिनाथ भगवान्को तीनों लोकों के समस्त इन्द्र नमस्कार करते हैं, जो धर्मरूपी तीर्थ के स्वामी हैं, जिन्होंने अपने पापों के समस्त समूहको नष्ट कर दिया है जिन्होंने सर्वोत्तम मोक्षमार्गका निरूपण किया है, जिन्होंने धर्मोपदेश देकर असंख्यात जीवों के जन्ममरण का दुःख शांत किया है, जो शुद्ध ज्ञान और शुद्ध सम्यग्दर्शनकी मूर्ति है और जिनके शरीरकी कांति ताये हुए शुद्ध सोने के समान है ऐसे श्री शांतिनाथ भगवान् तुम लोगों का सदा कल्याण करो ॥२८॥

आगे जैन शासनकी प्रशंसा करते हुए उसको आशीर्वाद देते हैं।

मिथ्याभावभवातिदर्पपरतत्त्वःशासनोच्छेदकं ।
प्रज्ञाज्ञावशवर्त्तमानजनतासत्सौख्यसम्पादकम् ।
नानारूपविशिष्टवस्तुपरमस्याद्वादलक्ष्मीपदं
जेजीयाज्जिनराजशासनमिदं स्वाचारसारप्रदम् ॥२९॥

आगे भगवान जिनेंद्रदेवका कहा हुआ यह शासन मिथ्यात्वरूप परिणामों से उत्पन्न हुए अत्यंत ... एकांतिक खोटे शासनोंका सर्वथा नाश करनेवाला है, बुद्धि के द्वारा अर्थात्

बुद्धिपूर्वक इस शासनकी आज्ञानुसार चलनेवाले समस्त जीवोंको मोक्षादिकके उत्तम सुख देनेवाला है, अनेक प्रकार के गुण और पर्यायों को धारण करनेवाले समस्त पदार्थोंको सर्वोत्कृष्ट स्याद्वादरूपी लक्ष्मीका स्थान है और सर्वोत्कृष्ट आचरणोंके सारको देनेवाला है। अथवा शुद्ध स्वरूप अपने आत्मासे प्रगट होनेवाले सारभूत पूर्ण सम्यक्चारित्रको देनेवाला है, ऐसा यह भगवान् जिनेन्द्रदेवका कहा हुआ जैनशासन बडे आतिशयके साथ सदा जीवित रहो ॥२९॥

आगे अपने गुरु श्री मेघचन्द्रकी स्तुति करते हैं ।

सिद्धान्तार्णवपूर्णतारकपतिस्तर्काम्बुजाहर्पतिः ।
शब्दोद्यानवनामृतोरुसरणिर्योगीन्द्रचूडामणिः ।
त्रैविद्यापरसार्थनामाविभवः प्रोद्धूतचेतोभवः ।
स्थेयादन्यमतावनीभृदशनिः श्रीमेघचन्द्रो मुनिः ॥३०॥

जो आचार्य श्री मेघचन्द्र स्वामी सिद्धांततपरूपी महासागरको पूर्ण करने के लिये चन्द्रमाके समान हैं, तर्कशास्त्ररूपी कमलों को प्रफुल्लित करने के लिये सूर्य के समान हैं, शब्द वा व्याकरणशास्त्ररूपी वगीचों के समूहको वृद्धि करनेके लिये अमृतकी मोटी धाराके समान हैं। जो सिद्धांतशास्त्र, तर्कशास्त्र और व्याकरणशास्त्र इन तीनों विद्याओं में पारंगत होने के कारण त्रिविध देव इस सार्थक नामको धारण करनेवाली परम विभूतिको धारण करनेवाले है, जिन्हों ने कामदेवको सर्वथा नष्ट कर दिया है और जो अन्यमतरूपी पर्वतों को चूर चूर करनेके लिये वज्रके समान हैं ऐसे श्री मेघचन्द्र स्वामी सदा जीवित रहें ॥३०॥

यद्वाक्छ्रीरवतंसमंडनमणिर्वैदग्ध्यादिग्धत्विषां ।
यच्चारित्रविचित्रता शमभृतां सूत्रं पवित्रात्मनाम् ।

॥३६७॥

यत्कीर्त्तिर्धवलप्रसादनधुरं धत्ते धरायोषितः ।
स त्रैविद्यविभूषणं विजयते श्रीमेघचन्द्रो मुनिः ॥३१॥

जो आचार्य श्री मेघचन्द्र मुनि सिद्धांतशास्त्र व्याकरणशास्त्र और तर्कशास्त्र इन तीनों विद्याओं के परम विभूषण हैं । जिनकी वचनरूपी लक्ष्मी कानोंको सुशोभित करनेके लिये कर्णभूषणकी उत्तम मणि के समान है, जिनके चरित्रकी विचित्रता अपनी विद्वत्ताकी पूर्णताकी कांतिको धारण करनेवाले, पूर्णसमताको धारण करनेवाले और अपने आत्मा को अत्यत पवित्र बनानेवाले मुनियो को भी सूत्रोंका काम करती है, अर्थात् अत्यत उत्तम मुनि भी जिनके चरित्रका अनुकरण करते हैं तथा पृथ्वीरूपी स्त्री जिनकी निर्मल श्वेत कीर्तिको अपने शृंगारका सर्वोतम पदार्थ समझती है ऐसे श्री मेघचन्द्र मुनि सदा जयशील हों ॥ ३१ ॥

आगे आचार्य श्री वीरनंदी अपना परिचय देते हैं ।

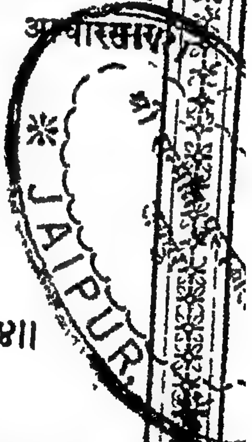
वैदग्ध्यश्रीवधूटीपतिरतुलगुणालंकृतिर्मेघचन्द्र-
त्रैविद्यस्यात्मजातो मदनमहिभृतो भेदने वज्रपातः ।
सैद्धांतिव्यूहचूडामणिरनुफलचिन्तामणिर्भूजनानां
योऽभूत्सौजन्यरुन्द्राश्रियमवति महो वीरनंदी मुनीन्द्रः ॥३२॥

मुनिराज श्री महावीरनंदी आचार्य स्त्रीके समान रहनेवाली चतुरतारूपी लक्ष्मी के स्वामी है, सर्वोत्तम गुणोंसे सुशोभित है, त्रैविद्यदेव श्री मेघचद्रके पुत्र हैं, कामदेवरूपी पर्वतको नाश करनेके लिये वज्रके समान हैं, सिद्धांत शास्त्रों के जानकारों के समूहमे जो चूडामणि रत्नके समान है, और इस समस्त पृथ्वीके लोगोंको चिंतित फल वा इच्छानुसार फल देने के लिये जो चिंतामणि रत्नके समान है ऐसे श्री मुनिराज महावीरनदी आचार्य सज्जनतारूपी सघन लक्ष्मी की सदा रक्षा किया करते हैं ॥३२॥

॥३६८॥

श्रीमेघचन्द्रोज्वलमूर्त्तिकीर्तिः
समस्तसैद्धान्तिकचक्रवर्ती ।
श्रीवीरनन्दी कृतवानुदार-
माचारसारं यतिवृत्तसारम् ॥ ३३ ॥

जिनकी कीर्ति आचार्य श्री मेघचन्द्रकी निर्मल मूर्ति स्वरूप है अर्थात् मेघचन्द्रकी निर्मल मूर्ति ही जिनकी कीर्ति है और जो समस्त सिद्धांतशास्त्रोंको जाननेवालों में चक्रवर्ती के समान हैं ऐसे श्री वीरनंदी आचार्यने मुनियों के आचरणों के सारभूत और परम उदार ऐसे इस आचारसार नाम के ग्रंथको बनाया ॥ ३३ ॥



श्लोकप्रमाणमाह ।

ग्रन्थप्रमाणमाचारसारस्य श्लोकसम्मितम् ।
भवेत्सहस्रं द्विशतं पंचाशच्चांकतस्तथा ॥ १ ॥

इस आचारसार ग्रंथका प्रमाण अनुष्टुप् श्लोकों से एक हजार दो सौ पचास है ॥३४॥

इसप्रकार श्रीमान् आचार्यवर्य श्री मेघचन्द्र त्रैविद्यदेवके चरणकमलों के प्रसादसे ही जिन्हों ने अपना प्रभाव प्रगट किया है तथा उन्हीं त्रैविद्यदेवके चरणकमलों के प्रसाद से जिन्होंने अपनी समस्त विद्याओंका प्रभाव प्रगट किया है और उन्हींके चरणकमलों के प्रसादसे जिन्होंने समस्त दिशाओं में अपनी कीर्ति फैलाई है ऐसे श्रीवीरनंदी सिद्धांतचक्रवर्ती विरचित श्री आचारसार नामके ग्रंथकी चावली (आगरा) निवासी देहली प्रवासी धर्मरत्न लालाराम शास्त्री द्वारा निर्मित सरल हिंदी भाषा टीकामें शील और गुणों के स्वरूप को वर्णन करनेवा-ला यह बारहवा अधिकार समाप्त हुआ ।

बह्वेकजातिविज्ञानं स्याद् बह्वेकविधं यथा ।
वर्णा नृणां बहुविधा गोर्जात्यैकविधेति च ॥ १८ ॥

अनेक जातियोंके अथवा अनेक प्रकारके पदार्थोंका ज्ञान होना बहुविध ज्ञान कहलाता है। जैसे मनुष्योंमें अनेक वर्ण (ब्राह्मणादिक) होते हैं। तथा एक जातिके अथवा एक प्रकारके पदार्थोंका ज्ञान होना एकविध ज्ञान कहलाता है। जैसे गायें सब गोत्व जातिसे एक प्रकारकी हैं ॥ १८ ॥

आश्वर्थस्य ग्रहः क्षिप्रं स्यादाक्षिप्रं शनैर्ग्रहः ।
मृत्पात्रं यद्वदादत्ते नूत्नं चानूतनं जलम् ॥ १९ ॥

पदार्थोंके शीघ्र ग्रहण करनेको क्षिप्र कहते हैं। और धीरे धीरे देरसे ग्रहण करनेको अक्षिप्र कहते हैं। पानीकी बून्दें डाली जांय तो जैसे नया मिट्टीका सकोरा बहुत शीघ्र उस जलको ग्रहण करलेता है और मिट्टीका पुराना सकोरा बहुत देरमें ग्रहण करता है ॥ १९ ॥

वस्त्वंशाद्वस्तुनस्तस्य वस्त्वंशाद्वस्तुनोऽथवा ।
तत्रासन्निहितान्यस्याऽनिःसृतं मननं यथा ॥ २० ॥
घटार्वाग्भागकन्यास्यगवयग्रहणक्षणे ।
स्फुटं घटेन्दुगोज्ञानमभ्याससमयान्विते ॥ २१ ॥

आगे निःसृत और अनिःसृतका लक्षण कहते हैं। किसी पदार्थके एक अंशको देखकर या जानकर उस पदार्थका ज्ञान हो जाना निःसृत है। तथा किसी पदार्थके किसी एक अंशको जानकर उसमें न रहने वाले किसी अन्य पदार्थका ज्ञान हो जाना अनिःसृत कहलाता है। जैसे किसी घटके एक भागको देखकर उस घटका ज्ञान हो जाना निःसृत मतिज्ञान है। तथा किसी कन्याके मुखको देखकर चन्द्रमाका ज्ञान होना अथवा गवय नामके पशुको देखकर गायका ज्ञान होना सो अनिःसृत मतिज्ञान है। ये सब ज्ञान बार बारके अभ्यास अवस्थामें होते हैं। कन्याका मुख चंद्रमाके समान है। यद्यपि चंद्रमा वहां पर नहीं है तथापि उस कन्याके मुखको देखकर केवल समानता होनेके कारण चंद्रमाका

ज्ञान हो जाना अनिःसृत मतिज्ञान है। इसी प्रकार गवय (रोज) नामका पशु गायके समान होता है इसलिये उस गवय को देखकर गायके न होते हुए भी गायका ज्ञान होना अनिःसृत मतिज्ञान है॥ २० २१ ॥

वस्त्वेकदेशमात्रस्य विज्ञानं निःसृतं मतम् ।
घटावाग्भागमात्रेऽपि कचिज्ज्ञानं हि दृश्यते ॥ २२ ॥

यहां पर कदाचित् कोई यह कहे कि पदार्थके एक देशका ज्ञान नहीं होता, तो इसका उत्तर यह है कि पदार्थके एक देशका ज्ञान होना निःसृत मतिज्ञान कहलाता है। जैसे कहीं कहीं पर घटके केवल एक भागका ही ज्ञान होता है। ऐसा प्रायः बहुत जगह देखा जाता है॥ २२ ॥

प्रत्यक्षनियताऽन्याद्दग्गुणार्थैकाक्षबोधनम् ।
अनुक्तमेकदैवोक्तं प्रत्यक्षनियतग्रहः ॥ २३ ॥
चक्षुषा दीपरूपावलोकावसर एव यत् ।
तदुष्णस्पर्शविज्ञानं यथोक्तार्थः प्ररूप्यते ॥ २४ ॥

इसप्रकार निःसृत अनिःसृतका स्वरूप कहकर अब उक्त अनुक्तका स्वरूप कहते हैं। इंद्रियोंके द्वारा जो पदार्थोंका ज्ञान होता है उसको सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहते हैं : उस सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष होनेमें अलग अलग इंद्रियोंका विषय अलग अलग नियत है। जैसे नेत्रोंका विषय रूप देखना है, स्पर्शन इंद्रियका विषय स्पर्श करना है, नासिकाका विषय गन्ध लेना है, रसनाका चाखना है और कर्णका शब्द सुनना है। उसमेंसे एक इंद्रियका जो विषय नियत है उसके साथ साथ उसी इंद्रियके द्वारा, अन्य इंद्रियोंके द्वारा ग्रहण करने योग्य विषयका ज्ञान हो जाना अनुक्त कहलाता है। तथा जिस इंद्रियका जो विषय है उस इंद्रियके द्वारा केवल उसीके विषयका ज्ञान होना उक्त कहलाता है। जैसे नेत्र इंद्रियका विषय रूप देखना है। उसने किसी एक दीपकको देखा, उस दीपकके साथ साथ जो देखने मात्रसे ही उस दीपककी उष्णताका ज्ञान हो जाता है उसको अनुक्त ज्ञान कहते हैं। क्योंकि उष्णताका ज्ञान होना स्पर्शन इंद्रियका विषय है परन्तु उस दीपककी उष्णताका ज्ञान स्पर्शन इंद्रियसे नहीं हुआ है किंतु नेत्र इंद्रियके द्वारा देखनेके साथ ही हुआ

है। अतएव देखनेके साथ ही उष्णताका ज्ञान होना अनुक्त मतिज्ञान है। तथा नेत्रके द्वारा केवल दीपकका दिखना अथवा उसकी उष्णताका ज्ञान स्पर्शन इंद्रियके द्वारा होना उक्त नामका मतिज्ञान कहलाता है॥ २३–२४ ॥

स्पर्शनं रसनं घ्राणं चक्षुः श्रोत्रं मनश्च खम्।
अर्थः स्पर्शो रसो गंधा रूपं शब्दः श्रुतादयः॥ २५ ॥

स्पर्शन, रसना, घ्राण चक्षु श्रोत्र और मन ये इंद्रियां हैं तथा स्पर्श रस गंध रूप शब्द और श्रुतज्ञानके विषयभूत ये सब उन इन्द्रियोंके विषय हैं। भावार्थ—स्पर्शन इन्द्रियका विषय स्पर्श है। रसना इन्द्रिय रसको ग्रहण करती है। घ्राण इंद्रिय गंधको, चक्षु इंद्रिय रूपको, श्रोत्र इन्द्रिय शब्दको और मन श्रुतज्ञानके द्वारा जानने योग्य समस्त विषयोंको ग्रहण करता है॥ २५ ॥

स्यान्नित्यत्वविशिष्टस्य स्तंभादेर्ग्रहणं ध्रुवः।
विद्युदादेरनित्यत्वेनान्वितस्याध्रुवो ग्रहः॥ २६ ॥

आगे ध्रुव अध्रुवज्ञानका स्वरूप कहते हैं। जो पदार्थ नित्यत्व धर्मकी मुख्यता रखता है ऐसे पदार्थका ज्ञान होना ध्रुवज्ञान है। जैसे किसी खंभेका ज्ञान होना। खंभा एक मजबूत और बहुत दिन तक रहनेवाला पदार्थ है, अतएव उस का ज्ञान ध्रुवज्ञान कहलाता है। तथा जो पदार्थ अनित्य धर्मकी मुख्यता रखता है उसका ज्ञान होना अध्रुव ज्ञान कहलाता है। जैसे विजली वा इन्द्रधनुषका ज्ञान होना। विजली क्षणभर ही रहती है, इसीलिये उसका ज्ञान अध्रुवज्ञान कहलाता है। इस प्रकार बहु अबहु आदि बारह भेदोंका वर्णन उदाहरण देकर समझाया॥ २६ ॥

लब्धिः सदोपयोगश्च स्याद्भावेन्द्रियमात्मनः।
निर्वृत्त्युपकरणे द्वे स्तो द्रव्येन्द्रियमत्र तु॥ २७ ॥

आगे इन सब इंद्रियोंके भेद दिखलाते हैं। इन इंद्रियोंमेंसे प्रत्येक इंद्रियके दो दो भेद हैं। एक भावेन्द्रिय और दूसरी द्रव्येन्द्रिय। इनमें भी भावेन्द्रियके दो भेद हैं, एक लब्धि और दूसरा उपयोग। आत्माके जो परिणाम, इंद्रियरूप दिखाई तो न पडें परंतु इंद्रियोंका काम करें उनको भावेंद्रिय कहते हैं। वह लब्धि और उपयोग रूपसे दो प्रकार

हैं। कर्मोंके क्षयोपशमको लब्धि कहते हैं। प्रत्येक ज्ञानमें कर्मोंका क्षयोपशम कारण है। जैसे किसी चौकीपर सौ चीजें रक्खी हैं, उनको दश मनुष्य एक एक घंटे तक देखते हैं, फिर भी किसीको किसी चीजका ज्ञान नहीं होता और किसीको किसी अन्य पदार्थका ज्ञान नहीं होता। चौकीपर नेत्र सबके पडते हैं परंतु जिनको जिस पदार्थ संबंधी आवरण करनेवाले कर्मोंका क्षयोपशम होता है उनको उसीका ज्ञान होता है। जिसका क्षयोपशम नहीं होता उसका ज्ञान नहीं होता। इस प्रकार कर्मोंका क्षयोपशम होना ज्ञानमें कारण है। अतएव वह क्षयोपशम लब्धि नामका भावेन्द्रिय कहलाता है। इसी प्रकार जब इन्द्रियां अपने अपने विषयको ग्रहण करती हैं, उस समय आत्माके जो परिणाम उन इन्द्रियोंकी ओर झुकते हैं उनको उपयोग कहते हैं। यदि वे आत्माके परिणाम इन्द्रियोंकी ओर न झुकें अर्थात् उस इन्द्रियकी ओर अपना उपयोग न लगे तो उस पदार्थका ज्ञान ही नहीं होता है। यही कारण है कि कभी कभी हम जिसको देखने जाते हैं वह सामनेसे निकल जाता है और उसका ज्ञान हमको नहीं होता। अथवा कभी कभी हम लोग किसी काममें ऐसे लग जाते हैं कि सामनेसे बजता हुआ बाजा निकल जाता है और हमको सुनाई नहीं पडता। इसका कारण यही है कि हमारा उपयोग अन्य काममें लगा था, श्रोत्र इंद्रियकी ओर नहीं झुका था। इसलिये उसका ज्ञान नहीं हुआ। अतएव ज्ञानका कारण होनेसे उपयोग भी भावेंद्रिय है। इस प्रकार भावेंद्रियके दो भेद हैं।

अब आगे द्रव्येंद्रियके भेद बतलाते हैं। द्रव्येंद्रियके दो भेद हैं, निर्वृत्ति और उपकरण। निर्वृत्ति शब्दका अर्थ बनावट है। इंद्रियोंके बननेमें दो पदार्थ काम आते हैं, एक आत्माके प्रदेश और दूसरे शरीरके परमाणु वा पुद्गलके परमाणु। उनमेंसे आत्माके जो प्रदेश इन्द्रियोंके आकार रूप परिणत होते हैं उनको अंतरंग निर्वृत्ति कहते हैं। और पुद्गलके जो परमाणु इंद्रियोंके आकार रूप परिणत होते हैं उनको बाह्य निर्वृत्ति कहते हैं। जैसे नेत्रके आकाररूप वा अन्य इंद्रियोंके आकार रूप जो आत्माके प्रदेश हैं उन आत्माके प्रदेशोंका आकार जो इंद्रियोंके आकारमें परिणत होगया है वह अंतरंग निर्वृत्ति है। तथा नेत्रके आकारके वा अन्य इंद्रियोंके आकारके जो शरीरके वा पुद्गलके परमाणु बन गये हैं वह बहिरंग निर्वृत्ति है। इसी प्रकार जो इंद्रियोंका उपकार करे उसको उपकरण कहते हैं। जैसे नेत्रमें सफेदी वा काली पुतलीरूप रचना बन जाना। यदि काली पुतली न हो वा सफेदीमें कुछ अन्तर हो तो दिखाई नहीं पडता। अत एव काली पुतली वा सफेदी उपकारक होनेसे अन्तरंग उपकरण है। तथा इस अन्तरंग उपकरणको भी जो उपकार करता है वह बाह्य उपकरण है। जैसे पलक बिनूनी आदि। नेत्रके समान अन्य इंद्रियोंमें भी सब उप-

॥७९॥

करण होते हैं। इस प्रकार निर्वृत्ति और उपकरणके भेदसे दो भेद द्रव्येंद्रियके बतलाये ॥ २७ ॥

चित्रार्धेन्द्वातिमुक्तकमसूरियवनालिका: ।
अनुकुर्वती च बाह्या निर्वृत्तिः स्पर्शनादिषु ॥ २८ ॥

अब आगे उनका आकार बतलाते हैं। स्पर्शन इंद्रियका आकार अनेक प्रकार है। रसना इंद्रियका आकार अर्ध चन्द्रमाके समान है। घ्राण इंद्रियका आकार तिलके फूलके समान है। चक्षु इंद्रियका का आकार मसूर नामके अन्नके दानेके समान है। और कर्ण इंद्रियका आकार जौकी नालीके समान है। इस प्रकार स्पर्शनादिक इंद्रियोंकी निर्वृत्ति वा बनावटका आकार बतलाया ॥ २८ ॥

चतुःशतानि चापानां चतुःषष्टिः शतं क्रमात् ।
योजनात्रिसहस्राणि षट्चत्वारिंशता विना ॥ २९ ॥
धनुरष्टसहस्राणि क्षेत्रात्मा द्विगुणो वरः ।
एकेन्द्रियाद्यसंज्ञ्यंते विषयः स्पर्शनादिषु ॥ ३० ॥ युग्मम्
योजनानि त्रिषु नव श्रेष्ठोऽकस्थानकक्रमात् ।
त्रिषट्द्विसप्तचत्वारि चासौ द्वादश संज्ञिषु ॥ ३१ ॥

आगे ये इंद्रियां कितनी दूरतकका अपना विषय ग्रहण कर लेती हैं सो बतलाते हैं। स्पर्शन इंद्रियका विषय एकेन्द्रियके चारसौ धनुष, रसना इन्द्रियका विषय दोइन्द्रियके चौसठ धनुष, घ्राण इन्द्रियका विषय तेइन्द्रियके सौ धनुष, चक्षु इंद्रियका विषय चौइन्द्रिय के छयासठ कम तीन हजार योजन अर्थात दो हजार नौ सौ चौअन योजन, और श्रोत्र इन्द्रियका विषय असैनी पंचेन्द्रियके आठ हजार धनुष है। इसपे आगे दूना दूना विषय ग्रहण करना चाहिये। यह स्पर्शनादिक इन्द्रियोंका विषय एकेन्द्रियसे आदि लेकर बतलाया। सैनी पंचेन्द्रियके सब इंद्रियोंका विषय इस प्रकार है। स्पर्शन रसना घ्राण इन तीनों इंद्रियोंका विषय नौ नौ योजन है। चक्षुइंद्रियका विषय ४७२६३ $\frac{7}{20}$ योजन है। यह तीन छह दो सात चार लेनी चाहिये और बांई ओरसे लेनी चाहिये। ऐसा करनेसे ४७२६३ योजन होता है।

॥८०॥

श्रोत्र इंद्रियका विषय बारह योजन है। इसप्रकार तीन श्लोकोंका यह समुच्चय अर्थ है।

भावार्थ— स्पर्शन इंद्रियका विषय एकेंद्रियके ४०० धनुष, दोइंद्रियके ८०० धनुष, तेइंद्रियके १६०० धनुष, चौइंद्रियके ३२०० धनुष, असेनी पंचेंद्रियके ६४०० धनुष और सेनी पचेंद्रियके ९ योजन है। रसना इंद्रियका विषय दो इंद्रियके ६४ धनुष, तेइंद्रियके १२८ धनुष, चौइंद्रियके २५६ धनुष, असेनी पचेंद्रियके ५१२ धनुष और सेंनी पचेंद्रियके ९ योजन है। घ्राण इंद्रियका विषय तेइंद्रियके १०० धनुष, चौइंद्रियके २०० धनुष, असेंनी पचेंद्रियके ४०० धनुष और सेनी पंचेंद्रियके ९ योजन है। चक्षुइंद्रियका विषय चौइंद्रियके २९५४ योजन, असेंनी पंचेंद्रयके ५९०८ योजन और सेनी पचेंद्रयके ४७२६३ योजन तथा एक योजनके बीस भाग- मेंसे सात भाग है। श्रोत्र इंद्रियका विषय असैनी पचेंद्रियके ८००० धनुष और सेनी पंचेंद्रियके १२ योजन है ॥ २०-२१ ॥ यह सब उत्कृष्ट प्रमाण है। इसका यंत्र इसप्रकार है—

स्पर्शन इंद्रिय	एकेंद्रिय ४०० ध.	दोइंद्रिय ८०० ध.	तेइंद्रिय १६०० ध.	चौइंद्रिय ३२०० ध.	असेंनी पं. ६४०० ध	सेंनी पचेंद्रिय ९ योजन
	रसना इं.	६४ ध.	१२८ ध.	२५६ ध.	५१२ ध.	९ योजन
		घ्राण इं.	१०० ध.	२०० ध.	४०० ध.	९ योजन
			चक्षु इं.	२९५४ योजन	५९०८ योजन	४७२६३ $\frac{7}{20}$ योजन
				श्रोत्र इं.	८००० ध.	१२ योजन

स्थूलवाग्गोचरानंतरार्थस्य स्थायिनश्चिरम् ।
प्रत्यक्षं नियतस्यैतद्बोधादाभिनिबोधनम् ॥ ३२ ॥

जो पदार्थ स्थूल है, वाणीके गोचर हैं, जो कहे जासकते हैं, जो चिरकालतक ठहरते है और निश्चित-रूपसे रहते है ऐसे पदार्थोंको यह मतिज्ञान इंद्रियप्रत्यक्ष जानता है, इसलिए इस मतिज्ञानको अभिनिबोध कहते है ॥ ३२॥

स्पर्शनादिमतिज्ञानावृत्तिवीर्यान्तराययोः ।
क्षयोपशमजं नानाभेदमेतदुदाहृतम् ॥ ३३ ॥

यह मतिज्ञान स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु, कर्ण आदि इन्द्रियसंबंधि मतिज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमसे तथा वीर्यांतराय कर्मके क्षयोपशमसे उत्पन्न होता है। अतएव अपने २ अलग २ कर्मोंके क्षयोपशम होनेसे उत्पन्न होनेके कारण इसके अनेक भेद हो जाते हैं ॥ ३३ ॥

इसप्रकार मतिज्ञानका निरूपण किया। आगे श्रुतज्ञानका स्वरूप कहते है—

श्रुतं मतिगृहीतार्थशब्दैरन्यार्थबोधनम् ।
धूमादेः पावकादेर्वा बोधोऽग्नेरग्निशब्दतः ॥ ३४ ॥

मतिज्ञानके द्वारा ग्रहण किये हुए शब्द तथा अर्थोंके द्वारा अन्य पदार्थ का ज्ञान होना श्रुतज्ञान है जैसे मतिज्ञानके द्वारा धूमको जानकर उससे अग्निका ज्ञान होना श्रुतज्ञान है। अथवा 'अग्नि' इस शब्दको जानकर इस शब्दके द्वारा अग्नि पदार्थको जानलेना भी श्रुतज्ञान है। इससे सिद्ध होता है कि यह श्रुतज्ञान मतिज्ञानपूर्वक ही होता है ॥ ३४ ॥

तत्पर्यायाक्षरपदसंघातप्रतिपत्तिकाः ।
अनुयोगः प्राभृतप्राभृतं च प्राभृतं क्रमात् ॥ ३५ ॥
वस्तुपूर्वं समासाश्चामीषामिति समन्वितम् ।

श्रुतं विकल्पविंशत्या स्वान्तस्थान्यविकल्पया ॥ ३६ ॥

इस श्रुतज्ञानके वीस भेद हैं — १-पर्याय २-पर्यायसमास ३-अक्षर ४-अक्षरसमास ५-पद ६-पदसमास ७-संघात ८. संघातसमास ९. प्रतिपत्ति १०. प्रतिपत्तिसमास ११. अनुयोग १२. अनुयोगसमास १३. प्राभृतप्राभृत १४. प्राभृतप्राभृतसमास १५. प्राभृत १६. प्राभृतसमास १७. वस्तु १८. वस्तुसमास १९. पूर्व २०. पूर्वसमास । इसप्रकार श्रुतज्ञानके वीस भेद होते हैं ॥ ३५-३६ ॥

श्रुतावरणवीर्यान्तरायमन्दोदयाच्छ्रुतम् ।
स्यादसंख्यजगन्मात्रं पर्यायादिप्रभेदतः ॥ ३७ ॥

श्रुतज्ञानावरण और वीर्यांतराय कर्मके मंद उदय होनेसे (क्षयोपशमसे) श्रुतज्ञान प्रगट होता है। तथा पर्यायादिकके भेदसे इस श्रुतज्ञानके असंख्यात लोकप्रमाण भेद होते हैं ॥ ३७ ॥

भावार्थ— इस श्रुतज्ञानके असख्यात भेद होजाते हैं।

आगे अवधिज्ञानका स्वरूप दिखलाते हैं—

मूर्तमर्थं मितं क्षेत्रकालभावैरवस्फुटम् ।
मितेर्दधात्यवधिर्द्वेधा भवगुणोद्भवः ॥ ३८ ॥

जो परिमित क्षेत्र, काल और भावके द्वारा परिमित मूर्त पदार्थको जाने उसको अवधिज्ञान कहते है। वह दो प्रकार उत्पन्न होता है एक भवनिमित्तक और दूसरा गुणनिमित्तक। जो अवधिज्ञान भवसे ही वा जन्मसे ही उत्पन्न हो उसको भवनिमित्तक अवधिज्ञान कहते हैं। तथा जो रत्नत्रयगुणके बढनेसे वा चारित्रगुणके बढनेसे उत्पन्न हो उसको गुणप्रत्यय वा गुणनिमित्तक अवधिज्ञान कहते है ॥ ३९॥

सुरनारकपर्याप्तभवजः प्रथमोऽपरः ।
मर्त्यातिर्यक्षु सम्यक्त्वगुणादीनां विशेषजः ॥ ३९ ॥

देव व नारकीयोंके पर्याप्त अवस्थामें जो जन्मसे ही अवधिज्ञान होता है उसको भवप्रत्यय अवधिज्ञान कहते

स्थूलवाग्गोचरानंतरार्थस्य स्थायिनश्चिरम् ।
प्रत्यक्षं नियतस्यैतद्बोधादभिनिबोधनम् ॥ ३२ ॥

जो पदार्थ स्थूल है, वाणीके गोचर हैं, जो कहे जासकते हैं, जो चिरकालतक ठहरते है और निश्चित-रूपसे रहते है ऐसे पदार्थोंको यह मतिज्ञान इंद्रियप्रत्यक्ष जानता है, इसलिए इस मतिज्ञानको अभिनिबोध कहते है ॥ ३२॥

स्पर्शनादिमतिज्ञानावृत्तिवीर्यान्तराययोः ।
क्षयोपशमजं नानाभेदमेतदुदाहृतम् ॥ ३३ ॥

यह मतिज्ञान स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु, कर्ण आदि इन्द्रियसंबंधि मतिज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमसे तथा वीर्यांतराय कर्मके क्षयोपशमसे उत्पन्न होता है। अतएव अपने २ अलग २ कर्मोंके क्षयोपशम होनेसे उत्पन्न होनेके कारण इसके अनेक भेद हो जाते है ॥ ३३ ॥

इसप्रकार मतिज्ञानका निरूपण किया। आगे श्रुतज्ञानका स्वरूप कहते है—

श्रुतं मतिगृहीतार्थशब्दैरन्यार्थबोधनम् ।
धूमादेः पावकादेर्वा बोधोऽग्नेरग्निशब्दतः ॥ ३४ ॥

मतिज्ञानके द्वारा ग्रहण किये हुए शब्द तथा अर्थोंके द्वारा अन्य पदार्थ का ज्ञान होना श्रुतज्ञान है जैसे मतिज्ञानके द्वारा धूमको जानकर उससे अग्निका ज्ञान होना श्रुतज्ञान है। अथवा 'अग्नि' इस शब्दको जानकर इस शब्दके द्वारा अग्नि पदार्थको जानलेना भी श्रुतज्ञान है। इससे सिद्ध होता है कि यह श्रुतज्ञान मतिज्ञानपूर्वक ही होता है ॥ ३४ ॥

तत्पर्यायाक्षरपदसंघातप्रतिपत्तिकाः ।
अनुयोगः प्राभृतप्राभृतं च प्राभृतं क्रमात् ॥ ३५ ॥
वस्तुपूर्वं समासाश्चामीषामिति समन्वितम् ।

॥८२॥

भवनवासी और व्यन्तरदेवोंके अवधिज्ञानका जघन्य क्षेत्र पचीस योजन है। तथा ज्योतिषी देवोंके अवधिज्ञानका जघन्य क्षेत्र उससे सख्यातगुणा है ॥४६॥

अमुरेष्वसंख्यकोट्यः स्युरुत्कृष्टमपरेषु तु ।
ज्योतिष्कान्तेष्वसंख्यातसहस्राणि ततः क्रमात् ॥ ४७ ॥

असुरकुमार देवोंके अवधिज्ञानका उत्कृष्ट क्षेत्र असंख्यात करोड गुणा है। तथा अनुक्रमसे बढता बढता ज्योतिषी देवोंतक असख्यात हजार योजन होगया है ॥ ४७ ॥

द्विर्द्विश्चतुश्चतुर्द्विर्द्विर्नव चतुर्दशरवपि ।
कल्पेषु स्याद्विमानेषु कल्पातीतेषु चावधेः ॥ ४८ ॥
अधो घर्मादिलोकान्तादारभ्य त्रसनालिकम् ।
क्षेत्रमूर्ध्वं वरक्षेत्रं स्वस्वलोकान्तसंस्थितम् ॥ ४९ ॥

कल्पवासीदेवोंमें सौधर्म और ऐशान स्वर्गके देवोंका अवधिज्ञान पहले घर्मा नामके नरकतक है। सानत्कुमार, माहेंद्र स्वर्गके अर्थात् तीसरे चौथे स्वर्गके देवोंका अवधिज्ञान दूसरे वशा नामके नरकतक है। ब्रह्म, ब्रह्मोत्तर, लांतव, कापिष्ठ नामके पांचवें छठे सातवें आठवें स्वर्गके देवोंका अवधिज्ञान मेघा नामके तीसरे नरकतक है। शुक्र, महाशुक्र, शतार, सहस्रार नामके नौवे दशवे ग्यारहवे बारहवे स्वर्गमे रहनेवाले देवोंका अवधिज्ञान अजना नामके चौथे नरकतक है। आनत, प्राणत, आरण, अच्युत, नामके तेरहवें, चौदहवें, पंद्रहवें, सोलहवे स्वर्गके देवोंका अवधिज्ञान अरिष्टा नामके पांचवें नरकतक है। नौ ग्रैवेयकमे रहनेवाले देवोंका अवधिज्ञान मघवी नामके छठे नरकतक है। तथा नव अनुदिश और विजय, वैजयत, जयत, अपराजित और सर्वार्थसिद्धिमें रहनेवाले अहमिंद्रोंके अवधिज्ञान माघवी नामके सातवें नरकतक है। तथा त्रसनाडीपर्यंत है। इन समस्त देवोका अवधिज्ञान नीचेकी ओरका बतलाया। ऊपरकी ओर इन सब देवोंका अवधिज्ञान अपने २ विमानके ऊपरके ध्वजा दडपर्यंत समझना चाहिए। इसप्रकार समस्त देवोंके अवधिज्ञानका क्षेत्र बतलाया ॥ ४८-४९ ॥

का त्यों बना रहे उसको अवस्थित कहते हैं। जो कभी घट जाय कभी बढ जाय ऐसे अवधिज्ञानको अनवस्थित कहते हैं। जो दूसरे क्षेत्रमें वा दूसरे लोकमें साथ जावे उसको अनुगामी कहते हैं। तथा साथ न जाय वहीं रहजाय उसको अननुगामी कहते है ॥ ४२ ॥

सुरनारकतीर्थेश्वरादौ सर्वांगसंभवः ।
अन्येष्वंगप्रशस्ताप्रशस्तचिह्नभवोऽवधिः ॥ ४३ ॥

यह अवधिज्ञान देव, नारकी और तीर्थंकरोंके समस्त शरीरसे उत्पन्न होता है। तथा अन्य मनुष्य तिर्यंचोंके शरीरके शुभ, अशुभ चिन्होंसे प्रगट होता है ॥ ४३ ॥

घर्मायां योजनं कोशार्द्धोनं तत्क्रमशोऽन्तिमा ।
यावत्पृथ्वी मतं क्षेत्रमवधिर्निरयेष्विति ॥ ४४ ॥

पहले घर्मा नामके नरकमें नारकियोंका अवधिज्ञान एक योजन अर्थात् चार कोशतक होता है। फिर क्रमसे अंततक आधा आधा कोश घटता जाता है। अर्थात् दूसरे नरकमें साडेतीन कोश, तीसरेमें तीन कोश, चौथेमें ढाई कोश, पांचवेमें दो कोश, छटेमें डेढ कोश और सातवेमें एक कोशतक अवधिज्ञान होता है। यह नारकियोंके अवधिज्ञानका क्षेत्र अपनी २ पृथ्वीमें समझना चाहिए ॥ ४४ ॥

तिर्यक्ष्वोघजघन्यादातेजोलंभान्मतोऽवधिः ।
नरेष्वोघविकल्पोघो यथायोग्यं भवेदयम् ॥ ४५ ॥

तिर्यंचोंके अवधिज्ञान गुणस्थानोंके अनुसार जानलेना चाहिए। कमसे कम तेजो लेश्यासे अवधिज्ञान प्रगट होता है। इसीप्रकार मनुष्योंमे अपनी अपनी योग्यताके अनुसार गुणस्थानोंके अनुसार अवधिज्ञान होता है ॥ ४५ ॥

भौमभावनयोर्योजनानि स्युः पंचविंशतिः ।
जघन्यक्षेत्रं ज्योतिष्के ततः संख्यातसंगुणम् ॥ ४६ ॥

है। तथा मनुष्य और तिर्यंचोंके जो सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय गुणकी विशेषतासे अवधिज्ञान प्रगट होता है उसको गुणप्रत्यय अथवा क्षयोपशमनिमित्तक अवधिज्ञान कहते है ॥ ३९ ॥

स्याद्देशपरमसर्वावधिभेदत्रयोऽवधिः ।
सामान्यस्तत्र देशावधिः स्याद्गुणभवोद्भवः ॥ ४० ॥

साधारण अवधिज्ञानके तीन भेद है। देशावधि, परमावधि और सर्वावधि। इनमेंसे देशावधि अवधिज्ञान गुणप्रत्यय भी होता है और भवप्रत्यय भी होता है। दोनों प्रकारका होता है ॥ ४० ॥

शेषौ चरमांगमुनेर्गुणजौ प्रतिघात्यधि ।
तत्र देशावधिर्बोधो शेषावप्रतिपातिनौ ॥ ४१ ॥

तथा परमावधि और सर्वावधि अवधिज्ञान चरमशरीरी मुनियोंके ही होते है। तथा रत्नत्रय गुणकी वृद्धि होनेसे ही होते है। देशावधि अवधिज्ञान प्रतिपाती है तथा अप्रतिपाती भी है। अर्थात् छूट भी जाता है तथा केवलज्ञान प्रगट होनेतक भी रहता है। और बाकीके परमावधि तथा सर्वावधि अवधिज्ञान अप्रतिपाती है। वे कभी नहीं छूटते। केवलज्ञान प्रगट होनेतक ही रहते है। जिनके परमावधि और सर्वावधि अवधिज्ञान होता है उनके केवलज्ञान अवश्य प्रगट होता है ॥ ४१ ॥

आगे अवधिज्ञानके और भी भेद बतलाते हैं—

वर्द्धमानानुगावस्थितेतरप्रविकल्पतः ।
षट्प्रकारोऽप्यसंख्यातलोकमात्रो विशेषतः ॥ ४२ ॥

वर्द्धमान, हीयमान, अवस्थित, अनवस्थित, अनुगामी, अननुगामी इनके भेदसे अवधिज्ञानके छह भेद होते है। तथा विशेषरीतिसे इसी अवधिज्ञानके असंख्यात लोकप्रमाण भेद होजाते हैं। जो अवधिज्ञान उत्पन्न होनेपर केवलज्ञान होनेतक चारित्रगुणकी वृद्धि होनेके कारण बराबर बढता रहे उसको वर्द्धमान कहते है। जो उत्पन्न होते ही चारित्र गुणकी हीनताके कारण घटता रहे उसको हीयमान कहते है। जो न घटे न बढे ज्यों

श्रुतं विकल्पविंशत्या स्वान्तस्थान्यविकल्पया ॥ ३६ ॥

इस श्रुतज्ञानके वीस भेद हैं – १-पर्याय २-पर्यायसमास ३-अक्षर ४-अक्षरसमास ५-पद ६-पदसमास ७-संघात ८. संघातसमास ९. प्रतिपत्ति १०. प्रतिपत्तिसमास ११. अनुयोग १२. अनुयोगसमास १३. प्राभृतप्राभृत १४. प्राभृतप्राभृतसमास १५. प्राभृत १६. प्राभृतसमास १७. वस्तु १८. वस्तुसमास १९. पूर्व २०. पूर्वसमास । इसप्रकार श्रुतज्ञानके वीस भेद होते हैं ॥ ३५-३६ ॥

श्रुतावरणवीर्यान्तरायमन्दोदयाच्छ्रुतम् ।
स्यादसंख्यजगन्मात्रं पर्यायादिप्रभेदतः ॥ ३७ ॥

श्रुतज्ञानावरण और वीर्यांतराय कर्मके मंद उदय होनेसे (क्षयोपशमसे) श्रुतज्ञान प्रगट होता है। तथा पर्यायादिकके भेदसे इस श्रुतज्ञानके असंख्यात लोकप्रमाण भेद होते हैं ॥ ३७ ॥

भावार्थ— इस श्रुतज्ञानके असंख्यात भेद होजाते हैं।

आगे अवधिज्ञानका स्वरूप दिखलाते हैं—

मूर्तमर्थं मितं क्षेत्रकालभावैरवस्फुटम् ।
मितं दधात्यवधिर्वो यो भवगुणोद्भवः ॥ ३८ ॥

जो परिमित क्षेत्र, काल और भावके द्वारा परिमित मूर्त पदार्थको जाने उसको अवधिज्ञान कहते है। वह दो प्रकार उत्पन्न होता है एक भवनिमित्तक और दूसरा गुणनिमित्तक। जो अवधिज्ञान भवसे ही वा जन्मसे ही उत्पन्न हो उसको भवनिमित्तक अवधिज्ञान कहते हैं। तथा जो रत्नत्रयगुणके बढनेसे वा चारित्रगुणके बढनेसे उत्पन्न हो उसको गुणप्रत्यय वा गुणनिमित्तक अवधिज्ञान कहते है ॥ ३९॥

सुरनारकपर्याप्तभवजः प्रथमोऽपरः ।
मर्त्यतिर्यक्षु सम्यक्त्वगुणादीनां विशेषजः ॥ ३९ ॥

देव व नारकीयोंके पर्याप्त अवस्थामें जो जन्मसे ही अवधिज्ञान होता है उसको भवप्रत्यय अवधिज्ञान कहते

॥८३॥

अयं स्यादवधिबोधावृतिवीर्यांतराययोः ।
क्षयोपशमतो बोधोऽसंख्यलोकाविकल्पकः ॥ ५० ॥

यह अवधिज्ञान अवधिज्ञानावरण कर्म और वीर्यांतराय कर्मके क्षयोपशमसे होता है। तथा इसके असंख्यात लोकप्रमाण भेद होते है ॥ ५० ॥ इसप्रकार अवधिज्ञानका स्वरूप कहा ।

अब मति, श्रुति, अवधि इन तीनों ज्ञानोंकी विशेषता दिखलाते हैं—

स्यादेतत्त्रयमज्ञानं मिथ्यानंतानुबन्धिनाम् ।
उदयेनाऽऽशु कटु वा कटुवलाबुगतं पयः ॥ ५१ ॥

जिसप्रकार कडवी तूंबीमे रक्खा हुआ दूध कडवा होजाता है। उसीप्रकार मिथ्यात्व वा दर्शनमोहनीय कर्मके उदयसे तथा अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभके उदयसे मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान भी मिथ्या होजाते है ।

भावार्थ— ज्ञान पदार्थोंको जानता है, परतु वह श्रद्धानके अनुसार जानता है, यदि श्रद्धान सम्यक् है तो ज्ञान भी सम्यग्ज्ञान कहलाता है। यदि श्रद्धान मिथ्या होता है तो ज्ञान भी मिथ्याज्ञान कहाजाता है । यही कारण है कि सम्यग्दर्शनके होनेपर ज्ञान सम्यग्ज्ञान होता है। और मिथ्यात्वके होनेसे मिथ्याज्ञान होता है ॥५१॥

आगे मनःपर्ययका स्वरूप कहते हैं—

मनो देशावधेर्ज्ञेयं मध्यमं चिन्तितादिकम् ।
परैः पर्येति तद्यत्तन्मनःपर्यबोधनम् ॥ ५२ ॥

देशावधिका जो मध्यम ज्ञेयपदार्थ है उसका चिंतवन करना-मनन करना आदिको मन कहते है। उस मनका दूसरोंके द्वारा ज्ञान होना मनःपर्ययज्ञान है ॥ ५२ ॥

भावार्थ— देशावधि ज्ञानका विषयभूत जो पदार्थ है उसको कोई चिंतवन करे उस चिंतवन किए हुए

पदार्थको जो प्रत्यक्ष जानलेवे उसको मनःपर्ययज्ञान कहते है।

ऋजुविपुलमती तद्भेदावाद्या त्रिभेदगा।
ऋजुकायवाक्यचेतोगतार्थविषयत्वता ॥ ५३ ॥

उस मनःपर्ययज्ञानके दो भेद हैं। एक ऋजुमति और दूसरा विपुलमति। उसमेंसे ऋजुमतिके तीन भेद है। ऋजुशब्दका अर्थ सरल है। सरल मनके द्वारा चिंतवन किए हुए पदार्थको प्रत्यक्ष जानना पहला ऋजुमति मनःपर्यज्ञान है। सरल वचनके द्वारा चिंतवन किए हुए पदार्थको प्रत्यक्ष जानना दूसरा ऋजुमति मनःपर्ययज्ञान है। तथा सरल कायके द्वारा चिंतवन किए हुए पदार्थको प्रत्यक्ष जानना तीसरा ऋजुमति मनःपर्ययज्ञान है।

आगे विपुलमतिके भेद दिखलाते हैं—

ऋज्वऋजुदेहवाक्यस्वान्तस्वार्थावबोधनात्।
विपुलमतिः षड्भेदाऽसंख्यकल्पामिता च सा ॥ ५४ ॥

विपुलमति मनःपर्ययज्ञानके छह भेद हैं। सरल मनके द्वारा, सरल वचनके द्वारा और सरल कायके द्वारा चिंतवन किए हुए पदार्थोंको प्रत्यक्ष जानना तथा कुटिल मनके द्वारा, कुटिल वचनके द्वारा और कुटिल कायके द्वारा चिंतवन किए हुए पदार्थको प्रत्यक्ष जानना। इसप्रकार कारणसामग्रीके भेदसे छह भेद होजाते है। तथा विषयके भेदसे असंख्यात भेद होजाते है ॥ ५४ ॥

मनःपर्ययविज्ञानावृतिवीर्यान्तराययोः।
जातं मन्दोदयादेतत्क्षायोपशामिकं ततः ॥ ५५ ॥

यह मनःपर्ययज्ञान मनःपर्ययज्ञानावरण तथा वीर्यांतराय कर्मके अत्यंत मंद उदय होनेसे अर्थात् क्षयोपशमसे प्रगट होता है। इसलिए इस ज्ञानको क्षायोपशमिक ज्ञान कहते हैं ॥ ५५ ॥ इस प्रकार मनःपर्ययज्ञानका वर्णन किया।

अब आगे केवलज्ञानको कहते हैं—

त्रिकालानंतधर्मात्मानंतवस्तुप्रकाशकम् ।
युगपत्केवलं ज्योतिः करणावरणातिगम् ॥ ५६ ॥

जिस ज्ञानके प्रगट होनेमें न तो इंद्रियां कारण हैं और न जिसमे किसी प्रकारका ज्ञानावरण कर्म शेष रहता है। तथा जो भूत, भविष्यत व वर्तमान इन तीनों कालसंबंधी अनत धर्मोंको धारण करनेवाले अनत पदार्थोंको एक ही समयमें प्रत्यक्ष जानता है। ऐसे अनुपम ज्ञानको केवलज्ञान कहते हैं ॥ ५६ ॥

भावार्थ— यह ज्ञान केवल आत्मासे प्रगट होता है और तीनों कालोंकी समस्त पर्यायोंको एकसाथ जानता है।

क्षणं प्रत्यक्षरं ज्ञेयैः समं विपरिवर्तते ।
तदेकमुपमातीतं परमानन्दमान्दिरम् ॥ ५७ ॥

यह केवलज्ञान एक है, उपमा रहित है, परम आनदका स्थान है, सदा नाश रहित है तथा प्रत्येक समयमें तीनों कालसंबंधी समस्त पदार्थोंको जानता है ॥ ५७ ॥ इसप्रकार केवलज्ञानका स्वरूप बतलाया।

अब आगे प्रत्यक्ष और परोक्ष ज्ञानको अलग अलग बतलाते हैं—

परद्रव्येन्द्रियानेकप्रकाशादिवशीकृते ।
मतिश्रुते परोक्षे स्तः प्रत्यक्षमवधित्रयम् ॥ ५८ ॥

मतिज्ञान तथा श्रुतज्ञान दोनों ही ज्ञान इंद्रिय, मन और प्रकाश आदि अनेक पर द्रव्योंकी अपेक्षासे उत्पन्न होते हैं, इसलिए ये दोनों ही ज्ञान परोक्ष ज्ञान है। तथा अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान तीनोंही ज्ञान प्रत्यक्ष है।

आगे प्रत्यक्षका लक्षण कहते हैं—

॥८९॥

ज्ञानेनाक्ष्णोति व्याप्नोतीत्यक्ष आत्मा स्वगोचरम् ।
तमेवाक्षं प्रति गतं प्रत्यक्षमिति वर्ण्यते ॥ ५९ ॥

अक्ष् धातुका अर्थ व्याप्त होना है। जो ज्ञानके द्वारा व्याप्त हो ऐसे अपने आत्माको अक्ष कहते है। ऐसे ज्ञानस्वरूप आत्मासे जो उत्पन्न हो, जिसके उत्पन्न होनेमे आत्माके सिवाय इंद्रिय, प्रकाश आदि कुछ कारण न हो उसको प्रत्यक्ष ज्ञान कहते हैं।

केवलं वा श्रुतं तत्राशेषवस्तुप्रकाशकम् ।
द्वादशांगांगबाह्यात्माऽस्पष्टं स्पष्टं तु केवलम् ॥ ६० ॥

केवलज्ञान और श्रुतज्ञान दोनों ही ज्ञान समस्त पदार्थोंको जानते हैं। समस्त पदार्थोंको जानते हुए भी उन ज्ञानोंमेंसे बारह अंग तथा अंगबाह्य स्वरूप जो श्रुतज्ञान है वह तो समस्त पदार्थोंको परोक्ष जानता है। और केवलज्ञान उन्हीं समस्त पदार्थोंको जानता है परंतु प्रत्यक्ष वा स्पष्ट जानता है। यही केवलज्ञान और श्रुतज्ञानमें अन्तर है ॥ ६० ॥

आगे श्रुतज्ञानका ज्ञानाचार बतलाते हैं——

वाचना पृच्छना चानुप्रेक्षाऽऽम्नायो यथाविधि ।
धर्मोपदेश इत्यादि ज्ञानाचारः श्रुते मतः ॥ ६१ ॥

वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय और धर्मोपदेश इन पांचों प्रकारके स्वाध्यायको विधिपूर्वक पालन करना श्रुतज्ञानका ज्ञानाचार कहलाता है ॥ ६१ ॥

आगे बाचनाका लक्षण कहते हैं——

यत्सूत्रार्थोभयाऽऽख्यानं शिष्याणां विनयान्वितम् ।
मोक्षार्थं वाचना प्रोक्ता कृत्वा शुद्धिं चतुर्विधाम् ॥ ६२ ॥

द्रव्यशुद्धि, क्षेत्रशुद्धि, कालशुद्धि और भावशुद्धि इन चारों प्रकारकी शुद्धियोंको करके बडी विनयके साथ

॥९०॥

तथा केवल मोक्षप्राप्तिकी इच्छा रखकर शिष्योंके लिए सूत्र, अर्थ अथवा सूत्र, अर्थ दोनोंका व्याख्यान करना, अर्थसहित पढाना वाचना कहलाती है ॥ ६२ ॥

आगे द्रव्यशुद्धिको कहते हैं—

स्वांगे ज्वराक्षिकुक्षादिवेदनापूयशोणित- ।
स्रावविण्मूत्रलेपादेर्द्रव्यशुद्धिरसंभवः ॥ ६३ ॥

अपने शरीरमें ज्वर हो, नेत्ररोग हो, उदरशूल हो या अन्य कोई पीडा हो अथवा शरीरसे राध वा रुधिर वहता हो, अथवा शरीरसे मल वा मूत्र लगा हो तो ऐसी अवस्थामें द्रव्यशुद्धिका होना असंभव है।

भावार्थ— द्रव्यशुद्धि तभी हो सकती है जब कि शरीरमें कोई रोग वा पीडा न हो। तथा रुधिर, मांस, राध, व मलमूत्रका कोई संबंध न हो। यदि इन अशुद्ध पदार्थोंका शरीरसे संबध हो तो द्रव्यशुद्धि कभी नहीं होसकती ॥ ६३ ॥

सा भवेदन्नपानादेः सुस्निग्धस्य सुगन्धिनः ।
मोदकापूपपृथुकप्रभृतेरप्यसेवनम् ॥ ६४ ॥

ये सब रोग वा फोंडा, फुंसी, रुधिर आदिका वहना, मलमूत्रका निकलना आदि, उत्तम पदार्थोंके अधिक भक्षण करनेसे होते है। इसलिए लाड्डू, पूआ, चावलके बने पदार्थ आदि सुगंधित और चिकने अन्न पानका सेवन न करनेसे द्रव्यशुद्धि होती है।

भावार्थ- द्रव्यशुद्धि रखनेके लिए ऐसे पदार्थोंका/भक्षण कभी नहीं करना चाहिए ॥ ६४ ॥

आगे क्षेत्रशुद्धिको कहते हैं—

व्याख्यानस्थानकात्सर्वदिक्षु पंचेन्द्रियांगिनाम् ।
शवार्द्रचर्ममांसास्थिशोणितादेरसंगमः ॥ ६५ ॥
गतात्तृतीयस्वाध्यायादाराद्यः स निगद्यते ।

॥९१॥

क्षेत्रशुद्धिरिति क्षेत्रे द्वात्रिंशद्दण्डमात्रके ॥ ६६ ॥
नृतिर्यक्शुष्कचर्मादेर्हस्तद्व्येकशते तदा।
विण्मूत्रयोः क्रमाद्धस्तपंचाशत्करायते ॥ ६७ ॥

व्याख्यान स्थानसे चारों दिशाओंमें पंचेंद्रिय जीवोंके मरे हुए शरीर, गीला चमडा, मांस, हड्डी, रुधिर आदिका समावेश न हो और ऐसे अशुद्ध पदार्थ कमसे कम बत्तीस धनुप दूर होने चाहिए। परंतु यह नियम अनुप्रेक्षा नामके तीसरे स्वाध्यायके लिए नहीं है। यह सब क्षेत्रशुद्धि कहलाती है। मनुष्य और तिर्यंचोंका सूका चमडा दोसौ हाथ दूर होना चाहिए। तथा मल, मूत्र डेढसौ हाथ दूर होना चाहिए ॥ ६५-६६-६७ ॥

पंचाक्षे क्लिश्यमानेऽत्यां म्रियमाणे च कर्मसु।
त्रसस्थावरघातेषु सत्स्वेकास्मिन्निवर्त्तते ॥ ६८ ॥

यदि कोई पंचेंद्रिय जीव पीडासे बहुत दुखी हो वा मर रहा हो अथवा त्रस वा स्थावर जीवोंका घात होता हो तो वाचना नामका स्वाध्याय बंद कर देना चाहिए ॥ ६८ ॥

आसन्ने बालचाण्डालजलदीपाग्निलुंचने।
दवादिधूमे दुर्गन्धे वाति दूरान्न सा भवेत् ॥ ६९ ॥

यदि अज्ञानी वा बालक, चांडाल, जल, दीपक, अग्निका बुझना आदि अत्यंत समीप हो तब भी वाचना बंद कर देना चाहिये। तथा यदि बहुत दूरसे भी वनमें लगी हुई दावानलका धुआं आता हो अथवा उसकी दुर्गंध आती हो तो भी वाचना बद कर देना चाहिए ॥ ६९ ॥ इस प्रकार क्षेत्रशुद्धिका वर्णन किया।

अब कालशुद्धि बतलाते हैं—

नंदीश्वरमहापूजाराध्यागमनयोजनं—
प्रमाणक्षेत्रसंन्यासमहानशनवासरैः ॥ ७० ॥

॥९२॥

सर्वपर्वक्रियावश्यकाक्रियावसरादिभिः ।
व्यपेतता भवेत्काले कालशुद्धिर्विशुद्धिदा ॥ ७१ ॥ युग्मम् ।

जिन दिनों नदीश्वर पर्वकी महापूजा चल रही हो, जिस समय अरहंत, आचार्य वा उपाध्याय आदि आराधन करने योग्य पूज्य पुरुषोंका आगमन हो, जिस दिन एक योजनके भीतर भीतर सन्यास धारण करनेवालेका महान् उपवास हो उन दिनोंको छोडकर तथा समस्त पर्वके दिन और आवश्यक क्रियाओंके समयको छोडकर बाकीके समयमें शुद्धिको देनेवाली कालशुद्धि कही गई है ॥ ७०-७१ ॥

सप्तत्र्येकदिनान्यत्र स्वग्रामे योजनप्रमे ।
क्षेत्रे दूरे च वर्ज्यानि स्वर्गते श्रमणाधिपे ॥ ७२ ॥

यदि आचार्यका स्वर्गवास अपने ही गांवमें हो तो सात दिनतक वाचनी नहीं करनी चाहिए । यदि एक योजन वा चार कोशके भीतर ही आचार्यका स्वर्गवास हो तो तीन दिन तक वाचना नामका स्वाध्याय नहीं करना चाहिए । तथा यदि किसी दूर क्षेत्रमें भी आचार्यका स्वर्गवास हो तो एक दिन वाचना स्वाध्याय नहीं करना चाहिए ॥ ७२ ॥

निष्ठाप्य पश्चिमस्यामास्वाध्यायं शुद्धभूस्थितः ।
व्युत्सर्गेणेन्द्रकीनाशप्रचेतोधनिनां दिशः ॥ ७३ ॥
नवार्यापाटकालेन प्रत्येकं शोधयेदयं ।
पूर्वाण्हवाचनाहेतोः कालशुद्धिविधिस्त्वयम् ॥ ७४ ॥

शुद्ध भूमिमें बैठकर णमोकार मन्त्रकी आर्याका पाठ नौ वार उच्चारण कर कायोत्सर्ग करके पिछली रात्रिका स्वाध्याय पूर्ण करना चाहिए । तथा फिर पूर्वाण्हिक—प्रातःकाल होनेवाले स्वाध्यायके लिए पूर्वदिशाकी ओर मुहकर नौवार णमोकार मंत्रकी आर्याका पाठकर कायोत्सर्ग करना चाहिए । फिर दक्षिण दिशाकी ओर मुहकर

नौवार णमोकार मंत्रकी आर्याका पाठकर कायोत्सर्ग करना चाहिए। फिर पश्चिम दिशाकी ओर मुहकर नौवार णमोकार मंत्रकी आर्याका पाठ कर कायोत्सर्ग करना चाहिए और फिर उत्तर दिशाकी ओर मुहकर नौवार णमोकार मंत्रकी आर्याका पाठकर कायोत्सर्ग करना चाहिए। इसप्रकार चारों दिशाओंको शुद्ध कर लेना चाहिए यह कालशुद्धिकी विधि है ॥ ७३-७४ ॥

विद्युदिन्द्रधनुःक्षोणीकंपाशादाहसंगर- ।
ग्रहणाकालवृष्टयभ्रगर्जनादिविवर्जितः ॥ ७५ ॥

जिस समय विजली चमकती हो, इंद्रधनुष पडरहा हो, पृथ्वी हिल रही हो, चारों दिशाओंमें अग्नि लग रही हो, युद्ध होरहा हो, चंद्रग्रहण वा सूर्यग्रहण पड रहा हो, अकालवृष्टि होरही हो और बादल गरज रहे हों उस समयमें भी वाचना नामका स्वाध्याय नहीं करना चाहिए ॥ ७५ ॥

पूर्वाण्हेऽप्यपराण्हस्य वाचनार्थं विशोधयेत् ।
एवमाशाश्चतस्रस्तु सप्तार्यापाठकालतः ॥ ७६ ॥

पूर्वाण्हके समय अर्थात् प्रातःकालके समय भी अपराण्हकी अर्थात् सायंकालकी वाचनाके लिए णमोकार मंत्रकी सात आर्या पढकर वा सात आर्या पढनेमें जितना समय लगता है उतने समयमें चारों दिशाओंका संशोधन करे ॥ ७६ ॥

कृत्वैवमपराण्हेऽपि पंचार्यापाठकालतः ।
दिक्शुद्धिं वाचनां पूर्वरात्रौ कुर्यादिवं पुरा ॥ ७७ ॥
क्षेत्रशुद्धिं विधायैतत्कारणोपायवर्जिते ।
निशायां पश्चिमश्यामावाचना नाऽस्ति संयते ॥ ७८ ॥युग्मम्।

फिर इसीप्रकार अपराण्ह समयमें अर्थात् सायंकालके समयमें भी णमोकार मंत्रकी आर्याका पांच पांच वार पाठकर चारों दिशाओंका संशोधन करना चाहिए। फिर पहलेके समान पूर्वरात्रिमें भी वाचना नामका

॥९४॥

स्वाध्यय करना चाहिये। यदि कारणभूत उपायोंका अभाव हो तो मुनियोंको पश्चिम रात्रिमें वाचना नामका स्वाध्याय नहीं करना चाहिए। आधी रातके बाद दो बजेसे लेकर चार बजे तक पश्चिम रात्रि कहलाती है ७७-७८

व्योमाचलकुलान्तस्थचारणावधिबोधिनाम्।
वाचना परात्रौ तु क्षेत्रशुध्द्युपलंभतः ॥ ७९ ॥

आकाशमें चलने वाले, कुलाचल पर्वतोंपर रहनेवाले, चारणऋद्धिको धारण करनेवाले और अवधिज्ञानी मुनियोंको क्षेत्रकी शुद्धि प्राप्त हो जाती है। अतएव पश्चिम रात्रिमें भी उनके वाचना नामका स्वाध्याय बन सकता है

सर्वमासेषु जंघाया छाया सप्तपदी क्रमात्।
वाचना ग्रहमोक्षेषु स्यात्पूर्वाण्हापराण्हयोः ॥ ८० ॥

बारहों महीनोंमें जंघाकी छाया सात पद होती है। उसको देखकर प्रात काल वाचनाका ग्रहण और सायकालके समय वाचनाका त्याग नीचे लिखे अनुसार करना चाहिए ॥ ८० ॥

आषाढकृष्णपक्षप्रतिपद्येकपदी तु सा।
स्वाध्यायमोक्षादानेषु स्यात्पूर्वाण्हापराण्हयोः ॥ ८१ ॥

आषाढ कृष्णा प्रतिपदाके दिन प्रातःकालके समय जब छाया एक पद हो तब स्वाध्यायका त्याग कर देना चाहिए। तथा सायंकालके समय जब छाया एक पद रह जाय तब फिर वाचना स्वीकार करनी चाहिए ॥ ८१

दिनं प्रत्यंगुलस्यैति यत्पंचदशमांशकः।
वृद्धिं तच्छ्रावणस्यादौ सा छाया द्व्यंगुलाधिका ॥ ८२ ॥

तदनंतर प्रतिदिन एक अंगुलका पद्रहवां भाग बढाते रहना चाहिए। इस प्रकार बढाते २ श्रावण कृष्णा प्रतिपदाके दिन दो अंगुल अधिक एक पद छाया होनेपर स्वाध्यायका ग्रहण और त्याग कर देना चाहिए।

भावार्थ— प्रातःकालके समय दो अंगुल अधिक एक पद छाया होनेपर स्वाध्यायका त्याग करना

चाहिए और सायंकालके समय दो अंगुल अधिक एक पद होनेपर स्वाध्यायका ग्रहण करना चाहिए ॥ ८२ ॥

अंगुलिद्वयवृद्ध्यैवं प्रतिमासं पदद्वयं ।
पौषादौ स्यात्ततः पौषाद्याज्येष्ठांतं तु हीयते ॥ ८३ ॥

इसीप्रकार प्रत्येक महीनेमें दो दो अंगुल छाया बढनेपर स्वाध्यायका ग्रहण और त्याग करना चाहिए। भाद्रव कृष्णा प्रतिपदाके दिन चार अंगुल अधिक एक पद, आश्विन कृष्णा प्रतिपदाके दिन छह अंगुल अधिक एक पद, कार्तिक कृष्णा प्रतिपदाके दिन आठ अंगुल अधिक एक पद, मार्गशीर्ष कृष्णा प्रतिपदाके दिन दश अंगुल अधिक एक पद और पौष कृष्णा प्रतिपदाके दिन दो पद छाया होनेपर स्वाध्यायका ग्रहण और त्याग करना चाहिये। पौष कृष्णा प्रतिपदासे फिर प्रतिदिन एक अंगुलका पन्द्रहवां भाग घटाते जाना चाहिए। इसप्रकार प्रत्येक महीनेमें दो दो अंगुल घटाते हुए ज्येष्ठ महीनेके अततक घटाना चाहिए। अर्थात् माघ कृष्णा प्रतिपदाके दिन एक पद दश अंगुल, फाल्गुन कृष्णा प्रतिपदाके दिन एक पद आठ अंगुल, चैत्र कृष्णा प्रतिपदाके दिन एक पद छह अंगुल, वैसाख कृष्णा प्रतिपदाके दिन एक पद चार अंगुल, ज्येष्ठ कृष्णा प्रतिपदाके दिन एक पद दो अंगुल, और आषाढ कृष्णा प्रतिपदाके दिन एक पद छाया रहनेपर स्वाध्यायका ग्रहण और त्याग करना चाहिए। यह छायाका देखना दिनकी घटाबढीके अनुसार होता है। जैसा जैसा दिन घटता जाता है वैसी वैसी छाया बढती जाती है और जैसा २ दिन बढता जाता है वैसी २ छाया घटती जाती है। इस प्रकार काल शुद्धिका वर्णन किया[1] ॥ ८३ ॥

यशःपूजापुरस्कारानिःकांक्षा निर्मदा मतिः ।
श्रुतामृतकृतानंदा भावशुद्धिर्मुनेर्मता ॥ ८४ ॥

यश, पूजा और पुरस्कार वा पारितोषककी इच्छा न रखना तथा अपनी बुद्धिको अहंकार रहित और श्रुतज्ञानरूपी अमृतके आनंदमें मग्न रहनेवाली बनाना मुनियोंकी भावशुद्धि कहलाती है॥ ८४ ॥

१— यह छायाका प्रकरण अपनी बुद्धिके अनुसार जैसा आया है वैसा लिखा है। विशेष बुद्धिमानोंको शास्त्रोंके अनुसार समझकर ग्रहण करना चाहिये।

॥९६॥

एवं शुद्धीर्विधायात्महस्तपादं विशोध्य च ।
शुद्धदेशास्थितो भक्त्या क्रियां कृत्वा यथाविधि ॥ ८५ ॥
पल्यंकासनगः सूरिपादं नत्वा कृतांजुलिः ।
सूत्रस्याध्ययनं कुर्यात् कक्षाद्यं स्वांगमस्पृशन् ॥ ८६ ॥

इसप्रकार चारों प्रकारकी शुद्धियोंको धारण कर, तथा अपने हाथ पैरोंको शुद्र कर, शुद्ध देश वा शुद्ध भूमिमें विराजमान होकर, भक्तिपूर्वक, विधिके अनुसार समस्त क्रियाओंको करके, पर्यंकासनसे विराजमान होना चाहिये। फिर आचार्यके चरण कमलोंको नमस्कार कर तथा हाथ जोडकर कांख आदि शरीरके अशुद्ध अगोंका स्पर्श किए विना सूत्रका अध्ययन करना चाहिए ॥ ८५-८६ ॥

यथाकालं ततो मुंचेद्वाचनामीदृशो विधिः ।
पुराणाराधनापंचसंग्रहादिश्रुतौ न हि ॥ ८७ ॥

फिर समय पूर्ण होनेपर वाचनाका त्याग कर देना चाहिये। पुराण, आराधना और पचसग्रह (गोमट्ट-सार आदि) ग्रथोंके सुननेके लिए इस विधिकी आवश्यकता नहीं है ॥ ८७ ॥

गणेशोक्तं मतं सूत्रमभिन्नदशपूर्विभिः ।
उक्तं प्रत्येकबुद्धैश्च श्रुतकेवलिभिः श्रुतम् ॥ ८८ ॥

जो श्रुत गणधरोंका कहा हुआ है अथवा अभिन्न दश पूर्वधारियोंका कहा हुआ है अथवा प्रत्येकबुद्ध मुनियोंका कहा हुआ है अथवा श्रुतकेवलियोंका कहा हुआ है उसको सूत्र कहते हैं। ऐसे सूत्रके अध्ययन करते समय ऊपर लिखी विधि करनी चाहिए ॥ ८८ ॥

विधिमेनमतिक्रम्य सूत्रं शुश्रूषुराप्नुयात् ।
रुजासमाधिस्वाध्यायभंगार्तीन्निष्फलस्य च ॥ ८९ ॥

॥९७॥

जो कोई पुरुष इस विधिका उल्लंघन कर सूत्रको सुनना चाहता है वह अनेक प्रकारके रोगोंको प्राप्त होता है, उसका समाधिमरण वा ध्यान नष्ट होजाता है, उसका स्वाध्याय भंग होजाता है, वह अनेक प्रकारके दु:खोंको भोगता है और उसका वह सुनना सब निष्फल हो जाता है ॥ ८९ ॥ इस प्रकार वाचना नामके स्वाध्यायका स्वरूप कहा ।

पृच्छना संशयोच्छित्यै: प्रश्नः सप्रश्रयो मुनेः ।
स्वोन्नत्यख्यापनार्थं वा प्रहासोद्धर्षवर्जितः ॥ ९० ॥

अपने किसी संशयको दूर करनेके लिए हँसी और उद्धत्ताको छोडकर तथा अपना बडप्पन न दिखलाते हुए बडी नम्रताके साथ जो पूछना है वह मुनिका पृच्छना नामका स्वाध्याय कहलाता है ॥ ९० ॥

अनुप्रेक्षा परिज्ञाते भावना या मुहुर्मुहुः ।
परिवर्त्तनमाम्नायो घोषदोषविवर्जितम् ॥ ९१ ॥

जाने हुए तत्त्वोंको बार बार चिंतवन करना अनुप्रेक्षा नामका स्वाध्याय कहलाता है। तथा शब्दोंके दोषोंसे रहित बार बार पढना, पाठ करना वा घोकना आम्नाय नामका स्वाध्याय कहलाता है ॥ ९१ ॥

द्वादशांगैकदेशोपदेशो धर्मोपदेशनम् ।
पंचप्रकार इत्येष ज्ञानाचार उपाहृतः ॥ ९२ ॥

द्वादशांग श्रुतज्ञानका उपदेश देना अथवा उसके एकदेशका उपदेश देना धर्मोपदेश नामका स्वाध्याय कहलाता है। इस प्रकार वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय और धर्मोपदेशके भेदसे पांच प्रकारका ज्ञानाचार कहलाता है ॥ ९२ ॥

प्रज्ञोन्मेषः प्रशस्तान्तरंगता कर्मनिर्जरा ।
संख्यातीतगुणश्रेण्या चेत्यादि स्यादितो यतेः ॥ ९३ ॥

इस ज्ञानाचारके प्रसादसे- बुद्धिकी तीव्रता होती है, अंतरग प्रसन्न होता है और असंख्यात गुण-श्रेणीके द्वारा मुनियोंके कर्मोंकी निर्जरा होती है। यह सब ज्ञानाचारका फल है। ॥ ९३ ॥

वन्दे श्रीजिनमंजुलास्यकमलामोदं श्रुतं विश्रुतं
चार्वी चारुचरित्रपात्रमुनिवृन्देन्दिन्दिरानन्दिनम् ।
यत्पुष्णाति भवेभवेऽप्यमलिनं ज्ञानं समासेवितम्
कैवल्यं च समस्तवस्तुविषयं तद्विस्मृतं यद्यपि ॥ ९४ ॥

यह सम्यग्ज्ञान श्री अरहत देवके सुंदर मुखरूपी कमलसे निकली हुई सुगंधिके समान है, श्रुतज्ञान इसका नाम है, ससारभरमें यह प्रसिद्ध है, अत्यंत श्रेष्ठ है, उत्तम सम्यक्चारित्रके पात्र ऐसे मुनि समूहोंकी तपश्चरणरूपी लक्ष्मीको आनद देनेवाला है और सदा निर्मल है ऐसे इस ज्ञानकी जो सेवा करते हैं वे चाहे उस ज्ञानको भूल जावें तथापि वे प्रत्येक भवमें समस्त पदार्थोंके यथार्थ और स्पष्ट स्वरूपको जाननेवाले केवल ज्ञानकी पुष्टि करते है। ऐसे इस सम्याज्ञानको मैं नमस्कार करता हू ॥ ९५ ॥

गंभीरं मधुरं मनोहरतरं दोषव्यपेतं हितं
कंठौष्ठादिवचोनिमित्तरहितं नो वातरोधोद्गतम् ।
स्पष्टं तत्तदभीष्टवस्तुकथकं निःशेषभाषात्मकं
दूरासन्नसमं समं निरुपमं जैनं वचः पातु वः ॥ ९५ ॥

भगवान जिनेन्द्रदेवके जो वचन अत्यत गभीर है, मधुर है, अत्यत मनोहर हैं, सब तरहके दोषोंसे रहित हैं, सबका हित करनेवाले है, कठ, ओठ आदि वचनोंको प्रगट करनेवाले निमित्त कारणोंसे सदा रहित है, जो वायुके रोकनेसे प्रगट नहीं होते अर्थात् वायुको रोकनेके विनाही जो प्रगट होते हैं, स्पष्ट वा प्रत्यक्ष हैं, प्रत्येक प्राणी की इच्छाके अनुसार पदार्थोंके स्वरूपको प्रगट करनेवाले है, जो समस्त भाषामय हैं; दूर और

॥९१॥

समीपसे जो एकसे सुनाई पडते है, जो सबके लिए एकसे है, और उपमा रहित है ऐसे भगवान् जिनेंद्रदेवके वचन तुम लोगोंकी सदा रक्षा करें ॥ ९५ ॥

येनाऽज्ञानतमस्तातिर्विघटिता ज्ञेये हिते चाहिते
हानादानमुपेक्षणं च समभूत्तस्मिन्पुनः प्राणिनाम् ।
येनेयं दृगुपैति तां परमतां भूतं च येनानिशं
तज्ज्ञानं मम मानसांबुजमुदे स्तात्सूर्यवर्योदयम् ॥ ९६ ॥

जिस ज्ञानके प्रगट होनेसे जानने योग्य पदार्थोंमें, हितरूप पदार्थोंमें तथा आहित करनेवाले पदार्थोंमें अज्ञानरूपी अंधेरेका समूह नष्ट होजाता है, तथा जिस ज्ञानके प्रगट होनेसे प्राणियोंको ग्रहण करना त्याग करना तथा उपेक्षाकरने (आत्माके हित करनेवाले उत्तम क्षमादिक गुणोंको ग्रहण करना तथा आत्माका अहित करनेवाले क्रोध, मान, माया, लोभादिकका त्याग करना और इष्ट अनिष्ट समस्त पदार्थोंमें राग, द्वेष छोडकर उपेक्षा वा वैराग्य रूप परिणामोंका धारण करना) रूप ज्ञानका यथार्थ फल प्रगट होता है, तथा जिस ज्ञानसे यह सम्यग्दर्शन अत्यत उत्कृष्ट अवस्थाको प्राप्त होजाता है। तथा जिस ज्ञानसे यह सम्यक्चारित्र प्रतिदिन उत्तमताको प्राप्त होता चला जाता है। ऐसा सूर्यके उदयके समान यह सम्यग्ज्ञान मेरे मनरूपी कमलको सदा प्रफुल्लित करता रहो ॥ ९६ ॥

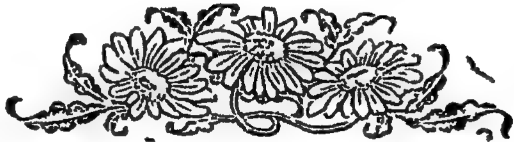
इस प्रकार सम्यग्ज्ञानकी प्रशसा कर आगे अध्यायके अंतमें भगवान् मल्लिनाथका स्मरण करते है।

ज्ञानं यदीयं विगतोपमानं ।
सर्वं यदन्तः परमाणुखर्वम् ॥
पायात्स सर्वावृतिजादपाया-
न्नाथस्त्रिलोक्या वरमल्लिनाथः ॥ ९७ ॥

जिन भगवान् मल्लिनाथका ज्ञान उपमा रहित है। जिस ज्ञानके भीतर यह समस्त लोक अलोक परमाणुके समान अत्यत छोटा जान पडता है ऐसे वे तीनों लोकोंके स्वामी भगवान् मल्लिनाथ, ज्ञानावरण तथा दर्शनावरण कर्मसे उत्पन्न होनेवाले अपायसे हम लोगोंकी रक्षा करें ॥ ९७ ॥

इति श्रीमद्वीरनंदिसिद्धांतचक्रवर्तिविरचिते श्रीआचारसारनाम्नि
शास्त्रे ज्ञानाचारवर्णनात्मकस्तुर्योऽधिकार ।

इसप्रकार श्री वीरनदि सिद्धातचक्रवर्ति विरचित श्री आचारसार नामके
शास्त्रकी चावली (आगरा) निवासी, देहली प्रवासी 'धर्मरत्न'
लालाराम शास्त्री द्वारा निर्मित सरल हिंदी भ.पाटीकामे
ज्ञानाचारके स्वरूपको वर्णन करनेवाला यह
चौथा अधिकार समाप्त हुआ ।



॥ अथ पंचमोऽधिकारः ॥५॥

श्रीसंभवं भजत संचितपुण्यराशे–
नुर्येन भीकरतरस्य भवांबुराशेः ।
लीलासमुत्तरणकारणयानपात्रं
प्रोक्तं गुणोत्करनिरास्रवणं चरित्रम् ॥ १ ॥

॥ पांचवा अधिकार ॥

जिन श्री शभवनाथ स्वामीने पुण्यराशिको संचित करनेवाले मनुष्योंके लिए अत्यंत भयानक ऐसे संसाररूपी महासागरसे लीलामात्रमें पार कर देनेवाले जहाजके समान तथा अनेक गुणोंके समूह और आश्रवको रोकनेवाले चारित्रका निरूपण किया है ऐसे श्री शभवनाथ स्वामीको हे भव्य जीवो! सदा सेवन करो ॥ १ ॥

आगे चारित्रका लक्षण कहते हैं——

मनोवचनकायानां पापरूपक्रियात्ययात् ।
पंचप्रकारं चारित्रं स्वस्वरूपमुपैत्यलम् ॥ २ ॥

मन, वचन, कायसे उत्पन्न होनेवालीं पापरूप क्रियाओंका त्याग कर देनेसे पांच प्रकारका चारित्र अपने आत्मस्वरूपको प्राप्त होता है ॥ २ ॥

भावार्थ— पापोंका त्याग कर देना चारित्र है। वह आत्मस्वरूप है और उसके पांच भेद हैं।

तत्सामायिकं छेदोपस्थापनं तद्द्वयात्मिका ।
परिहारर्द्धिः स्यात्सूक्ष्मसांपरायश्च संयमः ॥ ३ ॥
यथाख्यातामितीदानीमेषां रूपं निरूप्यते ।
संसारगरलोदारलतोन्मूलनकारिणाम् ॥ ४ ॥ युग्मम् ।

सामायिक, छेदोपस्थापना, तथा सामायिक और छेदोपस्थापना दोनोंरूप परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसांपराय और यथाख्यात इसप्रकार पांच प्रकारका संयम वा चारित्र कहलाता है। संसाररूपी विषकी बडी भारी लताको जडसे नाश करनेवाले मनुष्योंके लिए आगे क्रमसे उन्हीं पांच प्रकारके चारित्रोंका स्वरूप कहते है ॥ ३-४ ॥

समभेदेन त्यागेनाऽयोऽयनं मतः ।
समयः स एव चारित्रं सामायिकमुत्तमम् ॥ ५ ॥

॥१०२॥

सम् शब्दका अर्थ अच्छीतरह अथवा अभेदरूपसे त्याग करना है। अय शब्दका अर्थ बुद्धिका प्राप्त होना है। जहांपर बुद्धि पांचों पापोंके, अभेदरूप त्यागको प्राप्त हो जाती है अर्थात् जहांपर बुद्धिपूर्वक पांचों पापोंका अभेदरूपसे त्याग कर दिया जाता है उसको समय कहते हैं। तथा ऐसे समयसे उत्पन्न होनेवाले चारित्रको सामायिक चारित्र कहते हैं। यह चारित्र समस्त चारित्रोंमें उत्तम है ॥ ५ ॥

व्रतसमितिगुप्तिगैः पंचपंचत्रिभिर्मतैः ।
छेदैर्भेदैरुपात्यर्थं स्थापनं स्वस्थितिक्रिया ॥ ६ ॥
छेदोपस्थापनं प्रोक्तं सर्वसावद्यवर्जने ।
व्रतं हिंसाऽनृतस्तेयाब्रह्मसंगेष्वसंगमः ॥ ७ ॥ युग्मम् ।

पांच महाव्रत, पांच समिति और तीन गुप्ति इन तेरह प्रकारके चारित्रमें भेद वा दोष लगनेपर उन दोषोंका छेद करना-नाश करना और फिर अपने आत्मामें स्थापन करना, अपने आत्मस्वरूप चारित्रको अपने आत्मामें ही स्थिर रखना सो छेदोपस्थापना नामका चारित्र है। आगे व्रत, समिति आदिको बतलाते हुए व्रतोंको कहते हैं।

हिंसा, असत्य, स्तेय—चोरी, अब्रह्म और परिग्रह इनका त्याग कर देना अर्थात् हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, और परिग्रह इन पांचो पापोंका मन, वचन, काय, कृत, कारित व अनुमोदनासे त्याग कर देना पांच महाव्रत कहलाते है ॥ ६-७ ॥

हिंसाया हिंस्यतां हिंस्रः प्राप्नोति बहुजन्मसु ।
प्राणिहिंसात्महिंसैव सातस्त्याज्या हितैषिणा ॥ ८ ॥

हिंसा करनेवाला यह प्राणी हिंसा करनेसे अनेक जन्मोंतक उन जीवोंके द्वारा हिंसाको प्राप्त होता है—मारा जाता है। इससे सिद्ध होता है कि प्राणियोंकी हिंसा करना अपने आत्माकी ही हिंसा करना है। अतएव अपने आत्माका हित करनेवाले भव्य जीवोंको इस हिंसाका सर्वथा त्याग कर देना चाहिए ॥ ८ ॥

कषायपरिणामः स्यात्प्राणिप्राणवियोजकः ।
हिंसाहिंसकपापानुबन्धबन्धादिकारणम् ॥ ९ ॥

कषायरूप परिणामोंका होना ही प्राणियोंके प्राणोंका वियोग करनेवाला होता है। तथा यही कषायरूप परिणाम, हिंसा करनेवाले जीवको अनेक प्रकारके पापोंका बंध करनेवाले कर्मबंधोंका कारण होता है। अतएव इस कषायरूप परिणामको ही हिंसा कहते है। सो ही सिद्धांतग्रंथोंमें लिखा है ॥ ९ ॥

स्वयं ह्यहिंसा स्वयमेव हिंसनं न तत्पराधीनमिह द्वयं भवेत् ।
प्रमादहीनोऽत्र भवत्यहिंसकः प्रमादयुक्तस्तु सदैव हिंसकः ॥ १० ॥

हिंसा भी स्वयमेव केवल आत्मासे ही होती है और अहिंसा भी केवल अपने आत्मासे ही होती है। हिंसा तथा अहिंसा इन दोनोंमें कोई भी पराधीन वा आत्मासे भिन्न किसी दूसरे कारणसे होनेवाली नहीं है। केवल भेद इतना ही है कि जो जीव प्रमाद रहित है वह अहिंसक है। और जो प्रमाद सहित है वह सदा हिंकस गिना जाता है ॥ १० ॥

संरंभसमारंभारंभैः कायवाङ्मनोयोगैः ।
कृतकारितानुमतिभिः क्रोधाद्यैश्च कारणैः ॥ ११ ॥
पूर्वपूर्वैर्युतैः सर्वैः प्रत्येकं सोत्तरोत्तरैः ।
स्यादुपर्युपर्यन्योन्याभ्यासेऽष्टोत्तरं शतम् ॥ १२ ॥ युग्मम् ।

सरभ, समारभ, आरंभ, मन, वचन, काय ये तीनों योग, कृत, कारित, अनुमोदना तथा क्रोध, मान, माया, लोभ ये चार कषाय इन सब पूर्व पूर्व सहित उत्तरोत्तर कारणोंको परस्पर गुणा कर देनेसे हिंसाके कारणोंके एकसौ आठ भेद होजाते है।

भावार्थ — क्रोधपूर्वक स्वयं किया हुआ कायसंरभ, मानपूर्वक स्वयं किया हुआ कायसंरभ, मायापूर्वक स्वयं किया हुआ कायसंरभ, लोभपूर्वक स्वय किया हुआ कायसरंभ, क्रोधपूर्वक कराया हुआ कायसरभ, मानपूर्वक

॥१०४॥

कराया हुआ कायसंरंभ, मायापूर्वक कराया हुआ कायसंरंभ, लोभपूर्वक कराया हुआ कायसरभ; क्रोधपूर्वक अनुमोदना किया हुआ कायसरभ, मानपूर्वक अनुमोदना किया हुआ कायसरभ, मायापूर्वक अनुमोदना किया हुआ कायसरभ, लोभपूर्वक अनुमोदना किया हुआ कायसंरभ। इसप्रकार कायसरभके बारह भेद होते है। इसीप्रकार बारह भेद वचनसंरंभके होते हैं। तथा बारह भेद मनसरभके होते है। इसप्रकार छत्तीस भेद संरंभके होते है। तथा संरंभके समान ही छत्तिस भेद समारभके और छत्तीस भेद आरंभके होते हैं। इसप्रकार एकसौ आठ भेद होते है। इनको सूचित करनेवाला तथा एकसौ आठ भेदोंमेंसे अलग २ भेदोंको सूचित करनेवाला कोष्ठक इसप्रकार है—

क्रोध १	मान २	माया ३	लोभ ४
कृत ०	कारित ४	अनुमोदना ८	
काय ०	वचन १२	मन २४	
संरंभ ०	समारंभ ३६	आरंभ ७२	

संरंभो हिंसनोक्तत्वं हिंसोपकरणार्जनम् ।
समारंभोऽगिवातादिः स्यादरंभो दयोज्झितः ॥ १३ ॥

॥१०५॥

हिंसा करनेके लिए प्रयत्न करनेका आवेश करना-हिंसा करनेका आवेश करना सरंभ है। हिंसाके कारणोंका मिलाना समारंभ है। और दया रहित होकर प्राणियोंका घात करना आरंभ है ॥ १३ ॥

कायवाङ्मनसां कर्म योगः स्वेन कृतं कृतम् ।
स्वप्रयुक्तान्यनिष्पन्नं हिंसनं कारितं मतत् ॥ १४ ॥
अनुमतमनुज्ञातं कषायः कषतीत्यसौ ।
क्रोधो मानश्च माया स्याल्लोभः संयमदर्शने ॥ १५ ॥

काय, वचन और मनकी क्रियाओंको योग कहते हैं। अपने आप करनेको कृत कहते हैं, स्वय प्रेरणा कर किसी दूसरेसे हिंसा करानेको कारित कहते हैं। जो हिंसा न तो स्वयं की है और न प्रेरणापूर्वक किसीसे कराई है ऐसी हिंसामें भला मानना अनुमत कहलाता है।

जो सम्यग्दर्शन और सम्यग्चारित्रको कसे, कम करे, नाश करे उसको कषाय कहते हैं। उसके चार भेद हैं- क्रोध, मान, माया और लोभ ॥ १४-१५ ॥

परोपघातकृच्चेतो युक्तायुक्तेक्षणक्षयम् ।
क्रोधोंगकंपदाहाक्षिरागवैवर्ण्यलक्षणः ॥ १६ ॥

जिसमें योग्य और अयोग्यका विचार नष्ट हो जाता है ऐसे जो दूसरेके घात करनेके परिणाम हैं उनको क्रोध कहते हैं। शरीरमें कंपा उत्पन्न होजाना, शरीरमें जलन वा दाह होना, नेत्रोंका लाल होजाना तथा नेत्र, मुख आदिमें विकार उत्पन्न होजाना आदि क्रोधके लक्षण हैं ॥ १६ ॥

परुषेर्ष्य मनो मानो निर्दयः परमर्दनः ।
स्वोन्नतानत्यहंकारः परासहनलक्षणः ॥ १७ ॥

कठोर और ईर्ष्या करनेवाले मनको मान कहते हैं। यह मान निर्दय होता है, दूसरेको मर्दन करनेवाला होता है, सदा अपनी उच्चताको ही प्रगट करता रहता है, दूसरेके लिए कभी नम्र नहीं होने देता और

॥१०६॥

दूसरेके उत्कर्षको कभी सहन नहीं होने देता ऐसा यह मान ही अहंकार कहलाता है।

भावार्थ— ये सब मानके लक्षण है ॥ १७ ॥

नानाप्रतारणोपायैर्वंचनाऽऽकुलिता मतिः ।
मायाविनयविश्वासाऽऽभासचेतोहराकृतिः ॥ १८ ॥

अनेक प्रकारके ठगनेके उपायोंके द्वारा दूसरोंके ठगनेके लिए बुद्धिका व्याकुल होना माया है। माया करनेवाला पुरुष कपटरूप बनावटी विनय और कपटरूप झूठा विश्वास दिलाता हुआ अपनी आकृति ऐसी बनाता है जिससे दूसरेका हृदय सहज ही हरण हो जाय ॥ १८ ॥

परिग्रहग्रहातीवलालसं मानसं स्मृतः ।
लोभो लाभातिमोदात्तरक्षणार्तोपलक्षितः ॥ १९ ॥

परिग्रहके ग्रहण करनेमें अत्यत लालसारूप मनका होना लोभ है। लोभी पुरुष धनादिकके लाभ होनेसे अत्यंत प्रसन्न होता है और उस प्राप्त हुए धनकी रक्षा करनेके लिए अत्यत दुखी होता है। ये सब लोभके लक्षण है ॥ १९ ॥

दयामृतरसास्वादं मानसं स्यादहिंसनं ।
जनतात्यन्तविश्रंभमैत्रीस्वर्मोक्षकारणम् ॥ २० ॥

दयारूपी अमृतके रसको आस्वादन वा अनुभव करनेवाली मनकी प्रवृत्तिको ही अहिंसा कहते है। यह अहिंसा ही लोगोमें अत्यत विश्वास उत्पन्न करनेवाली है, मित्रताको प्रगट करनेवाली है। तथा स्वर्ग और मोक्षकी कारण है।

वाङ्मनोगुप्तीर्यादाननिक्षेपसमितीर्विदुः ।
युक्ताः शुद्धेक्षितान्नादिभुक्त्याऽहिंसनभावनाः ॥ २१ ॥

वचनगुप्ति, मनोगुप्ति, ईर्यासमिति, आदाननिक्षेपण समिति और शुद्धआलोकितपानभोजन ये पांच अहिंसा व्रतकी भावना है। इसप्रकार अहिंसा महाव्रतका वर्णन किया। ॥२१॥

अब आगे सत्य महाव्रतका स्वरूप कहते हैं।

वचः सत्यमसत्यं वा स्मृतं जीवाहिते हितम्।
जिह्वाच्छेदादिसर्वस्वहारैनोहेतुरात्मनः ॥ २२ ॥

जो वचन जीवोंका अहित करनेवाले है वे चाहे सत्य हों वा असत्य हों सब असत्य ही कहलाते हैं। असत्यवचन जिह्वाछेदन करनेवाले है, धनधान्यादिक सर्वस्व हरण करनेवाले हैं और आत्माके लिये अनेक पाप उत्पन्न करनेवाले हैं। ॥२२॥

कृतं सत्यमसत्यं वा वचः प्राणिहिते हितम्।
येन सन्मानविश्वासयशांसि लभते नरः ॥ २३ ॥

इसीप्रकार जो वचन प्राणियोंका हित करनेवाले है। वे चाहे असत्य ही क्यों न हों सब सत्य कहलाते है, ऐसे सत्य वचनोंके कारण ही यह मनुष्य सन्मान विश्वास और यशको प्राप्त होता है। ॥२३॥

तन्नामस्थापनारूपभावसंवृतिदशगम्।
संयोजनाजनपदप्रतीत्यसमयाश्रितम् ॥ २४ ॥
संभावनोपमानं चेत्यादि सत्यमनेकधा।
सोदाहरणमत्रैषां लक्षणं वक्ष्यतेऽधुना ॥२५॥

वह सत्य वचन नाम, स्थापना, रूप, भाव, संवृति, देश, सयोजना, जनपद, प्रतीत्य, समयाश्रित संभावना, और उपमा आदिके भेदसे अनेक प्रकार का है। ॥२४–२५॥

अब आगे इन्हीं सब भेदोंका लक्षण उदाहरण साहित कहते हैं।

॥१०८॥

व्यवहारप्रसिद्ध्यर्थमर्थाभावेऽपि लौकिकैः ।
कृतं नाम मतं नामसत्यं चन्द्रादिवन्नृषु ॥ २६ ॥

किसी भी पदार्थमें उसके नामके अनुसार अर्थका अभाव होनेपर भी केवल व्यवहारकी प्रसिद्धिकेलिए लोगोंके द्वारा जो किसी भी पदार्थका इच्छानुसार नाम रक्खा जाता है उसको नामसत्य कहते है। जैसे किसी मनुष्यमें चन्द्रमाके गुण न होनेपर भी उसका नाम चन्द्रमा रख देना नामसत्य है ॥ २६ ॥

धर्मोऽन्यवस्तुनः स्थाप्यतेऽन्यास्मिन्ननुरूपिणि ।
अन्यास्मिन्वा यया मत्या स्थापना सा तया वचः ॥ २७ ॥
सत्यं स्यात्स्थापनासत्यं प्रतिबिंबाक्षतादिषु ।
चन्द्रप्रभजिनेन्द्रोऽयमित्यादि वचनं यथा ॥ २८ ॥ युग्मम् ।

जिस बुद्धिसे किसी अन्य पदार्थका धर्म उस पदार्थके सदृश अथवा विसदृश ऐसे किसी भी अन्य पदार्थमें स्थापन किया जाता है उस बुद्धिसे कहे हुए वचनोंको स्थापना सत्य कहते हैं। जैसे तदाकार बनाये हुए प्रतिबिंबमें अथवा अतदाकार अक्षत आदिकोंमें "ये श्री चन्द्रप्रभ जिनेंद्र है" ऐसी स्थापना कर उस प्रतिबिंबको अथवा उन अक्षतोंको चन्द्रप्रभ जिनेंद्र कहना स्थापना सत्य है ॥ २७-२८

रूप्यते दृश्यते प्रायो यत्तद्रूपं तदर्पणम् ।
रूपसत्यं वचः श्वेता बलाकेत्यादिकं यथा ॥ २९ ॥

जो रूप अधिकतासे दिखाई दे उसीके अनुसार वचन कहना रूपसत्य कहलाता है। जैसे यह बगुलाओंकी पंक्ति सफेद है।

छद्मस्थज्ञानिनो वस्तुयाथात्म्यादर्शनेऽप्यलम् ।
दृष्टदोषापहारेण गुणपोषणकृन्मनः ॥ ३० ॥

॥१०९॥

शक्रः शक्नोति तर्जन्योद्धर्तुं मेरुमपीति वा ॥ ३९ ॥

किसी पदार्थमें रहनेवाले धर्मको निरूपण करनेवाले वचन संभावनासत्य कहे जाते हैं। जैसे इन्द्र अपने हाथकी तर्जनी (अंगूठेके पासकी) उंगलीसे मेरु पर्वतको भी उठा सकता है ३९

उपमोपमयाऽगुण्यगुण्यादेः परिवर्णना ।
आयुः पल्योपमं ग्रीष्मो वन्हिरित्यादि वाग्यथा ॥ ४० ॥

किसी उपमाके द्वारा किसी असख्यात सख्याका भी गुणाकार वर्णन करना उपमासत्य है । जैसे इस जीवकी आयु एक पल्यकी है अथवा दो पल्यकी है, अथवा यह गर्मी अग्नि ही है इत्यादि वचन कहना उपमासत्य है। इसप्रकार सत्यवचनके भेद बतलाये ।

अब आगे सत्यव्रतकी भावना कहते हैं ।

क्रोधभयलोभहास्यत्यागाः सत्यस्य भावनाः ।
अनुवीचीवचश्चेदमागमोचितभाषणम् ॥ ४१ ॥

क्रोधका त्याग, भयका त्याग, लोभका त्याग और हास्यका त्याग तथा अनुवीची भाषण ये पांच सत्यव्रतकी भावनाएं हैं । आगमके अनुसार वचन कहना अनुवीचीभाषण कहलाता है। इसप्रकार सत्यव्रतका निरूपण किया ॥ ४१ ॥

अब अचौर्यव्रतका निरूपण करते हैं ।

परैरदत्तस्याऽऽदाने मनः स्तेयं यदेनसाम् ।
हेतुरत्राऽपि चौरस्य वधबन्धादिदुःखदम् ॥ ४२ ॥

दूसरोंके द्वारा विना दिए हुए पदार्थोंको ग्रहण करनेके लिए मनकी प्रवृत्ति होना चोरी है। यह चोरी करना भी अनेक पापोंका कारण है और इस लोकमें भी वध, बधन आदि अनेक प्रकारके दुःख देनेवाला है ॥ ४· ॥

॥११२॥

स्तेयवर्जनमस्तेयं हेतुः स्वर्गापवर्गयोः ।
जनता येन विश्वासप्रीतिख्यातिसुखास्पदं ॥ ४३ ॥

ऐसी चोरीका त्याग कर देना अचौर्यव्रत है। यह अचौर्यव्रत स्वर्ग और मोक्षका कारण है तथा इसी अचौर्यव्रतके द्वारा लोगोंमें विश्वास होता है, प्रेम बढता है, प्रसिद्धि होती है और सब तरहका सुख प्राप्त होता है ॥ ४३ ॥

याञ्चाऽनुज्ञापना पत्युरात्तानात्मीयभावना ।
योग्याऽन्याऽग्राह्यस्यादानमविवादः सधर्मिभिः ॥ ४४ ॥
इत्यस्तेयव्रते पंच भावनाः कन्दरादिषु ।
स्वभावशून्येष्वावासो मुक्तामोचितसद्मसु ॥ ४५ ॥
परोपरोधाकरणं भैक्ष्यशुद्धिः सधर्मिभिः ।
सहाविवाद इत्येवमथवा पंच भावनाः ॥ ४६ ॥

अपने स्वामीसे मांग लेना, उनकी आज्ञा प्राप्त करलेना, प्राप्त हुए पदार्थको सदा अपनेसे भिन्न समझना, उसे अपना नहीं समझना, योग्य तथा अन्यके ग्रहण न करने योग्य पदार्थोंको ही ग्रहण करना तथा अपने साधर्मी पुरुषोंके साथ "यह तेरा है, यह मेरा है" इत्यादि रूप वादविवाद न करना ये पांच अचौर्यव्रतकी भावनाएं है। अथवा स्वभावसे ही सूनी ऐसी गुफा आदिकोंमें निवास करना, त्याग किए हुए या छोडे हुए वसतिका आदि स्थानोंमें रहना, दूसरेको किसी प्रकारकी रोक टोक न करना, भिक्षाकी शुद्धि रखना, भिक्षाकी विधिमेंसे किसी विधिको न छिपाना और धर्मात्माओंके साथ किसी प्रकारका विवाद न करना ये पांच भी अचौर्य व्रतकी भावनाएं है ॥ ४४-४५-४६ ॥ इसप्रकार अचौर्यव्रतका निरूपण किया।

अब आगे ब्रह्मचर्यव्रतको कहते हैं—

॥११३॥

इसीलिये गोपीने फिर पूछा कि क्या सर्पको मर्दन करनेवाला गरुड पक्षी आया है । गोपीकी इस बातको सुनकर कृष्णको फिर कहना पडा कि नहीं मैं हूं हारी ? हारी शब्दका अर्थ कृष्ण भी है तथा हारी शब्दका अर्थ बंदर भी है । इसी अर्थको मनमें रखकर गोपीने फिर पूछा कि क्या बंदर आया है ? इसप्रकार उत्तर देते देते भी अंतमें जब कोई उत्तर न बना और गोपीके वचनोंसे कृष्णकी बोलती बंद होगई तब कृष्णको चुप होजाना पडा । इसप्रकारके गोपीके द्वारपर जडके समान खडे हुए कृष्ण तुम्हारी रक्षा करे । इसप्रकार कामदेवके वशीभूत होनेपर गोपीके द्वारा कृष्णके ठगे जानेकी बात उन्हींके ग्रंथोंमें लिखी है ॥ १ ॥

आगे फिर भी अब्रह्मके कार्य दिखलाते हैं ।

ब्रह्मा जिह्मितसन्मतिर्बहुमुखः काष्ठेक्षणाद्व्रीतितः
पार्वत्यास्तनुसंप्रवेशविवशश्चार्द्धांगनारी हरः ।
विष्णुर्वारिधिमध्यगो गतधृतिस्तद्दीर्घनिद्रोऽभवत्
त्रैलोक्योन्मथनोत्थमन्मथविभोर्मन्ये शराद्दुर्धरात् ॥ ५२ ॥

मुझे ऐसा तो माल्म होता है कि तीनों लोकोंका मथन करते समय जो कामदेव प्रगट हुआथा उसी सर्वव्यापी कामदेवके दुर्धर बाणोंसे डरकरही मानों जिसकी बुद्धि कामदेवके वशीभूत होनेसे कुटिल होगई है ऐसे ब्रह्माने चारों दिशाओंको देखनेके लिये अपने चार वा पांच मुख[1] बनाये थे । तथा उसी काम

---

१ एकवार ब्रह्माके तपको भ्रष्ट करनेके लिये इन्द्रने तिलोत्तमा नामकी अप्सरा भेजी थी । वह ब्रह्माके सामने नाचने लगी । ब्रह्मा उसे देखने लगा । तब तिलोत्तमा बगलसे नाचने लगी तब ब्रह्माने एकमुख बगलमें भी बना लिया । फिर वह पीछे नाचने लगी तब ब्रह्माने पीछे भी एक मुख बना लिया । फिर वह दुसरी बगल नाचने लगी तब ब्रह्माने उस ओर भी मुख बनाया । तब फिर वह ऊपर नाचने लगी तब ब्रह्माने उसे देखनेके लिये ऊपर भी गधेका मुख बनाया । इसप्रकार ब्रह्माने बहुतसे मुख बनाये ऐसी कथाअन्य मतमें है,

॥११६॥

देवके दुर्धर वाणोंसे डरकर महादेवको पार्वतीके शरीरमें प्रवेशकरनेमें असमर्थ होकर तथा विवश होकर अर्द्धांगनारी बनना पडा था अर्थात् अपने आधे शरीरमें स्त्रीका रूप धारण करना पडा था और उसी कामदेवके दुर्धर वाणोंसे डरकर विष्णुको भी महासमुद्रके बीचमें जाकर और अधीर होकर बडी लंबी नींद लेनी पडी थी। इसप्रकार इस कामदेवके वश होकर ब्रह्मा विष्णु और महादेवको न करने योग्य कार्य करने पडे थे ॥ ५२॥

मारापराभिधानेनाब्रह्मणाऽन्येऽपि तादृशाः ।
जाता विडम्बनापात्रमिदं चित्रं हि नो यतः ॥ ५३ ॥

अथवा इसमें भी कोई आश्चर्यकी वात नहीं है क्योंकि कामदेवका दूसरा नाम मार वा मारनेवाला है। इसीलिये इस " मार,, नामको धारण करनेवाले इस कामदेवके द्वारा ब्रह्मा, विष्णु और महादेवके समान अन्य कितने वैसेही महापुरुप विडंवनाके पात्र हुये है ॥ ५३ ॥

कादम्बरीरसोन्मादं वा हिताहितमोहितम् ।
त्रिवेदोदरिणाभ्रान्तस्वान्तं तद्वादिदं जगत् ॥ ५४ ॥

जिसप्रकार मद्यकेरससे उन्मत्त होकर यह जीव हिताहित जाननेमें मोहित हो जाता है, कुछ नहीं जान सकता उसीप्रकार इस समस्त संसारका हृदय स्त्रीवेद, पुंवेद और नपुंसकवेद इन तीनों वेदोंके उदयसे मोहित होगया है ॥ ५४ ॥

श्रुत्वाऽऽलोक्य न सीधु माद्यति जनः स्पृष्ट्वा च माद्यत्यदः
पीत्वैव श्रवणेक्षणानुभवनैः कान्ताजनानां पुनः ।
लोको मुह्यति चित्रमत्र तु परं प्रभ्रष्टदृष्टिश्रुति-
स्त्यक्त्वा सत्त्वगुणं नयं च विनयं स्याद्दुर्मतिर्दुर्गतिः ॥ ५५ ॥

देखो मद्यके पीने मात्रसे यह मनुष्य उन्मत्त होता है। मद्यका शब्द सुनने, उसको देखने और उसका स्पर्श करनेसे यह मनुष्य कभी मोहित नहीं होता। परंतु स्त्रियोंका शब्द सुननेमात्रसे, उनको देखनेमात्रसे

वेदतीव्रोदयात्कर्म मैथुनं मिथुनस्य यत् ।
तदब्रह्मापदामेकं पदं सद्गुणलोपनम् ॥ ४७ ॥

वेद नामके चारित्रमोहनीय कर्मके उदयसे स्त्री पुरुषोंके द्वारा जो क्रिया की जाती है उसको मैथुन कहते है। यही मैथुन अब्रह्म कहलाता है। यह अब्रह्म अनेक आपत्तियोंका एक मुख्य स्थान है, तथा समस्त श्रेष्ठ गुणोंका लोप करनेवाला है ॥ ४७ ॥

येन बद्धा महादेहा रदिनो मदिनोऽप्यलम् ।
करेणुवशगाः क्लेशमाप्नुवन्त्यवशा नरैः ॥ ४८ ॥

इसी अब्रह्मके कारण बडे भारी शरीरको धारण करनेवाले और मदोन्मत्त हाथी भी हथिनीके वश होकर बांधे जाते हैं और वे वहांपर परवश होकर मनुष्योंके द्वारा दिए हुए अनेक प्रकारके क्लेशोंको भोगते रहते हैं ४८

यच्चैवं जनतामान्यबलिनां गुणशालिनाम् ।
निदानं मानहान्यादिक्लेशानामिह देहिनाम् ॥ ४९ ॥

इसीप्रकार इसी अब्रह्मके कारण लोगोंमें अत्यंत मान्य, बडे बलवान् और अनेक उत्तम गुणोंको धारण करनेवाले जीवोंको भी मानहानि आदि अनेक प्रकारके क्लेश वा दुःख सहने पडते है ॥ ४९ ॥

जिह्मान्तःकरणो ब्रह्मा निजपुत्रीमपत्रपः ।
जगाम किल येनार्द्धनारीत्वं च महेश्वरः ॥ ५० ॥

जिस अब्रह्मके कारण कुटिल हृदयको धारण करनेवाले ब्रह्माने भी निर्लज्ज होकर अपनी पुत्रीके साथ समागम किया था। तथा जिस अब्रह्मके कारण महादेव भी अर्द्धनारीत्वको प्राप्त हुआ था अर्थात् महादेवने भी अपने शरीरका आधा बांया भाग स्त्रीरूप बना लिया था। यह सब कुशीलकी ही महिमा है ॥ ५० ॥

गोविन्दो मन्दधीः प्रीत्या गोपपत्न्या गृहं गतः ।
तयाऽपि च किलात्यन्तं चतुरोक्त्या प्रतारितः ॥ ५१ ॥

॥११४॥

जिस अब्रह्मके कारण मदबुद्धि कृष्ण भी प्रेमके वश होकर गोपीके घर गये थे। तथा उस गोपीने भी अपनी चतुरतासे भरी हुई युक्तियोंके द्वारा उसी कृष्णको खूब अच्छी तरह ठगा था॥ ५१ ॥ सोही उनके ग्रंथोंमें लिखा है। यथा–

अंगुल्या कः कपाटं प्रहरति कुटिले माधवः किं वसन्तो
नो चक्री किं कुलालो नहि धरणीधरः किं द्विजिह्वः फणीद्रः।
नाहं घोरा हि मर्दी त्वमसि खगपति नो हरिः किं कपीन्द्रः
इत्येवं गोपवध्वा प्रतिवचनजडः पातु वः पद्मनाभः ॥ १ ॥

अर्थ – किसी एक समय श्री कृष्ण चद्रावली नामकी गोपीके घर गये थे और उन्होंने किवाड खुलानेके लिये उंगलीसे किवाड खटखटाये थे। उस आवाजको सुनकर उस गोपीने कहा कि मेरे किवाडोंको उंगलीसे कौन बजाता है ? इसप्रकारके कुछ कडे और अवज्ञारूप वचन, सुनकर कृष्णने कहा कि अरी कुटिला मै माधव हूं। माधव शब्दका अर्थ कृष्ण भी है और वसत ऋतु भी है। कृष्णकी इस बातको सुन-कर गोपीने अपनी चतुराईसे अर्थ बदल कर कहा कि क्या वसत ऋतु आगई। यह उत्तर सुनकर कृष्णको फिर कहना पडा कि नहीं मै चक्री हूं। चक्री शब्दका अर्थ चक्रवर्ती है और चाकसे वर्तन बनानेवाला कुंभार भी है। इसीलिये गोपीने फिर अर्थ बदलकर कहा कि क्या कुंभार आया है ? इसको सुनकर विचारे कृष्णको फिर कहना पडा कि नहीं मैं हूं धरणीधर ? धरणीधर शब्दका अर्थ कृष्ण और सर्प भी है। इसीलिये उस चतुर गोपीने फिर भी अर्थ बदलकर पूछा कि क्या दो जिह्वाओंको धारण करनेवाला सर्पराज वा शेषनाग आया है। तब फिर कृष्णने कहा कि नहीं मैं बडेसेबडे सर्पको भी मर्दन करने-वाला हूं कृष्णने काली दहमें सर्पको मर्दन किया था तथा गरुड भी सर्पको मर्दन कर देता है।

१ यह श्लोक अन्यमतके ग्रंथोंका है। उदाहरणके लिये यहां दिया है।

इसीलिये गोपीने फिर पूछा कि क्या सर्पको मर्दन करनेवाला गरुड पक्षी आया है। गोपीकी इस बातको सुनकर कृष्णको फिर कहना पडा कि नहीं मैं हूं हारी ? हारी शब्दका अर्थ कृष्ण भी है तथा हारी शब्दका अर्थ बंदर भी है। इसी अर्थको मनमें रखकर गोपीने फिर पूछा कि क्या बंदर आया है ? इसप्रकार उत्तर देते देते भी अंतमें जब कोई उत्तर न बना और गोपीके वचनोंसे कृष्णकी बोलती बंद होगई तब कृष्णको चुप होजाना पडा। इसप्रकारके गोपीके द्वारपर जडके समान खडे हुए कृष्ण तुम्हारी रक्षा करे। इसप्रकार कामदेवके वशीभूत होनेपर गोपीके द्वारा कृष्णके ठगे जानेकी बात उन्हींके ग्रंथोंमें लिखी है ॥ १ ॥

आगे फिर भी अब्रह्मके कार्य दिखलाते हैं।

ब्रह्मा जिह्मितसन्मतिर्बहुमुखः काष्ठेक्षणाद्भीतितः
पार्वत्यास्तनुसंप्रवेशविवशश्चार्द्धांगनारी हरः।
विष्णुर्वारिधिमध्यगो गतधृतिस्तद्दीर्घनिद्रोऽभवत्
त्रैलोक्योन्मथनोत्थमन्मथविभोर्मन्ये शराद्दुर्धरात् ॥ ५२ ॥

मुझे ऐसा तो मालूम होता है कि तीनों लोकोंका मथन करते समय जो कामदेव प्रगट हुआथा उसी सर्वव्यापी कामदेवके दुर्धर बाणोंसे डरकरही मानों जिसकी बुद्धि कामदेवके वशीभूत होनेसे कुटिल होगई है ऐसे ब्रह्माने चारों दिशाओंको देखनेके लिये अपने चार वा पांच मुख[1] बनाये थे। तथा उसी काम

---

१ एकवार ब्रह्माके तपको भ्रष्ट करनेके लिये इन्द्रने तिलोत्तमा नामकी अप्सरा भेजी थी। वह ब्रह्माके सामने नाचने लगी। ब्रह्मा उसे देखने लगा। तब तिलोत्तमा बगलसे नाचने लगी तब ब्रह्माने एकमुख बगलमें भी बना लिया। फिर वह पीछे नाचने लगी तब ब्रह्माने पीछे भी एक मुख बना लिया। फिर वह दुसरी बगल नाचने लगी तब ब्रह्माने उस ओर भी मुख बनाया। तब फिर वह ऊपर नाचने लगी तब ब्रह्माने उसे देखनेके लिये ऊपर भी गधेका मुख बनाया। इसप्रकार ब्रह्माने बहुतसे मुख बनाये ऐसी कथाअन्य मतमें है,

देवके दुर्धर वाणोंसे डरकर महादेवको पार्वतीके शरीरमें प्रवेशकरनेमें असमर्थ होकर तथा विवश होकर अर्द्धांगनारी बनना पडा था अर्थात् अपने आधे शरीरमें स्त्रीका रूप धारण करना पडा था और उसी कामदेवके दुर्धर वाणोंसे डरकर विष्णुको भी महासमुद्रके बीचमें जाकर और अधीर होकर बडी लंवी नींद लेनी पडी थी। इसप्रकार इस कामदेवके वश होकर ब्रह्मा विष्णु और महादेवको न करने योग्य कार्य करने पडे थे ॥ ५२॥

मारापराभिधानेनाब्रह्मणाऽन्येऽपि तादृशाः ।
जाता विडम्बनापात्रमिदं चित्रं हि नो यतः ॥ ५३ ॥

अथवा इसमें भी कोई आश्चर्यकी बात नहीं है क्योंकि कामदेवका दूसरा नाम मार वा मारनेवाला है। इसीलिये इस "मार,, नामको धारण करनेवाले इस कामदेवके द्वारा ब्रह्मा, विष्णु और महादेवके समान अन्य कितने वैसेही महापुरुष विडंवनाके पात्र हुये है ॥ ५३ ॥

कादम्बरीरसोन्मादं वा हिताहितमोहितम् ।
त्रिवेदोदीरणाभ्रान्तस्वान्तं तद्वादिदं जगत् ॥ ५४ ॥

जिसप्रकार मद्यकेरससे उन्मत्त होकर यह जीव हिताहित जाननेमें मोहित हो जाता है, कुछ नहीं जान सकता उसीपकार इस समस्त संसारका हृदय स्त्रीवेद, पुंवेद और नपुंसकवेद इन तीनों वेदोंके उदयसे मोहित होगया है ॥ ५४ ॥

श्रुत्वाऽऽलोक्य न सीधु माद्यति जनः स्पृष्ट्वा च माद्यत्यदः
पीत्वैव श्रवणेक्षणानुभवनैः कान्ताजनानां पुनः ।
लोको मुह्यति चित्रमत्र तु परं प्रभ्रष्टदृष्टिश्रुति-
स्त्यक्त्वा सत्त्वगुणं नयं च विनयं स्याद्दुर्मतिर्दुर्गतिः ॥ ५५ ॥

देखो मद्यके पीने मात्रसे यह मनुष्य उन्मत्त होता है। मद्यका शब्द सुनने, उसको देखने और उसका स्पर्श करनेसे यह मनुष्य कभी मोहित नहीं होता। परंतु स्त्रियोंका शब्द सुननेमात्रसे, उनको देखनेमात्रसे

॥११७॥

तथा उनका अनुभव करने मात्रसे ही य मनुष्य मोहित हो जाता है । तिसपर भी सबसे बडी आश्चर्यकी बात यह है कि यह मनुष्य सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानसे भ्रष्ट होकर तथा पराक्रम, गुण, नय, विनय आदि सबको छोडकर ऐसी स्त्रीमें मोहित होता है, और इसप्रकार दुर्बुद्धिको धारण कर अनेक दुर्गतियोंको प्राप्त होता रहता है ॥ ५५ ॥

वेदाऽतुच्छोदयादिच्छा पुंस्त्रीतद्द्वयसंश्रया ।
स्त्रीपुंनपुंसकानां स्यादब्रह्मैकाकिनामपि ॥ ५६ ॥

वेद कर्मके तीव्र उदयसे स्त्रियोंको पुरुषोंके साथ रममाण होनेकी, पुरुषोंको स्त्रियोंके साथ रममाण होनेकी और नपुंसककोंको स्त्री पुरुष दोनोंके साथ रममाण होनेकी जो इच्छा होती है उसको अब्रह्म कहते हैं ऐसी इच्छा करने मात्रसे केली स्त्री और अकेले पुरुषको भी अथवा अकेले नपुंसकको भी अब्रह्मका पाप लगा करता है ॥ ५६ ॥

तेनानुन्मथितं चेतो यत्तद् ब्रह्मव्रतं स्मृतम् ।
व्रतव्रातलतामूलं मूलं स्वर्गापवर्गयोः ॥ ५७ ॥

ऐसे उस अब्रह्मके द्वारा हृदयका व्यथित न होना ही ब्रह्मचर्य व्रत कहलाता है । यह ब्रह्मचर्य व्रत व्रतोंके समूहरूप लताओंकी जड है । और स्वर्ग मोक्ष प्राप्त होनेका भी मूल कारण है ॥ ५७ ॥

यन्माहात्म्यान्महाविद्या सेवोद्या वा वसन्त्यलम् ।
जनेऽप्यसंयते यच्च नाम्ना देवव्रतं मतम् ॥ ५८ ॥

इस ब्रह्मचर्यके माहात्म्यसे अनेक महा विद्याएं असंयमी मनुष्योंके लिये भी खूब अच्छी तरह सेवा करनेके लिये तत्पर रहती है । इसके सिवाय यह ब्रह्मचर्य व्रत नामसे भी देवव्रत कहलाता है ।

आगे इसकी भावनाएं बतलाते हैं ।

स्त्रीणां रागकथांगावलोकनादरयोः स्मृतिः ।
त्यागः पूर्वं रतस्योच्चैर्वृष्येष्टस्य रसस्य च ॥ ५९ ॥
स्त्रीसंसक्तवसत्यंगसंस्कारपरिवर्जनम् ।
चेति पंच वदन्त्यार्यास्तुरीयव्रतभावनाः ॥ ६० ॥

स्त्रियोंकी रागरूप कथाओंके सुननेका त्याग, उनके सुंदर अंगोंके निरीक्षण करनेकी लालसाका त्याग, पहले भोगी हुई स्त्रियोंके स्मरण करनेका त्याग, पौष्टिक तथा इष्ट रसके भक्षण करनेका त्याग और स्त्रियोंसे संसर्ग रखनेवाले मकान आदिका तथा अपने शरीरके संस्कार करनेका त्याग ये पांच ब्रह्मचर्य व्रतकी भावनाएं आचार्य वा गणधरोंने बतलाई है ॥ ५९-६० इसप्रकार ब्रह्मचर्य व्रतका वर्णन किया।

अब आगे अपरिग्रहव्रतका स्वरूप कहते हैं।

क्षेत्रं वास्तु धनं धान्यं द्विपदोंगी चतुःपदः ।
यानं शय्याऽऽसनं कुप्यं भांडं चेति बहिर्दश ॥ ६१ ॥

क्षेत्र (खेत), वास्तु (मकान), धन,धान्य, दासी, दास आदि द्विपद (दो पैरवाले सेवक) गाय, भैंस, घोडा आदि चतुष्पद, गाडी, घोडा, मोटार, पालकी आदि सवारीकी चीजें, कुरसी, गादी आदि बैठने की चीजें, चारपाई, गदेला आदि सोनेकी चीजें, वस्त्र, वर्तन, धातु, उपधातु आदि कुप्य भांड ये दश बाह्य परिग्रह कहलाते है ॥ ६१ ॥

मिथ्यात्ववेदहास्यादि षट्कषायचतुष्टयम् ।
रागद्वेषौ च संगाः स्युरन्तरङ्गाश्चतुर्दश ॥ ६२ ॥

इसीप्रकार मिथ्यात्व स्त्री पुं नपुंसकरूप वेद, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, क्रोध, मान, माया, लोभ, राग और द्वेष ये चौदह अंतरंग परिग्रह कहलाते है। इसप्रकार सब चौवीस परिग्रह कहलाते हैं।

सचित्ताऽचित्तरूपैतत्संगसंगिपराः परैः ।
मानासुहान्यतिक्लेशानाप्नुवन्त्यवशाशयाः ॥ ६३ ॥

ये समस्त प्रकारके परिग्रह सचित्त तथा अचित्तके भेदसे दो प्रकारके है । इन दोनों प्रकारके परिग्रहोंको इकट्ठे करनेमें तत्पर रहनेवाले और इसीलिए जिनका हृदय अपने वशमें नहीं है (परिग्रहके वशमें है) ऐसे जीव दूसरोंके द्वारा होनेवाली मानहानि तथा प्राणहानि आदि अत्यंत क्लेशोंको प्राप्त होते रहते हैं ॥ ६३ ॥

या मूर्च्छोच्छेदिनी संगे चेतोवृत्तिरसंगता ।
यया साऽऽत्यन्तिकी मुक्तिश्रीरुपैति यतिं स्वयम् ॥ ६४ ॥

इन परिग्रहोंमें ममत्वरूप मूर्च्छाको जडमूलसे नाश करनेवाली जो चित्तकी प्रवृत्ति है वही परिग्रहत्यागव्रत कहलाता है । इसी परिग्रहत्यागव्रतके कारण मुक्तिरूपी लक्ष्मी मुनिराजोंके पास स्वय जाकर प्राप्त होजाती है ॥ ६४ ॥

स्वात्माऽभ्यन्तररागाद्या यदि त्याज्याः परिग्रहाः ।
बाह्यास्तत्त्वादयः किं नासातसन्ततिकारिणः ॥ ६५ ॥

जब आत्माके भीतर रहनेवाले राग, द्वेष आदि अंतरग परिग्रहही त्याग करने योग्य हैं तो फिर जन्मजन्मांतरतक दु ख देनेवाले शरीर आदिक बाह्य परिग्रह त्याग करने योग्य क्यों नहीं हैं ? अर्थात् वे तो अवश्य ही त्याग करने योग्य है ।

सेवातन्द्राः सुरेन्द्राद्याः क्रूरो मारश्च किंकरः ।
यस्यामद्भुतमाहात्म्यसंगताऽसंगता ततः ॥ ६६ ॥
परिग्रहग्रहोन्मुक्तेरभ्रान्ता स्वान्तसन्ततिः ।
निजानंदामृतामन्दस्यादिनी कैर्न वर्ण्यते ॥ ६७ ॥

इस परिग्रहत्याग व्रतके कारण इद्रादिक देव भी सदा सेवा करनेमें तत्पर रहते है। तथा क्रूर कामदेव भी सदा किंकर वा सेवक बना रहता है। इसके सिवाय इसी परिग्रहत्याग व्रतके होनेपर इस जीवको बडे बडे अद्भुत माहात्म्योंका समागम प्राप्त होता रहता है। इसलिए ही परिग्रहरूपी ग्रह वा पिशाचका परित्याग होजानेसे भ्रांत रहित और केवल आत्मासे उत्पन्न होनेवाले आनंदरूपी अमृतकी तीव्र धारा वहानेवाली जो अपने आत्माकी सदा एकसी रहनेवाली अवस्था है उसे भला कौन वर्णन नही कर सकता? अर्थात् उसका वर्णन सबको करना ही पडता है ॥ ६६-६७ ॥

आगे अपरिग्रह व्रतकी भावनाएं वतलाते हैं।

स्यान्मनोज्ञामनोज्ञाक्षपंचकार्थेषु वर्जनम्।
भावनापंचकं रागद्वेषयोरपरिग्रहे ॥ ६८ ॥

इंद्रियां पांच है तथा उनके विषय भी पांच है। उन पांचों इंद्रियोंके विषयोंमें कितने ही विषय मनोज्ञ वा अच्छे लगनेवाले इष्ट हैं तथा कितने ही अमनोज्ञ वा बुरे लगनेवाले अनिष्ट हैं। उन पांचों इंद्रियोंके इष्ट विषयोमें रागका त्याग कर देना तथा उन्हीं पांचों इंद्रियोंके अनिष्ट विषयोंमें द्वेषका त्याग कर देना परिग्रहत्यागव्रतकी भावनाए कहलाती है ॥ ६८ ॥

महान्तमर्थं मोक्षं यत् साधयन्ति महान्ति तत्।
व्रतान्याचरितानीति वा महद्भिः सुधीधनैः ॥ ६९ ॥

ये अहिंसादिक पांचो व्रत सबसे बडे मोक्षरूप पदार्थको सिद्ध करते है इसलिये इनको महाव्रत कहते हैं। अथवा बडे बडे बुद्धिमान इन व्रतोंको पालन करते है इसलिये भी इन व्रतोंको महाव्रत कहते है ॥६९॥

व्रतत्राणाय कर्त्तव्यं रात्रिभोजनवर्जनम्।
सर्वथान्नान्निवृत्तिस्तत्प्रोक्तं षष्ठमणुव्रतम् ॥७०॥

इन व्रतोंकी रक्षा करनेके लिये रात्रिभोजनका त्याग भी अवश्य कर देना चाहिये। रात्रिभोजनका

त्याग करनेसे व्रतोंकी रक्षा होती है इसीलिए रात्रिमें अन्नका सर्वथा त्याग करनेको गृहस्थोंके लिए छठा अणुव्रत कहा है ॥७०॥

रात्रिभुक्तौ व्रतानां स्यान्नाशः शंका च तत्क्षये ।
प्राणितस्याऽऽत्मनो हानिरङ्ग्यङ्गविषसंगमात् ॥ ७१ ॥

रात्रिमें भोजन करनेसे व्रतोंका नाश होता है । तथा व्रतोंका नाश होनेसे हृदयमे सदा शंका बनी रहती है । इसके सिवाय किसी विषैले प्राणोके शरीरमें रहनवाले विषका समागम होनेसे (भोजनमें किसी विषैले जीवके पडजानेसे) अपने प्राणोंकी भी हानि होती है ॥ ७१ ॥ इस प्रकार महाव्रतोंका वर्णन किय ।

अब आगे पांच समितियोंका वर्णन करते हैं ।

ईर्याभाषैषणादानानिक्षेपोत्सर्गकर्मसु ।
संयत्नादितयः पंचवृत्तयः समितिप्रथाः ॥ ७२ ॥

ईर्यासमिति, भाषासमिति, एषणासमिति, आदाननिक्षेपणसमिति और उत्सर्ग समिति ये पांच समिति कहलाती है । सं शब्दका अर्थ यत्नाचारपूर्वक है, और इति शब्दका अर्थ प्रवृत्ति है । ईर्या अर्थात् चलनेमें भाषा अर्थात् बोलनेमें, एषणा अर्थात् आहार ग्रहण करनेमें, आदाननिक्षेपण अर्थात् पींछी, कमण्डलु, शास्त्र आदिके उठाने रखनेमें और उत्सर्ग अर्थात् मलमूत्र करनेमें यत्नाचारपूर्वक प्रवृत्ति करना जिससे किसी भी जीवको बाधा न होने पावे उसको समिति कहते हैं । ऐसी समिति ऊपर लिखे अनुसार पांच है ॥ ७२ ॥

साद्रां कर्दमशेवालजलपुष्पफलाविलाम् ।
इलां त्यक्तांकुरानीकप्राणिबीजव्रजाकुलाम् ॥ ७३ ॥
काष्ठेष्टकाश्मलोष्ठादिकृतवर्त्माऽसमं चलं ।
त्यक्त्वा संशयितं चात्मपातासंयमहेतुकम् ॥ ७४ ॥

मार्गे रथाश्वगोयूथनरादिचरणाहतिः ।
प्रासुकेऽपगताऽऽयातप्राणिप्रालेयजालके ॥ ७५ ॥
प्रभाकरकरव्रातस्पष्टज्ञेयार्थसार्थिनी ।
योगिनस्तीर्थयात्रात्मगुरुकार्यादिभागिनः ॥ ७६ ॥
स्थित्वा कार्यवशान्मन्दं मृगवद्दिग्विलोकिनः ।
पुरो युगान्तरे प्राणिवीक्षणार्पितचेतसः ॥ ७७ ॥
मन्दं न्यस्तपदापास्तद्रुतातीव्रविलंबिनः ।
द्विपेंद्रमन्दयानस्य स्यादीर्यासमितिर्गतिः ॥ ७८ ॥ षट्कम् ।

जो पृथ्वी गीली हो, जिसपर कीचड हो, शेवाल (काई अथवा पानीके ऊपर रहनेवाली हरी हरी घासके समान शेवाल) हो, जिसपर जल भरा हो, फूल वा फल विछे हों, जिसपर अकूरे जमे हों, जिसपर सेना चल रही हो अथवा युद्ध होरहा हो, जिसपर प्राणी हों वा बीजोंके समूह फैले हों ऐसी पृथ्वीको छोडकर गमन करना चाहिए। इसीप्रकार जो मार्ग लकडी, ईट, पत्थर, मिट्टीके ढेले आदिसे कृत्रिम बनाया गया हो, जो मार्ग ऊंचा नीचा हो, जो चल हो अर्थात् जिसे चाहे जहां उठाकर रख दे सकें, जिस मार्गमें किसी प्रकारका संदेह हो अथवा यह मार्ग है अथवा नहीं इसप्रकारका जिसमें संदेह हो, जिसमें अपने पड जानेका कारण दिखाई देता हो अथवा जिसमें असंयमका कारण दिखाई देता हो ऐसे मार्गको भी छोडकर गमन करना चाहिए। जो मार्ग रथ, घोडे, गायोंके समूह और मनुष्य आदिके चरणोंसे आहत होचुका है, जो मार्ग प्रासुक है जिसमें से रात्रिमें गमन करनेवाले प्राणी और ओसके जाल आदि सब दूर होगये है, तथा जिसमें सूर्यकी किरणोंके समूहसे जानने योग्य समस्त पदार्थ स्पष्ट दिखाई दे रहे है ऐसे मार्गमें गमन करना चाहिए। मुनिराज चाहे तो तीर्थ-यात्राके लिए गमन करें और चाहे गुरु-अचार्यके किसी कामके लिए गमन करें अथवा अपने किसी

कामके लिए गमन करें, किसी भी कार्यके लिए गमन करें उनको ठहरते हुए गमन करना चाहिए, हिरणके समान सब दिशाओंको देखते हुए मद मद रीतिसे गमन करना चाहिए । मुनिराजको गमन करते समय सामने अपने शरीरप्रमाण चार हाथ भूमितक प्राणियोंको देखनेमें अपना हृदय लगाये रखना चाहिए । अपने चरणोंको धीरे २ रखना चाहिए । न बहुत शीघ्रताके साथ चलना चाहिए और न बहुत मंदताके साथ चलना चाहिए । किंतु बडे गजराजके समान मंद रीतिसे गमन करना चाहिए । मुनिराजके इस प्रकार गमन करनेको ईर्यासमिति कहते हैं ॥ ७३-७८ ॥ इस प्रकार ईर्यासमितिका स्वरूप कहा ।

अब आगे भाषासमितिका स्वरूप कहते हैं ।

सत्यमोषोभयासत्यमोषभेदाच्चतुर्विधा ।
भाषाद्या सत्यबोधार्थवाग्घटे घटवाग्यथा ॥ ७९ ॥

सत्य, असत्य, उभय और अनुभयके भेदसे भाषाके चार भेद होते हैं । उनमेंसे जो भाषा यथार्थ सत्यज्ञानके विषयरूप वचनोंको कहनेवाली सत्यभाषा कहलाती है जैसे घडेके लिए "यह घडा है," ऐसा वचन कहना सत्यभाषा कहलाती है ॥ ७९ ॥

मोषभाषा विपर्यासव्यवसायार्थगोचरा ।
यथा मरीचिकाचक्रे वार्वाक्साऽनेकभेदगा ॥ ८० ॥

पदार्थोंके स्वरूपको विपरीत निश्चय करानेवाले वचनोंको असत्य भाषा कहते हैं । जैसे मरीचिकाके समूहमें (बालूके समूहमें) "यह जल है," ऐसे वचन कहना असत्यभाषा है । इस असत्य भाषाके अनेक भेद होते है ॥ ८० ॥

धर्मैर्विवक्षितैः सत्येऽसत्ये चार्थाविवक्षितैः ।
वाक् प्रवृत्तोभयाख्या सा भाषेतीहेष्यते यथा ॥ ८१ ॥

घटाकृतिव्यपेताया धारणाद्भूरिवारिणः ।
कुंडिकाया घटाख्यैवं वहुभेदामिदं वचः ॥ ८२ ॥

विवक्षित धर्मोंके द्वारा पदार्थोंके सत्य स्वरूपमें तथा अविवक्षित धर्मोंके द्वारा पदार्थोंके असत्य स्वरूपमें जो वचन प्रवृत्त होते हैं वे उभयवचन कहलाते है । जैसे- जिसका घडेका आकार तो नहीं है परतु उसमें पानी बहुत समाता है ऐसी कूंडी को घडा कहना उभयवचन है। इस उभय भाषाके भी बहुतसे भेद होते है । इसका अभिप्राय यही है कि कुंडी घडा नहीं है । क्योंकि घडेका आकार भिन्न होता है और कुंडीका आकार भिन्न होता है । इसलिए कुंडी घडा नहीं है किंतु पानी दोनोंमें भरा जाता है । काम दोनोंका समान है । अतएव कुडीको घडा कहना ठीक भी है । इसलिए ऐसी भाषाको उभय भाषा कहते हैं ॥ ८१ ८२ ॥

आमंत्रणामाज्ञापनं याञ्चावाक् प्रच्छनावचः ।
प्रज्ञापनावचः प्रत्याख्यानसंशयभाषणम् ॥ ८३ ॥
इच्छाऽनुलोमवचनमनक्षरमयं वचः ।
इत्येवमादयः सत्यमोषभेदाः सहस्रशः ॥ ८४ ॥

आमत्रण अर्थात् बुलानेके लिए संबोधनरूप वचन, आज्ञापन अर्थात् आज्ञारूप वचन, याचनारूप (मागनेके) वचन, पृच्छना अर्थात् पूछनेके वचन, प्रज्ञापना अर्थात् निवेदन करनेरूप वचन, प्रत्याख्यान अर्थात् त्याग करनेरूप वचन, संदेहरूप वचन, इच्छानुलोम अर्थात् इच्छाओंको पूर्ण करनेवाले वचन और अनक्षररूप वचन आदिके भेदसे अनुभय वचनके हजारों भेद होते हैं ॥ ८३-८४ ॥

तत्रामंत्रणमन्यस्य परत्राऽऽसक्तचेतसः ।
आभिमुख्यकरं हंहो नरेंद्रेत्यादिकं वचः ॥ ८५ ॥

जिसका हृदय किसी दूसरी ओर लग रहा है ऐसे किसी अन्य मनुष्यको अपने सन्मुख करनेके

लिए बुलाना आमंत्रण कहलाता है । जैसे कोई नरेंद्र नामका मनुष्य जारहा हो उसको अपने सन्मुख करनेके लिए बुलाना " हे नरेंद्र! " ऐसे वचनोंको आमत्रणरूप वचन कहते हैं ॥ ८५ ॥

आज्ञापनं प्रभुत्वेनाऽऽदेशो यः स्वोक्तकारिणा ।
तत्किंचिदाशु कर्त्तव्यं यन्मया दिश्यते तव ॥ ८६ ॥

अपने कहे हुये बचनोंके अनुसार कार्य करानेवाले स्वामीके द्वारा जो आज्ञारूप वचन कहे जाते है उनको आज्ञापन कहते है । जैसे " जो कार्य मैं इस समय बतला रहा हूं उसे कुछ जल्दी करो " इस प्रकारकी आज्ञा देना आज्ञापन वचन हैं ॥ ८६ ॥

याञ्चा मयाऽर्थितं किंचिद्दत्तद्देयमिति त्वया ।
कथ्यतां यन्मया पृष्टं तदित्याप्रच्छनावचः ॥ ८७ ॥

मागनेरूप वचनोंको याचना कहते है । जैसे " जो कुछ मैने आपसे प्रार्थना की है कृपाकर आप उसे दे दीजिये " ऐसे मागनेरूप वचन याचनारूप वचन कहलाते हैं । इसीप्रकार " जो कुछ मैने पूछा है कृपाकर उसका उत्तर दीजिये " इसप्रकार पूछनेरूप वचनोंको आपृच्छन कहते हैं ॥ ८७ ॥

मत्पृष्टं यत्तदादेश्यमिति प्रज्ञापना गुरौ ।
प्रत्याख्यानमहं किंचित्त्यजामीति निवृत्तिवाक् ॥ ८८ ॥

अपने गुरुसे कुछ निवेदन करना कि " जो कुछ मैने पूछा है कृपाकर उसकी आज्ञा दीजिए " ऐसे वचनोंको प्रज्ञापना वचन कहते हैं । तथा " मैं यह त्याग करता हूं अथवा कुछ त्याग करता हू " ऐसे निवृत्तिरूप-त्यागरूप वचनोंको प्रत्याख्यान वचन कहते है ॥ ८८ ॥

संशीत्यैतत्किमित्यादि वचः संशयवाङ्मता ।
तवेष्टं पुष्टं कुर्वेऽहमित्याद्येच्छानुलोमवाक् ॥ ८९ ॥

किसी संदेहमें पडकर " यह क्या है " इसप्रकारके वचन कहना सशयरूप वचन कहलाते है । तथा

"मै तुम्हारे इष्ट पदार्थकी ही पुष्टि करुंगा" ऐसे वचनोंको इच्छानुलोम वचन अथवा इच्छानुसार कहे जानेवाले वचन कहते है ॥ ८९ ॥

वालादिसंज्ञ्यसंज्ञ्यंगिवागनक्षरवागिमाः ।
न सत्यं स्पष्टताऽभावान्नासत्यं वाच्यसंभवात् ॥ ९० ॥

बालक आदि सेनी जीवोंके वचन तथा असेनी जीवोंके वचन अनक्षररूप वचन कहलाते है। ये ऊपर बतलाये हुए सब तरहके वचन स्पष्ट नहीं होते इसलिए तो ये सत्य नहीं कहे जासकते। तथा इनका वाच्य कुछ न कुछ पदार्थ होता ही है इसलिए इन वचनोंको असत्य भी नहीं कह सकते। अतएव इन वचनोंको अनुभयरूप वचन कहते है ॥ ९० ॥

मितसत्याहितस्योक्ति र्मनःसन्देहभेदिनः ।
वचसोऽनुभयस्यापि भाषासमितिरिष्यते ॥ ९१ ॥

मनके संदेहको दूर करनेवाले हितरूप तथा परिमित सत्य वचन कहना भाषासमिति कहलाती है यदि ऐसे वचन अनुभयरूप भी हो तो भी वे भाषासमिति कहलाते हैं ॥ ९१ ॥ इस प्रकार भाषा समितिका स्वरूप कहा।

अब आगे एषणासमितिका स्वरूप कहते हैं।

अपवित्रमिदं गात्रं विण्मूत्रादिमलाविलम् ।
क्षयि नक्षोग्ररोगादिपीडानीडं जडात्मकम् ॥ ९२ ॥
साहचर्यमनेनाऽऽर्यः कथं कुर्याद्दुरात्मनः ।
अन्यः स्वान्यपरिज्ञानापेतचेतोहतात्मनः ॥ ९३ ॥

यह शरीर अत्यत अपवित्र है, मूत्र, विष्ठा आदि अनेक प्रकारके मलोसे भरा हुआ है। नाश होनेवाला है, नीच है, अनेक बडे बडे रोग, व्याधि आदि पीडाओंका स्थान है और जडस्वरूप है।

॥१२७॥

इसप्रकार समझनेवाले तथा अपना आत्मा और शरीर इन दोनोंके ज्ञानसे जिनका हृदय शून्य है और इसीलिए जिनका आत्मा नष्टप्रायः होगया है ऐसे दुरात्माओंसे भिन्न सम्यग्दृष्टी तथा सम्यग्चारित्रको पालन करनेवाले आर्यपुरुष वा मुनिराज भला ऐसे इस जडरूप शरीरके साथ अपना संबंध किस प्रकार कर सकते है ?

भावार्थ— शरीर और आत्माके स्वरूपको न समझनेवाले और इसीलिए दोनोंको भिन्न भिन्न न माननेवाले मिथ्यादृष्टी जीव यदि शरीरसे संबंध रक्खें—उसको अपना मानें तो किसी प्रकार ठीक भी कहा जासकता है। परतु जो आत्मा और शरीरको सर्वथा भिन्न अनुभव करनेवाले मुनिराज हैं वे भला इस शरीरको अपना कैसे मान सकते हैं ? कभी नहीं ॥ ९२-९३ ॥

मिताशनादिदानेन नेयः कायस्तथाप्यऽयम् ।
यथा रथोऽक्षसंम्रक्षणेन स्तंभैः कुटुंबिनाम् ॥ ९४ ॥

इसप्रकार यद्यपि मुनिराज इस शरीरको अपना नहीं समझते हैं तथापि जिसप्रकार पहियोंके धुरामें थोडासा तेल देकर रथको चलाते हैं अथवा खंबे लगाकर कुटुंबियोंके रहनेका घर कायम बनाए रखते है उसी प्रकार थोडासा भोजन आदि देकर इस शरीरको भी चलाना चाहिए अथवा कायम रखना चाहिये ॥ ९४ ॥

अप्राप्तावसरेणैषा रक्षणीयो मुमुक्षुणा ।
कायो वहति नो लोकः किं मूर्ध्ना दग्धुमिन्धनम् ॥ ९५ ॥

इसका भी कारण यह है कि मोक्षकी इच्छा करनेवाले मनुष्यको जबतक मुक्त होनेका समय न आवे तबतक इस शरीरकी रक्षा करनी चाहिए अथवा इसको कायम रखना चाहिए । क्या जलानेके काममे आनेवाले ईंधनको लोग मस्तकपर धारण कर नहीं ले जाते हैं ? किंतु ले ही जाते हैं ॥ ९५ ॥

एतद्रत्नत्रयीपात्रं नांगत्यंगं विनाऽशनम् ।
पुष्यात्तत्तेन सिद्ध्यर्थं स्वार्थभ्रंशो हि मूर्खता ॥ ९६ ॥

यह शरीर रत्नत्रय धारण करनेका पात्र है और वह विना भोजनके ठहर नहीं सकता। अतएव रत्नत्रयको सिद्ध करनेके लिए इस शरीरका पालन करना भी आवश्यक है। क्योंकि अपने स्वार्थसे भ्रष्ट होना भी तो मूर्खता ही है। अर्थात् इस शरीरके द्वारा तपश्चरण कर मोक्ष प्राप्त करना आवश्यक है इस लिए इसको पालन करना भी आवश्यक है ॥ ९६ ॥

आगे गमन करनेकी योग्यता बतलाते हैं।

मत्वेति द्रव्यदेशात्मदेहप्रकृतिनिश्चितः।
कालं गवेणषस्यैषणस्य ज्ञात्वाऽर्कचारतः ॥ ९७ ॥
पूर्णोदरचरत्तोकैरगारवलिकर्मणा।
छायया मुशलध्वानधूमशान्त्यादिकैरपि ॥ ९८ ॥
शुद्धकायः पुरीषादिमलोत्सर्गविधानतः।
परिमृष्टात्मपूर्वापरांगभागो विलोक्य च ॥ ९९ ॥
ततः पंचगुरून्नत्वा भूत्वैकाग्रमतिर्यतिः।
कुर्याच्चर्यां नगर्यादावदनाननमानसः ॥ १०० ॥

इसप्रकार समझकर तथा द्रव्य, देश और अपने शरीरकी प्रकृतिका निश्चय कर और सूर्यकी गतिसे—सूर्यके गमन करनेसे अपने भोजनके ढूंढनेका समय जानलेना चाहिए। इसके सिवाय मुनियोंको देख लेना चाहिये कि वच्चे अपना २ पेट भरकर खेल रहे हैं। गृहस्थलोग वलिकर्म कर रहे हैं (भोजनके पहले जो वहां रहनेवाले देवताओंके लिए आहारपिंड दिया जाता है उसको वलिकर्म कहते हैं) सूर्यसे पडने-वाली वृक्षादिकोंकी छाया ठीक समयपर आगई है अथवा मूसलके (धान कूटनेके) शब्द वंद होगये हैं और धूआं शांत होगया है। इन सव वातोंको जानकर भोजनके ढूंढनेका समय जानलेना चाहिये।

तदनतर मल, मूत्र आदिका परित्याग कर तथा और भी ऐसी क्रियाए करके अपना शरीर

शुद्ध कर लेना चाहिए और फिर अपने शरीरके अगले पिछले सब भागोंको पीछीसे मार्जन कर लेना चाहिए-पोंछ डालना चाहिए तथा देख भी लेना चाहिए। फिर उन मुनिराजको पंचपरमेष्ठीके लिए नमस्कार करना चाहिए और फिर एकाग्रचित्त होकर अपने मनमें तथा मुखपर अदीनताका उच्चतम भाव धारण करते हुए नगर आदिमें चर्या (आहारके लिए गमन) करनी चाहिए ॥ ९७-१०० ॥

वर्येर्यासमितिर्भीतिभ्रान्तिप्रीत्यादिवर्जितः ।
भटकुक्कुटडिंभस्त्रीयुद्धनृत्यादिवीक्षणे ॥ १०१ ॥
विहायोल्लघनं जानुदेशादुन्नतवस्तुनः ।
नाभिनीचं च संकीर्णद्वारं मार्गं च दुर्गमम् ॥ १०२ ॥
परिहृत्य च दूरेण कासराद्युग्रशृंगिणः ।
कुंजरोष्ट्रतुरंगार्भांश्चोन्मत्तञ्च नृपोत्रिणः ॥ १०३ ॥
कुलं तलारकारूणां सूनामैरेयकारिणाम् ।
त्यक्त्वा प्रसूतिकावन्दिवादित्रत्रयजीविनाम् ॥ १०४ ॥
प्रपापण्याङ्गनाऽनाथाऽव्रतिकाऽभक्तमन्दिरम् ।
वार्यमाणं विवाहादिमंगलं लोकनिन्दितम् ॥ १०५ ॥
यज्ञभोजनशालां च कदर्यमृतकालयम् ।
बद्धं गेहं कवाटादिस्थगितादिकमद्दिशम् ॥ १०६ ॥
अतिप्रसंगसंक्लेशावज्ञादुःकीर्त्यसंयमः ।
श्रुतलोकविरोधाद्या यत्स्युस्तद्गेहसंश्रयात् ॥ १०७ ॥

॥१३०॥

क्रमेण योग्यागारालिं पर्यटन्प्रांगणं मितम् ।
विशेन्मौनी विकारांगसंज्ञायाच्ञ्योज्झितो यतिः ॥ १०८ ॥

उस समय मुनियोंको श्रेष्ठ ईर्यासमितिसे गमन करना चाहिए। तथा योद्धा, मुर्गे, बालक स्त्री, युद्ध, नृत्य आदिके देखनेमें भय, भ्रांति वा प्रेम आदि सबका त्याग कर देना चाहिए। चलते समय घुटनेसे ऊंचे किसी भी पदार्थको उल्लघन नहीं करना चाहिये और नाभिसे नीचे नवकर मार्गको उल्लंघन नहीं करना चाहिए। इसी प्रकार जो दरवाजा अत्यत सकीर्ण हो उसमें होकर भी नहीं जाना चाहिए तथा जो मार्ग दुर्गम हो उसमें होकर भी नहीं जाना चाहिए। भैंस वा भैंसा आदि उग्र सींगवाले पशुओंसे दूर बचकर निकलना चाहिए। इसीप्रकार हाथी, ऊंट, घोडा, उन्मत्तमनुष्य अग्नि और सूअर आदिकोंसे भी दूर बचकर निकलना चाहिए। कोतवालके कुलमें, नाई, धोबी आदि कारु शूद्रोंके कुलमें, चक्की, चूल्हा, ओखली आदि बनानेवालोंके कुलमें और मद्य बनानेवाले पापियोंके कुलमें नहीं जाना चाहिए। इसी प्रकार जो प्रसूति कर जीविका करते है, जो बदिजनोंका काम करते है– दूसरोंका यश गाकर जीविका करते है, गाकर, बजाकर वा नृत्य कर जीविका करते है ऐसे कुलोंमे भी मुनियोंको आहारके लिए नहीं जाना चाहिए। इसीप्रकार प्याऊवालेके घर, वेश्याके घर, अनाथके घर, अव्रतीके घर और अपनी भक्ति न करनेवालेके घर आहारके लिए नहीं जाना चाहिए। तथा जिस घरमें जानेसे कोई रोक दे, जिस घरमें विवाहादिक मांगलिक कार्य हो रहे हो और जो घर लोकनिंदित हो ऐसे घरोंको सर्वथा छोड देना चाहिये। अर्थात् ऐसे घरोंमे नहीं जाना चाहिये। जो यज्ञशाला हो, भोजनशाला हो, कृपणका मकान हो, सूतकका स्थान हो, जो घर बंद पडा हो और जिस घरके किवाड लगे हों तथा और भी जो ऐसे ही मकान हो उनमें मुनियोंको आहारके लिये कभी नहीं जाना चाहिये। इसका भी कारण यह है कि ऐसे घरोंमें जानेसे अतिप्रसंग दोष आता है, परिणामोंमें संक्लेशभाव उत्पन्न होजाता है, अपनी अवज्ञा वा तिरस्कार होता है, अपकीर्ति

॥१३१॥

॥१३२॥

होती है, संयमका नाश होता है, शास्त्रका विरोध होता है और लोकका विरोध होता है। अतएव ऊपर लिखे घरोंमें मुनियोंको आहारके लिये कभी नहीं जाना चाहिये। उन मुनिराजको अनुक्रमसे योग्य घरोंके समूहमें आहारके लिये घूमना चाहिये। मौन धारण कर आंगनके नियमित भाग-तक (जहांतक सर्वसाधारण लोग आ जा सकते हों) प्रवेश करना चाहिये तथा विकार, शरीरके इशारे और याचना आदिका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये ॥ १०१-१०८ ॥

इन्दोर्वन्द्या गतिर्यद्वन्नक्षत्रक्षेत्रचारिणः ।
तद्वन्मुनेश्च पुण्यानुग्राह्यगेहानुसारिणः ॥ १०९ ॥

जिस प्रकार नक्षत्रोंके क्षेत्रमें गमन करनेवाले चंद्रमाकी गति वंदना करने योग्य मानी जाती है उसी प्रकार पुण्यके द्वारा अनुग्रह किये जाने योग्य घरोंमें आहारके लिये गमन करनेवाले मुनियोंकी गति भी वंदना करने योग्य मानी जाती है ॥ १०९ ॥

यथा वाऽदीनता रत्नदर्शकव्यवहारिणः ।
गात्रदर्शनमात्राल्पकांक्षभिक्षोस्तथैव सा ॥ ११० ॥

जिस प्रकार रत्नोंको दिखानेवाला जोंहरी किसी प्रकारकी दीनता धारण नहीं करता, अपने परिणाम सदा अदीनरूप रखता है उसीप्रकार शरीरको दिखाने मात्र थोडीसी इच्छाको धारण कर-नेवाले मुनियोंके भी किसी प्रकारकी दीनता नहीं होती, वे अपने परिणामोंको सदा अदीनरूप ही रखते है ॥ ११० ॥

अदीनजैनमार्गस्थः प्राप्त्यप्राप्तिसमाशयः ।
कः किं कुत्र कथं मह्यं दास्यतीतीहनोज्झितः ॥ १११ ॥

वे मुनिराज भगवान् जिनेंद्रदेवके कहे हुए अदीनरूप मोक्षमार्गमें विराजमान रहते हैं, आहा-रके मिलनेपर हर्ष नहीं करते और न मिलनेपर विषाद नहीं करते, आहारके मिलने और न मिलनेमें

दोनोंमें समताभाव धारण करते हैं। इसीप्रकार " हमारे लिए आहार कौन देगा, कहां देगा, कैसा देगा, क्या देगा और किस प्रकार देगा ,, ऐसी इच्छासे वे मुनिराज सदा रहित होते हैं, अर्थात् वे मुनिराज ऐसी इच्छाएं कभी नहीं करते है ॥ १११ ॥

अस्थापितो निवर्त्तेत प्रविष्टं मन्दिरादिकम् ।
पुनर्न प्रविशेदन्यग्रामादींश्चाऽशनाशया ॥ ११२ ॥

वे मुनिराज यदि आहारके लिए किसी घरमें प्रवेश करें और वहांपर कोई उनका प्रतिग्रह न करे तो वे मुनिराज वहांसे लौट आते है। इसप्रकार यदि उस गांवमें आहार न मिले तो फिर भोजनकी इच्छासे उस दिन दूसरे गांवमे नहीं जाते है ॥ ११२ ॥

धारयेन्नैव विण्मूत्रवेगं निर्गत्य तं बहिः ।
व्युत्सृजेन्न विशेत्पश्चात्स्वस्थानं धीरधीर्व्रजेत् ॥ ११३ ॥

यदि चर्या करते समय या घरमें प्रवेश करनेपर मलमूत्रका वेग उत्पन्न हो आवे तो उसे धारण नहीं करना चाहिये अर्थात् मलमूत्रके वेगको रोकना नहीं चाहिए। बाहर जाकर मलमूत्रकी बाधा मेटलेनी चाहिये। तथा मलमूत्रकी बाधा मेटलेनेपर फिर आहारके लिए किसी भी घरमें नहीं जाना चाहिये। फिर तो उन धीर वीर मुनियोंको अपने स्थानपर ही चले जाना चाहिये ॥ ११३ ॥

कुलं विषण्णव्यग्रोग्रताकुंकादिकुलाकुलम् ।
सन्मार्जनाद्यवद्यं च वन्द्यमानोऽपि नो विशेत् ॥ ११४ ॥
शृंगारनृत्यचित्रादिशालामुद्यानमिन्द्रियम् ।
द्विपेन्द्रक्रीडनस्थानं स्थानमन्यच्च तादृशम् ॥ ११५ ॥

जिस घरमें विषाद होरहा हो, जिस घरमें किसी प्रकारकी व्याकुलता हो, जिस घरमें उग्र परिणामी क्रूर मनुष्य हों, जिस घरमें बंदीजन रहते हों, जो कुल नीच कुल हो, जिस घरमें बुहारी

देना आदि पापकार्य होते हों, जिस घरमें श्रृंगारशाला हो, नृत्यशाला हो वा चित्रशाला हो अथवा जो ऐसे ही तमाशेके घर हों वा उद्यान वा बाग बगीचे हों, जिनमें इंद्रियोंको प्रसन्न करनेके लिए अनेक प्रकारकी क्रीडाएं की जाती हों, जो हाथियोंका क्रीडास्थल हो वा और भी जो ऐसे ही स्थान हों उनमें उन घरवालोंके द्वारा चंदना किये हुए भी प्रतिग्रह किए हुए भी मुनि प्रवेश नहीं करते हैं—आहारके लिए नहीं जाते हैं ॥ ११४-११५ ॥

प्रतिग्रहप्रणामाभ्यां स्थापितो योग्यदातृभिः ।
तर्णकैलकवालादीननुल्लंघ्य विशेद्गृहम् ॥ ११६ ॥

जिस घरके योग्य दाताने प्रतिग्रह और प्रणाम करके स्थापना किया है—ठहराया है उसके घरमें गाय भैसके छोटे बच्चे वा किसी भेड बकरीके छोटे बचेको उल्लंघन न करते हुए प्रवेश करना चाहिए ॥ ११६ ॥

प्रकाशजनसंचारवत्यशुच्याङ्गिवर्जते ।
विस्तीर्णे संवृते शस्ते सम्मते तत्र संवृतः ॥ ११७ ॥
आत्मोचिताऽऽसनाऽऽसीनो दातृप्रक्षालितक्रमः ।
ऊर्ध्वाधःपार्श्वदिक्कोणानिक्षेपाद्यानिरीक्षणः ॥ ११८ ॥
वर्णी पूर्णप्रतिज्ञोऽथ सिद्धभक्तिं विधाय तत् ।
प्रत्याख्यानं विनिष्ठाप्य प्रेरितो भक्तदातृभिः ॥ ११९ ॥
समांगुलचतुष्कांतरांघ्रिः स्थित्वा समुद्धृते ।
पात्रात्पिंडे करद्वन्द्वमानाभेर्धौतमुत्क्षिपेत् ॥ १२० ॥

जिस घरमें प्रकाश हो, जिस घरमें लोगोंका जाना आना होता रहता हो अर्थात् जिसमें

॥१३४॥

किसी प्रकारकी रुकावट न हो, जिसमें कोई अपवित्र प्राणी न हो, जो विस्तीर्ण हो, ऊपरसे ढका हो–उघडा हुआ न हो, जो प्रशंसनीय हो और जो सबको सम्मत वा मनोवांछित हो ऐसे मकानमें अपने शरीर वा इंद्रियोंको समेट कर आहारके लिए जाना चाहिये। वहां जाकर अपने योग्य आसन पर बैठ जाना चाहिये। बैठ जानेपर आहार देनेवाले दाताको उचित है कि वह उन मुनिराजके चरणकमलोंका प्रक्षालन करे। उस समय मुनिराजको भी ऊपरकी ओर, नीचेकी ओर, अगल बगल, वा दिशाओंके कोणोंमें रक्खे रहनेवाले पदार्थोंपर अपनी दृष्टि नहीं डालनी चाहिये अर्थात् किसी भी ओर देखना नहीं चाहिए। तदनतर भक्ति करनेवाले उस गृहस्थ दाताके द्वारा आहार ग्रहण करनेकी प्रार्थना करनेपर जिनकी प्रतिज्ञा पूर्ण होचुकी है ऐसे उन ब्रह्मचारी मुनिको सिद्धभक्ति करनी चाहिये। और फिर अपना प्रत्याख्यान वा पहले ग्रहण किया हुआ त्याग पूर्ण करना चाहिये। फिर उन मुनिराजको चार अगुलके अंतरसे दोनों पैरोंको समान रखकर खडा होना चाहिये। तथा जब दाता अपने पात्रमेंसे देनेके लिए भोजनका ग्रास उठावे तब उन मुनिराजको अपने धोये हुए दोनों हाथ नाभिसे ऊपर २ रखते हुए क्षेपण करना चाहिये ॥ ११७-१२० ॥

पुटं पाण्योरभित्वाऽन्यक्षिप्तं भुंजीत तं मतं।
विना विकारवेगार्त्तिमांद्याऽऽसक्तिस्वनादिभिः ॥ १२१ ॥

उन मुनिराजको आहार करते समय अपने दोनों हाथोंका बधन छोडना नहीं चाहिये। तथा विना किसी विकारके, विना किसी प्रकारकी शीघ्रताके, विना किसी प्रकारकी पीडाके, विना किसी मंदताके, विना किसी असमर्थताके और विना किसी शब्दके वा विना किसी ऐसे ही अन्य कारणोंके शास्त्रोंमें लिखी हुइ विधिके अनुसार हाथोंमें रक्खे हुए आहारको ग्रहण करना चाहिये ॥१२१॥

यावदास्ति बलं स्थातुं मिलत्येतत्करद्वयम्।
तावद्भुंजे त्यजाम्यन्यथेति संधा यतेर्यतः ॥ १२२ ॥

मुनिराज जो खडे होकर तथा हाथ मिलाकर आहार करते है उसका कारण यह है कि मुनिराजके ऐसी प्रतिज्ञा होती है कि "जबतक मुझमें खडे होनेकी शक्ति है और जबतक मेरेसे दोनों हाथ मिल सकते है तबतक ही मै भोजन करूंगा। जब मुझमें खडे होनेकी शक्ति नहीं रहेगी तथा हाथोमें मिलनेकी शक्ति नहीं रहेगी तब मै आहारका सर्वथा त्याग कर दूंगा" ऐसी मुनियोंके प्रतिज्ञा होती है ॥ १२२ ॥

आगे करपात्र आहारका कारण बतलाते हैं।

पुरा रत्नसुवर्णादिनानाभाजनभाजिनः ।
दीनता सज्यते तेभ्यो हीनभाजनभोजने ॥ १२३ ॥

"पहले मैं रत्न, सोने आदिके पात्रोंमें भोजन करता था। यदि अब मै उन पात्रोंसे कम कीमतके पात्रोमे भोजन करूगा तो मेरे परिणामोंमें दीनता उत्पन्न होगी" यही समझकर वे मुनिराज हाथमें ही भोजन करते हैं ॥ १२३ ॥

तत्सन्नविश्वगोहार्य्यं तद्गृहक्षालनादिना ।
यत्संगाऽसंयमौ च स्तस्तस्मात्पाणिपुटाशनम् ॥ १२४ ॥

रत्न वा सुवर्णादिकके उत्तम पात्र सब घरोंमें नहीं मिल सकते। यदि कदाचित् मिल भी जायं तो परिग्रहके ग्रहण करनेका दोष आता है। तथा उन पात्रोंमें भोजन करनेपर उनके धोने आदिमें बडा भारी असंयम होता है इसीलिए मुनिराज सदा पाणिपात्रमे ही आहार करते हैं ॥ १२४ ॥

कान्तातारुण्यलावण्यलीलालोकनजल्पन ।
स्मेरास्याब्जपदन्यासविलासाद्यनिरीक्षणः ॥ १२५ ॥
गौर्यथाऽत्ति तृणव्रातं क्षिप्तं भुंजीत यत्नतः ।
तथाऽन्नाद्यमनास्वाद्य गोचारज्ञो यथोचितम् ॥ १२६॥

॥१३६॥

आहार करते समय मुनिराजको उचित है कि वे स्त्रियोंका यौवन, लावण्य, लीला, देखना, बोलना, हंसना, उनका मुखकमल, उनकी चाल और उनके विलास आदिको न देखे। जिसप्रकार गाय घास डालनेवालेके यौवन आदिको नहीं देखती केवल डाली हुई घासको यत्नपूर्वक खालेती है। उसीप्रकार गोचरी वृत्तिको जाननेवाले मुनिराज अन्नादिकका स्वाद न लेते हुए उचित रीतिसे प्राप्त हुए आहारको ग्रहण कर लेते हैं। मुनिराजके इस प्रकार आहार ग्रहण करनेको गोचरीवृत्ति कहते है ॥ १२५-१२६ ॥

भृंगः पुष्पासवं यद्वत् गृण्हात्येकगृहेऽशनम्।
गृहिबाधां विना तद्वद्भुंजीत भ्रमराशनः ॥ १२७ ॥

अथवा मुनिराज भ्रामरीवृत्तिको धारण कर आहार ग्रहण करते है। जिसप्रकार भ्रमर फूलको विना बाधा दिये उसके रसको ग्रहण कर लेता है। उसीप्रकार गृहस्थको किसी प्रकारकी बाधा दिये विना ही भ्रामरी वृत्तिको धारण करनेवाले वे मुनिराज किसी भी एक घरमें आहार ग्रहण कर लेते है ॥ १२७ ॥

यथालब्धेन भक्तेन कुर्यादुदरपूरणम्।
यद्वन्मृदादिना लोकैः क्रियते श्वभ्रपूरणम् ॥ १२८ ॥

अथवा मुनिराज गर्तपूर्णवृत्तिको धारण करते हुए आहार लेते हैं। जिसप्रकार संसारके लोग किसी गढेको मिट्टी आदि जो कुछ मिलता है उसीसे भर देते है उसीप्रकार वे मुनिराज जैसा कुछ आहार मिल जाता है उसीसे अपना उदर पूर्ण कर लेते है। इसको गर्तपूर्णवृत्ति कहते है ॥ १२८ ॥

तोषरोषव्यपेतस्य ज्ञानध्यानप्रसिद्धये।
इत्येषा यत्नतो भुक्तिरेषणासमितिर्मता ॥ १२९ ॥

हर्षविषाद रहित मुनिराजके केवल ध्यान और ज्ञानकी वृद्धि करनेकेलिए इसप्रकार यत्नाचारपूर्वक जो आहार ग्रहण करना है, उसको एषणासमिति कहते हैं ॥ १२९ ॥ इस प्रकार एषणा समितिका निरूपण किया।

अब आगे आदाननिक्षेपणसमितिका स्वरूप कहते हैं।

विहायाऽऽदाननिक्षेपौ सहसाऽनवलोक्य च।
दुःप्रमार्जनमप्रत्यवेक्षणं चार्द्रमानसः ॥ १३० ॥
विधायोपधितद्देशवीक्षणं प्रतिलेखनैः।
लब्धस्वेदरजः सूक्ष्मलतातिमृदुभिः पुनः ॥ १३१ ॥
तौ प्रमृज्योपधेर्यत्नान्निक्षेपाऽऽदानयोः कृतिः।
यतेरादाननिक्षेपसमितिः परिकीर्त्तिता ॥ १३२ ॥ त्रिकम्

जिनका हृदय दयासे भींगा हुआ है ऐसे मुनिराजको कोई भी उपकरण अकस्मात् वा शीघ्रताके साथ न तो रखना चाहिये और न उठाना चाहिए। इसीप्रकार किसी उपकरणको विना देखे भी नहीं रखना चाहिये और न उठाना चाहिये। तथा विना मार्जन किये हुए वा विना शोधन किये हुए अथवा जिनका मार्जन वा शोधन अच्छी तरह नहीं हुआ है ऐसे किसी उपकरणको भी उठाना रखना नहीं चाहिये। जिस किसी उपकरणको रखना हो वा उठाना हो, उसको पहले अच्छी तरह देखलेना चाहिये। फिर जिसकी लताएं वा शाखाए अत्यंत सूक्ष्म है और जो पसीना वा धूलि आदिको दूर कर सकती है ऐसी कोमल पीछीसे उस उपकरणको तथा उस स्थानको अच्छी तरह शोधलेना चाहिये तथा मार्जन करलेना चाहिये। इसप्रकार उसस्थानको देख शोधकर उसमें उपकरणको अच्छीतरह देख शोधकर तथा मार्जन कर यत्नपूर्वक उठाना वा रखना है वह मुनिराजकी आदाननिक्षेपण समिति कहलाती है॥ १३०-१३२॥ इसप्रकार आदाननिक्षेपण समितिका स्वरूप कहा।

॥१३८॥

अब आगे व्युत्सर्गसमितिका स्वरूप कहते हैं ।

कृष्टप्लुष्टादिदेशेऽङ्गिछिद्रहीने घने च यः ।
व्युत्सर्गोऽङ्गमलादेः स्याद्व्युत्सर्गसमितिर्यतेः ॥ १३३ ॥

जिस स्थानमें कोई प्राणी न हो, चींटी आदिका छिद्र न हो, जो स्थान जुता हो वा जलाया हुआ हो, तथा जो स्थान सघन हो ऐसे स्थानमें शरीरके मल, मूत्र, कफ आदिका त्याग करना सो मुनिराजकी व्युत्सर्गसमिति कहलाती है ॥ १३३ ॥

आगे मुनिराज रात्रिमें मलमूत्रका त्याग किस प्रकार करें सो कहते हैं ।

वीक्षितेऽस्मिन्दिने हस्तबाह्यस्पर्शपरीक्षिते ।
रात्रौ सत्यंगिनो नो वेत्यंगिहीने तमुत्सृजेत् ॥ १३४ ॥

यदि मुनिराजको रात्रिमें मलमूत्रके त्याग करनेकी आवश्यकता हो तो किसी ऐसे स्थानपर मलमूत्रका त्याग करना चाहिये। जिस स्थानको उसी दिन देख लिया हो तथा उस स्थानपर छोटे छोटे जीवजंतु हैं वा नहीं इस बातकी परीक्षा हाथके बाहरी ओरके प्रदेशसे (हथेलीकी दूसरी ओरसे) स्पर्शकर कर लेनी चाहिये। जब यह निश्चय हो जाय कि वहांपर कोई जीवजंतु नहीं है तब उस स्थानपर मलमूत्रका त्याग करना चाहिये ॥ १३४ ॥

सांग्याद्यश्चेद्द्वितीयेऽत्र तृतीये वांगिसंगते ।
विवशो व्युत्सृजेदल्पप्रायश्चित्तो यतिस्ततः ॥ १३५ ॥

यदि उस स्थानपर जीव जतु हों तो फिर किसी दूसरे स्थानपर जाकर उसकी परीक्षा करनी चाहिये । यदि उस दूसरे स्थानपर भी जीवजतु हों तो फिर विवश होकर तीसरे स्थानपर जाकर मलमूत्रका त्याग करना चाहिये। चाहे वह स्थान जीव सहित ही क्यों न हो। तथा मुनिराजको इसका थोडासा प्रायश्चित्त लेना चाहिये ॥ १३५ ॥

आगे इन समितियोंसे पापोंका नाश होना दिखलाते हैं।

यद्वद्वज्रतनुत्राणः शराऽऽसाराऽपराजितः।
यतिः समितिगात्रत्रास्तद्वत्पापेषु दुर्जयः ॥ १३६ ॥

जिसप्रकार जिस योद्धाके शरीरपर वज्रमय कवच लगा हुआ है वह बाणोंकी बडी भारी वर्षासे भी जीता नहीं जासकता, उसीप्रकार जिन मुनिराजका शरीर समितियोंसे सुरक्षित हैं उनको पाप कभी नहीं जीत सकते है वह पापोंसे सदा अजेय बना रहता हैं ॥ १३६ ॥ इसप्रकार समितियोंका निरूपण किया।

अव आगे गुप्तियोंका निरूपण करते हैं।

दोषेभ्यो गोपनं रक्षा व्रतानां गुप्तिरिष्यते।
सा मानसवचःकायदंडात्रितयदंडनी ॥ १३७ ॥

दोषोंसे व्रतोंकी रक्षा करना गुप्ति है। वह गुप्ति तीन प्रकार है। मनको वशमें करना-निग्रह करना मनोगुप्ति है। वचनको वशमें रखना वचनगुप्ति हैं तथा शरीरको वशमे करना काय-गुप्ति है। इसप्रकार मन, वचन कायको निग्रह करना सो तीन प्रकारकी गुप्ति कहलाती है ॥ १३७ ॥

आगे मनोगुप्तिका स्वरूप कहते हैं।

मनः पंचेंद्रियेभन्द्रस्वैराचारनिवारणी।
स्वे गोचरे मनोगुप्तिर्ज्ञानध्यानरता मतिः ॥ १३८ ॥

यह मन पांचों इंद्रियरूप हाथियोंका इन्द्र वा स्वामी है, और वह अपनी इच्छानुसार इधर उधर घूमा करता है। उसको निवारण करनेरूप तथा अपने आत्मामें लीन होते हुए ज्ञान और ध्यानमें लीन होनेवाली जो बुद्धि है उसको मनोगुप्ति कहते है।

आगे वचनगुप्तिका स्वरूप कहते हैं।

गजाश्वशस्त्रशास्त्रादिव्याख्यायाः क्लेशकारिणः ।
सत्यस्याऽपि निवृत्तिर्वाग्गुप्तिर्वाचंयमोऽथवा ॥ १३९ ॥

हाथी, घोडा, शस्त्र आदि विषयक शास्त्रके व्याख्यानका त्याग करना तथा अन्य जीवोंको क्लेश पहुंचानेवाले सत्य वचनोंका भी त्याग करना वचनगुप्ति है। अथवा मौन धारण करना वचनगुप्ति है ॥ १३९ ॥

आगे कायगुप्तिको कहते हैं ।

कायावद्यक्रियात्यागः कायगुप्तिर्मताऽथवा ।
कायोत्सर्गः समुत्सर्गः संगस्य द्विविधस्य यः ॥ १४० ॥

शरीरसे उत्पन्न होनेवाली पापरूप क्रियाओंका त्याग करना कायगुप्ति है। अथवा बाह्य तथा अभ्यतरके भेदसे दोनों प्रकारके परिग्रहोंका त्याग कर कायोत्सर्ग धारण करना–समस्त प्रकारके परिग्रहोंसे ममत्वका छोड देना कायगुप्ति है ॥ १४० ॥

पुरस्य परिखा रक्षा क्षेत्रस्य च वृतिर्यथा ।
तथा व्रतानामेतास्तु गुप्तयो गुप्तयः स्मृताः ॥ १४१ ॥

जिसप्रकार नगरकी रक्षा करनेके लिए खाई होती है, अथवा खेतकी रक्षा करनेके लिए उसकी बाड होती है उसीप्रकार व्रतोंकी रक्षा करनेके लिए ये गुप्तियां कही गई ह ॥ १४१ ॥ इस प्रकार पांच महाव्रत, पांच समिति ओर तीन गुप्तिरूप छेदोपस्थापना नामके चारित्रका स्वरूप कहा ।

अब आगे परिहारविशुद्धि नामके चारित्रका स्वरूप कहते हैं ।

परिहारेण दोषाणां शुद्धिर्यस्मिन्स संयमः ।
परिहारविशुद्धिः स्याद्दद्धिरीदृग्विधस्य सा ॥ १४२ ॥
भुक्त्वा प्रोज्झितभोगस्य त्रिंशद्वर्षस्य जन्मनः ।
प्रत्याख्यानाख्यपूर्वाम्बुराशिपारगयोगिनः ॥ १४३ ॥

समापृथक्त्वं तीर्थेशपादपार्श्वनिवासिनः ।
त्यक्त्वा सन्ध्यात्रयं नित्यं गव्यूतिद्वयगामिनः ॥ १४४ ॥

जिस संयममें दोपोंका परिहार वा त्याग कर आत्माकी शुद्धता धारण की जाती है उसको परिहारविशुद्धि चारित्र कहते है । यह परिहारविशुद्धि नामके चारित्रका होना एक प्रकारकी ऋद्धि है । तथा परिहारविशुद्धि नामकी ऋद्धि ऐसे मुनिके होती है जिन्होंने गृहस्थ अवस्थामें अनेक प्रकारके भोग तथा उपभोग भोगकर छोड दिये हो, जिनकी आयु कमसे कम तीस वर्षकी हो, जो प्रत्याख्यानपूर्व नामके महासागरके पारगामी हों, अर्थात् जो प्रत्याख्यान पूर्वतकके पाठी हो, जो पृथक्त्व वर्पतक अर्थात् तीन वर्षसे लेकर नौ वर्षतक भगवान् तीर्थंकर परमदेवके चरण कमलोंके निकट रह चुके हो और जो प्रातःकाल, मध्यान्हकाल तथा सायंकाल इन सामायिकके तीनों समयोंको छोडकर बाकीके समयमें प्रतिदिन कमसे कम दो कोश चलते हों अर्थात् जो प्रतिदिन कमसे कम दो कोश चलकर ठहरते हों ऐसे मुनिराजके यह परिहारविशुद्धि नामकी ऋद्धि होती है ॥ १४२-१४४ ॥

जीवराशौ चरंश्चैप पापालेपो यथांभसि ।
वसत्सरोजिनीपत्रं पयोलेपविवर्जितम् ॥ १४५ ॥

जिस प्रकार कमलिनीका पत्र जलमें ही रहता है तथापि वह जलके लेपसे सर्वथा रहित रहता है । कमलका पत्ता जलमें रहता हुआ भी जलसे गीला नहीं होता उसी प्रकार परिहारविशुद्धि नामकी ऋद्धिको धारण करनेवाले मुनि यदि जीवोंके समूहपरसे भी चले जाय जीवोंके ऊपर होकर भी निकल जाय तो भी वे पापके लेपसे सर्वथा रहित होते हैं । उस ऋद्धिके कारण उनका शरीर इतना हलका हो जाता है कि उससे किसी भी जीवको किसी प्रकारकी बाधा नहीं होती । इसी-लिये उनको गमन करनेमें किसी प्रकारका पाप नहीं लगता ॥ १४५ ॥ इस प्रकार परिहारविशुद्धि नामके चारित्रका स्वरूप कहा ।

अब आगे सूक्ष्मसांपराय नामके चारित्रका स्वरूप कहते हैं ।

सूक्ष्मोऽल्पः सांपरायः कषायोऽस्मिन्निति संयमः ।
स्यात्सूक्ष्मसांपरायस्सामायिकद्वितयात्मकः ॥ १४६ ॥

सांपराय शब्दका अर्थ कषाय है। जिस संयममे अत्यंत सूक्ष्म कषाय हो उस संयमको सूक्ष्मसांपराय चारित्र कहते है। (यह चारित्र दशवें गुणस्थानमे होता है) तथा सामायिक और छेदोपस्थापना ये इसके दो भेद है। अर्थात् वह सूक्ष्मसांपराय नामका चारित्र इन दोनों चारित्ररूप रहता है ॥ १४६ ॥

आगे यथाख्यातचारित्रका स्वरूप उसकी निरुक्तिपूर्वक कहते हैं ।

यथा विरागं स्वं रूपं तथैवाऽऽख्यात इत्ययम् ।
यथाख्यातो मतोऽघौघघनसंघप्रभंजनः ॥ १४७ ॥

जिस प्रकार आत्माका शुद्ध स्वरूप वीतरागरूप है उसी प्रकार जो चारित्र शुद्ध वीतराग-स्वरूप हो उसको यथाख्यातचारित्र कहते है। यह यथाख्यातचारित्र पापोंके समूहरूप मेघोंके समूहको नाश कर देनेके लिये-उडा देनेके लिए प्रवल वायुके समान है ॥ १४७ ॥ इस प्रकार पांचों प्रकारके चारित्रका स्वरूप कहा।

अब आगे संयमका निरुक्तिपूर्वक अर्थ बतलाते हैं ।

सं सम्यग्दर्शनज्ञानपावनः पापघातनः ।
यो द्वन्द्वाद्वितयस्य स्याद्यमस्त्यागः स संयमः ॥ १४८ ॥

स शब्दका अर्थ सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रसे पवित्र और समस्त पापोंका नाश करनेवाला है। तथा यम शब्दका अर्थ वाह्य अभ्यतर दोनों प्रकारके परिग्रहोंका त्याग करना है। अतएव जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रसे पवित्र हो तथा समस्त पापोंका नाश करनेवाला हो ऐसा जो वाह्य और अभ्यतर दोनों प्रकारके परिग्रहोंका त्याग है उसको सयम कहते है।।१४८।।

॥१४३॥

आगे सम्यक्चारित्ररूपवृक्षका निरूपण करते हैं ।

सम्यग्दृग्बोधमूलं व्रतसमितिततिस्कन्धशाखानुबन्धं ।
शीलस्तोमप्रवालं गुणकुसुमगणं सत्सुखालीफलालिम् ॥
गुप्तिव्राताऽऽलवालाऽमृतपरिकलितं सत्वसंतापनोदं
सम्यक्चारित्रकल्पद्रुममहमतुलं संश्रितोऽस्मीष्टपुष्ट्यै ॥ १४९ ॥

यह सम्यक्चारित्र एक प्रकारका कल्पवृक्ष है । सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानही उसकी जड है । महाव्रत और समितियोंका समूह ही उसका स्कन्ध तथा शाखाओंसे घनीभूत होकर फैला हुआ है। अर्थात् महाव्रत उसका स्कन्ध है और समितियां उसकी बडी बडी शाखाए हैं । शीलोंका समूह ही उसके कोमल पत्ते हैं। गुण ही उसके फूलोंके समूह हैं, मोक्षरूप श्रेष्ठ सुखका समूह ही उसपर बहुतसे फल (अनतसुखरूप अनतफल) लग रहे हैं और गुप्तियोंका समूह ही उसका आलवाल वा थांवला है। यह सम्यक्चारित्ररूपी कल्पवृक्ष अमृतरूपी रससे भरा हुआ है और जीवोंके समस्त संतापोंको दूर करनेवाला है । इस सम्यक्चारित्ररूप कल्पवृक्षकी उपमा संसारभरमें नहीं है। ऐसे इस सम्यक्चारित्ररूपी कल्पवृक्षका मै अपने इष्टकी सिद्धिके लिए आश्रय लेता हूं– उसकी छायामें बैठता हूं अर्थात् सम्यक्चारित्रको धारण करता हूं । इस प्रकार श्री वीरनंदि आचार्य अपने इस अध्यायके अंतमें सम्यक्चारित्रको मोक्षमार्गका विशेप कारण मानते हुए उसका स्मरण करते हैं ॥ १४९ ॥

आगे सम्यक्चारित्रकी महिमा दिखलाते हैं ।

मोहोद्दामतमोघटाविघटनः स्फारैर्विशेषोत्करै–
र्दुर्वारापरदुःकृतोत्पलकुलप्लोषी जगद्वन्दितः ।

प्रोन्मीलन्नवकेवलादिकमलः सन्मार्गसन्मंडनः ।
स्तान्मच्चित्तनभःस्थले स्थिरतमश्चारित्रचण्डद्युतिः ॥ १५० ॥

यह सम्यक्चारित्र एक प्रकारका सूर्य है। जिसप्रकार सूर्य अपनी तीव्र किरणोंसे अंधकारको दूर करदेता है उसीप्रकार यह सम्यक्चारित्ररूप सूर्य अपने अनेक प्रकारके भेदप्रभेदरूप तीव्र किरणोंके द्वारा मोहरूपी प्रबल अंधकारके समूहको वा अंधकारकी घटाको नाश करनेवाला है। जिसप्रकार सूर्य अपनी किरणोंके द्वारा रात्रिविकासी कुमोदिनियोंको जला देता है उसीप्रकार यह सम्यक्चारित्ररूपी सूर्य भी अपने अनेक भेदरूप तीव्र किरणोंके द्वारा जो बडी कठिनतासे नाश किए जा सकें ऐसे पापरूप रात्रिविकासी कुमोदिनियोंके समूहको शीघ्र ही जला देता है। अर्थात् समस्त पापोंका नाश करनेवाला है। जिसप्रकार सूर्यको संसार नमस्कार करता है उसीप्रकार इस सम्यक्चारित्ररूपी सूर्यको भी समस्त संसार नमस्कार करता है। जिसप्रकार सूर्यके उदय होनेसे कमल खिल जाते हैं उसीप्रकार इस सम्यक्चारित्ररूपी सूर्यके उदय होनेसे–धारण करनेसे अनंतदर्शन, अनंतज्ञान, क्षायिकसम्यक्त्व, क्षायिकदान, क्षायिकलाभ, क्षायिकभोग, क्षायिकउपभोग, क्षायिक अनंतवीर्य और अनंत सुख ये नौ केवल लब्धिरूप कमल प्रफुल्लित हो जाते हैं अर्थात् इस सम्यक्चारित्रके ही प्रभावसे केवलज्ञान आदि नौ केवल लब्धियां प्राप्त होती हैं। तथा जिसप्रकार सूर्यके उदय होनेसे श्रेष्ठ मार्ग दिखलाई पडता है उसीप्रकार सम्यक्चारित्ररूपी सूर्यके उदय होनेसे सर्वोत्तम सर्वश्रेष्ठ ऐसा यह मोक्षमार्ग स्पष्ट दिखलाई पडता है। अर्थात् यह सम्यक्चारित्र मोक्षमार्गका आभूषण है। ऐसा यह सम्यक्चारित्ररूपी सूर्य मेरे हृदयरूपी आकाशमें सदा अत्यत स्थिर रहो। जिसप्रकार सूर्य आकाशमें रहता है उसीप्रकार यह सम्यक्चारित्ररूपी सूर्य मेरे हृदयरूपी आकाशमें स्थिर रहो॥ १५० ॥

आगे भगवान् नमिनाथको स्मरण करते हैं।

नमिर्वरश्रीः प्रणयैकभूमि–
जिंनः स नः पातु दयानिधानः ।

अलं गलत्यर्जितकर्मजालं ।
यस्येक्षणान्मंक्षु महोदयस्य ॥ १५१ ॥

जिन भगवान् नमिनाथके दर्शन करनेमात्रसे जन्मजन्मांतरके इकठे हुए कर्म बहुत शीघ्र नष्ट हो जाते है। जो दयाके निधान हैं, विश्वासकी एक भूमि हैं और जिनकी अंतरंग बहिरंग लक्ष्मी सबसे उत्तम है ऐसे श्री नमिनाथ स्वामी हम लोगोंकी रक्षा करें ॥ १५१ ॥

इसप्रकार श्री वीरनंदि सिद्धातचक्रवर्तिविरचित श्रीआचारसार नामके
शास्त्रकी चावली (आगरा) निवासी, देहली प्रवासी 'धर्मरत्न'
लालाराम शास्त्रीद्वारा निर्मित सरल हिंदी भाषाटीकामें
चारित्राचारके स्वरूपको वर्णन करनेवाला यह
पांचवा अधिकार समाप्त हुआ ।



॥ अथ षष्ठोऽधिकारः ॥

वन्दे मुदा श्रीशजिनाभिनन्दनं
शश्वत्पदानम्रसुखाभिनन्दनम् ।

॥१४६॥

तपःस्फुरद्वह्निनिमग्नमन्मथं
विनेयसन्दर्शितमुक्तिसत्पथम् ॥ १ ॥

अथ छठा अधिकार

जिन्होंने शिष्योंके लिए मोक्षका सबसे उत्तम मार्ग दिखलाया है, तपश्चरणरूपी देदीप्यमान् जलती हुई अग्निमें डुबाकर जिन्होंने कामदेवको जला दिया है, तथा जो शिष्य उनके चरणकमलोंको सदा नमस्कार करते है उनके लिए अनत सुखके देनेवाले है ऐसे अतरंग वहिरंग लक्ष्मीको धारण करनेवाले श्री अभिनंदन जिनेंद्रदेवको मै बडे हर्षके साथ नमस्कार करता हू ॥ १ ॥

आगे तपश्चरणका वर्णन करते हैं ।

तपःपोतेन येनासौ संसारोरुसरित्पतिः ।
तीर्यते त्वरयेदानीं तत्तपः प्रतिपाद्यते ॥ २ ॥

जिस तपश्चरणरूपी जहाजके द्वारा यह ससाररूपी महासागर पार किया जाता है उसी तपश्चरणको अब बडी शीघ्रताके साथ निरूपण करते हैं ॥२॥

तपः प्राहुरनुष्ठानं मानसाक्षनियामकम् ।
बाह्याभ्यन्तरभेदं तत्प्रत्येकं षड्विधं मतम् ॥ ३ ॥

मन और इंद्रियोंके निग्रह करनेवाले अनुष्ठानको तप कहते हैं। उस तपके दो भेद है बाह्य और अंतरंग । बाह्य तपके छह भेद है और अतरंग तपके भी छह भेद है। इसप्रकार तपश्चरणके बारह भेद है ॥ ३ ॥

अनशनावमौदर्यं वृत्तिसंख्यारसोज्झिती ।
विविक्तशयनासनं कायक्लेशो वहिस्तपः ॥ ४ ॥

॥१४७॥

अनशन, अवमौदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशय्यासन और कायक्लेश यह छह प्रकारका बहिरंग तप कहलाता है ॥ ४ ॥

आगे अनशनका स्वरूप कहते हैं ।

अशनत्यागोऽनशनं साकांक्षाकांक्षभेदकम् ।
तदाद्यमेकद्वित्र्यादिषण्मासानशनान्तगम् ॥ ५ ॥

आहारका त्याग करदेना अनशन कहलाता है । उसके दो भेद हैं एक साकांक्ष और दूसरा अनाकांक्ष । इनमेंसे एक महीना, दो महीना, तीन महीना, चार वा पांच महीना वा अधिकसे अधिक छह महीनातक भोजनका त्याग करदेना सो साकांक्ष अनशन कहलाता है ॥ ५ ॥

साकारसर्वतोभद्रसिंहानिःक्रीडितादयः ।
साकांक्षस्योपवासस्य भेदाश्चैकान्तरादयः ॥ ६ ॥

इसीप्रकार साकार, सर्वतोभद्र, सिंहनिष्क्रीडित और एकांतर आदि सब व्रत साकांक्ष अनशनके भेद कहे जाते हैं ॥ ६ ॥

आगे अनाकांक्ष अनशनका स्वरूप कहते हैं ।

निकांक्षोऽसौ भवेद्भक्तप्रत्याख्यानेंगिनीमृतिः ।
प्रायोपगमनेष्वायुरन्तसंन्यासकर्मसु ॥ ७ ॥

प्रायोपगमन सन्यासमें अथवा आयुके अंतमें सन्यास धारण करते समय भक्तप्रत्याख्यानमरण और इंगिनीमरण होता है उसको निःकांक्षअनशन कहते है । इस अनशनमें भोजनका त्याग कर देनेपर फिर भोजनकी इच्छा नहीं होती इसलिए इसको निःकांक्ष अनशन कहते हैं ॥ ७ ॥

देहदर्पविनाशाय संयमद्वयसिद्धये ।

कुर्यादनशनं लाभसत्काराद्यनपेक्षया ॥ ८ ॥

इस अनशन नामके तपको लाभ और सत्कार आदिकी अपेक्षा न रखते हुए केवल शरीरके दर्प नष्ट करनेके लिए और इंद्रियसंयम तथा प्राणिसंयम इन दोनों प्रकारके संयमोंको सिद्ध करनेके लिए पालन करना चाहिये ॥ ८ ॥ इसप्रकार अनशनतपका वर्णन किया ।

अब आगे अवमौदर्य तपको कहते हैं ।

ग्रासहीननिजाहाराद्यूनाहाराशनव्रतम् ।
तपः स्यादवमौदर्यमक्षकक्षदवानलः ॥ ९ ॥

अपने आहारमेंसे एक ग्रास, दो ग्रास, चार ग्रास वा दस वीस ग्रास कम आहार लेना अवमौदर्य तप कहलाता है । यह तप इंद्रियरूपी वनको भस्म करनेके लिए-इंद्रियोंको वशमें करनेके लिए दावानल अग्निके समान है ।

भावार्थ- इस अवमौदर्य तपसे समस्त इंद्रियां वशमें होजाती है ॥ ९ ॥

उपवासातिमात्राशनोत्पन्नश्रमदोषहृत् ।
ध्यानस्वाध्यायनिद्रार्त्तिजयाद्यर्थमिदं मतम् ॥ १० ॥

यह अवमौदर्य नामका तप उपवाससे उत्पन्न होनेवाले परिश्रमको दूर करनेवाला है और अधिक भोजनसे उत्पन्न हुए अजीर्ण आदि अनेक दोषोंको दूर करनेवाला है । इससे ध्यान और स्वाध्यायकी सिद्धि होती है तथा निद्रा और पीडा आदिकी विजय होती है । इसलिए इस तपश्चरणको अवश्य करना चाहिये ॥ १० ॥ इसप्रकार अवमौदर्य तपका वर्णन किया ।

अब आगे वृत्तिपरिसंख्यान नामके तपका वर्णन करते हैं ।

वृत्तिर्वाटगृहाऽऽहारपात्रदातृषु वर्त्तनम् ।
संख्या तन्नियमो वृत्तिपरिसंख्या निजेच्छया ॥ ११ ॥

गली, घर, आहार, पात्र और दाता आदिकोंमें प्रवृत्ति करनेको वृत्ति कहते हैं। तथा इनके नियम करनेको संख्या कहते है। अपनी इच्छानुसार गली, घर, आहार, पात्र, दाता आदिके नियम करनेको वृत्तिपरिसंख्यान तप कहते हैं। आज दो वा चार गलियोंमें आहारके लिए जायंगे, दो वा चार घरोंमें ही जायंगे, अधिकमें नहीं, आज रूखा वा चिकना भोजन मिलेगा तो लेंगे नहीं तो नहीं, आज चांदीके पात्रमेंसे उठाकर आहार देगा तो आहार लेंगे अन्यथा नहीं, अथवा आज इस प्रकारका (दो पुरुष, दो भाई, दो स्त्रियां, आहार देंगी तो आहार लेंगे अन्यथा नहीं) दाता आहार देगा वा इस विधिसे आहारका योग मिलेगा तो आहार लेंगे नहीं तो नहीं, इसप्रकारके नियम कर चर्याके लिए निकलनेको वृत्तिपरिसंख्यान तप कहते हैं ॥ ११ ॥

इयमाशानिरासायादीनताभावनाप्तये।
गात्रयात्रानिमितान्नमात्रकांक्षस्य योगिनः ॥ १२ ॥

ध्यान, स्वाध्याय आदिके निमित्त इस शरीरको चलानेके लिए अन्नमात्रकी इच्छा करनेवाले योगियोंके आहार प्राप्त होनेकी आशाको दूर करनेके लिए तथा अदीनतारूप भावनाकी प्राप्ति होनेके लिए यह वृत्तिपरिसंख्यान नामका तप किया जाता है ॥ १२ ॥ इसप्रकार वृत्तिपरिसंख्यान नामके तपका वर्णन किया।

अब आगे रसपरित्याग तपको कहते हैं।

दाधिक्षीराऽऽज्यतैलादेः परिहारो रसस्य यः।
तपो रसपरित्यागो मधुरादिरसस्य वा ॥ १३ ॥

दही, दूध, घी, तेल आदि रसोंका त्याग करना अथवा मीठा, खट्टा, कडवा आदि रसोंका त्याग कर देना सो रसपरित्याग नामका तप कहलाता है ॥ १३ ॥

कायकान्तिमदाक्षेभक्षोभवारणकारणम् ।
परिहारो रसस्यायं स्याज्जितेन्द्रिययोगिनः ॥ १४ ॥

इंद्रियोंको जीतनेवाले योगियोंका यह रसपरित्याग नामका तप शरीरकी कांतिको बढानेवाला है और मदोन्मत्त इंद्रियांरूपी हाथियोंके क्षोभको रोकनेका कारण है ॥ १४ ॥

भावार्थ- इस तपसे शरीरकी कांति बढती है और इंद्रिया सब वशमें हो जाती हैं। इस प्रकार रसपरित्याग नामके तपका स्वरूप कहा।

अब आगे विविक्तशय्यासन तपको कहते हैं ॥

विविक्तेऽध्ययनध्यानबाधकोत्करवर्जिते ।
शयनं चाऽऽसनं यत्तद्विविक्तशयनासनम् ॥ १५ ॥

जिस स्थानमें ध्यान और अध्ययनमे होनेवाली बाधाओंका समूह न हो ऐसे किसी एकांत स्थानमें शयन करना वा बैठना सो विविक्तशय्यासन नामका तप कहलाता है ॥ १५ ॥

तरुकोटरशून्यागाराऽऽरामोर्वीधरादयः ।
विविक्ताः कामिनीपण्ढपशुक्षुद्रांगिवर्जिताः ॥ १६ ॥

जो स्थान स्त्रियोंसे रहित है, नपुंसकोंसे रहित हैं, पशुओंसे रहित है, छोटे छोटे प्राणियोंसे रहित है ऐसे वृक्षके कोटर, सूने मकान, सूने उपवन, सूनी पृथ्वी और सूने पर्वत आदि एकांत स्थान कहलाते हैं। ऐसे एकांत स्थानमे बैठना वा शयन करना विविक्तशय्यासन कहलाता है ॥ १६ ॥ इस प्रकार विविक्तशय्यासनका स्वरूप कहा।

अब कायक्लेशका स्वरूप कहते हैं।

सुखोपलालितः कायो नालं सद्ध्यानसिद्धये ।
तद्देहदमनं कायक्लेशः क्लेशैर्मतोचितैः ॥ १७ ॥

॥१५१॥

यदि इस शरीरका लालन पालन सुखपूर्वक किया जायगा तो फिर इससे श्रेष्ठ ध्यानकी सिद्धि कभी नहीं होसकती । इसलिए भगवान् जिनेंद्रदेवके कहे अनुसार उचित क्लेशोंके द्वारा इस शरीरको दमन करना कायक्लेश तप कहलाता है ॥ १७ ॥

निर्दयं मर्दनीयोऽयं कायः क्लेशकरः पुरा ।
चिरं रिपुरितीवैषः कायक्लेशरतो यतिः ॥ १८ ॥

" यह शरीर चिरकालका शत्रु है, इसने पहले बहुतसे क्लेश दिए हैं इसलिए अब निर्दय होकर इसका मर्दन करना चाहिये " यही समझकर मुनिराज कायक्लेश करनेमें सदा तत्पर रहते हैं ॥ १८ ॥

वीरस्वस्तिकवज्राब्जहस्तिशुण्डासनादयः ।
व्युत्सर्गः शवगोदंडचापशय्यादयश्च ते ॥ १९ ॥

वीरासन, स्वस्तिकासन, वज्रासन, कमलासन, हस्तिशुंडासन (हाथीकी सूंडके समान आसन लगाना) व्युत्सर्ग (शरीरसे ममत्व छोडकर खडे होना) मृतकासन (मृतकके समान आसन) गायके समान आसन, दंडासन, धनुषासन और शय्यासन तथा और और भी ऐसे ही ऐसे कठिन आसनोंको धारण कर ध्यान अध्ययन करना, तपश्चरण करना कायक्लेश नामका तप है ॥ १९ ॥

तपो बाह्यमिदं बाह्यलोकानन्दैकमन्दिरम् ।
आभ्यन्तरतपःक्षीरसागरेन्दुं नमाम्यहम् ॥ २० ॥

इसप्रकार ऊपर कहा हुआ यह बाह्य तप बाह्य लोगोंको भी (मिथ्यादृष्टी आदि लोगोंको भी) आनंद प्राप्त करनेका मुख्य भवन है तथा आभ्यंतर तपश्चरणरूपी क्षीरसागरको बढानेके लिए चंद्रमाके समान है । ऐसे इस बाह्य तपको मैं (श्री वीरनंदि आचार्य) नमस्कार करता हूं ॥ २० ॥
इसप्रकार बाह्य तपका निरूपण किया ।

अब आगे आभ्यन्तरतपका वर्णन करते हैं।

तत्प्रायश्चित्तं विनयो वैयावृत्यं जगन्नुतम्।
स्वाध्यायो भवेद्व्युत्सर्गो ध्यानं चाभ्यन्तरं तपः ॥ २१ ॥

प्रायश्चित्त, विनय, जिसको समस्त संसार नमस्कार करता है ऐसा वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान यह छह प्रकारका अतरंग तप कहलाता है ॥ २१ ॥

आगे प्रायश्चित्तका स्वरूप कहते हैं।

येनागो गलति प्रत्नं प्रायश्चित्तं तदुच्यते।
कर्म प्रायोजनस्तस्य चित्तं चेतोहरं यतः ॥ २२ ॥

जिससे प्राचीन पाप नष्ट हो जायं उसको प्रायश्चित्त कहते हैं। अथवा प्रायः शब्दका अर्थ मनुष्य है। उस मनुष्यके कर्मोंको-कार्योंको चित्त कहते हैं। उन चित्तोंको-मनुष्योंके चित्तोंको वा कार्योंको हरण करे-निर्मल कर दे उसको प्रायश्चित्त कहते हैं ॥ २२ ॥

आगे प्रायश्चित्तके भेद कहते हैं।

आलोचनप्रतिक्रमणोभयानि विवेचनम्।
व्युत्सर्गस्तपश्छेदमूलपरिहारदर्शनम् ॥ २३ ॥
प्रायश्चित्तस्य भेदाः स्युर्दशैवं तत्र संश्रये।
दोषाणां यत्प्रमादाद्यैराद्यं तेषां निवेदनम् ॥ २४ ॥

आलोचन, प्रतिक्रमण, तदुभय, विवेक, व्युत्सर्ग, तप, छेद, मूल, परिहार और दर्शन ये प्रायश्चित्तके दश भेद हैं। इनमें से यदि प्रमाद वा अज्ञानसे किसी व्रतमें कोई दोष लग जावे तो उसको गुरुसे निवेदन करना आलोचना नामका प्रायश्चित्त है ॥ २३-२४ ॥

ज्ञातश्रुतरहस्याय प्रशान्तस्वान्तवृत्तये ।
अपरिस्राविणे शस्तैकान्तस्थायैव सूरये ॥ २५ ॥
विनयेनोपसृत्योपविश्य पार्श्वे कृतांजुलेः ।
वालवद्र्हतोऽवक्रमित्येतत्स्याद्विशुद्धये ॥ २६ युग्मम् ।

जो श्रुतज्ञानके रहस्यको जानते हैं जिनके हृदयकी प्रवृत्ति अत्यत शांत हो और जो अपरिश्रावी हों अर्थात् जो कहे हुए दोषोंको कभी प्रगट न करते हों उनको आचार्य कहते हैं। ऐसे आचार्य जब कभी किसी प्रशसनीय एकांत स्थानमें विराजमान हों, तब विनयपूर्वक उनके समीप जाना चाहिये, हाथ जोडकर उनके बगलमें बैठजाना चाहिये और फिर अपराधी वालकके समान विना किसी कुटिलता वा मायाचारीके अपना अपराध निवेदन करदेना चाहिये। यह सब कार्य आलोचनाकी विशुद्धताके लिए किया जाता है॥ २५-२६ ॥

आगे आलोचनाके दश दोषोंको कहते हैं।

आकंपिताऽनुमापितदृष्टवादरसूक्ष्मगम् ।
छन्नं शब्दाकुलं वह्वव्यक्ततत्सेवितान्यपि ॥ २७ ॥
दशेत्यालोचनाऽऽगांसि त्याज्यान्यात्महितैषिणा ।
सदा हि साधयन्त्यार्याः परलोकममायया ॥ २८ ॥ युग्मम् ।

आकंपित, अनुमापित, दृष्ट, वादर, सूक्ष्म, छन्न, शब्दाकुलित, वहु, अव्यक्त और तत्सेवित ये आलोचनाके दश दोष हैं। अपने आत्माका हित करनेवाले मुनियोंको आलोचना करते समय इन दशों दोषोंका त्याग अवश्य कर देना चाहिये, क्योंकि उत्तम पुरुष सदा मायाचार रहित होकर केवल परलोकको ही सिद्ध किया करते है॥ २७-२८ ॥

आगे आकंपित दोषको कहते हैं।

दद्यात्यल्पं मम प्रायश्चित्तं भीत्येति सूरये ।
पुरोपकरणानां यद्दानमाकंपितं मतम् ॥ २९ ॥

किसी तरह आचार्य थोडा ही प्रायश्चित्त दें इसलिए डरकर जो आचार्यके लिए पहले ही पीछी, शास्त्र आदि उपकरणोंको देकर अपने अपराधोंको कहते हैं उनके आकंपित नामका दोष लगता है ॥ २९ ॥

ग्लानः क्लेशासहोऽस्म्यल्पं प्रायश्चित्तं ममार्प्यते ।
चेद्दोषाख्यां करिष्यामीत्यादिः स्यादनुमापितम् ॥ ३० ॥

मै रोगी हूं, क्लेशोंको सहन कर नहीं सकता । यदि मुझे थोडासा प्रायश्चित्त दिया जायगा तो मै अपने दोषोंका निवेदन करूगा ऐसी भावना रखना अनुमापित नामका दोष है ॥ ३० ॥

परेक्षितागः संकीर्त्तिः स्याद्दृष्टं वादरं स्मृतम् ।
स्थूलानामेव दोषाणामालस्याद्यैर्निवेदनम् ॥ ३१ ॥

जो दोष दूसरोंने देख लिए हैं उनको तो गुरुसे कहदेना बाकी दोष न कहना दृष्ट नामका दोष है । तथा आलस आदिके कारण होनेवाले स्थूल दोषोंका कहना (सूक्ष्म दोषोंका छिपा लेना) वादर नामका दोष है ॥ ३१ ॥

सूक्ष्मागःकीर्त्तनं सूक्ष्मदोषस्याऽपि विशोधकः ।
इति ख्यात्यादिहेतोः स्यात्सूक्ष्मं स्थूलोपगूहनम् ॥ ३२ ॥

"यह मुनि अपने सूक्ष्म दोषोंको भी शुद्ध कर लेता है" इस प्रकारकी अपनी प्रसिद्धि करनेके लिए स्थूल दोषोंको छिपालना और सूक्ष्म दोषोंको निवेदन करदेना सूक्ष्म दोष कहलाता है ॥३२॥

दोषे सतीदृशो देयं किं प्रायश्चित्तमित्यलम् ।
प्रश्नः स्वच्छादनेन स्याच्छन्नं लज्जाभयादिभिः ॥ ३३ ॥

लज्जा वा भय आदिके कारण अपने दोषोंको छिपानेके लिए "ऐसा दोष होजानेपर क्या प्रायश्चित्त देना चाहिये" इसप्रकार आचार्यसे पूछना छन्न नामका दोष कहलाता है ॥ ३३ ॥

व्रतिव्रातघनध्वाने स्वदोषपरिकीर्त्तनम् ।
लज्जाद्यैः पाक्षिकादौ यत्तच्छब्दाकुलितं मतम् ॥३४॥

किसी पाक्षिक अथवा मासिक वा वार्षिक आदिकी आलोचनाके समय जब सब मुनियोंके समूह आलोचना कर रहे हों, सबके शब्द जोरजोरसे निकल रहे हों ऐसे समयमें लज्जा आदिके द्वारा अपने दोष निवेदन करना (जिससे सुनाई न पडे) शब्दाकुलित नामका दोष कहलाता है ॥ ३४ ॥

प्रायश्चित्तमिदं युक्तं न वेत्यल्पतदाशया ।
बहुसूरिपरिप्रश्नो यावदल्पं स बहिति ॥ ३५ ॥

अपने हृदयमें थोडा प्रायश्चित्त ग्रहण करनेकी इच्छासे "इस अपराधके लिए यह प्रायश्चित्त योग्य है वा नहीं" इसप्रकार अनेक आचार्योंसे पूछना और तबतक पूछते जाना जबतक कि कोई आचार्य थोडेसे थोडा प्रायश्चित्त न बतला देवे। ऐसे दोषको बहुदोष कहते हैं ॥ ३५ ॥

स्वसमानज्ञानतपोबालस्याऽऽलोचनं भवेत् ।
अव्यक्तं ह्रीभयप्रायश्चित्तभीत्यादिहेतुतः ॥ ३६ ॥

लज्जाके भयसे अथवा प्रायश्चित्तके भयसे वा अन्य किसी कारणसे अपने समान तथा ज्ञान वा तपसे अपनेसे छोटे ऐसे किसी मुनि वा आचार्यसे आलोचना करना आलोचनाका अव्यक्त नामका दोष कहलाता है ॥ ३६ ॥

मादृशो वेत्यसावेव ममागोऽस्मै यदर्पितम् ।
तन्ममेति स्वदोषोक्तिरस्मै तत्सेवितं मतम् ॥ ३७ ॥

" यह अपराध मेरे ही समान है, अथवा मेरा अपराध भी ठीक यही है। अतएव जो प्रायश्चित्त इसको दिया गया है वही मेरे लिए होसकता है," इसप्रकार आचार्यसे अपने अपराधका निवेदन करना तत्सेवित नामका दोष कहलाता है ॥ ३७ ॥

आगे विना आलोचनाके तपश्चरण करना व्यर्थ है ऐसा कहते हैं।

साऽऽमांगसंगतं यद्वन्नौषधं व्याधिवाधकम्।
तथाऽनालोचनाशुद्धं नैनो नाशकरं तपः ॥ ३८ ॥

जिसप्रकार आमसहित (आमातिसार सहित) उदरमें प्राप्त हुई औषधियां व्याधियोंको दूर नहीं कर सकतीं उसीप्रकार विना आलोचनाके अशुद्ध हृदयको धारण करनेवाले मुनियोंका तपश्चरण पापोंको कभी नाश नहीं कर सकता।

भावार्थ— दोष लगनेपर मुनियोंको आलोचना अवश्य करनी चाहिये। विना आलोचना किए उनका तपश्चरण करना भी व्यर्थ है ॥ ३८ ॥

द्व्याश्रयं संयतानां स्यादार्यिकाणां त्रिगोचरम्।
सप्रकाशप्रदेशे तु तच्चारित्रविभूषणम् ॥ ३९ ॥

यह आलोचना नामका प्रायश्चित्त चारित्रका एक आभूषण है और वह किसी प्रकाशवाले स्थानमें ही किया जाता है, अंधेरेमें नहीं किया जाता। यदि किसी मुनिको प्रायश्चित्त लेना हो तो प्रायश्चित्त लेनेवाले मुनि और प्रायश्चित्त देनेवाले आचार्य इन दोनोंके ही आश्रयमें–उपस्थितिमें वह प्रायश्चित्त दिया जाता है, अर्थात् वहांपर अन्य किसीकी आवश्यकता नहीं होती। आचार्य एकांतमें ही अपराध सुन लेते हैं और यथायोग्य प्रायश्चित्त दे देते हैं। यदि यही प्रायश्चित्त किसी आर्यिकाको लेना हो तो वह प्रायश्चित्त तीनके समक्ष होता है। अकेली आर्यिका आचार्यके समीप नहीं आसकती किंतु वह किसी दूसरी आर्यिकाको या अपनी गुरानीको साथ लेकर आचार्यके पास

प्रायश्चित्त लेने आती है। अतएव आर्यिकाको प्रायाश्चित्त लेनेके लिए तीन उपस्थितियोंकी आवश्यकता होती है ॥ ३९ ॥

आलोच्याप्यर्पितप्रायाश्चित्तवृत्तिविवर्जितः।
सन्मंत्रनिश्चयेऽप्युद्योगोनवत्फलवर्जितः ॥ ४० ॥

जिसप्रकार किसी मनुष्यको किसी मंत्रका निश्चय–श्रद्धान होजाय परंतु वह मनुष्य उस मत्रको सिद्ध करनेके लिए वा उसको काममें लेनेके लिए कुछ उपाय वा उद्योग न करे तो फिर उस मंत्रपर उसका विश्वास करना व्यर्थ हो जाता है। विना उद्योगके उससे कुछ फल नहीं मिल सकता। उसीप्रकार किसी मुनिने आचार्यसे अपने अपराध कहकर आलोचना करली परंतु उस अपराधको दूर करनेके लिए आचार्यने जो कुछ प्रायश्चित्तस्वरूप दड दिया उसका पालन उसने किया नहीं, आचार्यके द्वारा दिए हुए प्रायश्चित्तका पालन किया नहीं तो फिर उसकी आलोचना करना–अपराधोंका कहना व्यर्थ है। ऐसी कोरी आलोचनासे दोप कभी शांत नहीं होसकते ॥४०॥ इसप्रकार आलोचना नामके प्रायश्चित्तका स्वरूप कहा।

अब आगे प्रतिक्रमणका स्वरूप कहते हैं।

मिथ्या मदाऽऽगोऽस्त्वित्याद्यैर्यद्दोषेभ्यो निवर्तनम्।
प्रतिक्रमणमल्पापराधस्यैकाकिनो मुनेः ॥ ४१ ॥

जो कोई मुनिराज अकेले हों और उनके चारित्रमें कोई थोडासा दोप लग जाय तो वे मुनिराज " यह मेरा पाप मिथ्या हो, मुझसे ऐसा अपराध अब आगे नहीं होगा " इसप्रकार लगे हुए दोषोंके लिए पश्चात्ताप कर उन दोषोंसे हट जाना वा दोषोंको दूर करदेना सो प्रतिक्रमण नामका प्रायश्चित्त है ॥ ४१ ॥

आगे तदुभयको कहते हैं।

॥१५८॥

स्यात्तदुभयमालोचनाप्रतिक्रमणद्वयम् ।
दुःस्वप्नदुष्टचिन्तादिमहादोषसमाश्रयम् ॥ ४२ ॥

जब कभी किसी मुनिके दुष्ट स्वप्न हो जाते हैं वा किसी प्रकारकी दुष्ट चिता उत्पन्न हो जाती है अथवा और भी ऐसे ही ऐसे महादोष लग जाते हैं तब वे मुनिराज आलोचना भी करते हैं अर्थात् उन अपराधोंको आचार्यसे निवेदन कर उनका प्रायश्चित्त भी लेते है और स्वयं भी पश्चात्ताप कर प्रतिक्रमण करत है। इसप्रकार आलोचना और प्रतिक्रमण दोनोंका करना तदुभय नामका प्रायश्चित्त कहलाता है ॥ ४२ ॥

परिहर्तुमशक्तस्य दोषं द्रव्यादिसंश्रयम् ।
तद्द्रव्यादिपरित्यागो विवेकः कथितोऽथवा ॥ ४३ ॥
अप्रासुकस्य सेवायां त्यक्तस्य प्रासुकस्य च ।
प्रमादेन पुनः स्मृत्वा स तदा तद्विसर्जनम् ॥ ४४ ॥ युग्मम्

जो मुनिराज जिस किसी द्रव्य, क्षेत्र वा काल आदिके संबधसे लगे हुए दोषोंको दूर करनेमें असमर्थ होते है उस द्रव्य वा क्षेत्रके सबधसे वा किसी कालके संबंधसे उत्पन्न होनेवाले दोषको दूर नहीं कर सकते। उस समय आचार्य उनके उस द्रव्यका त्याग करा देते हैं, उस क्षेत्रका त्याग करा देते है तथा उस कालका त्याग करा देते है। इसप्रकार द्रव्यादिकका त्याग करा देना विवेक नामका प्रायश्चित्त कहा जाता है। अथवा जो मुनिराज किसी प्रमादसे किसी अप्रासुक पदार्थका सेवन कर लें अथवा त्याग किए हुए किसी प्रासुक पदार्थका सेवन कर लें और फिर उसका स्मरण हो आनेपर उसका त्याग कर दें तो वह भी विवेक नामका प्रायश्चित्त कहलाता है ॥ ४३–४४ ॥

व्युत्सर्गोऽन्तर्मुहूर्तादिकालं कायविसर्जनम् ।
सद्ध्यानं तन्मलोत्सर्गनद्याद्युत्तरणादिषु ॥ ४५ ॥

अंतर्मुहूर्ततक अथवा इससे अधिक समयतक शरीरसे ममत्वका त्याग करदेना व्युत्सर्ग है अथवा अंतर्मुहूर्ततक वा इससे अधिक समयतक उत्तम ध्यान करना भी व्युत्सर्ग कहलाता है। यह व्युत्सर्ग नामका प्रायश्चित्त मलमूत्रका त्याग करनेके बाद किया जाता है अथवा किसी नदीसे पार उतरनेके बाद किया जाता है। अथवा ऐसे ही ऐसे और भी कार्योंमें किया जाता है ॥ ४५ ॥

तपः स्यादुपवासैकस्थानादिर्व्यसनादिभिः ।
व्रतातिचारे सत्येतत्प्रायाश्चित्तं तु षड्विधम् ॥ ४६ ॥

उपवास करना, एकस्थान करना, आचाम्ल करना निर्विकृति करना आदिको तप कहते हैं। किसी व्यसन आदिके द्वारा किसी व्रतमें अतिचार लग जानेपर इस छह प्रकारके तपश्चरणका करना तप नामका प्रायश्चित्त है ॥ ४६ ॥

दिवसादितपश्छेदश्छेदःसंयमपर्यये ।
सदर्पकृतदोषस्य चिरदीक्षाहितैषिणः ॥४७॥

जो मुनि चिरकालके दीक्षित हैं और आत्मकल्याण करना चाहते है ऐसे मुनि यदि किसी अभिमानसे वा किसी दर्पसे किसी भी संयममें कोई दोप कर डालें अथवा उनसे दर्पके कारण कोई दोष बन जाय तो उनको छेद नामका प्रायश्चित्त दिया जाता है। एक दिन, दो दिन, आठ दिन, एक महीना वा एक वर्ष आदि कालकी दीक्षाका छेद करना छेद नामका प्रायश्चित्त कहलाता है। (तपस्वी आचार्योंके वचनोंमें शक्ति होनेके कारण उनकी उतनी दीक्षा व्यर्थ वा नष्ट होजाती है। तथा दश वर्षके दीक्षितकी यदि एक वर्षकी दीक्षा छेद दी जाय तो वह नौ वर्षका दीक्षित समझा जाता है। पहिले कोई साडे नौ वर्षके दीक्षित मुनि पहले इसको नमस्कार करते थे परतु अब यह उनके लिए नमस्कार करता है। ऐसा इस प्रायश्चित्तका अभिप्राय है) ।४७॥

पुनर्दीक्षाग्रहो मूलं सर्वां पूर्वां तपःस्थितिम् ।
छित्वोन्मार्गस्थपार्श्वस्थप्रभृतिश्रमणेष्विदम् ॥ ४८ ॥

॥१६०॥

पहलेकी तपश्चरणकी संपूर्ण स्थितिको छेदकर फिरसे दीक्षा देना मूल नामका प्रायश्चित्त है। यह मूल नामका प्रायश्चित्त उन्मार्गमें चलनेवाले (मोक्षमार्गको उल्लंघन कर उत्सूत्र मार्गसे चलनेवाले) पार्श्वस्थ आदि मुनियोंको दिया जाता है ॥ ४८ ॥

आगे पार्श्वस्थ आदि अपात्र मुनियोंका स्वरूप कहते हैं।

सच्चारित्रामृतापात्रं स्युः पार्श्वस्थः कुशीलकः।
संसक्तोऽप्यवसन्नश्च मृगचारीति पंच ते ॥ ४९ ॥

पार्श्वस्थ, कुशील, संसक्त, अवसन्न और मृगाचारी ये पांच प्रकारके भ्रष्ट मुनि सम्यग्चारित्ररूपी अमृतके लिए अपात्र कहे जाते हैं अर्थात् इनके सम्यग्चारित्र नहीं होता ॥ ४९ ॥

वसत्युपधिसंगस्थः पार्श्वस्थः स्यात्कुशीलकः।
संघाहितकरस्तीव्रकषायो व्रतवर्जितः ॥ ५० ॥

जो वसतिका और पीछी, कमडलु, शास्त्र आदि उपकरणोंमें मोह करता है इनको परिग्रह समझकर धारण करता है ऐसे मुनिको पार्श्वस्थ मुनि कहते हैं। तथा जो संघका अहित करनेवाला हो, जिसके तीव्र कषाय हो और जो व्रतोंसे रहित हो ऐसे मुनिको कुशील मुनि कहते हैं ५०

संसक्तो वैद्यमंत्रावनीशसेवादिजीवनः।
ज्ञानचारित्रहीनोऽवसन्नः स्यात्करणालसः ॥ ५१ ॥

जो वैद्यकके द्वारा वा मंत्रशास्त्रके द्वारा अथवा राजाओंकी सेवा आदि करके अपनी जीविका चलाता है उसे संसक्त मुनि कहते हैं। तथा जो चारित्रके पालन करनेमें आलस करता है और ज्ञान चारित्रसे रहित है उसको अवसन्न मुनि कहते हैं ॥ ५० ॥

स्वच्छन्दो यो गणं त्यक्त्वा चरत्येकाक्यसंवृतः।
मृगचारीत्यमी जैनधर्माऽकीर्त्तिकरा नराः ॥ ५२ ॥

॥१६१॥

जो संघको छोडकर स्वच्छंदरीतिसे वा स्वतंत्र होकर अकेला घूमा करता है और जो इंद्रियोंको कभी अपने वशमें नहीं रखता अथवा जो कभी भी संवरके कारणोंको पालन नहीं करता उसे मृगचारी मुनि कहते है। ये पांचों ही प्रकारके भ्रष्ट मुनि पवित्र जैन धर्मकी अपकीर्ति करनेवाले समझने चाहिये ॥ ५२ ॥

आगे परिहार नामके प्रायश्चित्तको कहते हैं।

परिहारोऽनुपस्थापनपारंचिकभेदभाक् ।
निजान्यगणभेदं तत्राद्यं तत्राद्यमुत्तमम् ॥ ५३ ॥

परिहार नामके प्रायश्चित्तके दो भेद हैं। एक अनुपस्थान और दूसरा पारंचिक। उसमें भी अनुपस्थानके दो भेद है एक निजगण अनुपस्थान आर दूसरा अन्यगण अनुपस्थान। अपने संघसे अलग करना निजगण अनुपस्थान है और अन्य संघोंसे भी अलग करना अन्यगण अनुपस्थान है। इनमें भी निजगण अनुपस्थान नामका परिहारप्रायश्चित्त उत्तम गिना जाता है। अन्यगण अनुपस्थान निकृष्ट गिना जाता है ॥ ५३ ॥

द्वादशाब्देषु षण्मासषण्मासानशनं मतम् ।
जघन्यं पंच पंचोपवासं मध्यं तु मध्यमम् ॥ ५४ ॥

वारह वर्षतक प्रत्येक वर्षमें छह २ महीनेका उपवास करना उत्तम प्रायश्चित्त है। तथा वारह वर्षतक प्रत्येक महीनेमें पांच पांच उपवास करना जघन्य प्रायश्चित्त है, और वारह वर्षतक प्रत्येक महीनेमें पांच उपवाससे अधिक तथा पद्रह उपवाससे कम उपपास करना मध्यम प्रायश्चित्त कहलाता है ॥ ५४ ॥

आगे परिहार किया हुआ मुनि किस प्रकार रहता है सो कहते हैं।

द्वात्रिंशद्दंडदूरालयस्थेन वसतेर्यतीन् ॥
सर्वान् प्रणमताऽपेतप्रतिवन्दनसाधुना ॥ ५५ ॥

स्वदोषाख्यतये पिच्छं विभ्राणेन पराङ्मुखम् ।
सूरीतरैः सहोपात्तमौनेनैताद्विधीयते ॥ ५६ ॥ युग्मम् ।

परिहार शब्दका अर्थ सघसे अलग करदेना है । जिस मुनिको किसी विशेष अपराधके कारण संघसे अलग कर दिया है, वह मुनि जिस वसतिकामें मुनियोंका सघ ठहरा है उससे बत्तीस धनुष (चार हाथका एक धनुष) दूर किसी स्थान वा मकानमें रहता है । वहांसे वह संघके समस्त मुनियोंको नमस्कार करता है । परतु संघमेसे कोई भी मुनि उसके लिए बदलेका नमस्कार नहीं करता । वह अलग किया हुआ मुनि अपना अपराध प्रगट करनेके लिए उलटी पींछी रखता है । यदि उसे कुछ निवेदन करना हो तो वह आचार्यसे ही निवेदन या बातचीत कर सकता है अन्य मुनियोंके साथ वार्तालाप करना उसके लिए सर्वथा बंद होजाता है । अन्य सबके साथ उसे मौन धारण करना पडता है । निजगण अनुपस्थान नामके प्रायश्चित्तमें उसे इस प्रकार रहना पडता है ।

आगे यह प्रायश्चित्त किसको दिया जाता है सो कहते हैं ।

प्रमादेनाऽन्यपाखंडिगृहस्थयातिसांश्रितम् ।
वस्तु स्तेनयतः किंचिच्चेतनाचेतनात्मकम् ॥ ५७ ॥
यतीन्प्रहरतोऽन्यस्त्रीहरणादींश्च कुर्वतः ।
दशनवपूर्वज्ञस्य त्र्याद्यसंहननस्य तत् ॥ ५८ ॥

जो मुनि पहलेके तीन उत्तम सहननोमेसे किसी एक संहननको धारण करनेवाला है । जो नौ पूर्व वा दश पूर्वका (ग्यारह अग नौ पूर्व वा ग्यारह अंग दश पूर्वका) पाठी है ऐसा मुनि यदि प्रमादसे अन्य किसी पाखडी वा गृहस्थ अथवा किसी यतिके चेतनरूप अथवा अचेतनरूप पदार्थको चुरा लेवे, अथवा किसी यतिको मारे अथवा अन्य किसीकी स्त्रीको हरण कर लेवे तो फिर उसको यह निजगण अनुपस्थान नामका प्रायश्चित्त दिया जाता है ॥ ५७–५८ ॥

॥१६३॥

अब आगे अन्यगण अनुपस्थान नामका प्रायश्चित्त किसको दिया जाता है सो कहते हैं।

करोति यदि दर्पेण दोषान् पूर्वविभाषितान्।
सोऽयमन्यगणानुपस्थापनेन विशुद्ध्यति ॥ ५९ ॥

यदि वही साधु अर्थात् ग्यारह अंग नौ पूर्व वा दश पूर्वका पाठी और पहलेके तीन संहननोंमेंसे किसी एक संहननको धारण करनेवाला साधु अपने दर्प वा अभिमानसे ऊपर लिखे दोष करे अर्थात् दर्पमें किसीकी वस्तु चुरावे वा किसी यतिको मारे वा किसीकी स्त्रीका हरण करे तो फिर वह अन्यगण अनुपस्थान नामके प्रायश्चित्तसे शुद्ध होता है ॥ ५९ ॥

आगे अन्यगण अनुपस्थान नामके प्रायश्चित्तका स्वरूप कहते हैं।

प्रायश्चित्तं तदेवात्र किन्तु स्वगणसूरिणा।
आलोच्य प्रेषितः सत्सूरिपार्श्वमनुक्रमात् ॥ ६० ॥
आलोच्य तैस्तैरप्राप्तप्रायश्चित्तोऽन्त्यसूरिणा।
तमाद्यं प्रापितस्तेन दत्तं चरति पूर्ववत् ॥ ६१ ॥ युग्मम्।

इस अन्यगण अनुपस्थान नामके प्रायश्चित्तमें प्रायश्चित्त तो वही दिया जाता है जो निजगण अनुपस्थान नामके प्रायश्चित्तमें दिया जाता है। किन्तु उसमें इतना विशेष है कि जब वह अपराधी मुनि अपने आचार्यसे अपने अपराधोंकी आलोचना करता है तो वे आचार्य उसकी आलोचना सुनकर प्रायश्चित्तके लिए अन्य संघके आचार्यके समीप भेज देते हैं। वह अपराधी मुनि उन अन्य संघके आचार्यके समीप जाता है और उनसे अपने अपराधोंकी आलोचना करता है। उसकी उस आलोचनाको सुनकर वे आचार्य किसी तीसरे संघके आचार्यके समीप भेज देते हैं। वह अपराधी मुनि उन आचार्यके समीप भी जाकर आलोचना करता है और प्रायश्चित्तकी याचना करता है। परंतु वे आचार्य भी चौथे संघके आचार्यके समीप उसे भेजते हैं। वह मुनि उनके समीप भी जाता है और आलोचना कर प्रायश्चित्त मांगता है। वे आचार्य आलोचना सुनकर पांचवे

सघके आचार्यके पास भेज देते है तथा वे आचार्य उसकी आलोचना सुनकर किसी छटे संघके आचार्यके समीप भेज देते है और वे आचार्य उसकी आलोचना सुनकर अन्य किसी सातवें संघके आचार्यके समीप उसे भेज देते हैं। वे आचार्य भी उसकी आलोचना सुन लेते है और फिर विना प्रायश्चित्त दिए ही पहलेके आचार्यके समीप ही उसे भेज देते है इसप्रकार वह अपराधी मुनि सात संघके आचार्योंके समीप जाकर अपनी आलोचना करता है परतु प्रायश्चित्त उसे कहींसे भी नहीं मिलता। सातवें संघके आचार्य जव उसे फिर उसी पहले संघके आचार्यके समीप भेज देते है तव वे आचार्य उसे वही प्रायश्चित्त देते हैं और वह उस प्रायश्चित्तको स्वीकार कर धारण करता है। ऐसे प्रायश्चित्तको अन्यगण अनुपस्थान नामका प्रायश्चित्त कहते हैं ॥ ६०–६१ ॥

आगे पारंचिक नामके प्रायश्चित्तका स्वरूप कहते हैं।

स्वधर्मरहितक्षेत्रे प्रायश्चित्ते पुरोदिते।
चारः पारंचिकं जैनधर्मात्यन्तरतेर्मतम् ॥ ६२ ॥

जो क्षेत्र जैन धर्मसे सर्वथा रहित हो ऐसे क्षेत्रमें जाकर ऊपर लिखे हुए प्रायश्चित्तका पालन करना पारचिक नामका प्रायश्चित्त है। यह प्रायश्चित्त उसीको दिया जाता है जो धर्ममें अत्यत प्रेम रखता हो, अत्यंत दृढ श्रद्धानी हो।

भावार्थ— इस पारंचिक प्रायश्चित्तमें आचार्य अपराधी मुनिको किसी धर्मरहित क्षेत्रमें रहनेकी आज्ञा देते हैं। उस धर्मरहित क्षेत्रमें रहनेसे उस मुनिको अनेक प्रकारकी वडी वडी परीषहें सहन करनी पडती हैं। उन सबको सहन करता हुआ वह मुनि जितने दिन उस क्षेत्रमें रहनेकी आज्ञा मिलती है उतने दिनतक वह वहीं रहकर अनेक प्रकारकी परीषहोंको सहन करता हुआ प्रायश्चित्तका पालन करता है। जो मुनि अत्यंत दृढ श्रद्धानी होता है जिसको धर्ममें अत्यंत प्रेम होता है उसीको यह पारंचिक नामका प्रायश्चित्त दिया जाता है। क्योंकि ऐसा मुनि अनेक

॥१६५॥

परीषह और उपसर्गोंके आनेपर भी अपने श्रद्धानसे च्युत नहीं होता है।। ६२ ॥

आगे यह पारंचिक प्रायश्चित्त किसको दिया जाता है सो कहते हैं।

संघोर्वीशाविरोधांतःपुरस्त्रीगमनादिषु।
दोषेष्ववंद्यः पाप्येष पातकीति बहिः कृतः ॥ ६३ ॥
चतुर्विधेन संघेन देशान्निष्कासितोऽप्यदः।
चरत्यवाऽऽर्यवैराग्यसत्वज्ञानबलो व्रती ॥ ६४ ॥ युग्मम्।

जिसका वैराग्य, पराक्रम और ज्ञानका वल दूर नहीं हुआ है ऐसा कोई व्रती मुनि यदि संघका विरोध करने लग जाय वा राजाका विरोध करने लग जाय अथवा अंतःपुर वा रणवासकी स्त्रियोंमें आने जाने लग जाय अथवा और भी ऐसे ही ऐसे अपराध करने लग जाय तो वह साधु फिर अवदनीय होजाता है। अर्थात् उसके लिए फिर कोई वंदना नहीं करता। तथा यह पापी है, अत्यत पातकी है ऐसा कहकर वह अलग कर दिया जाता है। और चतुर्विध सघ मिलकर उसे देशसे बाहर निकाल देता है। ऐसा वह मुनि उस धर्मरहित क्षेत्रमें जाकर इस पारचिक नामके प्रायश्चित्तका पालन करता है ॥ ६२-६४ ॥

आगे दर्शन नामके प्रायश्चित्तका स्वरूप कहते हैं।

दर्शनं यत्पुनस्तत्वश्रद्धानं तन्महाव्रतैः।
सार्द्धं यतेः स्थितस्येत्वा मिथ्यात्वं तदुदीरितम् ॥ ६५ ॥

मिथ्या शास्त्रोंमें कहे हुए मिथ्यात्वको प्राप्त होकर भी जो साधु महाव्रती मुनियोंके साथ रहता है और उन महाव्रातियोंके द्वारा उसे फिर यथार्थ तत्त्वोंका श्रद्धान कराया जाता है। उसको दर्शन नामका प्रायश्चित्त कहते हैं।

भावार्थ— किसी मिथ्यादृष्टीका मिथ्यात्व छुडाकर उसे विधिपूर्वक प्रायश्चित्त देकर यथार्थ श्रद्धान

॥१६६॥

कराया जाता है उसको दशवां दर्शन नामका प्रायश्चित्त कहते है ॥ ६५ ॥

आगे आचार्य वैद्यके समान साधुओंके दोषोंका संशोधन करते हैं ऐसा कहते हैं।

देशं कालं बलं ज्ञात्वा गणी वैद्यवदंगिनाम् ।
अल्पानल्पेषु दोषेषु कुर्यात्तद्विशोधनम् ॥ ६६ ॥

जिसप्रकार वैद्य देश, काल और बलको जानकर तथा उन जीवोंके थोडे वा बहुत होनेवाले दोषोंको समझकर उन दोषोंका शोधन करते हैं-दोषोंको दूर करते है उसीप्रकार आचार्य भी देश, काल और बलको जानकर तथा उन मुनियोंके थोडे वा बहुत होनेवाले दोषोंको समझकर यथायोग्य रीतिसे उन दोषोंका शोधन करते है उन दोषोंको दूर करते है ॥ ६६ ॥

कृतागसैव कर्त्तव्यं प्रायश्चित्तं त्रिशुद्धितः ।
ग्लानस्यैव प्रयत्नेन युक्तमौषधसेवनम् ॥ ६७ ॥

जिन्होंने अपराध वा दोष किया है उनको ही मन, वचन, कायकी शुद्धतापूर्वक प्रायश्चित्तका पालन करना चाहिये । क्योंकि संसारमें यही प्रसिद्ध है कि जो पुरुष रोगी है उसे ही प्रयत्नपूर्वक औषधिका सेवन करना चाहिये ।

भावार्थ-- जो रोगी नहीं उसको औषधि सेवन करना व्यर्थ है उसीप्रकार जो निरपराधी है-निर्दोष है उसको प्रायश्चित्त लेना भी व्यर्थ है ॥ ६७ ॥

आगे प्रायश्चित्तका प्रयोजन बतलाते हैं।

दोषव्युदासनैःशल्यमर्यादासंयमास्थिति- ।
स्वान्तप्रशान्तिसंपत्तिप्रमुखार्थमिदं मतम् ॥ ६८ ॥

दोषोंको दूर करनेके लिए माया, मिथ्या, निदान इन तीनों शल्योंको दूर करनेके लिए, मर्यादा वा प्रतिज्ञाकी स्थिरता, संयमकी स्थिरता और मनकी शांति आदि संपत्तियोंको प्राप्त करनेके

॥१६७॥

लिए यह प्रायश्चित्त नामका अंतरंग तप किया जाता है ॥ ६८ ॥ इसप्रकार प्रायश्चित्तका वर्णन किया ।

आगे विनय नामके तपका स्वरूप कहते हैं ।

विनयः स्याद्विनयनं कषायेन्द्रियमर्दनम् ।
स नीचैर्वृत्तिरथवा विनयार्हे यथोचितम् ॥ ६९ ॥

कषाय और इंद्रियोंको मर्दन करना—अपने वशमें करना विनय कहलाती है । अथवा पंच परमेष्ठी वा रत्नत्रयके धारक विनय करनेयोग्य पुरुष हैं उनके सामने यथायोग्य रीतिसे नम्र होना उनको वडा मानना विनय नामका तप है ॥ ६९ ॥

आगे विनयके भेद वतलाते हैं ।

सद्दग्ज्ञानतपश्चारित्रोपचारप्रपंचकः ।
तत्र दृग्विनयस्त्यागः शङ्कादीनाममी च ते ॥ ७० ॥

सम्यग्दर्शन विनय, सम्यग्ज्ञान विनय, सम्यक्चारित्र विनय, सम्यक्तप विनय और उपचार विनय ऐसे विनयके पांच भेद होते हैं । उसमें भी शंकादिक आठों दोषोंका त्याग कर देना दर्शन विनय नामका तप कहलाता है ।

शंकादिक आठों दोषोंके नाम नीचे लिखे अनुसार हैं ।

शंकाऽऽकांक्षाजुगुप्साऽन्यदृग्प्रशंसनसंस्तवाः ।
नाम्ना ज्ञेयास्त्रयोऽन्त्यौ तु मनोवाग्विषये स्तुती ॥ ७१ ॥

शंका, कांक्षा, जुगुप्सा, अन्यदृष्टिप्रशंसा और अन्यदृष्टिस्तुति आदि आठ दोष कहलाते हैं । " भगवान् जिनेंद्र देवका कहा हुआ दयामय धर्म सत्य है अथवा नहीं „ इसप्रकारकी शंका करना शंका नामका दोष है । दान, पूजा आदि धर्मकार्य कर उनसे भोगादिककी इच्छा करना कांक्षा नामका दोष है । मुनि आदि धर्मात्माओंके मलिन शरीरको देखकर ग्लानि करना जुगुप्सा नामका दोष है

अन्य मतियोंकी मनसे प्रशंसा करना अन्यदृष्टि प्रशंसा है और अन्य मतियोंकी वचनसे स्तुति करना अन्यदृष्टि संस्तव है। इनमेंसे शंका, कांक्षा और जुगुप्सा तीन दोष तो ये है। तथा मूढदृष्टि, अनुपगूहन, अस्थितीकरण, अवात्सल्य और अप्रभावना ये पांच दोष अन्यदृष्टि प्रशंसा और अन्यदृष्टि संस्तव इनमें शामिल है। इसप्रकार आठ दोष कहलाते हैं। इनका त्याग करना दर्शनविनय कहलाता है।

आगे ज्ञानविनय बतलाते है।

द्रव्यादिशोधनं वस्तुप्रमाणावग्रहादिकम् ।
बहुमानः श्रुतज्ञेषु श्रुतज्ञाऽऽसादनोज्झनम् ॥ ७२ ॥
वयःशीलश्रुतोनाधिकाद्युपाध्यायकीर्त्तनम् ।
चाऽनिह्नवेन येनाऽयं ज्ञानावरणकारणम् ॥ ७३ ॥
स्वराक्षरपदग्रन्थार्थाहीनाध्ययनादिकम् ।
स्याज्ज्ञानविनयः सम्यग्ज्ञानस्वर्मोक्षकारणम् ॥ ७४ ॥

द्रव्य, क्षेत्र आदिकी शुद्धता रखना, वस्तुओंका परिमाण करना, स्वाध्यायके लिए किसी पदार्थका त्याग करना जैसे जबतक यहांतक पाठ न पढ लूंगा तबतक अमुक पदार्थ न खाऊंगा इसप्रकारके त्याग करनेको अवग्रह कहते हैं, श्रुतज्ञानके जाननेवालोंकी अतिशय विनय करना, शास्त्रोंकी आज्ञाका आसादन वा तिरस्कार नहीं होने देना, आयु, शील और श्रुतज्ञानसे न्यून वा अधिक सब उपाध्यायोंका यशोगान करना, अपने ज्ञानको नहीं छिपाना अथवा अपने उपाध्यायादि गुरुको नहीं छिपाना क्योंकि गुरुका वा अपने ज्ञानका छिपाना ज्ञानावरणका कारण है। इसीप्रकार स्वर, अक्षर और पदरूप ग्रंथमें तथा उसके अर्थमें विना किसी कमीके अध्ययन करना वा अध्ययन कराना आदि ज्ञानविनय कहलाता है। यह ज्ञानका विनय सम्यग्ज्ञानका कारण है और स्वर्गमोक्षका कारण है ॥ ७२–७४ ॥ इसप्रकार ज्ञानविनयका स्वरूप कहा।

॥१६९॥

अब आगे तपविनयको कहते हैं।

आवश्यकाक्रियाशक्तिर्नानोत्तरगुणोन्नतिः ।
तपस्तद्वत्प्रमोदश्च स्यात्तपोविनयो यतेः ॥ ७५ ॥

छहों आवश्यक क्रियाओंमें तल्लीनताका होना, अनेक प्रकारके उत्तर गुणोंकी उन्नति करना अनेक प्रकारका तपश्चरण करना, तपश्चरण करनेवाले तपस्वियोंको देख सुनकर हर्ष धारण करना मुनिराजोंका तपविनय कहलाता है॥ ७५ ॥

आगे चारित्रविनयको कहते हैं।

भक्तिश्चारित्रवत्स्वन्यवृत्ताऽनिन्दनमुद्यमः ।
परीषहजयादौ च चारित्रविनयो मुनेः ॥ ७६ ॥

चारित्रको धारण करनेवाले मुनियोंकी भक्ति करना, अन्यके चारित्रकी निंदा नहीं करना और परीपहोंके जीतनेमें वा उपसर्गादिकके सहन करनेमें सदा उद्यमी रहना मुनियोंका चारित्र विनय नामका तप है॥ ७६ ॥

आगे उपचारविनयको कहते हैं।

उपोपसृत्य यश्चार "उपचारो,, यथोचितः ।
स प्रत्यक्षपरोक्षात्मा तत्राद्यः प्रतिपाद्यते ॥ ७७ ॥

इस उपचार विनयको धारण करनेवाले पुरुप गुणी पुरुपके समीप जाकर यथायोग्य रीतिसे उनका विनय करते हैं उसको उपचारविनय कहते है। उस उपचार विनयके दो भेद है- एक प्रत्यक्ष उपचारविनय और दूसरा परोक्ष उपचारविनय।

आगे प्रत्यक्ष उपचारविनयका स्वरूप कहते है।

॥१७०॥

अभ्युत्थानं नतिः सूरावागच्छाति साति स्थिते ।
स्थानं नीचैर्निविष्टेऽपि शयनोच्चासनोज्झनम् ॥ ७८ ॥
गच्छत्यनुगमो वक्तर्यनुकूलं वचो मनः ।
प्रमोदीत्यादिकं चैवं पाठकादिचतुष्टये ॥७९॥ युग्मम् ॥

आचार्यके आनेपर उठकर खडे होजाना और उनको नमस्कार करना तथा उनके बैठ जानेपर नीचे आसनपर बैठना और आचार्यके बैठे हुए शयन और उच्च आसनका त्याग करदेना प्रत्यक्षविनय है। इसीप्रकार उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर और गणधर इन चारों मुनिराजोके लिए उनके जानेपर पीछे २ गमन करना, उनके कुछ बोलनेपर उनके अनुकूल वचन कहना, और उनके दर्शन करनेपर तथा सुननेपर मनको प्रसन्न करना प्रत्यक्ष विनय है॥ ७८-७९ ॥

आगे आचार्यके न होनेपर क्या करना चाहिये सो कहते हैं।

आचार्यादिष्वसत्स्वेवं स्थविरस्य मुनेर्गणे ।
प्रातिरूपकालयोग्या क्रिया चान्येषु साधुषु ॥ ८० ॥

यदि आचार्य न हों तो मुनियोंको चाहिये कि वे अपने गणमें जो वृद्ध मुनि हों उनको ही आचार्य मानकर अपने समयपर समस्त आवश्यक वा योग्य क्रियाएं कर लें॥ ८० ॥

आर्यादेशयमाऽसंयतादिषूचितसत्क्रिया ।
कर्त्तव्या चेत्यदः प्रत्यक्षोपचारोपलक्षणम् ॥ ८१ ॥

इनके सिवाय आर्यिका, देशसंयमी अथवा अव्रतसम्यग्दृष्टी आदि धर्मात्माओंका भी यथायोग्य आदरसत्कार करना चाहिये। यह सब प्रत्यक्ष उपचार विनय कहलाता है॥ ८१ ॥

आगे परोक्षविनयका स्वरूप कहते हैं।

॥१७१॥

ज्ञानविज्ञानसत्कीर्तिर्नतिराज्ञाऽनुवर्त्तनम् ।
परोक्षे गणनाथानां परोक्षप्रश्रयः परः ॥ ८२ ॥

यदि गणके स्वामी आचार्य परोक्ष हों–समीप न हों तो मोक्षके कारणभूत उनकी बुद्धिमें आये हुए पदार्थोंको प्रगट करना, उनके शास्त्रज्ञानका विस्तार करना, उनकी कीर्तिको फैलाना, उनकी आज्ञाका पालन करना, उनको नमस्कार करना और उनके अनुकूल चलना आदि सब परोक्ष उपचार विनय नामका तप कहलाता है ॥ ८२ ॥

आगे विनय रहित साधुका दोष बतलाते हैं ।

विना येन विहीनस्य भिक्षोः शिक्षाऽमृताश्रियः ।
संश्रयाय निदानं नो तथा चाभ्युदयाश्रियः ॥ ८३ ॥

जो मुनि विनयकर रहित हैं उसके ज्ञानका अभ्यास करना मोक्षरूप लक्ष्मीकी प्राप्तिका कारण नहीं होता और न अनेक प्रकारकी ऋद्धि सिद्धिरूप अभ्युदयकी–लक्ष्मीकी प्राप्तिका कारण होता है ॥ ८३ ॥

भावार्थ– विनय रहित मुनिके न तो ऋद्धियां वा सिद्धियां होती हैं और न उसको मोक्षकी प्राप्ति होती है ।

आगे विनयवान्‌के गुण दिखलाते हैं ।

जिनाज्ञावर्त्तनं कीर्तिर्मैत्री मानापनोदनम् ।
गुणानुरागिता संघसम्मदाद्याश्च तद्‌गुणाः ॥ ८४ ॥

विनय धारण करनेवाले मुनिसे भगवान् जिनेंद्र देवकी आज्ञाकी प्रवृत्ति होती है, उनकी कीर्ति चारों ओर फैलती है, समस्त जीवोंके साथ मित्रता होती है, अभिमानका नाश होता है, गुणोंमें अनुराग होता है और चारों प्रकारका संघ हर्षको प्राप्त होता है । ये सब गुण विनय धारण करनेसे होते हैं ॥ ८४ ॥

॥१७२॥

किमत्र बहुनोक्तेन पदं सर्वेष्टसंपदाम् ।
रत्नत्रयीविभूषायां येन मुक्तिनिबन्धनम् ॥ ८५ ॥

बहुत कहांतक कहा जाय, थोडेसेमें इतना समझलेना चाहिये कि यह विनय नामका तपश्चरण समस्त इष्ट संपदाओंका स्थान है। रत्नत्रयका आभूषण है और मोक्षका कारण है॥ ८५ ॥ इसप्रकार विनय नामके तपका स्वरूप कहा ।

अब आगे वैयावृत्यनामके तपका स्वरूप कहते हैं ।

व्यापत्प्रतिक्रिया वैयावृत्यं स्यात्सूरिपाठके ।
तपस्विशैक्ष्यग्लानेषु गणे संघे कुले यतौ ॥ ८६ ॥
मनोज्ञे च तपस्व्येषु नानाऽनशनवर्त्तनः ।
शैक्षो ज्ञानादिसंशिक्षो ग्लानो नानागदार्दितः ॥ ८७ ॥
गण स्थविरसन्तानश्चातुर्वर्ण्यकदम्बकम् ।
संघः स्याद्दीक्षकाऽऽचार्यशिष्याम्नायः कुलं मतम् ॥ ८८ ॥
चिरप्रव्रजितः साधुर्यतिः शेषो हि संयमी ।
दीक्षोन्मुखो मनोज्ञाख्योऽसंयतो वा सुदर्शनः ॥ ८९ ॥
विद्याजात्यादिविख्यातो मिथ्यादृग्वाऽस्य संग्रहः ।
जिनप्रवनस्यायं लोके गौरवकारकः ॥ ९० ॥ पंचकम् ॥

आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, शैक्ष्य, ग्लान, गण, सघ, कुल, यति और मनोज्ञ ये दश प्रकारके मुनि कहलाते हैं । इन दश प्रकारके मुनियोंकी आपत्तियोंको दूर करना, उनकी सेवा सुश्रूषा करना वैयावृत्य कहलाता है । इनमेंसे जो मुनि अनेक उपवास करें उनको तपस्वी कहते

॥१७३॥

है। जो ज्ञानादिकका अभ्यास करनेवाले हों, पठन पाठन करते हों उनको शैक्ष्य कहते है। जो अनेक प्रकारके रोगोंसे दुखी हों उनको ग्लान मुनि कहते हैं। वृद्ध मुनियोंके समुदायको अथवा वृद्ध मुनियोंके शिष्योंको गण कहते है। ऋषि, मुनि, यति, तपस्वी इन चार प्रकारके मुनियोंके समुदायको सघ कहते है अथवा मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविका इन चारोंके समुदायको संघ कहते हैं। दीक्षा देनेवाले आचार्यके शिष्योंकी परपराको कुल कहते है। बहुत दिनके दीक्षित मुनिको साधु कहते हैं और बाकीके जो मुनि हैं उन सबको यति कहते है। जिनको देखकर असंयमी पुरुष भी दीक्षा लेनेके सन्मुख हो जायं अथवा जो मुनि देखनेमें बहुत सुंदर हों अथवा जो विद्या वा जाति, कुल आदिसे अत्यंत प्रसिद्ध हों, तथा जो इस ससारमें जैन शास्त्रोंका अत्यत गौरव करनेवाले हों, ऐसे मुनियोंको मनोज्ञ मुनि कहते हैं। आचार्य तथा उपाध्यायका स्वरूप पहले बता ही चुके हैं। इसप्रकार दश प्रकारके मुनियोंकी आपत्ति दूर करना, सेवा सुश्रूषा करना वैयावृत्त्य कहलाता है ॥ ८६-९० ॥

परीषहसमाश्लेषेऽमीषां यच्छेमुषीमुदः।
संपादनं त्रिरत्नाप्त्यै वैयावृत्यं त्रिशुद्धितः ॥ ९१ ॥
आवासाशनपानाद्यैः प्रासुकैः क्लेशनाशिभिः।
तदभावे स्वकायेन स्वोपकारानपेक्षया ॥ ९२ ॥
विण्मूत्रश्लेष्मसिंहाणकादेर्देहादपोहनात्।
यत्नेनोत्क्षेपनिक्षेपपरिवर्त्तक्रियादिभिः ॥ ९३ ॥

इन आचार्य आदि दश प्रकारके मुनियोंमेंसे किसी मुनिके ऊपर किसी परीषहके आजानेपर उनकी बुद्धिको प्रसन्न करना अथवा रत्नत्रयकी प्राप्तिके लिए उनकी सेवा सुश्रूषा करना वैयावृत्त्य है। यह वैयावृत्त्य मन, वचन कायकी शुद्धतापूर्वक किया जाता है। तथा उसके बदले किसी भी

॥१७४॥

प्रकारके अपने उपकारकी अपेक्षा न रखते हुए किया जाता है। सब प्रकारके क्लेशोंको नाश कर-नेवाले और प्रासुक ऐसे आहार, पान वा वसतिका वा पीछी, कमंडलु आदि देकर यह वैयावृत्य किया जाता है अथवा इन सबके देनेका योग न मिल सके तो अपने शरीरसे भी वैयावृत्य किया जाता है। यदि कोई मुनि रोगी हों तो उनके शरीरसे मलमूत्रका दूर करना, उनका कफ दूर करना, नाकका मैल दूर करना, उनको उठाना, बैठाना, करवट बदलवाना, उनके हाथ पैर दाबना आदि क्रियाओंसे उन मुनियोंकी सेवा सुश्रूषा करना आदि सब वैयावृत्य कहलाता है॥ ९१-९३ ॥

आगे इस वैयावृत्यके गुण कहते हैं।

अस्मान्निर्विचिकित्सत्ववत्सलत्वसनाथता॰।
यशोऽभ्युदयनिःश्रेयःसुखाप्तिप्रमुखा गुणाः॥ ९४॥

इस वैयावृत्यके करनेसे निर्विचिकित्सा गुण बढता हैं, वात्सल्य गुण बढता है, स्वामीपणा प्रगट होता है, यशकी प्राप्ति होती है, अनेक प्रकारके अभ्युदय प्राप्त होते हैं और अतमें मोक्ष-सुखकी प्राप्ति होती है। ये सब गुण वा ऐसे ही ऐसे ओर अनेक गुण इस वैयावृत्यके करनेसे प्राप्त होते है॥ ९४॥ इसप्रकार वैयावृत्यका स्वरूप कहा।

अब आगे स्वाध्यायका स्वरूप कहते हैं।

स्वस्मै योऽसौ हितोऽध्यायः स्वाध्यायो वाचनादिकः।
तपो वर्यमतो नान्यत्तपःसु द्वादशस्वपि॥ ९५॥

अपने आत्माका हित करनेवाला जो बचनसे अध्ययन करना है, पठनपाठन करना है उसको स्वाध्याय कहते हैं। यह स्वाध्याय नामका तप समस्त तपोंमें श्रेष्ठ है। बारह प्रकारके तपमे इस स्वाध्याय तपके समान और कोई तप नहीं हैं। वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय और धर्मोपदेश ये सब इसी स्वाध्याय नामके तपके भेद हैं॥ ९५॥

नोर्ध्वमन्तर्मुहूर्त्तात्सद्ध्यानमध्ययनं पुनः ।
सदैनोनिर्जराकारि किन्तु न स्यात्कृतात्मनाम् ॥ १६ ॥

देखो उत्तम ध्यान तो अंतर्मुहूर्त कालसे अधिक कालतक नहीं होता परतु यह स्वाध्याय नामका तप पुण्यवान् पुरुषोंके क्या सदा ही पापरूप कर्मोंकी निर्जरा नहीं करता रहता?

भावार्थ— इस स्वाध्याय नामके तपसे पुण्यवान पुरुषोंके सदा ही पापकर्मोंकी निर्जरा होती रहती है। इसलिए यह अंतर्मुहूर्ततक होनेवाले ध्यानसे भी बढकर है ॥ ९६ ॥

मनः सदर्थे वाक् पाठे वर्णेऽक्ष्णी तुच्छ्रुतौ श्रुती ।
प्रसक्ते निष्क्रियेऽक्षेऽन्ये तदैकाग्र्यमिहाप्यलम् ॥ ९७ ॥

देखो इस स्वाध्यायके करनेसे मन तो उसके अर्थ समझनेमें लग जाता है वचन उसके पाठ करनेमें लग जाते हैं, नेत्र उसके अक्षर देखनेमें लग जाते हैं और कान उसके सुननेमें लग जाते हैं। इनके सिवाय स्पर्शन और नासिका ये दोनों इंद्रियां क्रिया रहित हैं इनसे कोई विशेष क्रिया नहीं होती है, अतएव कहना चाहिये कि मन और पांचों इंद्रियोंको एकाग्र करनेवाला यह स्वाध्याय ही है। इसीमें सबकी एकाग्रता होजाती है।

आगे स्वाध्यायका फल बतलाते हैं।

अस्मात्तत्त्वपराभ्यासः प्रशमश्च विरागता।
भवेत प्रभावनैकान्तवादिमानप्रमर्दनम् ॥ ९८ ॥

इस स्वाध्याय नामके तपके करनेसे यथार्थ तत्वोंका सर्वोत्कृष्ट अभ्यास हो जाता है, परिणामोंमें अत्यंत शांतता आजाती है तथा वैराग्य प्रगट हो जाता है, जैनधर्मकी प्रभावना होती है और एकांतवादियोंका मानमर्दन होता है। यह सब स्माध्यायका फल है ॥ ९८ ॥ इसप्रकार स्वाध्यायका स्वरूप कहा।

अब आगे व्युत्सर्गतपका स्वरूप कहते हैं।

शरीरान्तर्बहिःसंगसंगव्युत्सर्जनं मुनेः।
व्युत्सर्गः स्यात्समीचीनध्यानसंसिद्धिकारणम् ॥ ९९ ॥

अतरग तथा बहिरग परिग्रहोंका त्याग करना तथा शरीरसे ममत्वका त्याग करना मुनियोंका व्युत्सर्ग नामका तप कहलाता है। यह व्युत्सर्ग नामका तप उत्तम ध्यानकी उत्कृष्ट सिद्धिका कारण है ॥ ९९ ॥

आगे ध्यान नामके तपका स्वरूप कहते हैं।

ध्यानं तपः परं चित्तैकार्थलीनप्रवर्तनम्।
कीर्त्यतेऽन्तर्मुहूर्तावस्थानं स्वर्मोक्षसाधनम् ॥ १०० ॥

अतर्मुहूर्त पर्यंत अन्य समस्त चिंतवनोंको छोडकर अपने मनका किसी एक पदार्थमें लीन होकर प्रवृत्त होना ध्यान नामका उत्तम तप कहलाता है। यह ध्यान नामका तप स्वर्ग और मोक्षका साक्षात् कारण है ॥ १०० ॥

आगे विशेष तपकी महिमा दिखाते हैं।

विशिष्टमिष्टं घटयत्युदारं दूरस्थितं वस्त्वतिदुर्लभं च।
जैनं तपः किं बहुनोदितेन स्वर्गश्रियं चाक्षयमोक्षलक्ष्मीम् ॥ १०१ ॥

यह भगवान् जिनेंद्र देवका कहा हुआ तप बडा ही उदार है, सबसे उत्तम दाता है। क्योंकि इसी तपश्चरणके प्रभावसे जो औरोंको प्राप्त न हो सकें ऐसे विशेष और इष्ट पदार्थोंकी प्राप्ति होती है, अत्यत दूर रहनेवाले पदार्थोंकी प्राप्ति होती है और अत्यंत दुर्लभ पदार्थोंकी प्राप्ति होती है। बहुत कहांतक कहा जाय थोडेसेमें इतना समझलेना चाहिये कि स्वर्गकी लक्ष्मी और कभी न नाश होनेवाली मोक्षरूपी सर्वोत्तम लक्ष्मी इसी तपश्चरणके प्रभावसे प्राप्त होती है ॥ १०१ ॥

आगे अध्यायके अंतमें भगवान् मुनिसुव्रतको नमस्कार करते हैं।

नमोऽस्तु तस्मै मुनिसुव्रताय साक्षात्कृतन्यक्षचराचरो यः।
व्रतानि सत्त्वैकहितानि यस्य सान्ति क्रमप्रह्वजगत्त्रयस्य॥ १०२॥

जो भगवान् मुनिसुव्रत स्वामी चर अचर समस्त पदार्थोंको प्रत्यक्ष देखते और जानते हैं जिनके धारण किए हुए वा कहे हुए व्रत समस्त जीवोंका हित करनेवाले हैं और तीनों लोक जिनके चरणकमलोंको नमस्कार करता है ऐसे श्री मुनिसुव्रत भगवान्के लिए मेरा बार बार नमस्कार हो।

इसप्रकार श्री वीरनंदि सिद्धांतचक्रवर्तिविरचित श्रीआचारसार नामके
शास्त्रकी चावली (आगरा) निवासी, देहली प्रवासी 'धर्मरत्न'
लालारामशास्त्रीद्वारा निर्मित सरल हिंदी भाषाटीकामें
तपाचारके स्वरूपको वर्णन करनेवाला यह
छठा अधिकार समाप्त हुआ।



॥१७८॥

॥ अथ सप्तमोऽधिकारः ॥

सद्वृत्तिः सुमतिः पातिस्त्रिजगतां नेता विमुक्तेः सृते-
र्यस्यात्यद्भुतचित्तशक्तिहुतभुग्ज्वालाकलापैरलम् ।
तन्मार्गानुगमार्गवन्धनमहासंधातिनिर्वन्धिनः
प्लुष्टा दुष्टपरीषहोद्भटभटाः सोऽयं जिनः पातु नः ॥ १ ॥

॥ अथ सातवां अधिकार ॥

जिनकी वृत्ति संसारमें सर्वोत्तम मानी जाती है, जो तीनों लोकोंके स्वामी है, जो मोक्ष-मार्गको प्राप्त करनेवाला हैं और जिनके हृदयकी अत्यंत अद्भुत शक्तिरूपी अग्निकी ज्वालाओंके समूहसे अपने मार्गके अनुकूल ऐसे मोक्षमार्गमें रुकावट डालनेकी कठिन प्रतिज्ञा करनेवाले दुष्ट परी-षहरूपी उद्भट योद्धा जला दिये गये ऐसे भगवान सुमतिनाथ तीर्थकर परमदेव हम लोगोंकी रक्षा करें ।

भावार्थ-- जिनके ध्यानके प्रभावसे मोक्षमार्गमें रुकावट डालनेवाले समस्त परिषह नष्ट होगये ऐसे सुमतिनाथ भगवान् हम लोगोंकी रक्षा करें ॥ १ ॥

आगे उन बाईस परीषहोंके नाम कहते हैं ।

क्षुत्तृट्शीतमलोष्णदंशमशकेर्यारोगशय्यातृण-
स्पर्शक्लेशवधानलाभमरतिं निर्दर्शनं स्त्रीक्लमम् ।
प्रज्ञाऽज्ञानभवौ सनाग्न्यशयनान्सत्कारयाञ्चानिष-
द्योद्भूतांश्च परीषहान्विजयते यो वीर्यचर्यो यतिः ॥ २ ॥

॥१७१॥

क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, मल, दंशमशक, ईर्या अर्थात् गति, रोग, शय्या, तृणस्पर्श, वध, अलाभ, अरति, अदर्शन, स्त्री, प्रज्ञा, अज्ञान, नाग्न्य, आक्रोश, सत्कारपुरस्कार, याचना, निषद्या ये बाईस परिषह हैं। इन बाईसों परिषहोंको जो जीतते है वे मुनि वीर्याचारको पालन करनेवाले कहलाते है ॥ २ ॥

आगे क्षुधापरिषहजयका स्वरूप कहते हैं।

क्षुत्तीक्ष्णानशनादिजाक्षनिकरं स्वज्ञेयवीक्षाक्षमं
स्वान्तं भ्रान्ततरं करोति बलवत्प्राणान्प्रयाणोन्मुखान्।
याऽन्नाधीनजनेऽफलाऽतिसफला त्यागात्तपः पुष्टये
तस्या धृत्यमृताशनेन शमनं कुर्वन्व्रती क्षुज्जय ॥ ३ ॥

उपवास करनेसे वा आहारादिकके प्राप्त न होनेसे जो तीक्ष्ण क्षुधा उत्पन्न होती है वह इंद्रियोंके समूहको अपने जानने योग्य पदार्थोंके जानने वा देखनेमें भी-अपने अपने विषय ग्रहण करनेमे भी असमर्थ कर देती हैं अर्थात् इंद्रियोंको अपने कामसे विमुख कर देती है। हृदयको अत्यत भ्रांत कर देती है, और अत्यत बलवान् प्राणोंको भी गमन करनेके सन्मुख (इस जीवको मरनेके सन्मुख) कर देती है। यह क्षुधा वा भूख अन्नके आधीन रहनेवाले मनुष्योंमे निष्फल होजाती है परतु जो अन्नादिकका त्याग कर देते है उनकी क्षुधा अत्यत सफल मानी जाती है। (अन्नके त्याग करदेनेसे प्रगट होनेवाली क्षुधासे अनेक पाप कर्मोंकी निर्जरा होती है।) और इसी सफल होनेवाली क्षुधासे तपकी पुष्टि होती है तपश्चरण बढता है। ऐसी इस क्षुधाको जो योगी व्रती धैर्यरूपी अमृतका भोजन कर शांत करते हैं वे ही इस क्षुधापरिषहको जीतनेवाले कहे जाते है।

भावार्थ— इस क्षुधा परिषहको धैर्य धारण कर जीतना चाहिये ॥ ३ ॥

आगे तृषा परिषहको कहते हैं।

॥१८०॥

चंडश्चंडकरः स्थलस्थिपतयः संचारिणः प्राणिनो
भ्रष्टप्लुष्टतनूंस्तनोति नितरां यस्मिंस्तपे तापने ।
तस्मिन् स्निग्धविरुद्धभोजनरुजाऽऽतापादिपुष्यत्तृषां
त्यक्ते निःस्पृहतामृतेन कृतधीर्मुष्णाति तृष्णाजयः ॥ ४ ॥

ग्रीष्म कालके अत्यत उष्ण समयमें अत्यत उष्ण वा तेज किरणोंको धारण करनेवाला सूर्य स्थलमें रहनेवाले प्राणियोंको भी भ्रष्ट कर देता है और उनके शरीरोंको जला देता हैं तथा मछली मगर, मत्स्य आदि जलचर जीवोंको भी भ्रष्ट कर उनके शरीरोंको खूब जला देता है । सूर्यकी तेजकिरणोंसे जल अत्यंत उष्ण हो जाता है और उस उष्ण जलसे जलचर जीवोंके भी शरीर जल जाते है । ऐसे उस ग्रीष्म कालमें भी मुनियोंको कहीं चिकना भोजन मिलता है कहीं रूखा मिलता है और कहीं प्रकृतिके विरुद्ध भोजन मिलता है, जिससे उन मुनियोंकी प्यास खूब बढ जाती है, इसके सिवाय किसी रोगके कारण भी उनके दाह बढ जाती है जिससे खूब प्यास लगती है । परतु वे मुनिराज पानी पीनेका सर्वथा त्याग कर देते है और निस्पृहता अर्थात् खाने पीनेकी इच्छाका सर्वथा त्यागरूपी अमृतसे अपनी प्यास बुझाते है ऐसे वे पुण्यवान् पुरुष तृषा परिषहको जीतनेवाले कहे जाते है ॥ ४ ॥

प्रोत्कंपा हिमभीमशीतपवनस्पर्शप्रभिन्नांगिनो
यस्मिन्यान्त्यतिशीतखेदमवशाः प्रालेयकालेङ्गिनः ।
तस्मिन्नस्मरतः पुरा प्रियतमाश्लेषादिजातं सुखं
योगागारनिरस्तशीतविकृतेर्निर्वाससस्तज्जयः ॥ ५ ॥

जिस शीतकालमें समस्त प्राणी शीतसे अत्यंत कांपते रहते हैं, ओस,पाला वा बरफ आदिके पडनेसे जो भयानक शीत पवन चलती है उसके स्पर्शसे संसारी प्राणियोंके शरीर छिद्र भिद जाते

है । जिस शीतकालमें समस्त प्राणी विवश होकर शीतकी अत्यंत वेदनाको प्राप्त होते रहते हैं,
ऐसे उस कठिन शीतकालमें भी वे मुनिराज विना किसी प्रकारके वस्त्रोंके नग्न अवस्था धारण
किए हुए विराजमान रहते हैं पहले गृहस्थअवस्थामें सुदर स्त्रियोंके आलिंगन करनेसे जो सुख
अनुभव किया था उसका भी वे कभी स्मरण नहीं करते, तथा अपने ध्यानरूपी घरमें निवास करते
हुए शीतकी वेदनाको दूर करते रहते हैं । ऐसे उन मुनिराजके शीत परिषहका जीतना कहा
जाता है ॥ ५ ॥

आगे मल परिषहको कहते हैं ।

प्राणाघातविभीतितस्तनुरतित्यागाच्च भोगास्पृहः
स्नानोद्वर्तनलेपनादिविगमात्प्रस्वेदपांस्वादितम् ।
लोकानिष्टमनिष्टमात्मवपुष· पामादिमूलं मलं
गात्रत्राणमिवादधाति वृजिनं जेतुं मलक्लेशजित ॥ ६ ॥

स्नान करनेसे अनेक प्राणियोंका घात होता है इसी डरसे जो कभी स्नान नहीं करते,
शरीरपर जो पसीना आनेपर धूल जम जाती है उसको नहीं धोते उसको लगी रहने देते हैं,
इसीप्रकार वे मुनिराज अपने शरीरसे ममत्वका सर्वथा त्याग कर देते हैं इसलिए भी जो अपने
शरीरपर जमे हुए पसीना, धूलि आदिको कभी नहीं धोते उसे ज्योंका त्यों लगा रहने देते
है, तथा वे मुनिराज भोगोंसे सर्वथा निस्पृह रहते है । इसलिए भी वे अपने शरीरपर जमे हुए
पसीना, धूलि आदिको कभी नहीं हटाते हैं, इसके सिवाय वे स्नान करना, उबटन लगाना, चंद-
नादिकका लेप करना आदि सबका त्याग कर देते हैं इसलिए भी वे अपने शरीरपर जमे हुए पसीना
धूलि आदिको नहीं हटाते हैं । इन सब कारणोंसे वे मुनिराज अपने शरीरपर जमे हुए पसीना,
धूलि आदिको नहीं हटाते है इसलिए उनके शरीरपर ऐसा मैल जम जाता है जो सर्वथा अनिष्ट

होता है देखनेवाले लोगोंको भी अनिष्ट जान पडता है और अपने शरीरके लिए भी खुजली आदि अनेक रोगोंको उत्पन्न करनेका कारण होता है। ऐसे मैलको वे मुनिराज पापोंको जीतनेके लिये शरीरकी रक्षा करनेवाले कवचके समान अपने शरीरपर ही धारण किये रहते हैं ऐसे वे मुनिराज मल परीषहको जीतनेवाले कहे जाते हैं ॥ ६ ॥

आगे उष्ण परिषहको कहते हैं।

ग्रीष्मे शुष्यदशेषदेहिनिकरे मार्तंडचंडांशुभिः
संतप्तात्मतनुस्तृपानशनरुक्क्लेशादिजातोष्णजम्।
शोषस्वेदविदाहखेदमवेशनासं पुराऽपि स्मरन्
तन्मुक्त्यै निजभावभावनरतिः स्यादुष्णजिष्णुर्व्रती ॥ ७ ॥

जिसमे समस्त प्राणियोंका समूह सूख जाता है ऐसे ग्रीष्म ऋतुमें सूर्यकी तेज किरणोंसे जिनका शरीर अत्यंत संतप्त होगया है ऐसे वे मुनिराज ऐसे समयमें भी प्यास, उपवास वा रोग आदि क्लेशोंसे जो उष्णता उत्पन्न हुई थी और उससे पहले किसी समयमें जो तालू सूख गया था, पसीनेकी विलक्षणतासे जो शरीरमे दाह उत्पन्न हुआ था वा और भी ऐसे ही दुःख विवश होकर सहन किये थे उन सबको स्मरण करते रहते हैं तथा मोक्ष प्राप्त करनेके लिए अपने शुद्धात्मस्वरूप भावोंकी भावनाओंमें लीन रहते हैं ऐसे वे व्रती मुनि उष्ण परीषहको जीतनेवाले गिने जाते है ॥ ७ ॥

आगे दंशमशक परिषहको कहते हैं।

शून्यागारदरीगुहादिशुचिनि स्थाने विविक्ते स्थित-
स्तीक्ष्णैर्मत्कुणकीटदंशमशकाद्यैश्चंडतुंडैः कृतां।
स्वांगार्तिं परदेहजार्त्तिमिव तां यो मन्यमानो मुनि–

निःसंगः स सुखी च दंशमशकक्लेशक्षमी तं नुमः ॥ ८ ॥

जो मुनिराज सूने मकान, कंदरा वा गुफा आदि पवित्र और एकांत स्थानमें निवास करते है तथा वहांपर खटमल, कीडे, डांस, मच्छर आदि जीव अपने तीक्ष्ण और पैने मुखसे काटते है उससे उनके शरीरमें जो घोर दुःख होता है उसे वे दूसरेके शरीरमें उत्पन्न हुए दुःखके ससान मानते हैं अर्थात् दूसरेके शरीरमें उत्पन्न हुए दुःखके समान वे उसे कुछ नहीं समझते। ऐसे समस्त परिग्रहोंसे रहित और पूर्ण सुखी ऐसे वे मुनिराज दंशमशक परीषहको जीतनेवाले कहे जाते हैं। ऐसे मुनिराजोंको मै नमस्कार करता हूं।

आगे ईर्या अथवा गमन परिषहाको कहते हैं।

शार्दूलैर्मिलितेच्छभल्लभुजगाऽऽभोगे भयैकास्पदे
गन्धान्धाद्विरदोत्करे करिरिपुक्रीडैकनीडे वने।
स्वैरं कण्टककर्करादिपरुषेऽप्यत्राणपादश्चर-
न्नेकः सिंह इवार्तिभीतिविजयी व्रज्यार्तिजित्संयमी ॥ ९ ॥

जिस वनमें व्याघ्र भरे हुए हैं, रींछ और सर्प भरे हुए है, जो अत्यत भयका स्थान है, जिसमें कपोलोंसे वहनेवाले मदकी गंधसे इधर उधर भ्रमते हुए हाथियोंके समूह भर रहे है और जिसमें क्रीडा करते हुए सिंहोंके अनेक घर बने हुए है तथा जो वन, कांटे, कंकड, पत्थर आदि-कोंसे अत्यंत कठोर हो रहा है ऐसे बनमें अकेले विना जूता खडाऊं आदि कुछ पहने हुए निर्भय सिंहके समान अपनी इच्छानुसार गमन करते है और उससे होनेवाले भय और दुःखोंको जीतते है ऐसे वे संयमी मुनिराज गमन परीषह अर्थात् गमन करनेसे उत्पन्न होनेवाले दुःखोंको जीतनेवाले-विजय करनेवाले कहे जाते हैं ॥ ९ ॥

आगे रोग परिषहको कहते हैं।

कंडूयागलगंडपांडुदवथुग्रन्थिज्वरश्लीपद-
श्लेष्मोदुंवरकुष्ठपित्तपवनश्वासादिरोगार्दितः ।
भिक्षुः क्षीणवलोऽपि भेषजसुहृन्मंत्रानपेक्षः क्षमी
दुःकर्मारिविनिर्मिताऽर्तिविजयी स्याद्व्याधिवाधाजयः ॥ १० ॥

जो मुनिराज खुजली, कठमाला, पांडु, दाहज्वर, ग्रंथिज्वर, पैरका रोग, कफ, उदवर कोढ, पित्त, वायु और श्वास आदि अनेक रोगोंसे दुःखी हैं, उन रोगोंके कारण जो अत्यत क्षीण और निर्बल होगये है तथापि औषधि, मित्र, और मंत्र तत्रादिककी अपेक्षा कभी नहीं करते, जो सदा क्षमा धारण करते रहते है और कर्मरूप शत्रुओंके दिए हुए दुःखोंको सदा जीतते रहते है ऐसे मुनिराज रोग परिषहको जीतनेवाले गिने जाते है ॥ १० ॥

आगे शय्या परिषहको कहते हैं ।

झंझावातहतार्तकौशिकाशिवाफूत्कारघोरस्वरां
शंपाक्रूररदां स्फुरद्रुचितडिज्जिह्वां क्षपाराक्षसीम् ।
यो तं द्रागगमयत्यसौ शयनजातायासजिद्धीरधी-
र्ध्वान्तात्यन्तकरालभूधरदरीदेशे प्रसुप्तः क्षणम् ॥ ११ ॥

यह रात्रि और विशेषकर वर्षाऋतुकी रात्रि एक राक्षसीके समान है । जिसप्रकार राक्षसी घोर शब्द करती है उसीप्रकार वर्षाऋतुकी रात्रिमें भी वर्षाके साथ साथ वहनेवाली तीव्र वायुके झोकेसे अत्यंत दुःखी होनेवाले गीदड आदि पशुपक्षियोंके रोनेके घोर शब्द होते रहते है । जिस प्रकार राक्षसीके क्रूर दात होते हैं उसीप्रकार उस रात्रिरूपी राक्षसीके भी पडती हुई बिजलीके क्रूर दांत निकले हुए हैं, जिसप्रकार राक्षसीके जीभ सदा लहलहाट करती रहती है उसीप्रकार उस रात्रिरूपी राक्षसीकी दैदीप्यमान् चमकती हुई बिजलीरूपी जीभ सदा लहलहाट करती रहती है ।

ऐसी वर्षाऋतुकी विकराल रात्रियोंमें जो मुनिराज अंधकारसे अत्यंत भयानक ऐसी पर्वतोंकी गुफाओंके किसी भागमें क्षणभर सोते है और इसप्रकार वे धीर वीर मुनिराज उस भयानक रात्रिरूपी राक्षसीको बहुत शीघ्र विता देते है–भगा देते हैं । ऐसे वे मुनिराज सोनेमें उत्पन्न हुए दुःखोंके जीतनेवाले वा शय्यापरिषहको जीतनेवाले कहे जाते है ॥ ११ ॥

आगे तृणस्पर्शपरिषहको कहते हैं ।

श्रान्तः सन् श्रुतभावनाऽनशनसद्ध्यानाऽध्वयानादिभिः
स्तोकं कालमतिश्रमापहृतये शय्यानिषद्ये भजन् ।
शुद्धोर्वीतृणपत्रसंस्तरशिलापट्टेषु तत्पीडनो-
कंडूयादिसहो भवेदिह तृणस्पर्शक्षमी संयमी ॥ १२ ॥

श्रुतज्ञानकी भावना करना, अर्थात् शास्त्रोंका पठन पाठन करना, उपवास करना, उत्तम ध्यान धारण करना और मार्गमें गमन करना आदि अनेक कारणोंसे जो थक गये है, उस थकावटको वा उससे उत्पन्न होनेवाले खेदको दूर करनेके लिए जो शुद्ध पृथ्वीपर वा घास पत्ते आदिके बने हुए सांथरे वा बिछोनेपर अथवा शिलापट्टपर थोडी देरतक बैठते हैं अथवा सोते हैं और उस बैठनेमें वा सोनेमें कांटे, ककड आदिसे जो पीडा उत्पन्न होती है अथवा खुजली आदिका जो दुःख होता है उसको जो सदा सहन करते रहते हैं ऐसे वे संयमी मुनिराज तृणस्पर्श परिषहको जीतनेमें समर्थ वा तृणस्पर्श परिषहको जीतनेवाले गिने जाते है ॥ १२ ॥

आगे वधपरिषहको कहते हैं ।

रुष्टैः पूर्वभवापकारकलनात्तज्जन्मवैरात्खलै-
र्म्लेच्छैर्निःकरुणैरकारणगुणद्वेषैश्च पापात्मकैः ।
देहच्छेदनभेदनादिविधिना यो मार्यमाणोऽप्यलं

देहात्मात्मविभेदवेदनभवक्षान्तिर्वधार्तिक्षमी ॥ १३ ॥

किसी भी तरह जो पूर्व भवके अपकारोंको जानकर अत्यंत क्रोधित हो रहे हैं ऐसे अनेक दुष्ट लोग और विना ही कारणके गुणोंसे दोष करनेवाले तथा करुणा रहित ऐसे महा पापी म्लेच्छ लोग मुनिराजके शरीरको छेद डालते हैं वा भेदन कर डालते हैं अथवा और किसी भी उपायसे उनको मार डालते हैं तथापि वे मुनिराज शरीर और आत्माके भेदज्ञानसे उत्पन्न हुई परम क्षमाको ही धारण करते हैं ऐसे वे मुनिराज वधसे उत्पन्न होनेवाले दुःखोंको सहन करनेमें समर्थ अथवा वध परिषहको सहन करनेवाले-विजय करनेवाले कहे जाते हैं ॥ १३ ॥

आगे अलाभपरिषहको कहते हैं ।

हंहो! देह! सहायतां तव समुद्दिश्यैव पोष्यो मया
पूर्त्तौ मत्तपसो गृहावलिमतो भ्रान्त्वाऽप्यनाप्तेऽशने ।
दोषः कोऽपि न विद्यते मम पुनर्लाभादलाभक्षमा
तां पूर्तिं प्रतनोत्यतः प्रियतमैवेत्यलाभक्षमा ॥ १४ ॥

हे शरीर मेरे तपश्चरणकी पूर्ति तेरी सहायतासे ही होती है इसीलिए मुझे तेरा पालन पोषण करना पडता है । तथा इसीलिए अर्थात् तेरे पालनपोषणके अर्थ तुझे भोजन देनेके लिये मैं अनेक घरोंमें घूमता हूं । फिर भी यदि मुझे भोजन प्राप्त नहीं होता तो फिर इसमें मेरा कोई दोष नहीं है । इसपर भी मैं भोजनकी प्राप्तिकी अपेक्षा उसकी प्राप्ति न होनेमें मैं क्षमा धारण करता रहता हूं और वह मेरी क्षमा तपश्चरणकी वृद्धिको पूर्ण करती रहती है । इसप्रकार विचार करते हुए वे मुनिराज अपनी प्यारी स्त्रीके समान इस अलाभ परिषहको जीतनेमें सदा समर्थ बने रहते हैं अर्थात् इस अलाभ परिषहको सदा जीतते रहते हैं ॥ १४ ॥

आगे अरतिपरिषहको कहते हैं ।

दुर्वारेन्द्रियवृन्दरोगानिकरक्रूरादिबाधोत्करैः
प्रोद्भूतामरतिं व्रतोत्करपरित्राणे गुणोत्पोषणे ।
मंक्षु क्षीणतरां करोत्यरतिजिद्धीरः स वंद्यः सतां
यो दंडत्रयदंडनाहितमतिः सत्यप्रतिज्ञो व्रती ॥ १५ ॥

जो मुनिराज अत्यंत धीर वीर है, सज्जनोंके द्वारा वदना करने योग्य हैं, सत्यस्वरूप वा यथार्थ प्रतिज्ञाको धारण करनेवाले है, महाव्रती हैं और मन, वचन, कायको वशमें करनेके लिए जिन्होंने अपनी समस्त बुद्धि लगा रक्खी है ऐसे वे मुनिराज अपने व्रतोंके समूहकी रक्षा करनेके लिए अथवा गुणोंकी वृद्धि करनेके लिए जो किसी प्रकार भी निवारण न की जासकें ऐसी इंद्रियोंके द्वारा उत्पन्न हुई अरतिको अथवा रोगोंके समूहसे उत्पन्न हुई अरतिको वा क्रूर दुष्ट मनुष्योंके द्वारा उत्पन्न हुई अनेक बाधाओंसे प्रगट होनेवाली अरतिको बहुत शीघ्र नष्ट कर देते है। किसी भी कारणसे उनके मनमें अरति उत्पन्न नहीं होती ऐसे वे मुनिराज अरतिपरिषहको जीतने वाले माने जाते हैं ॥ १५ ॥

आगे अदर्शनपरिषहको कहते हैं ।

वर्ण्यन्ते बहवस्तपोऽतिशयजाः सप्तर्द्धिपूजादयः
प्राप्ताः पूर्वतपोधनैरिति वचोमात्रं तदद्यापि यत ।
तत्त्वज्ञस्य ममाऽपि तेषु न हि कोऽपीत्यार्त्तसंगोज्झिता
चेतोवृत्तिरदृक्परीषहजयः सम्यक्त्वसंशुद्धितः ॥ १६ ॥

"अनेक शास्त्रोंमें लिखा है कि इस संसारमें पहले बडे-२ तपस्वी होगये हैं उन तपस्वियोंको अपने घोर तपश्चरणके प्रतापसे–तपश्चरणके अतिशयसे सात प्रकारकी ऋद्धियां प्राप्त हुई हैं वा इंद्रादिक देवोंने भी आकर उनकी पूजा की है। परतु शास्त्रोंमें लिखा हुआ यह बचन केवल

कहने मात्र है सत्य नहीं है। क्योंकि मैं समस्त तत्त्वोंका जानकार हूं तथापि उन ऋद्धियोंमेंसे आजतक मुझे कोई ऋद्धि प्राप्त नहीं हुई है। यदि यह शास्त्रोंमें लिखा हुआ सत्य होता तो मेरे समान तत्त्वोंके जानकार तपस्वीको अवश्य ही कोई ऋद्धि प्राप्त होती,, इसप्रकारके आर्तध्यानसे जिनके हृदयकी प्रवृत्ति सर्वथा रहित है अथवा यों कहना चाहिये कि जिनका सम्यग्दर्शन इतना निर्मल और शुद्ध है कि जो उनके हृदयमें ऊपर लिखे हुए आर्तध्यानको कभी उत्पन्न नहीं होने देता। ऐसे वे मुनिराज अदर्शनपरिषहको जीतनेवाले कहे जाते हैं ॥ १६ ॥

आगे स्त्रीपरीषहको कहते हैं।

जेता चित्तभवस्त्रयस्य जगतां यासामपांगेषुभि-
स्ताभिर्मत्तनितंबिनीभिरामितः संलोभ्यमानोऽपि यः।
तत्फल्गुत्वमवेत्य नैति विकृतिं तं वर्य्यधैर्येन्दिरं
वन्दे स्त्र्यर्त्तिजयं जयन्तमखिलानर्थं कृतार्थं यतिम् ॥ १७ ॥

जिन स्त्रियोंके कटाक्षरूपी बाणोंसे ही कामदेवने तीनों लोक जीतलिए हैं ऐसी उन मदोन्मत्त स्त्रियोंके द्वारा जिनको चारों ओरसे अनेक प्रकारके लोभ दिये जा रहे हैं। हाव, भाव, कटाक्ष, नृत्य, गीत, वादित्र आदिके द्वारा अनेक स्त्रियां जिनको वशीभूत करना चाहती हैं ऐसे वे मुनिराज उन स्त्रियोंके समस्त हाव, भावादिकोंको व्यर्थ समझते हुए कभी भी विकारोंको प्राप्त नहीं होते तथा जो उत्तम धैर्यरूपी लक्ष्मीको सदा धारण किये रहते हैं जो समस्त अनर्थोंको जीतनेवाले हैं और कृतार्थ हैं ऐसे वे मुनिराज स्त्री परिषहको जीतनेवाले गिने जाते हैं ऐसे मुनिराजोंको मैं सदा वंदना करता हूं ॥ १८ ॥

आगे प्रज्ञापरिषहको कहते हैं

प्रत्यक्षाऽक्रमविश्ववस्तुविषयज्ञानात्मनः स्वात्मनो
गर्वः सर्वमतश्रुतज्ञ इति यः प्राप्ते परोक्षे श्रुते ।
सर्वस्मिन्नपि नो तनोति हृदये लज्जां स किं तामिति
प्रज्ञोत्कर्षमदापनोदनपरः प्रज्ञार्तिजित्तत्त्ववित् ॥ १८ ॥

यह आत्मा प्रत्यक्ष और क्रमरहित समस्त पदार्थोंको एकसाथ जाननेवाला केवलज्ञानमय है। तथापि पूर्ण मतिज्ञान और पूर्ण श्रुतज्ञानके प्राप्त होजानेपर "मैं पूर्ण मतिज्ञान और श्रुतज्ञानको जानता हूं" इसप्रकार जो मुनि अभिमान करता है वह क्या अपने हृदयमें अतिशय लज्जाको प्राप्त नहीं होता ?

भावार्थ-- आत्माका स्वरूप ही केवलज्ञानमय है। फिर उसके सामने मतिज्ञान श्रुतज्ञान कुछ भी नहीं है अतएव पूर्ण श्रुतज्ञानके प्राप्त होनेपर भी मुनिराज कभी अभिमान नहीं करते हैं। वे समझते है कि इस तुच्छ ज्ञानका अभिमान करना मिथ्या है क्योंकि यह आत्मा स्वयं केवल-ज्ञानमय है। इसप्रकार जो बुद्धिके उत्कृष्टपनेके मदको दूर करनेमें सदा तत्पर रहते हैं और आत्मा आदि समस्त तत्त्वोंके जानकर हैं ऐसे वे मुनिराज प्रज्ञापरिषहको जीतनेवाले कहे जाते हैं।

आगे अज्ञानपरिषहको कहते हैं।

ज्ञानध्यानरता मतिर्मम तपस्तीव्रं न चोत्पद्यते
ज्ञानं पूर्णमयं जडः पशुरिति श्रोतुं वचोऽहं क्षमः ।
नेत्यज्ञानपरीषहं स सहते प्रव्यक्तवस्तुस्थिति-
र्यः कार्यं भवति स्वहेतुयुगले सत्येव नेत्यन्यथा ॥ १९ ॥

मेरी बुद्धि, ज्ञान और ध्यानमें सदा लीन रहती है तथा मैं तपश्चरण भी सबसे अधिक करता हू तथापि मुझे पूर्ण ज्ञान प्रगट नहीं होता। इसके सिवाय इतना ज्ञान, ध्यान और तप

॥१९०॥

करनेपर भी लोग मुझे "यह मूर्ख है, जड है, पशु है" आदि शब्द कहते हैं और मैं उन वचनोंको सुननेके लिये सदा तैयार रहता हूं । इसप्रकार जो अपने मनमें कभी विचार नहीं करते क्योंकि वे मुनिराज पदार्थोंके यथार्थ स्वरूपको समझते हैं तथा वे यह भी जानते हैं कि संसारमें जितने कार्य होते हैं वे सब अपने अंतरंग और बहिरंग दोनों कारणोंके मिलनेसे ही होते हैं । केवल बहिरंग कारणोंसे ही नहीं होते । केवलज्ञानकी प्राप्ति भी कर्मोंके नाश होनेसे होती है । केवल ध्यान वा तपसे नहीं होती इसप्रकार जानकर केवलज्ञानके न होनेपर भी जो ध्यान और तपको व्यर्थ नहीं बतलाते बल्कि कर्मोंके नाश करनेके लिए और अधिक ध्यान और तप करते हैं वे अज्ञानपरिषहको जीतनेवाले समझे जाते हैं ॥ १९ ॥

आगे नाग्न्यपरिषहको कहते हैं ।

भूषावेषविकारशस्त्रनिचयत्यागात्प्रशस्ताकृते-
र्बालस्येव मनोजजातविकृतिश्चिनस्य लज्जेति ताम् ।
हित्वा मातृसमानमेव सकलं कान्ताजनं पश्यतः
पूज्यो नाग्न्यपरीषहस्य विजयस्तत्त्वज्ञताप्तोदयः ॥ २० ॥

जिन मुनिराजने आभरण श्रृंगार, वस्त्र, शस्त्र आदि सबका त्याग कर दिया है इसीलिए जिनकी आकृति बालकके समान अत्यंत प्रशंसनीय है- निर्विकार है, तथा कामदेवके प्रभावसे जो विकार वा हृदयमें लज्जा उत्पन्न होती है उसको छोडकर जो समस्त स्त्रीजनोंको अपनी माताके समान मानते हैं । ऐसे उन मुनिराजके नाग्न्य परिषहका विजय कहा जाता है । यह नाग्न्य परिषह अत्यंत पूज्य है और आत्मा तथा अन्य समस्त पदार्थोंके यथार्थ स्वरूपकी जानकारीके कारण ही उस विजयका उदय प्राप्त हुआ है ।

भावार्थ— वे मुनिराज आत्माके यथार्थ स्वरूपको जानते हैं इसलिए नाग्न्यपरिषहको जीतकर संसारमें पूज्य माने जाते हैं ॥ २० ॥

आगे आक्रोशपरिषहको कहते हैं।

वर्णां कर्णहृदां विदारणकरान् क्रूराशयैः प्रेरिता-
नाक्रोशान् घनगर्जतर्जनखरान् शृण्वन्नशृण्वन्निव ।
शक्त्याऽत्युत्तमसंपदाऽपि सहितः शान्ताशयश्चिन्तयन्
यो बाल्यं खलसंकुलस्य शयनक्लेशक्षमी तं स्तुवे ॥ २१ ॥

जो मुनिराज पूर्ण ब्रह्मचारी हैं, तपश्चरणसे प्रगट होनेवाली आत्माकी शक्तियोंसे तथा ऋद्धि सिद्धिरूप उत्तम उत्तम सपदाओंसे सुशोभित हैं तथापि कर्ण और हृदयको विदीर्ण करनेवाले, तर्जना करते समय मेघोंकी गर्जनाके समान अत्यत कठोर ऐसे दुष्ट पुरुषोंके द्वारा कहे गये गाली गलौज आदि दुष्ट वचनोंको सुनते हुए भी न सुननेके समान निर्विकार रहते हैं, अपने हृदयको सदा शांत रखते हैं और गाली, गलौज वा दुष्ट वचन कहनेवालोंको बालक वा अज्ञानीके समान समझते हैं ऐसे वे मुनिराज आक्रोशपरिषहको जीतनेवाले कहे जाते हैं। ऐसे मुनिराजोंकी मैं बारबार स्तुति करता हूं ॥ २१ ॥

आगे सत्कारपुरस्कारपरिषहको कहते हैं।

ख्यातोऽहं तपसा श्रुतेन च पुरस्कारं प्रशंसां नतिं
भक्त्या मे न करोति कोऽपि यतिषु ज्येष्ठोऽहमेवेति यः ।
ग्लानिं मानकृतां न याति स मुनिः सत्कारजातार्तिजि-
द्दोषा मे न गुणा भवन्ति न गुणा दोषाः स्युरित्यन्यतः ॥ २२ ॥

"मैं तपश्चरण करनेमें सबसे अधिक प्रसिद्ध हूं तथा श्रुतज्ञान वा शास्त्रज्ञानमें भी मैं सबसे अधिक प्रसिद्ध हूं। इसके सिवाय मुनियोंमें भी मैं सबसे बडा मुनि हूं तथापि मेरा कोई आदर सत्कार नहीं करता, मेरी कोई प्रशंसा नहीं करता और न भक्तिपूर्वक मुझे नमस्कार करता

॥१९२॥

है। ,, इस प्रकार अभिमानसे उत्पन्न होनेवाली ग्लानिको जो कभी प्राप्त नहीं होते, जो सदा यही समझा करते हैं कि "दूसरोंके कहनेमे मेरे गुण न तो दोष हो सकते हैं और न मेरे दोष गुण होसकते हैं। मुझमे जो गुण है वे सदा गुण ही रहेंगे उनको चाहे कोई कहे या न कहे।,, इसप्रकार चिंतवन करते हुए वे मुनिराज सत्कारपुरस्कार परिषहको जीतनेवाले गिने जाते है॥ २२॥

आगे याचनापरिषहको कहते हैं।

प्राज्यं राज्यमुदस्य शाश्वतपदप्राप्त्यै तपोबृंहणे
देहो हेतुरयं हि भुक्त्यनुगता चास्य स्थितिस्तत्कुतः।
भिक्षायै भ्रमणं ह्रियः पदमिदं यस्मान्महार्थास्पदा-
नीचैर्वृत्तिरनिन्दितेति विचरन् याञ्चाजयः स्यान्मुनिः॥ २३॥

जो मुनिराज मोक्षपद प्राप्त करनेके लिए बडे भारी राज्यको छोडकर मुनिव्रत धारण करते है, वह मोक्षपदकी प्राप्ति तपश्चरणसे होती है, तपकी वृद्धि शरीरसे होती है, और शरीरकी स्थिति बराबर भोजन मिलनेसे होती है। अतएव भिक्षाके लिए-चर्याके लिए परिभ्रमण करना लज्जाका कारण कैसे हो सकता है? क्योंकि इसप्रकार चर्याके लिये परिभ्रमण करना मोक्षरूप परम पुरुषार्थका स्थान है। इसप्रकार अनिंदनीय चर्यावृत्तिको धारण कर शरीरकी स्थितिके लिए आहार ग्रहण करना कभी किसीसे याचना न करना याचना परिषहका जीतना है। इसप्रकार चर्या करनेवाले वा कभी याचना न करनेवाले मुनिराज याचना परिषहको जीतनेवाले कहे जाते है॥ २३॥

आगे निषद्यापरिषहको कहते हैं।

सर्वाशाशमहान्धकारपुरुजाऽऽयामां त्रियामां यमी
योगैर्योगमयत्यवार्यमहिमाऽऽभोगैर्मुहूर्त्तं यथा।
क्षेत्रे स्त्रीजनपश्ववद्यरहिते हृद्ये निषद्यास्थितः

सन्नत्युग्रनिशाचराप्रतिहतध्यानो निषद्याजयी ॥ २४ ॥

बडे बडे राक्षस भी जिनके ध्यानमें कभी किसी प्रकारका विघ्न नहीं कर सकते ऐसे मुनिराज स्त्रियोंसे रहित, पशुओंसे रहित तथा निंदनीय पापोंसे रहित ऐसे मनोहर क्षेत्रमें विराजमान होकर ऐसा उत्तम ध्यान धारण करते हैं जिसकी महिमाकी पूर्णता कभी निवारण नहीं की जा सकती । अर्थात् समस्त महिमाओंको समस्त ऋद्धि सिद्धियोंको पूर्ण करनेवाला ध्यान धारण करते हैं उस ध्यानके द्वारा वे संयमी मुनिराज जिसमें समस्त दिशाओंको भक्षण करनेवाला-ढक देनेवाला घोर अंधकार चारों ओर फैल रहा है-व्याप्त हो रहा है ऐसी बडी रात्रिको भी एक मुहूर्तके समान व्यतीत कर देते हैं अर्थात् रात्रिभर एक ही आसनसे बैठे हुए ध्यान धारण किया करते हैं ऐसे वे मुनिराज निषद्यापरिषहको जीतनेवाले कहे जाते हैं ॥ २४ ॥

आगे वीर्याचारका स्वरूप कहते हैं ।

देशं कालं स्वकीयं बलमपि नृपतिः सम्यगालोच्य यद्व-
च्छत्रुव्रातस्य जेता भवति यतिरपि स्वीयकर्मोदयेन ।
जातस्यास्यार्त्तिजातोद्भटभटकटकस्योरुधैर्यस्तथा यः-
सोऽयं स्याद्वर्यवीर्याचरणचणनुतो वीरलक्ष्मीनिवासः ॥ २५ ॥

जिसप्रकार धीर, वीर राजा देश और कालको देखकर तथा अपने बलको अच्छी तरह समझकर शत्रुओंके समूहको अच्छीतरह जीतलेता है उसीप्रकार जो धीर वीर मुनिराज देश, कालको देखकर और अपनी आत्मशक्तिको अच्छीतरह समझकर अपने कर्मोंके उदयमें उत्पन्न होनेवाली अनेक दुःखरूप-रोगादिक पीडारूप उत्कट योद्धाओंकी सेनाको अच्छीतरह जीतलेते हैं और जो सर्व-श्रेष्ठ वीर्याचारके पालन करनेमें (अपनी शक्ति प्रगट कर तपश्चरणादिक करनेमें) अत्यत प्रवीण माने जाते हैं ऐसे वे मुनिराज मोक्षरूप वीर लक्ष्मीके निवासस्थान होते हैं ।

भावार्थ— ऊपर लिखी हुई बाईस परिषहोंको जीतकर जो मुनिराज वीर्याचारका पालन करते हैं वे भगवान् वीरनाथको प्राप्त होनेवाली मोक्षलक्ष्मीके पात्र अवश्य होते हैं ॥ २५ ॥

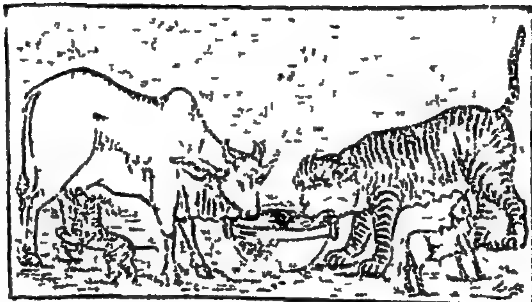
आगे अध्यायके अंतमें भगवान् कुंथुनाथकी स्तुति करते हैं ।

चक्रं विक्रममानमर्दनमुरुज्यां प्राज्यराज्यं च यः
कुन्थुर्ग्रन्थविरागतातिशयतस्त्यक्त्वात्मरूपाप्तये ।
तत्प्राप्तौ तु परं क्षमादिकमरं तद्धर्मचक्रं दध-
द्वंद्योऽभूद्भुवनत्रयस्य तदिदं चित्रं चरित्रं मुनेः ॥ २६ ॥

जिन भगवान् कुंथुनाथने बाह्य और अभ्यतर परिग्रहोंसे उत्पन्न होनेवाले अत्यंत वैराग्यके कारण तथा अपने शुद्ध आत्माके यथार्थ स्वरूपकी प्राप्तिके लिये अपने पराक्रमसे समस्त योद्धाओंका मानमर्दन करनेवाले चक्ररत्नका त्याग किया तथा इस छह खंडरूप पृथ्वीके विशाल राज्यका त्याग किया, और उस शुद्ध आत्माके यथार्थ स्वरूपको प्राप्त करनेके लिए उन्होंने उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव आदि धर्मस्वरूप आरोंको धारण करनेवाले धर्मचक्रको धारण किया और इसप्रकार धर्मचक्रको धारण कर वे तीनों लोकोंके द्वारा वंदनीय हुए ।

भावार्थ– चक्रवर्ती अवस्थामें उन्हें भरतक्षेत्रके राजा महाराजा ही नमस्कार करते थे परन्तु उस चक्ररत्नके त्याग करने और धर्मचक्र धारण करनेसे उन्हें तीनों लोक नमस्कार करने लगा । इससे सिद्ध होता है कि मुनियोंका चारित्र बडा ही आश्चर्य उत्पन्न करनेवाला है । ऐसे कुंथुनाथको मैं इस अध्यायके अंतमें नमस्कार करता हूं ॥ २६ ॥

इसप्रकार श्री वीरनंदि सिद्धांतचक्रवर्तिविरचित श्रीआचारसार नामके
शास्त्रकी चावली (आगरा) निवासी, देहली प्रवासी 'धर्मरत्न'
लालारामशास्त्रीद्वारा निर्मित सरल हिंदी भाषाटीकामें
वीर्याचारके स्वरूपको वर्णन करनेवाला यह
सातवा अधिकार समाप्त हुआ ।



॥ अथ अष्टमोऽधिकारः ॥

आगे अध्यायके प्रारंभमें भगवान पद्मप्रभको नमस्कार करते हैं ।

पद्मप्रभं कोकनदोदरप्रभं पद्माविनोदायतनं सनातनम् ।
सर्वात्मनीनोरुदयं महोदयं जिनेश्वरं नौमि विशुद्धधीश्वरम् ॥ १ ॥

॥ अथ आठवां अधिकार ॥

जिन भगवान् पद्मप्रभके शरीरकी कांति रक्तकमल वा लाल कमलके भीतरी भागकी प्रभाके समान है, जो भगवान् मोक्षरूपी लक्ष्मीके क्रीडा करनेके स्थान हैं, जो अनादि अनंत हैं, जिनका उदय वा केवलज्ञानकी प्राप्ति समस्त जीवोंका कल्याण करनेवाली है, जिनका उदय वा अनंतचतुष्टयरूप

॥१९६॥

अंतरग लक्ष्मी अथवा समवसरणादिक बहिरग लक्ष्मी सर्वोत्तम है, जो घातिया कर्मोंको नाश करनेवाले अरहंतोंके भी ईश्वर है तथा विशुद्ध बुद्धिको धारण करनेवाले गणधरोंके ईश्वर हैं ऐसे भगवान् पद्मप्रभको मैं नमस्कार करता हूं ॥ १ ॥

आगे पंचाचारोंकी विशुद्धिके लिए आठ प्रकारकी शुद्धियोंको कहते हैं।

शुद्धयोऽष्टौ विधीयन्ते पंचाचारविशुद्धये ।
भूषा मनोहराऽऽकारस्याऽतिशोभाश्रिये न किम् ॥ २ ॥

क्या अत्यंत सुदर और मनोहर पुरुषके लिए भी सुदर वस्त्र व आभूषण पहनना उसकी शोभा बढानेके लिए नहीं होता ?

भावार्थ— जिस प्रकार वस्त्र आभूषणोंसे सुंदर मनुष्यकी भी शोभा बढजाती है उसीप्रकार शुद्धियोंसे पचाचारोंकी भी शोभा बढजाती है ॥ २ ॥

आगे शुद्धियोंके नाम कहते हैं।

स्युर्भाववाक्यकायेर्याभिक्षाविनयसंश्रयाः ।
शयनाऽऽसनव्युत्सर्गगेते चेत्यष्टशुद्धयः ॥ ३ ॥

भावशुद्धि, वाक्यशुद्धि, कायशुद्धि, ईर्याशुद्धि, भिक्षाशुद्धि, विनयसंश्रयशुद्धि, शयनासनशुद्धि और व्युत्सर्गशुद्धि इसप्रकार ये आठ शुद्धियां कहलाती है ॥ ३ ॥

आगे भावशुद्धिका स्वरूप कहते हैं।

सदाऽपेतप्रमादा या वाचनादिरता मतिः ।
शंकादिदृङ्मलापेता मार्दवादिगुणान्विता ॥ ४ ॥
स्याद्भावशुद्धिराचारः सत्यामस्यां प्रवर्द्धते ।
यद्वदुप्तो विशुद्धोर्व्यां सम्यग्बीजव्रजस्तथा ॥ ५ ॥ युग्मम् ।

जो बुद्धि सदा प्रमाद रहित हो, शास्त्रोंके बाचने आदि स्वाध्यायमें लीन रहती हो। सम्यग्दर्शनके शंकादिक दोषोंसे सर्वथा रहित हो और मार्दव आदि गुणोंसे सुशोभित हो ऐसी बुद्धि होनेको भावशुद्धि कहते है। जिसप्रकार शुद्ध पृथ्वीमें बोया हुआ बीजोंका समूह खूब अच्छीतरह बढता है उसीप्रकार इस भावशुद्धिके होनेपर सम्यग्चारित्र खूब बढता है ॥ ४-५ ॥

आगे वाक्यशुद्धिका स्वरूप कहते हैं।

कन्या प्रदानयोग्येयं क्षेत्रादि लवनोचितम्।
प्रोत्खाताः परिखाः कूपवाप्यः शास्या दुरीहिताः ॥ ६ ॥
गीतवादित्रनृत्यानि हृद्यानीयं वरांगना।
भटेभमल्लयुद्धानि सुकृतानि वनं वरम् ॥ ७ ॥
रोग्यंधः पंगुरित्यादिव्यवहाराश्रिताप्रिया-
संयतोचितवाक्त्यागाद्देशकालसभोचिता ॥ ८ ॥
मृदुमधुरगंभीरा वाङ्मोक्षमार्गोपदेशना।
वाक्यशुद्धिर्गुणांभोधिविधुदीधितिरीरिता ॥ ९ ॥

यह कन्या देनेयोग्य है- विवाह करदेने योग्य है, यह खेत काटने योग्य है, यह खाई वा कूआ अथवा बावडी खोदने योग्य है, इसकी चेष्टा प्रशंसनीय है, इसकी चेष्टा दुष्टतामय है, यह गाना बजाना वा नृत्य मनोहर है, यह स्त्री अच्छी है, इन योद्धाओंका मल्लयुद्ध बहुत अच्छा है अथवा इन हाथियोंका युद्ध बहुत अच्छा है, यह वन बहुत अच्छा है, यह रोगी है, यह अंधा है, यह लगडा है, इसप्रकार व्यवहारको आश्रय करनेवाली अप्रिय और असंयमियोंके बोलने योग्य भाषाका त्याग कर देश, काल तथा सभाके योग्य, कोमल, मधुर, गंभीर और मोक्षमार्गका उपदेश देनेवाली भाषाका कहना वाक्यशुद्धि कहलाती है। जिसप्रकार चंद्रमाकी किरणोंसे समुद्र बढता है

॥१९८॥

उसीप्रकार इस वाक्यशुद्धिसे गुणोंका समुद्र सदा वृद्धिको प्राप्त होता रहता हैं ॥ ८-९ ॥

आगे कायशुद्धिका स्वरूप कहते हैं ।

विश्रंभोत्पादिका लोकस्याऽस्तसंस्कारसंहतिः ।
कायशुद्धिः क्षमामूर्तिभूतेवाऽऽभाति निस्पृहा ॥ १० ॥
विरागतालतोद्भूतिभूमिर्भीतिविवर्जिता ।
जातरूपमनोहारिण्येषा भूषा तपःश्रियः ॥ ११ ॥ युग्मम् ।

जो संसारमें विश्वास उत्पन्न करनेवाली है, जो संस्कारोंसे वा वेष, भूषा आदिसे सर्वथा रहित है, अत्यंत निस्पृह है, जो वैराग्यरूप लताको उत्पन्न करनेके लिए उत्तम भूमि है, भयसे सर्वथा रहित है जिसप्रकार निर्विकार और नग्नरूप उत्पन्न हुई थी उसीप्रकार विकारोंसे रहित नग्नरूप है, जो अत्यत मनोहर है तथा तपश्चरणरूप लक्ष्मीका आभूषण है ऐसी मूर्तिमान् क्षमाके समान जो शरीरकी शुद्धि है– शुद्ध–निर्विकार शरीरकी आकृति है उसको कायशुद्धि कहते हैं ॥१०-११॥

आगे ईर्याशुद्धिका स्वरूप कहते हैं ।

भयविस्मयविभ्रान्तिलीलाविक्रांतिलंघन– ।
प्रधावनाद्यपेतेर्यापथशुद्धिर्दयान्विता ॥ १२ ॥
समाहितप्रशान्ताङ्गा प्रलंबितकरा वरा ।
गतिश्चारित्रसंपत्तिहेतुर्नीतिरिव श्रियः ॥ १३ ॥

देख शोधकर ईर्यापथशुद्धिपूर्वक गमन करनेको ईर्यापथशुद्धि कहते हैं । उस ईर्यापथशुद्धि पूर्वक गमन करनेमें न तो कोई भय रहता है, न आश्चर्य रहता है, न किसी प्रकारकी भ्रांति रहती है न कोई लीला होसकती है और न कोई किसी प्रकारका विकार होता है । वह गमन दौडकर भी नहीं किया जा सकता । दयासे भरपूर रहता है, उस गमनमें नित्त समाधानपूर्वक

रहता है, अंग, उपांग सब शांत रहते हैं, दोनों हाथ लटकते हुए रहते है, वह गमन अत्यंत श्रेष्ठ होता है और लक्ष्मीके लिए नीतिके समान चारित्ररूप संपदाओंका कारण होता है। इसप्रकार प्राणियोंकी रक्षा करते हुए जो गमन करना है उसको ईर्यापथशुद्धि कहते है॥ १२-१३॥

आगे भिक्षाशुद्धिका स्वरूप कहते हैं।

आरंभः प्राणिनः प्राणव्यपरोप उपद्रवः।
उपद्रवणमंगच्छेदादिर्विद्रावणं मतम्॥ १४॥
संतापकरणं तस्य परितापनमेतकैः।
चतुर्भिरन्नं निष्पन्नमधःकर्मातिनिन्दितम्॥ युग्मम्।

अधःकर्म आदि दोषोंसे रहित शुद्ध अनुद्दिष्ट आहार ग्रहण करना भिक्षाशुद्धि है। उनमेंसे अधःकर्म दोषका स्वरूप इसप्रकार है- प्राणियोंके प्राणोंका नाश करना, उनको पीडा पहुचाना आरंभ कहलाता है, प्राणियोंको उपद्रव करना, किसी प्रकारका दुःख पहुंचाना उपद्रव है, उन प्राणियोंके अग उपांग काटना, छेदना आदि विद्रावण कहलाता है और उन प्राणियोंको संताप पहुचाना परितापन कहाजाता है। आरंभ, उपद्रव, विद्रावण और परितापन इन चारोंके द्वारा जो अन्न उत्पन्न होता है वह अत्यंत निंदनीय ऐसा अधःकर्मदोष कहलाता है॥ १४-१५॥

वाक्चित्तकायकारितकृतानुमतकर्मणा।
नवभेदं तदेतेन कर्मणा परिवर्जिता॥ १६॥
योद्गमोत्पादनैषणैर्दोषैः संयोजनेन च।
प्रमाणांगारधूमाख्यैर्व्यपेता कारणान्विता॥ १७॥
एषणासमितिप्रोक्तक्रमाशाशनसेवना।
भिक्षाशुद्धिर्गुणव्रातरक्षादक्षा स्मृता नुता॥ १८॥ त्रिकम्।

॥२००॥

इस अधःकर्म दोषके नौ भेद हैं- बचनसे करना, बचनसे कराना, बचनसे अनुमोदना करना, मनसे करना, मनसे कराना, मनसे अनुमोदना करना, कायसे करना, कायसे कराना और कायसे अनुमोदना करना इसप्रकार अधःकर्मदोष इन नौ प्रकारसे होता है, इन नौ प्रकारके अधःकर्मदोषोंसे रहित, तथा उद्गम दोष सोलह, उत्पादन दोष सोलह, एषणा दोष दश, संयोजन एक, प्रमाण एक, अंगार एक, धूम एक इसप्रकार छ्यालीस दोषोंसे रहित, क्षुधा, शांति आदि छह कारणों सहित, शास्त्रोंमें लिखे हुए क्रमसे प्राप्त हुए (नवधा भक्तिपूर्वक प्राप्त हुए) आहारका ग्रहण करना एषणा समिति है। यह एषणा समिति गुणोंके समूहकी रक्षा करनेमें चतुर है और सबके द्वारा नमस्कार करने योग्य है। ऐसी इस एषणा समितिको ही भिक्षाशुद्धि कहते हैं ॥ १६-१८ ॥

आगे सोलह उद्गम दोषोंके नाम कहते हैं।

उद्दिष्टाध्यवधिपूतीमिश्राणि स्थापितं बलिः।
प्राभृतं च प्राविःकृतं क्रीतप्रामुष्यसंज्ञकौ ॥ १९ ॥
परिवृतश्चाभिहितं दोष उद्भिन्ननामकः।
मालिकाऽऽरोहणाच्छेद्या निसृष्टानीति चोद्गमाः ॥ २० ॥ युग्मम।

उद्दिष्ट, अध्यवधि, पूति, मिश्र, स्थापित, बलि, प्राभृत, प्राविष्कृत, क्रीत, प्रामृष्य, परिवृत अभिहित, उद्भिन्न, मालिकारोहण, आच्छेद्य और अनिसृत, इसप्रकार ये सोलह उद्गम दोष कहलाते हैं ॥ १९-२० ॥

आगे अनुक्रमसे इन्हींका वर्णन करते हैं।

यत्स्वमुद्दिश्य निष्पन्नमन्नमुद्दिष्टमुच्यते।
अथवा यमिपाखंडिदुर्वलानखिलानपि ॥ २१ ॥

जो खास अपने लिए अपना नाम लेकर बनाया हुआ भोजन है उसको उद्दिष्ट कहते हैं।

॥२०१॥

अथवा समस्त यमी, पाखडी और दुर्बलोंके लिए बनाये हुए भोजनको भी उद्दिष्ट कहते हैं ॥२१॥

प्रगता यस्मादसवस्तस्यात्प्रासुकमित्यलम् ।
सिद्धमप्यन्नमात्मार्थं कृतं सेव्यं न संयतैः ॥ २२ ॥

जिस भोजनमेंसे समस्त प्राणी निकल गये हों जो भोजन प्राणियोंसे सर्वथा रहित हो उसको प्रासुक कहते है। जो खास अपने लिए अपना नाम लेकर बनाया हुआ प्रासुक और शुद्ध भोजन भी हो, तो भी सयमी मुनियोंको कभी नहीं लेना चाहिये ॥ २२ ॥

मत्स्यार्थं वा कृते मत्स्या माद्यन्ति मदनोदके ।
नो दर्दुरास्तथा भिक्षुर्दोष्युद्दिष्टान्नसेवकः ॥ २३ ॥

जिसप्रकार मछलियोंके लिए बनाये हुए मद वा नशा उत्पन्न करनेवाले जलसे मछलियोंको ही मद वा नशा उत्पन्न होता है उस जलसे मेढकोंको कभी मद वा नशा उत्पन्न नहीं होता उसीप्रकार उद्दिष्ट अन्नके ग्रहण करनेसे उसी मुनिको दोष लगता है कि जिसके लिए वह अन्न बनाया गया। उस अन्नके ग्रहण करनेमें अन्य मुनियोंको दोष नहीं लगता ॥२३॥

आगे अध्यवधि दोषको कहते हैं ।

तंडुलांब्वधिकक्षेपः स्वार्थं पाके यतीन्प्रति ।
स्यादध्यवधिरोधो वा पाकान्तं तत्तपस्विनाम् ॥ २४ ॥

अपने निजके लिए बनाये हुए भातमें मुनियोंको आते हुए देखकर अपने निजके लिए बनाये हुए भातमें और अधिक चावल, पानी मिलादेना अध्यवधि दोष है। अथवा भोजन तो तैयार न हुआ हो और मुनिराज आगये हों, उस समय उन मुनियोंको किसी भी कारणसे भोजन बनने तक रोक रखना भी अध्यवधि दोष कहलाता है ॥ २४ ॥

आगे पूति और मिश्र दोषको कहते हैं ।

॥२०२॥

पूति प्रासुकपात्रादि मिश्रमप्रासुकेन यत ।
मिश्रसंगे हि पाखंडियातिभ्यो यद्वितीर्यते ॥ २५ ॥

जो भोजन पहले प्रासुक पात्रमें था फिर उसको अप्रासुक पात्रमें रखदेना पूति नामका दोष कहलाता है इसीप्रकार जो भोजन अन्य गृहस्थियोंके लिए वा पाखंडी यतियोंके लिए दिया जाता है उसी भोजनको मुनियोंके लिए देना मिश्र नामका दोष कहलाता है ॥ २५ ॥

आगे स्थापितदोषको कहते हैं ।

स्वगृहेऽन्यगृहे वा यत् स्थापितं पाकभाजनात् ।
अन्यस्मिन् भाजनेऽन्नादि निक्षिप्य स्थापितं मतम् ॥ २६ ॥

भोजन बनानेके पात्रमेंसे लेकर किसी दूसरे पात्रमें रखकर अपने घरमें अलग रखलेना अथवा किसी दूसरे घरमें रखदेना स्थापित नामका दोष कहलाता है ।

भावार्थ— जिस पात्रमें भोजन बना है उसमेंसे थोडासा निकालकर मुनियोंके लिये अलग रखलेना अथवा किसी दूसरे घरमें लेजाना स्थापित नामका दोष कहलाता है ॥२६॥

आगे वलिदोषको कहते हैं ।

यक्षादेर्वलिदानावशिष्टाहारो वलिर्मतः ।
संयतागमनार्थं वा करणं वलिकर्मणः ॥२७॥

यक्षादिकके लिए वलि देकर (नैवेद्य देकर) उसमेंसे बचा हुआ आहार मुनियोंके लिए देना वलि नामका दोष है । अथवा आहारके लिए हमारे घर संयमी मुनि पधारें, इसके लिए ग्रहोंका पूजन करना भी वलिकर्म दोष कहलाता है ॥ २७ ॥

आगे प्राभृत दोषको कहते हैं ।

वेलादिवसमासर्तुवर्षादिनियमेन यत् ।
यतिभ्यो दीयमानान्नं प्राभृतं परिकीर्तितम् ॥ २८ ॥

"हम मुनियोंको अमुक समयपर आहार देंगे, उस दिन आहार देंगे, उस महीनेमें आहार देंगे, उस ऋतुमें आहार देंगे अथवा उस वर्षमें आहार देंगे" इस प्रकार नियमपूर्वक जो मुनियोंको आहार देना है उसको प्राभृत नामका दोष कहते हैं ॥ २८ ॥

आगे प्राविष्कृत दोषको कहते हैं ।

गेहप्रकाशकरणं यत्प्राविष्कृतमीरितम् ।
संस्कारो भाजनादीनां वा स्थानान्तरधारणम् ॥ २९ ॥

अपने घरको प्रकाशित करना, (सफेदी आदि करना) सब बर्तनोंको धो मांजकर रखना अथवा भोजनको एक स्थानसे उठाकर अन्य स्थानमें स्थापन करना सो प्राविष्कृत नामका दोष है ।

आगे क्रीत और प्रामृष्य दोषको कहते हैं ।

विद्याद्रव्यादिभिः क्रीतं क्रीतं प्रामृष्यमिष्यते ।
स्तोकर्णं वृद्ध्यवृद्धिभ्यां यतिदानार्थमर्जितम् ॥ ३० ॥

विद्या देकर अथवा द्रव्य देकर खरीदा हुआ आहार मुनियोंको देना क्रीत नामका दोष कहलाता है । तथा मुनियोंको देनेके लिए थोडासा उधार लेना और उसके बदले अधिक देनेकी प्रतिज्ञा करना सो प्रामृष्य नामका दोष कहलाता है ॥ ३० ॥

आगे परिवर्तन दोषको कहते हैं ।

व्रीहिकूरादिभिः शालिकूरादेः परिवर्त्तनम् ।
यद्दास्यामीति यतये परिवर्त्तः प्रकीर्तितः ॥ ३१ ॥

"मैं मुनियोंके लिए आहार दूंगा इसलिए इन शालि वा साठी–कठोर चावलोंके बदले

(साठी धानोंके बदले) व्रीहि नामके कलम-नरम धान देदो ,, इसप्रकार साठी चावलोंके बदले व्रीहि आदि अच्छे कलमी चावल लेना परिवर्तन नामका दोष है ॥ ३१ ॥

आगे अभिहित दोषको कहते हैं ।

स्यादायातमभिहतं ग्रामवारगृहान्तरात् ।
योग्यमृजुसमासन्नाऽऽसप्तमाद्गेहतो यदि ॥ ३२ ॥

एक ही पंक्तिमें अथवा समीपवर्ती सात घरोंको छोडकर गांवसे, दूसरे मार्गसे वा अन्य घरोंमे आये हुए भोजनको देना अभिहित नामका दोष है ।

भावार्थ— एक पंक्तिमें रहनेवाले अथवा समीपवर्ती सात घरोंतकसे आये हुए प्रासुक शुद्ध आहार देनेमें तो कोई दोष नहीं है परतु जो प्रासुक और शुद्ध आहार भी दूसरे गांवसे आया हो, दूसरे मार्गसे आया हो, वा दूरके घरसे आया हो उसे देना अभिहित नामका दोष है ॥ ३२ ॥

आगे उद्भिन्न और मालारोहण नामके दोषको कहते हैं ।

विमुद्रादिकमुद्भिन्नं मालिकाऽऽरोहणं मतम् ।
मालिकादिसमारोहणेनानीतं घृतादिकम् ॥ ३३ ॥

जिस किसी पदार्थपर मुहर लगी हो उस मुहरको ताडकर खोलकर उसमेंसे आहार देना उद्भिन्न नामका दोष है । तथा नसेनी वा सीढी आदि चढकर घी, बूरा आदि पदार्थोंको लाकर आहार देना सो मालारोहण नामका दोष है ॥ ३३ ॥

आगे आच्छेद्य और अनिःसृत दोषको कहते हैं ।

नृपतस्करभीत्यादेर्दत्तमाच्छेद्यमुच्यते ।
अनिसृष्टमीशानीशाऽनभिमत्या यदर्प्यते ॥ ३४ ॥

जो राजा अथवा चोरके डरसे आहार दिया जाता है उसको आच्छेद्य दोष कहते हैं तथा

स्वामी वा सेवकोंकी अनुमतिके विरुद्ध होकर आहार देना अनिःसृत नामका दोष है ॥ ३४ ॥ इस प्रकार उद्गमके सोलह दोषोंका निरूपण किया।

अब आगे उत्पादनके सोलह दोष कहते हैं।

धात्रीदूतभिषग्वृत्तिनिमित्तेच्छाविभाषणम्।
पूर्वं पश्चात्स्तुतिः क्रोधचतुष्कं वश्यकर्म च ॥ ३५ ॥
स्वगुणस्तवनं विद्यामंत्रचूर्णोपजीवनम्।
चेत्येते षोडशोत्पादनाख्या दोषा विभाषिताः ॥ ३६ ॥

धात्री, दूत, भिषग्वृत्ति, निमित्त, इच्छाविभाषण, पूर्वस्तुति, पश्चात्स्तुति, क्रोध, मान, माया, लोभ, वश्यकर्म, स्वगुणस्तवन, विद्या, मंत्र, और चूर्ण इनके द्वारा आहार ग्रहण करना सो उत्पादनके सोलह दोष गिने जाते हैं। आगे क्रमसे इन्हींका वर्णन करते हैं ॥ ३५, ३६ ॥

आगे धात्री और दूत इन दोनों दोषोंको कहते हैं।

बाललालनशिक्षादिर्धात्रीत्वं दूतता मता।
दूरबन्धुजनानां वात्तयनानयनक्रिया ॥ ३७ ॥

बालकोंके लालन, पालन करनेकी, दूध पिलानेकी, स्नान करानेकी, काजल देनेकी वा शृंगार करानेकी शिक्षा देकर आहार ग्रहण करना धात्री नामका दोष कहा जाता है। तथा दूर रहनेवाले भाई, बंधुओंके समाचार लाकर और पहुंचाकर आहार ग्रहण करना दूत नामका दोष कहलाता है।

आगे भिषग्वृत्ति दोषको कहते हैं।

गजाऽश्वजांगुलीबालवैद्याद्यैर्नीचवृत्तिभिः।
भिषग्वृत्तिर्मता तादृगन्यैरप्यशनाऽर्जनम् ॥ ३८ ॥

हाथियोंकी चिकित्सा करना, घोड़ोंकी चिकित्सा करना, विषका प्रयोग बताना, वा बच्चोंकी

चिकित्सा करना आदि नीच वृत्ति धारण कर अथवा और भी ऐसी ही वृत्ति धारण कर आहार ग्रहण करना भिषग्वृत्ति नामका दोष है ॥ ३८ ॥

आगे निमित्तदोषको कहते हैं ।

स्वरान्तरिक्षभौमांगव्यंजनच्छिन्नलक्षण-
स्वप्नाष्टांगनिमित्तैर्यन्निमित्तमशनार्जनम् ॥ ३९ ॥

स्वर देखकर शुभाशुभ कहना स्वरनिमित्तज्ञान है, सूर्य, चंद्रमा, नक्षत्र आदिके गमन करनेसे उदय अस्त होनेसे शुभाशुभ कहना सो अंतरिक्षनिमित्तज्ञान है, भूमिके कंपनेसे, वा भूमिके विशेष चिन्होंको देखकर शुभाशुभ कहना भौमनामका निमित्तज्ञान है । शरीरको देखकर अथवा शरीरकी हीनाधिकताको देखकर लाभ, अलाभ वा शुभ, अशुभ कहना अंगनामका निमित्तज्ञान है। तिल, मस्सा आदि व्यंजनोंको देखकर शुभ, अशुभ कहना लाभ, अलाभ बतलाना व्यंजन नामका निमित्तज्ञान है । चूहोंके द्वारा वा गिलहरियोंके द्वारा वस्त्रोंके काटने आदिको देखकर शुभाशुभ कहना छिन्न नामका निमित्तज्ञान है । हाथ, पैरके साथिया जौ आदिके चिन्होंको देखकर शुभाशुभ कहना लक्षणनामका निमित्तज्ञान है और स्वप्नोंको सुनकर उनका शुभाशुभ फल कहना स्वप्ननामका निमित्तज्ञान है । इसप्रकार आठ प्रकारके निमित्तोंमेंसे किसी भी निमित्तके द्वारा किसी भी निमित्तको कहकर आहार ग्रहण करना निमित्तनामका दोष कहलाता है ॥ ३९ ॥

आगे इच्छाविभाषण दोषको कहते हैं ।

दीनाद्यन्नाद्यदानेन पुण्यं ननु भवेदिति ।
पृष्टेऽभ्युपगमोऽन्नार्थं भवेदिच्छाविभाषणम् ॥ ४० ॥

दाताकी इच्छाके अनुकूल वचन कहना इच्छाविभाषण है । जैसे किसी दाताने पूछा कि दीन वा अनाथोंको वा दिगम्बर मुनियोंके अतिरिक्त दूसरे साधुओंको अन्नादिक देनेमें पुण्य ही होता है । इसके

उत्तरमें केवल आहार ग्रहण करनेकी लालसासे उसकी इच्छाके अनुकूल कहदेना कि "हां पुण्य ही होता है" इसप्रकार कहकर आहार ग्रहण करना इच्छाविभाषण नामका दोष है ॥ ४० ॥

आगे पूर्वस्तुति तथा पश्चात्स्तुतिको कहते हैं ।

दाता ख्यातस्त्वमित्याद्यैर्यद्दात्रानन्दनन्दनम् ।
पूर्वं पश्चाच्च भुक्तेस्तत्पूर्वं पश्चात्स्तवद्वयम् ॥ ४१॥

"तू संसारमें प्रसिद्ध दानी है तथा समस्त गृहस्थोंको आनंद उत्पन्न करनेवाला है" इस प्रकार पहले उस दाताकी स्तुतिकर आहार ग्रहण करना पूर्वस्तुति नामका दोष है । तथा आहार ग्रहण करनेके पीछे स्तुति करना और कहना कि तुमने बहुत अच्छा भोजन दिया ऐसा भोजन और कोई नहीं देसकता । तुम्हारे दानी होनेकी कीर्ति प्रसिद्ध है" आदि भोजनके पीछे स्तुति करना पश्चात्स्तुतिनामका दोष है ॥ ४१ ॥

आगे क्रोध, मान, माया, लोभ और वश्यकर्म दोष दिखलाते हैं ।

क्रोधाद्यन्नार्जनं क्रोधचतुष्कं वश्यकर्म यत् ।
वश्यकृन्मंत्रतंत्रादिदेशनेनाशनार्जनम् ॥ ४२ ॥

क्रोध प्रगट कर आहार ग्रहण करना क्रोध नामका दोष है । अभिमान दिखलाकर आहार ग्रहण करना माननामका दोष है । मायाचारीसे भोजन करना माया नामका दोष है । लोभसे भोजन करना लोभनामका दोष है । तथा मंत्र, तंत्र आदिका उपदेश देकर आहार ग्रहण करना वश्यकर्मनामका दोष कहाजाता है । ॥४२॥

आगे स्वगुणस्तव और विद्या दोषको कहते हैं ।

स्वतपः श्रुतजात्यादिवर्णनं स्वगुणस्तवः ।
विद्यागः सिद्धविद्यादिप्रभावादिप्रदर्शनम् ॥ ४३ ॥

अपने तपकी महिमा कहकर, श्रुतज्ञानकी महिमा कहकर वा अपनी जातिकी उच्चता बतलाकर आहार ग्रहण करना स्वगुणस्तवनामका दोष है। तथा जप होमादिकके द्वारा सिद्ध हुई विद्याओंका प्रभाव दिखलाकर आहार ग्रहण करना सो विद्यानामका दोष समझना चाहिये ॥ ४३ ॥

आगे मंत्र और चूर्ण दोषको कहते हैं।

पाठसिद्धादिमंत्राणामङ्गशृंगारकारिणः।
चूर्णादेर्देशने स्यातां मंत्रचूर्णोपजीवने ॥ ४४ ॥

पाठ करनेमात्रसे सिद्ध होनेवाले मंत्रोंको दिखलाकर आहार ग्रहण करना मन्त्रनामका दोष है। तथा शरीरको शृंगार करनेवाले चूर्ण आदि (सुगंधित चूर्ण, लेप आदि) बतलाकर आहार ग्रहण करना सो चूर्णनामका दोष है ॥ ४४ ॥ इसप्रकार ये सोलह उत्पादनके दोष मुनिके आधीन होते हैं तथा पहले कहे हुए उद्गमादि सोलह दोष दाताके आधीन होते हैं। इसप्रकार बत्तीस दोष बतलाये।

अब आगे एषणासमितिके दश दोष कहते हैं।

दोषाः शंकितम्रक्षिते निक्षिप्तं पिहितोज्झिते।
व्यपहारो दातृमिश्रापक्कलिप्ता दशैषणाः ॥ ४५ ॥

शंकित, म्रक्षित, निक्षिप्त, पिहित, उज्झित, व्यपहार, दातृ, मिश्र अपक्व और लिप्त ये दश एषणासमितिके दोष हैं ॥ ४५ ॥

अब आगे अनुक्रमसे इन सबको कहते हैं।

शंकितं शंकितं सेव्यमेतदन्नं न वेति यत्।
सस्नेहहस्तपात्रादिदत्तं यन्म्रक्षितं मतम् ॥४६॥

" यह अन्न ग्रहण करने योग्य है अथवा नहीं " इसप्रकार शंका रखते हुए उस आहारको

॥२०१॥

ग्रहण करलेना शंकितनामका दोष है। तथा चिकने हाथोंसे वा चिकने पात्रमें रक्खा हुआ भोजन ग्रहण करना म्रक्षितनामका दूसरा दोष है ॥ ४६ ॥

आगे निक्षिप्त और पिहित दोषको कहते हैं।

सचित्तपद्मपत्रादौ क्षिप्तं निक्षिप्तसंज्ञितम् ।
सचित्तेनाब्जपत्रादिना वृतं पिहिताशनम् ॥ ४७ ॥

कमलके पत्ते आदि सचित्त पदार्थपर रक्खे हुए भोजनको देना वा ग्रहण करना निक्षिप्त नामका दोष है। इसीप्रकार कमलके पत्ते आदि सचित्त पदार्थोंसे ढके हुए भोजनको देना वा ग्रहण करना पिहितनामका दोष है ॥ ४७ ॥

आगे उज्झित दोषको कहते हैं।

स्यादुज्झितं बहु त्यक्त्वा यच्चूताद्यल्पमेवनम् ।
पानादि दीयमानं वाऽनल्पेन गलनेन तत् ॥ ४८ ॥

बहुतसे भोजनको छोडकर आमका रस आदि थोडी सामग्रीको ग्रहण करना उज्झित नामका दोष है। अथवा छाछ, पानी वा दूध आदि जो आहारमें दिया जा रहा है उसमेंसे बहुतसा भाग टपक रहा हो, थोडा ग्रहण किया जाता हो तो भी उज्झितनामका दोष आता है (अपने दोनों हाथोंको अलग कर आहार ग्रहण करना भी उज्झित दोष है। अथवा अनिष्टको छोडकर इष्ट भोजनका ग्रहण करना भी उज्झितनामका दोष है) ॥ ४८ ॥

आगे व्यवहार दोषको कहते हैं।

यत्यर्थं संभ्रमाच्चेलपात्रादेरसमीक्ष्य यत् ।
समाकर्षणमाम्नातं व्यवहार इति श्रुते ॥ ४९ ॥

मुनियोंको आहार देनेके लिए किसी भयसे वा हर्षसे वा जल्दीमें विना देखे शोधे किसी

वस्त्रको वा किसी पात्रको अपनी ओर खींचकर आहार देना शास्त्रोंमें व्यपहारनामका दोप कहा जाता है ॥ ४९ ॥

आगे दातृदोपको कहते हैं ।

नग्नः शौण्डः पिशाचोऽन्धः पतितो मृतकानुगः ।
तीव्ररोगी व्रणी लिंगी नीचोच्चस्थानसंस्थितः ॥ ५० ॥
आसन्नगर्भिणी वेश्या दास्यन्तरिताऽशुचिः ।
भक्षयन्ति किमप्येवमाद्या दोषास्तु दातृगाः ॥ ५१ ॥ युग्मम् ।

जो नग्न हो, मद्य आदि नशीली चीजोंका सेवन करता हो वा जुआरी हो, जिसको वायुका रोग हो वा भूत पिशाचसे जकडा हुआ हो, जो अंधा हो, जो पतित हो, जो मृतकको (मुरदेको) श्मशानभूमिमें रखकर आया हो- मुरदतींमें गया हो, मृगी आदि तीव्र रोगोंसे पीडित हो, जिसके शरीरमें घाव हो, यति, आर्यिका आदि किसी लिंगको धारण करनेवाला हो, व रक्ताम्बर, श्वेताम्वर आदि किसी लिंगको धारण करनेवाला हो, जो किसी ऊंचे वा नीचे स्थानपर खडा हो, जिसके प्रसूति समीप हो- थोडे दिनमें ही होनेवाली हो, वेश्या हो, दासी हो, जिसकी आडमें दीवाल आदि आगई हो, अथवा जो मलमूत्र कर आया हो, थूक कर आया हो, जो उवटन कर आया हो, जिसका शरीर दिखलाई न पडता हो, जो बैठा हो, जो अग्निको जलाकर वा पानीसे बुझाकर वा भस्मसे दवाकर आया हो, जलानेके लिए लकडी पटककर आया हो, गोवरसे दीवाल लीपकर आया हो वा और भी ऐसे ही काम करके आया हो उसको अतरिताशुचि कहते है तथा जो कुछ खारहा हो ऐसे समस्त दाताओंके द्वारा आहार देनेमें दातृ दोप कहा जाता है ।

भावार्थ— ऐसे दाताओंको आहार नहीं देना चाहिये । यदि ऐसे दाता आहार दे तो

उनको दातृ दोष लगा करता है ॥ ५०-५१ ॥

आगे मिश्र और अपक्व दोषको कहते हैं ।

मिश्रं षट्जीवसम्मिश्रमपक्वं पावकादिभिः ।
द्रव्यैरत्यक्तपूर्वस्ववर्णगन्धरसं विदुः ॥ ५२ ॥

छह कायके जीवोंसे मिले हुए भोजनको देना मिश्रनामका दोष है । तथा जो अग्नि आदि पदार्थोंसे ठीक २ पका न हो जिसका रूप, रस, गंध और स्पर्श कुछ भी न बदला हो ऐसे आहारका देना अपक्व दोष कहलाता है ॥ ५२ ॥

आगे लिप्त दोषको कहते हैं ।

लिप्तमप्रासुकैस्तोयमृत्तिकातालकादिभिः ।
लिप्तैर्दार्वीकराद्यैर्यद्दीयमानाशनादिकम् ॥ ५३ ॥

जिसकी कलाई वा भुजा आदिपर मिट्टी, हरताल, दारुहल्दी, कच्चा पानी आदि अप्रासुक पदार्थोंका लेप हो और उसी हाथसे वह आहार दे तो उसके लिप्त नामका दोष आता है ॥ ५३ ॥ इसप्रकार एषणाके दश दोष बतलाये ।

आगे संयोजना आदि चार दोषोंमें पहिले संयोजना दोषको कहते हैं ।

स्वादार्थमन्नपानानां यत्संयोजनकर्म तत् ।
प्रोक्तं संयोजनं नानारोगाऽसंयमकारणम् ॥ ५४ ॥

अपने स्वादके लिए अन्न पानका संयोग मिलाना, ठंडे पदार्थोंका वा गर्म पदार्थोंका वा गर्म ठंडे मिले हुए पदार्थोंका संयोग मिलाना, रूखे पदार्थोंका वा चिकने पदार्थोंका वा रूखे चिकने मिले हुए पदार्थोंका संयोग मिलाना संयोजनानामका दोष है । यह दोष अनेक रोगोंको उत्पन्न करनेवाला है और अनेक प्रकारके असंयमका कारण है ॥ ५४ ॥

अन्नेनार्द्धं तृतीयांशं कुक्षेः पानेन पूरयेत् ।
वायोः सुखप्रचारार्थं चतुर्थमवशेषयेत् ॥ ५५ ॥

संयमी मुनिको अपने पेटके चार भाग करने चाहिये । उसमेंसे आधा भाग तो अन्नसे पूर्ण करलेना चाहिये । तथा तीसरा भाग जलसे पूर्ण करलेना चाहिये और चौथा भाग खाली रखना चाहिये जिससे कि वायु सुखपूर्वक इधरउधर सचार कर सके ॥ ५५ ॥

आगे प्रमाण दोषको कहते हैं ।

प्रमाणादतिरेकोऽस्मात्प्रमाणागो भवेद्यतः ।
ध्यानाध्ययनभंगार्तिनिद्राऽऽलस्यादयोऽगिनः ॥ ५६ ॥

ऊपरके श्लोकमें जो आहारका प्रमाण लिखा है उससे अधिक आहार ग्रहण करना प्रमाण नामका दोष है । प्रमाणसे अधिक आहार करनेसे ध्यानका भग होता है, अध्ययनका नाश होता है । अजीर्ण आदि अनेक प्रकारके रोग होते हैं, नींद अधिक आती है, और आलस बढता है ।

आगे अंगार और धूम दोपको कहते हैं ।

रागेणेष्टान्नपानाप्तौ सेवांगारो निगद्यते ।
धूमोऽनिष्टान्नपानाप्तौ यद्द्वेषेण निषेवनम् ॥ ५७ ॥

अपनी इच्छानुसार इष्ट अन्न पानीकी प्राप्ति होनेपर रागपूर्वक उस अन्न पानीका ग्रहण करना अंगारनामका दोप कहा जाता है । तथा अनिष्ट अन्नपानीके प्राप्त होनेपर उसको द्वेष-पूर्वक ग्रहण करना धूमनामका दोप कहलाता है ॥ ५७ ॥ इसप्रकार छयालीस दोप बतलाए । सोलह उद्गम दोप, सोलह उत्पादन दोप, दश एषणा दोप और चार सयोजनादिक दोप, इनमेंसे उद्गमके सोलह दोप तो दाताके आश्रय हैं और बाकीके तीस दोप पात्रके आश्रय है ।

आगे पहले सत्रहके श्लोकमें आहारके कारण बतलाये थे । सो अब उन कारणोंको कहते हैं ।

॥२१३॥

क्षुच्छान्त्यावश्यकप्राणरक्षाधर्मयमा मुनेः ।
वैयावृत्त्यं च षट् भुक्तेः कारणानीति यन्मतम् ॥ ५८ ॥

मुनि जो आहार ग्रहण करते है, उसके छह कारण है– एक तो क्षुधाकी शांतिके लिये, छहों आवश्यकोंका पालन करनेके लिये, प्राणियोंकी रक्षा करनेके लिये, उत्तमक्षमा आदि आत्माके धर्मोकी रक्षा करनेके लिये, संयमकी वृद्धिके लिये और वैयावृत्य करनेके लिये मुनिराज आहार ग्रहण करते हैं। ये छह आहार ग्रहण करनेके कारण है ॥ ५८ ॥

आगे बतलाते हैं कि किन २ कारणोंके लिये मुनि आहार ग्रहण नहीं करते हैं।

ततः शरीरसंवृद्ध्यै तत्तेजोबलवृद्धये ।
स्वादार्थमायुःसंवृद्ध्यै नैव भुंजीत संयतः ॥ ५९ ॥

मुनिराज शरीरकी वृद्धिके लिये, उस शरीरकी कांति, तेज और बलकी वृद्धिके लिये, स्वादके लिये, और आयुकी वृद्धिके लिये आहार ग्रहण कभी नहीं करते हैं ॥ ५९ ॥

आगे लिखे हुए छह कारणोंके उपस्थित होनेपर मुनिराज आहारका त्याग करदेते हैं।

महोपसर्गाऽऽतंकांगसंन्यासांगिदयातपो– ।
ब्रह्मचर्याणि भिक्षोर्षट् कारणान्यशनोज्झने ॥ ६० ॥

किसी बडे भारी उपसर्गके आजानेपर, किसी रोगके हो जानेपर, शरीरके सन्यास धारण करलेनेपर, जीवोंकी दया पालन करनेके लिये, तपश्चरण पालन करनेके लिये और ब्रह्मचर्य पालन करनेके लिये मुनिराज आहारका त्याग करदेते हैं।

भावार्थ— मुनिराजोंके आहार त्याग करनेके ये छह कारण है ॥ ६० ॥

एतद्दोषविहीनान्नभुक्तेरन्तरकारिणः ।
अन्तरायाः कियन्तोऽत्र वर्ण्यन्ते वर्णिनामिमे ॥ ६१ ॥

इसप्रकार ऊपर लिखे छ्यालीस दोषोंसे रहित आहारकी प्राप्ति होनेपर भी जो उन मुनियोंके भोजनमें विघ्न डालनेवाले अंतराय हैं वे कितने हैं और कौन कौन हैं उन्हींको आगे बतलाते हैं ॥ ६१ ॥

रसपूयाऽस्थिमांसासृक्चर्मामेध्यादिवीक्षणम् ।
काकाद्यमेध्यपातोंगे वमनं स्वस्य रोधनम् ॥ ६२ ॥
अश्रुतपातश्च दुःखेन पिंडपातः स्वहस्ततः ।
काकादिपिंडहरणं पतनं त्यक्तसेवनम् ॥ ६३ ॥
पादान्तरालात्पंचाक्षगतिः पंचेन्द्रियात्ययः ।
स्वोदरक्रिमिविण्मूत्ररक्तपूयादिनिर्गमः ॥ ६४ ॥
निष्ठीवनं सदंष्ट्रांगिदशनं चोपवेशनम् ।
पाणिपात्रेऽत्र सांगास्थिनखरोमादिदर्शनम् ॥ ६५ ॥
प्रहारो ग्रामदाहोऽशुभोग्रवीभत्सवाक्श्रुतिः ।
उपसर्गाः पतनं पात्रस्यायोग्यगृहाशनम् ॥ ६६ ॥
जानुदेशादधः स्पर्शश्चेत्येवं वहवो मताः ।
लोकसंयमवैराग्यजुगुप्साभवभीतिजाः ॥ ६७ ॥ षड्भिः कुलकम् ।

वीर्य, राध, हड्डी, मांस, रुधिर, चमडा और विष्टाका देखना पहला अंतराय है। यदि मुनिके शरीरपर कोई कौआ आदि पक्षी बीट कर जाय तो दूसरा अंतराय है। वमन वा उल्टी हो जाना तीसरा अंतराय है। यदि कोई आहार करनेसे रोक दे और कह दे कि भोजन मत करो तो यह चौथा अंतराय है। यदि दुःखसे अपना अश्रुपात हो अथवा कोई दुःखसे रोता हो और वह उसका रोना मुनिराजको सुनाई पडे तो पांचवां अंतराय है। यदि मुनिराजके हाथमें रक्खा हुआ (हाथपर रक्खा हुआ) आहार गिर जाय तो छठवां अंतराय माना

जाता है। यदि मुनिके हाथपर रक्खे हुए आहारको कोई कौआ या गीध, चील आदि उठा ले जाय तो सातवां अंतराय है। यदि मुनिराजके आहार ग्रहण करते २ किसी कारणसे (रोग, मूर्च्छा आदि कारणसे) ग्रास गिरजाय तो आठवा अंतराय है। यदि मुनिराज किसी त्याग की हुई वस्तुका सेवन करले तो भी उनके नौवां अंतराय होता है। मुनिराज दोनों पैरोंमें चार अंगुलका अंतर रखकर खडे होते हैं और खडे होकर आहार लेते हैं। यदि उन दोनों पैरोंके बीचमें होकर कोई चूहा आदि पचेंद्रिय जीव निकल जाय तो वह दशवां अंतराय कहा जाता है। यदि मुनिराजके समीप वा सामने कोई पंचेंद्रिय जीव मरजाय तो ग्यारहवां अंतराय है। यदि मुनिराजके उदरसे गुदाके द्वार होकर कोई कीडा निकल आवे वा विष्ठा निकल आवे, वा मूत्र निकल आवे, अथवा उनके शरीरसे रुधिर, राध आदि निकल आवे तो बारहवां अंतराय समझना चाहिये। यदि आहार करते करते खखार आजाय तो तेरहवां अंतराय है। यदि आहार करते समय कुत्ता, बिल्ली, आदि डाढवाले प्राणी काटले तो चौदहवा अंतराय समझना चाहिये। यदि आहार करते २ मुनिराज बैठ जायें तो पंद्रहवां अंतराय है। यदि आहार करते समय मुनिराजके हाथपर त्रस जीवोंका शरीर, नख, हड्डी, रोम आदि दिखाई दे तो सोलहवां अंतराय है। मुनिके समीप ही किसी भी अन्य जीवपर बरछा, तलवार आदिका प्रहार होना सत्रहवां अंतराय है। जिस गांवमें मुनिराजका निवास हो उस गांवमें आहार करते समय अग्नि लगजाय वह गांव जलजाय, तो अठारहवां अंतराय है। यदि आहार करते समय मुनिराज "मारो काटो" आदि अशुभ, उग्र और भयानक वचनोंको सुनलें तो उन्नीसवां अंतराय समझना चाहिये। यदि आहार करते समय कोई उपसर्ग आजाय तो बीसवा अंतराय है। यदि मुनिके हाथपर आहार वा पेयपदार्थ रखनेपर दाताके हाथसे कोई पात्र नीचे भूमिपर गिर जाय तो इक्कईसवां अंतराय होता है। यदि मुनिराज किसी अयोग्य घरका आहार लेलें तो बाईसवां अंतराय है। यदि आहार करते समय मुनिराजके हाथमे अपने जांघके नीचेके भागका स्पर्श होजाय तो तेईसवां

अंतराय समझना चाहिये । इसप्रकार लोक संयम और वैराग्यकी ग्लानिसे उत्पन्न हुए और भय उत्पन्न करनेवाले अनेक अंतराय हैं । यहांपर तेईस अंतराय तो दिखला दिये हैं तथा कुछ नीचे लिखे हैं । यदि साधुके पैर आदिसे विष्ठाका स्पर्श होजाय तो अंतराय है । यदि मुनि घोंटूतक ऊंचे वा उससे अधिक ऊंचे किन्तु तिरछे लगे हुए काठ अर्गल, पत्थर आदिको उल्लंघन कर आहारको जाय तो भी अंतराय समझना चाहिये । यदि अपने मस्तकको नाभिसे नीचे करके आहारके लिये निकलना पडे तो भी अंतराय है । हाथसे भूमिका स्पर्श होजाय तो भी अंतराय है । दाताके विना दिये ही आहार, पानी वा औषध आदिको ग्रहण करले तो भी अंतराय है । रत्न, सुवर्ण आदि पदार्थोंको पैरसे उठाकर ग्रहण करलें तो भी अंतराय है । यदि किसी पदार्थको भूमिपरसे हाथसे उठाकर ग्रहण करले तो भी अंतराय है । यदि चर्याको निकलते समय अस्पृश्य शूद्रके घरमें चले जाय तो भी अंतराय है । इसप्रकार सब बत्तीस अंतराय हैं इन अंतरायोंको टालकर मुनिराज आहार लेते हैं ॥ ६२–६७ ॥

ज्ञात्वा योग्यमयोग्यं च द्रव्यं क्षेत्रत्रयाश्रयम् ।
चरत्येवं प्रयत्नेन भिक्षाशुद्धियुतो यतिः ॥ ६८ ॥

इसप्रकार योग्य तथा अयोग्य द्रव्यको जानकर, योग्य तथा अयोग्य क्षेत्रको जानकर, योग्यायोग्य कालको जानकर और योग्यायोग्य भावको जानकर भिक्षाशुद्धिको पालन करते हुए मुनिराज बडे प्रयत्नसे चर्या करते हैं ॥ ६८ ॥ इसप्रकार भिक्षाशुद्धिका वर्णन किया ।

अब आगे विनयशुद्धिका स्वरूप कहते हैं ।

कुलर्द्धिजातिरूपाज्ञातपोज्ञानबलोद्भवैः ।
मदैर्विहीना विनये शुद्धिः सद्गुणसन्नतिः ॥ ६९ ॥

कुलका मद, ऋद्धिका मद, जातिका मद, रूपका मद, आज्ञाका मद, तपका मद, ज्ञानका

मद और बलका मद इन आठ प्रकारके मद अथवा अभिमानोंको छोडकर विनयशुद्धि धारण की जाती है । अथवा श्रेष्ठ गुणोंमें नम्रीभूत होना, गुणोंमें वा गुणी पुरुषोंमें नम्रता धारण करना भी विनयशुद्धि है ॥ ६९ ॥

आगे पंचपरमेष्ठियोंके लिये विनय करनेको कहते हैं ।

कार्योऽर्हत्सिद्धोपाध्यायसूरिसाध्वादिकेष्वसौ ।
समीक्ष्य क्षेत्रकालाऽवस्थासभादिं यथागमम् ॥ ७० ॥

क्षेत्र, काल, अवस्था और सभा आदिका विचार कर शास्त्रोंमें कहे अनुसार अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और समस्त साधुओंमें यथायोग्य विनय करना चाहिये । इसको भी विनय-शुद्धि कहते हैं ॥ ७० ॥

आगे गुरुसे किस प्रकार पूछना चाहिये सो बतलाते हैं ।

नाऽत्यासन्नो न दूरस्थो न पार्श्वस्थो न पृष्ठगः ।
नोच्चस्थो वा गुरुं पृच्छेत्पृच्छेदाभिमुखो नतः ॥ ७१ ॥
स्थिते स्थित्वोपविष्टे सत्युपविश्य गुरौ स्फुटम् ।
श्रद्धामार्दवभक्त्याऽऽर्जवादियुक्तः कृतांजुलिः ॥ ७२ ॥ युग्मम् ।

यदि गुरु खडे हों, तो स्वयं खडे होकर पूछना चाहिये । यदि गुरु बैठे हों तो बैठकर पूछना चाहिये । तथा श्रद्धा, मार्दव, भक्ति, सरलता आदि सहित हाथ जोडकर नम्रीभूत होकर सामनेसे पूछना चाहिये । न तो अत्यंत समीपसे पूछना चाहिये न अत्यंत दूरसे पूछना चाहिये न अगल बगलसे पूछना चाहिये और न पीठकी ओरसे पूछना चाहिये और न ऊंचे आसनपर बैठकर पूछना चाहिये । किन्तु सामने बैठकर या खडे होकर पूछना चाहिये ॥ ७१–७२ ॥

आगे आचार्यके समीप क्या नहीं करे सो कहते हैं ।

वक्तर्यन्यकथास्तस्मिन्विक्षेपोत्पादकं वचः ।
तत्पार्श्वे स्वैरवाग्वृत्तिप्रवृत्ती च त्यजेद्यतिः ॥ ७३ ॥

यदि आचार्य कुछ कह रहे हों, उपदेश दे रहे हों वा उत्तर दे रहे हों तो वीचमें अन्य कथा नहीं कहनी चाहिये । जिन वचनोंसे आचार्यको कोई क्षोभ उत्पन्न हो ऐसे वचन नहीं कहने चाहिये । इसीप्रकार उनके समीप होते हुए अपनी इच्छानुसार वचनोंकी प्रवृत्ति नहीं करनी चाहिये । जो मनमें आया सो ही नहीं कहना चाहिये । तथा अपनी इच्छानुसार पैर फैलाना आदि प्रवृत्तियोंका भी त्याग करदेना चाहिये ॥ ७३ ॥

आगे इस विनयशुद्धिको पालन करनेके लिये शिष्यको क्या करना चाहिये सो कहते हैं ।

संस्तरोत्क्षेपनिक्षेपप्रमुखैः परिकर्मभिः ।
शर्म संपादयेत्सूरेः शर्मैषी विनयान्वितः ॥ ७४ ॥

अपने आत्माका कल्याण चाहनेवाले और विनय करनेवाले शिष्यको उचित है कि वह आचार्यका संस्तर करना, आचार्यको उठाना विठाना आदि अनेक प्रकारसे उनकी सेवा कर उनको सुखी बनावै । यह सब विनयाचार कहलाता है ॥ ७४ ॥

श्रुत्वोक्तेः स्खलितं नैव हसेत्कस्याऽपि नो वदेत् ।
अप्रियं हर्षामर्षाभ्यां न कुर्यात्परपीडनम् ॥ ७५ ॥

यदि आचार्य कहते २ कहीं स्खलित हो जाय, भूल जायं वा कुछका कुछ कहजायं तो शिष्यको हंसना नहीं चाहिये । किसीसे कहना नहीं चाहिये । किसीके भी लिये अप्रिय वचन नहीं कहने चाहिये वा किसीको बुरा लगे ऐसा कार्य नहीं करना चाहिये । तथा हर्ष और क्रोध करके किसीको पीडा भी नहीं पहुंचानी चाहिये ॥ ७५ ॥

आगे विनयशुद्धिकी महिमा दिखलाते हैं ।

इयं विनयशुद्धिर्नु भूषाऽशेषगुणश्रियः।
कारणं सुखदं नान्यदिहाऽमुत्र च देहिनाम् ॥ ७६ ॥

यह विनयशुद्धि समस्त गुणरूपी लक्ष्मीका आभूषण है तथा इसके समान जीवोंको इस लोकमें और परलोकमें सुख देनेवाला अन्य कोई नहीं है और न इसके समान अन्य कोई गुणरूपी लक्ष्मीके प्राप्त होनेका कारण है।

भावार्थ— इस विनयशुद्धिसे समस्त गुणोंकी प्राप्ति होती है और दोनों लोकोंमें सब प्रकारके सुख प्राप्त होते हैं ॥ ७६ ॥ इसप्रकार विनयशुद्धिका स्वरूप कहा।

अब आगे शयनासनशुद्धिका स्वरूप कहते हैं।

अनात्मोद्देशनिष्पन्ने निरारंभेऽन्यसम्मते।
शून्यागारादिदेशे हि न स्त्रीक्षुद्रनटादिके ॥ ७७ ॥
व्युत्सर्गादिश्रमोच्छित्त्यै शयनाऽऽसनयोः कृतिः।
यतेरत्यल्पकालं सा शयनाऽऽसनशुद्धिधीः ॥ ७८ ॥ युग्मम्।

जो वसतिका वा स्थान खास अपने लिये अपने नाममें न बनाया हो जिसमें किसी प्रकारका आरंभ न होता हो, जिसको सब लोग मान्य करते हों, जिसमें न तो स्त्रियां हों न नीच मनुष्य निवास करते हों और न नट विट् आदि मनुष्य निवास करते हों ऐसे वसतिका वा किसी सूने मकानमें वा किसी गुफामें कायोत्सर्ग, ध्यान, स्वाध्याय वा गमन आदिसे उत्पन्न हुए परिश्रमको दूर करनेके लिये जो मुनिराज थोडी देरतक सोते हैं वा बैठते है उसको शयनासनशुद्धि कहते हैं ॥ ७७–७८ ॥

आगे व्युत्सर्गशुद्धिका स्वरूप कहते है।

चूर्णीकृत्य नखान्केशान्विश्लिष्यैकैकमुत्सृजेत् ।
अनुल्वणमलेपं च क्ष्वेलसिंहाणकादिकम् ॥ ७९ ॥

नख डालने हो तो उनके बहुत छोटे २ टुकडे करके भूमिको देख शोधकर डालना चाहिये । यदि केशोंको डालना हो तो उनको अलग २ कर डालना चाहिये और जहां डालना हो उस भूमिको देख शोध लेना चाहिये । इसीप्रकार नाकका मैल, खखार वा कफ आदिको थोडा थोडा डाले किसी दीवाल आदिमे उसका लेप न करे ॥ ७९ ॥

आगे मलमूत्रादिकका किस प्रकार क्षेपण करे सो कहते हैं ।

वीक्ष्य पूर्वापरोर्ध्वाधः पार्श्वभागान्पुरोदिते ।
स्थाने प्रस्रवणोच्चारं वातं निःशब्दमुत्सृजेत् ।

जहां मलमूत्र करना हो वहांपर पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण चारों दिशाओंकी ओर देखे अर्थात् अपने आगे पीछेका भाग तथा अगल बगलका भाग देखे और फिर ऊपर नीचेका भाग देखे । फिर जिसका वर्णन पहले व्युत्सर्ग समितिमे कहा है ऐसे स्थानमे मौन धारण कर मल वा मूत्रका विसर्जन करे– छोडे तथा ऐसे ही स्थानमें वमन करे । (मलमूत्र वा वमन करते समय वायुका विचार भी करलेना चाहिये और इसप्रकार बैठना चाहिये जिससे वायुके द्वारा मलमूत्रादिकके वा वमनके छींटे शरीरपर न आवें) ॥ ८० ॥

पश्चाच्छुचिं प्रकुर्यादिष्टकाविकृत्यादिभिः पुनः ।
स्यात् क्षालिताऽऽसनकरः सौवीरोष्णजलादिभिः ॥ ८१॥

तदनतर ईंटसे अथवा छानेकी भस्मसे शुद्धि करनी चाहिये । फिर प्रासुक जलसे वा उष्ण जलसे आसन और हाथोंको धो डालना चाहिये ॥ ८१ ॥

आगे सन्यास धारण करना भी व्युत्सर्गशुद्धि है ऐसा दिखलाते है ।

॥२२१॥

दिव्यध्वनि समस्त जीवोंको अमृतके समान हित करनेवाली है, जिनका प्रभाव उपमा रहित है और जो संसाररूपी वनको जलानेके लिये दावानल अग्निके समान है ऐसे वे भगवान् श्री सुपार्श्वनाथस्वामी मनोवांछित फल देनेवाले हों ॥ १ ॥

आगे इस अधिकारमें छह आवश्यकोंका वर्णन करेंगे इसलिये

आवश्यक शब्दका अर्थ कहते हैं।

आवश्यकक्रियाऽवश्यं कार्यं कर्माऽवशस्य वा ।
मुनेः कर्मोदितं सेति कषायाक्षाऽवशोऽवशः ॥ २ ॥

जो अवश्य ही करनेयोग्य कार्य हो उसको आवश्यकक्रिया कहते हैं। अथवा किसीके वश न होनेवाले ऐसे मुनियोंका जो कर्म है उसको भी आवश्यक कहते हैं। अथवा कषाय और इन्द्रियोंके वश नहीं होना भी आवश्यकक्रिया कहलाती है। इसप्रकार मुनियोंके द्वारा अवश्य करनेयोग्य क्रियाओंको आवश्यक कहते हैं।

आगे आवश्यकोंके भेद और नाम कहते हैं।

सा षड्विधोदितेत्येवं समतास्तववन्दनम् ।
सप्रतिक्रमणप्रत्याख्यानकायविसर्जनम् ॥ ३ ॥

वह आवश्यकक्रिया समता, स्तुति, वंदना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायविसर्जन अर्थात् कायोत्सर्गके भेदसे छह प्रकार है ॥ ३ ॥

आगे इन छहोंके भी और भेद कहते हैं।

स्यान्नामस्थापनाद्रव्यभावभेदाच्चतुर्विधा ।
समता नाम समतेतस्या नाम स्ववाचकम् ॥ ४ ॥

इन छहों आवश्यक क्रियाओंके नाम, स्थापना, द्रव्य और भावके भेदसे चार २ भेद हैं।

पहली समता नामकी आवश्यक क्रियाका जो अपने अर्थको कहनेवाला 'समता, यह नाम है उसको नामसमता कहते है ॥ ४ ॥

जीवाजीवोभयेष्टार्थजातिद्रव्यगुणक्रिया ।
नामोत्पत्तिनिमित्तानपेक्षं यन्नाम तन्मतम् ॥ ५ ॥

जीव, अजीव, जीवाजीव, इष्ट, अर्थ, जाति, द्रव्य, गुण, क्रिया और नामके द्वारा उत्पन्न होनेके निमित्तकी अपेक्षा न रखकर जो नाम रक्खा जाता है उसको नामनिक्षेप कहते हैं । जिसके नाम रखनेमें न जीव अजीवकी अपेक्षा हो न द्रव्य, गुण, जातिकी अपेक्षा हो, विना किसी अपेक्षाके जो नाम रक्खा जाता है उसको नामनिक्षेप कहते है ॥ ५ ॥

आगे स्थापनानिक्षेपका स्वरूप कहते हैं ।

यत्सेयमित्यभेदेन सदृशेतरवस्तुषु ।
स्थापनं स्थापनं वाऽर्हत्प्रतिकृत्यक्षतादिषु ॥ ६ ॥

किसी सदृश पदार्थमें अथवा असदृश पदार्थमें "यह वही है" इसप्रकार अभेदरूपसे जो स्थापना करना है उसको स्थापनानिक्षेप कहते हैं । जैसे अरहंतकी प्रतिमामें अरहंत स्थापना की जाती है । अथवा चांवल आदिकोंमें अतदाकार स्थापना की जाती है । सामायिक नामके आवश्यकको करनेवालेके शरीरादिकमें सामायिक गुणका आरोपण करना वा समताका आरोपण करना स्थापना-निक्षेप है ॥ ६ ॥

आगे द्रव्यनिक्षेपका लक्षण कहते हैं ।

द्रव्यं भाविष्यत्पर्यायं गतार्पितविवर्ति च ।
तद्द्वेधाऽऽगमो नोआगमश्चेत्याद्यस्तयोरयम् ॥ ७ ॥

होनेवाली पर्यायको वर्तमानमें कहना अथवा जो पर्याय बीत चुकी है उसको वर्तमानमें

कहना द्रव्यनिक्षेप है। जैसे राजाके पुत्रको राजा कहना। राजाका पुत्र राजा नहीं है होनेवाला राजा है उसको राजा कहना द्रव्यनिक्षेप है। अथवा जो पहले दीवान था अब दीवान नहीं है तथापि उसको दीवान कहना द्रव्यनिक्षेप है। इसीप्रकार वर्तमानमें जो पर्याय है उसको भी द्रव्य निक्षेप कहते हैं। उसके दो भेद हैं एक आगमद्रव्यनिक्षेप और दूसरा नोआगमद्रव्यनिक्षेप ॥७॥

आगे आगमद्रव्यनिक्षेपको कहते हैं।

जीवः स्यादुपयोगो नो विज्ञातसमतागमः।
आगमादन्यो नोआगमाख्यः स त्रिविधो यथा ॥ ८ ॥

जो सामायिकके स्वरूपको निरूपण करनेवाले शास्त्रोंका ज्ञाता है परतु उसमें उसका उपयोग न हो, उसका पठन, पाठन, चिंतवन, स्मरण आदि न करता हो उस जीवको आगमद्रव्यसामायिक कहते हैं। जो आगमसे भिन्न हो उसको नोआगम कहते हैं। उसके तीन भेद हैं ॥८॥

आगे उन्हीं तीनों भेदोंको बतलाते हैं।

ज्ञायकांगं भविष्यंस्तद्व्यतिरिक्तमिति त्रिधा।
तेष्वाद्यं भाव्यतिक्रान्तवर्त्तमानविकल्पतः ॥ ९ ॥

नोआगमद्रव्यके तीन भेद हैं- ज्ञायकशरीर, भावी और तद्व्यतिरिक्त। सामायिक शास्त्रके जाननेवाले अनुपयुक्त आत्माके शरीरको ज्ञायकशरीर कहते हैं उसके तीन भेद हैं- भूत, भविष्यत् और वर्तमान। सामायिक आगमको जाननेवाला जिस शरीरको धारण करता है वह वर्तमान ज्ञायकशरीर है। वह जो शरीर आगे धारण करेगा उसको भविष्यत् ज्ञायकशरीर कहते हैं। तथा जो शरीर पहले छोडा था उसको भूत कहते हैं। उस भूत शरीरके तीन भेद हैं- च्युत, च्यावित, और त्यक्त। जो पके हुए फलके समान आयुके पूर्ण होनेपर अपने आप छूट जाय उसको च्युत कहते है। जो शरीर शस्त्रके प्रहारसे, विपके भक्षण करनेसे, श्वासोच्छ्वासके रोकनेसे तथा और भी

ऐसे ही कारणोंसे छूट जाय उसको च्यावित कहते हैं। तथा जो शरीर समाधिमरणके द्वारा छोड दिया जाय उसको त्यक्त कहते हैं। ये सब ज्ञायकशरीरके भेद है। जो आगे चलकर सामायिक शास्त्रका जाननेवाला होगा उसको भावीनोआगमद्रव्यसामायिक कहते है। तद्व्यतिरिक्तके दो भेद हैं- एक कर्म और दूसरा नोकर्म। सामायिक करनेवाले जीवोंके द्वारा संचित होनेवाले तीर्थंकर आदि शुभ कर्मोंको कर्मतद्व्यतिरिक्तनोआगमद्रव्यसामायिक कहते हैं। नोकर्मतद्व्यतिरिक्त तीन प्रकार है- सचित्त, अचित्त और मिश्र। उपाध्यायादिकको सचित्त, पुस्तकादिकको अचित्त और दोनोंको मिश्र कहते है।

इन्हीं सब भेदोंको आगे बतलाते हैं।

आधाराऽऽधेयधर्मोपचारेणांगत्रयस्य च।
तत्त्वं धनुःशतं भुंक्ते धावतीत्यत्र वा तथा ॥ १० ॥

ज्ञायकशरीरके जो भूत, भविष्यत् और वर्तमान नामके तीन भेद बतलाये हैं वे सब आधार और आधेयमें रहनेवाले धर्मोंके उपचारसे बतलाये हैं। जैसे सौ धनुष पृथ्वीका उपभोग करता है। अथवा सौ धनुष पर्यंत पृथ्वीपर दौडता है। यहांपर केवल आधाराधेयका उपचार रूप धर्म है।

स्याच्च्युतं च्यावितं त्यक्तमित्यतीतं त्रिभेदगम्।
च्युतं त्यागं विनाऽऽयुष्यक्रमक्षयगतात्मकम् ॥ ११ ॥

उसमेंसे भूत शरीरके तीन भेद हैं। च्युत, च्यावित और त्यक्त। उसमेंसे शरीरका त्याग तो न किया जाय किंतु अनुक्रमसे आयुका क्षय होते २ पूर्ण आयुके क्षय होनेपर जो शरीर छूट जाता है उसको च्युत कहते हैं ॥ ११ ॥

आगे च्यावित और त्यक्तका स्वरूप कहते हैं।

च्यावितं कदलीघातपातितं त्यागवर्जितम्।
त्यक्तं भक्तादिकत्यागैर्घाताऽघातगतात्मकम् ॥ १२ ॥

जिस शरीरका समाधिमरणके द्वारा त्याग तो न किया हो किंतु विष शस्त्रादिकके द्वारा कदलीघात होगया हो उसको च्यावित कहते है । तथा जो आहार और कषायके त्यागपूर्वक घातरूप अथवा अघातरूप शरीरका त्याग किया जाता है उसको त्यक्त कहते हैं ॥ १२ ॥

आगे आयुके छेद होनेके—नाश होनेके कारण बतलाते हैं ।

विषास्त्रघातभीरक्तक्षयसंक्लेशवेदना— ।
ऽऽहारोच्छ्वासनिरोधाः स्युरायुष्यच्छेदकारिणः ॥ १३ ॥

इंद्रियोंके अधिक विषयसेवन करनेसे, अस्त्र शस्त्रका घात होनेसे, भय होनेसे, रुधिरका क्षय होनेसे, परिणामोंमें संक्लेशता उत्पन्न होनेसे, रोगादिककी वा शोकादिकी वेदना होनेसे, आहार और श्वासोच्छ्वासका निरोध होनेसे आयुका क्षय होजाता है । अर्थात् ये सब आयुके क्षय होनेके कारण है ॥ १३ ॥

आगे भावी वा भविष्यत् नोआगमद्रव्यका स्वरूप कहते हैं ।

स्याद्भाव्यर्पितपर्यायो भविष्यंद्राजनामभाक् ।
भविष्यद्राजपर्यायो वोपचारान्नृपात्मजः ॥ १४ ॥

जो पर्याय अभी उत्पन्न नहीं हुई है किंतु आगे होनेवाली है उसको भावी अथवा भविष्य नोआगमद्रव्यनिक्षेप कहते हैं । जैसे राजाका पुत्र राजा नहीं है किंतु भविष्यमें राजा होनेवाला है । उसको उपचारसे राजा कहना भावीनोआगमद्रव्यनिक्षेप है ॥ १४ ॥

आगे तद्व्यतिरिक्तके भेद कहते हैं ।

कर्मनोकर्मभेदं स्यात्तृतीयं तत्र कर्म यत् ।
चारित्रमोहमन्दानुभावद्रव्यैनसस्ताति: ॥ १५ ॥

तद्व्यातिरिक्तके दो भेद हैं– एक कर्म और दूसरा नोकर्म । चारित्रमोहनीय कर्मके मंद उदयसे

जो द्रव्यपापोंका नाश होजाता है तथा उससे जो तीर्थंकरादिक प्रकृतियोंका बंध होता है वह कर्मतद्व्यतिरिक्तसामायिकद्रव्यनिक्षेप है ॥ १५ ॥

आगे नोकर्म द्रव्यसामायिकको कहते हैं।

नोकर्म मृत्सुवर्णाश्ममाणिक्याऽहिस्रगादिकम् ।
समताकारणं बाह्यभावभावावलोकिनः ॥ १६ ॥

बाह्य पदार्थोंके स्वभावको जाननेवाले मुनियोंके जो मिट्टी, सोना, पत्थर, माणिक, सर्प, माला आदि पदार्थोंको समताका कारण समझना नोकर्मतद्व्यतिरिक्तसामायिकद्रव्यनिक्षेप है ॥ १६ ॥ इस प्रकार द्रव्यनिक्षेपका स्वरूप बतलाया ।

अब आगे भावनिक्षेपका स्वरूप कहते हैं।

अर्पितेन विवर्तेन वर्त्तमानेन संयुतम् ।
द्रव्यं भावो भवेद्भावमात्रं वा विनयाश्रयः ॥ १७ ॥

जिस पदार्थका वर्तमानमें जो स्वरूप है उसकी जो पर्याय है उसीके अनुसार वैसा ही उसका स्वरूप कहना भावनिक्षेप है । अथवा विनयके साथ होनेवाला जो आत्माका परिणाम है उसको भी भावसामायिक कहते हैं ॥ १७ ॥

आगे भावनिक्षेपके भेद कहते हैं।

भाव आगमनोआगमद्विभेदस्तयोर्भवेत् ।
आगमः समताशास्त्रार्थोपयोगयुतो यतिः ॥ १८ ॥

इस भावनिक्षेपके दो भेद है- एक आगमभावनिक्षेप और दूसरा नोआगमभावनिक्षेप। समता अथवा सामायिकशास्त्रके जाननेवाले तथा उसी शास्त्रमें अपना उपयोग लगानेवाले आत्माको आगम भावसामायिक कहते हैं ।

भावार्थ- जो सामायिकशास्त्रको जानते है और जिन्होंने अपना उपयोग उसीमें लगा रक्खा है ऐसे मुनियोंको आगमभावसामायिकनिक्षेप कहते हैं ॥ १८ ॥

आगे नोआगमभावनिक्षेपके भेद कहते हैं।

द्विभेद उपयुक्तस्तत्परिणत इतीतरः।
शास्त्रं विनोपयुक्तोऽस्यामुपयुक्त इति स्मृतः ॥ १९ ॥

नोआगमभावनिक्षेपके दो भेद हैं- एक उपयुक्त और दूसरा तत्परिणत। जो सामायिकशास्त्रके विना ही सामायिकमें उपयोग लगा रहा है-सामायिकके अर्थका विचार कर रहा है उसको उपयुक्त नोआगमभावसामायिक कहते हैं ॥ १९ ॥

आगे समताका स्वरूप कहते हैं।

समः स्याद्रत्यरत्याशिहेतुवस्तुसमो यमी।
समस्य भावः समता तोपरोषव्यपेतता ॥ २० ॥

जो मुनि रागद्वेष उत्पन्न करनेवाले पदार्थोंमें भी रागद्वेष धारण नहीं करते उनमें भी सम-भाव धारण करते हैं-दोनोंको समान मानते हैं उनको उस माननको सम कहते हैं। समका जो भाव है उसको समता कहते हैं। वह समता रागद्वेषके अभावरूप पडती है।

भावार्थ— रागद्वेष उत्पन्न होनेके कारण मिलनेपर भी रागद्वेष न करना समता है ॥ २० ॥

आगे सामायिक शब्दका अर्थ बतलाते हैं।

सं यः स्वार्थनिवृत्त्यात्मनेन्द्रियाणामयोऽयनम्।
समयः सामायिकं नाम स एव समताह्वयम् ॥ २१ ॥

सामायिक शब्द समय शब्दसे बना है। समयको ही सामायिक कहते हैं। यहां पर स्वार्थमें इकण् प्रत्यय हुआ हैं। जो समयका अर्थ है वही सामायिकका अर्थ है। तथा समय

शब्द सम् और अय इन दो शब्दोंसे बना है। सम् शब्दका अर्थ अपने विषयका छोडना है और अय शब्दका अर्थ प्राप्त होना है। इंद्रियोंका अपने २ विषयोंको छोडकर आत्मामें प्राप्त होना-आत्मामें लीन होजाना समय है। समयको ही सामायिक कहते हैं और इसी सामायिकको समता कहते है ॥ २१ ॥

आगे और भी सामायिक शब्दका अर्थ बतलाते हैं।

समस्यारागरोषस्य सर्ववस्तुष्वयोऽयनम्।
समायः स्यात्स एवोक्तं सामायिकमिति श्रुते ॥ २२ ॥

सम शब्दका अर्थ रागद्वेष रहित होना है। और अय शब्दका अर्थ प्राप्त होना है। जो समस्त पदार्थोंमें रागद्वेष रहित होकर प्राप्त होना है-समस्त पदार्थोंमें रागद्वेषका त्याग कर देना है उसको समाय कहते है। और उसीको अर्थात् समस्त पदार्थोंमें रागद्वेषके त्याग करनेको सामायिक कहते हैं ऐसा शास्त्रोंमें वर्णन किया है ॥ २२ ॥

आगे तत्परिणतनोआगमभावसामायिकका स्वरूप कहते हैं।

समतोपेतचित्तो यः स तत्परिणताह्वयः।
प्रकृतोऽत्रायमन्यासु क्रियास्वेवं निरूपयेत् ॥ २३ ॥

जो मुनि अपने हृदयमें समताको धारण कर रहा है, जिसने रागद्वेषका सर्वथा त्याग कर दिया है उसको तत्परिणतनोआगमभावसामायिक कहते हैं। जिसप्रकार ये नाम, स्थापना, द्रव्य, और भाव आदि निक्षेप सामायिकमें लगाये हैं उसीप्रकार चतुर्विंशतिस्तव, वंदना, प्रतिक्रमण आदि स्तवमें लगा लेना चाहिये ॥ २३ ॥

सर्वव्यासंगनिर्मुक्तः संशुद्धकरणत्रयः।
धौतहस्तपदद्वन्द्वः परमानन्दमन्दिरम् ॥ २४ ॥

चैत्यचैत्यालयादीनां स्तवनादौ कृतोद्यमः ।
भवेदनन्तसंसारसन्तानोच्छित्तये यतिः ॥ २५ ॥

जो मुनि सब तरहके व्यापारोंसे रहित है, जिनके मन, वचन, काय शुद्ध हैं, जिनके हाथ, पैर सब धुले हुए हैं और जो परम आनंदके स्थान हैं ऐसे मुनि अपने अनंत संसारकी परपराको नाश करनेके लिये जो चैत्य अर्थात् अरहत देवकी प्रतिमाकी तथा चैत्यालयोंकी स्तुति करते हैं उसको स्तव अथवा चतुर्विंशतिस्तव (चोवीस तीर्थंकरोंकी स्तुति) कहते है।

भावार्थ— चोवीस तीर्थंकरोंका एक २ हजार आठ नामोंसे उनके अर्थके अनुसार स्तुति करना

सामायिकका विशेष खुलासा

सामायिकके विषयमें निक्षेपोंका जो वर्णन किया है उसका अभिप्राय यह है कि यदि विना निक्षेपके शास्त्रोंका व्याख्यान किया जाय तो कभी २ वक्ता तथा श्रोता दोनोंके मोक्षमार्गकी प्रवृत्ति प्रतिकूल होसकती है। वह प्रतिकूल प्रवृत्ति न हो इसलिये आचार्योंने निक्षेपोंका वर्णन किया है। जैसे शुभाशुभ नाम सुनकर रागद्वेषका त्याग करना नामसामायिक है। सुंदर अथवा असुंदर स्थापनामें रागद्वेषका त्याग करना स्थापनासामायिक है। सोना, चांदी, मोती, माणिक, मिट्टी, काठ, ढेला, पत्थर, लोहा, कांटा आदि सबको समान देखना किसीमें रागद्वेष न करना वा उनकी भूत, भविष्य पर्यायोंमे रागद्वेष न करना द्रव्यसामायिक है। मनोहर क्षेत्रमें राग नहीं करना तथा बुरे- अमनोज्ञ क्षेत्रमें द्वेष नहीं करना क्षेत्रसामायिक है। वर्षाऋतु, शरद्ऋतु, हेमंतऋतु, शिशिरऋतु, वसंतऋतु, ग्रीष्मऋतुमें तथा रातमें वा दिनमें, कृष्णपक्षमें वा शुक्लपक्षमें रागद्वेष नहीं करना समस्त कालको एकसा मानना कालसामायिक है। तथा समस्त जीवोंमें मैत्रीभाव धारण करना अथवा अशुभ परिणामोंका सर्वथा त्याग करदेना भावसामायिक है। इसप्रकार इन निक्षेपोंके द्वारा सामायिकका निरूपण किया है।

॥२३२॥

सो चतुर्विंशतिनाम स्तव है। चोवीरा तीर्थंकरोंके कृत्रिम वा अकृत्रिम स्थानोंकी अथवा कृत्रिम अकृत्रिम स्थापनाओंकी स्तुति करना सो स्थापनाचतुर्विंशतिस्तव है। तीर्थंकरोंके वर्ण आदि भेदोंसे अलग अलग स्तुति करना द्रव्यचतुर्विंशतिस्तव है। कैलाश, सम्मेदशिखर, गिरनार, पावापुर आदि तीर्थंकरोंके निर्वाण क्षेत्रोंकी स्तुति करना सो निर्वाणक्षेत्रस्तुति है। तीर्थंकरोंके पंच कल्याणकोंके समयकी स्तुति करना कालस्तुति है। चोवीस तीर्थंकर वा आचार्य आदिके गुणोंकी स्तुति करना सो भावस्तुति है। एक तीर्थंकर वा आचार्य आदिका नाम उच्चारण करना नामवंदना है। एक तीर्थंकर वा आचार्य आदिके प्रतिबिंबकी वंदना करना स्थापनावंदना है। उनके शरीरकी वंदना करना द्रव्यवंदना है। जिन जिन स्थानोंमें वे विराजे हैं उनकी वंदना करना क्षेत्रवंदना है। जिस समयमें वे हुए हैं उस समयकी वंदना करना कालवंदना है। शुद्ध परिणामोंसे उनके गुणोंकी वंदना करना सो भाववंदना है। इसीप्रकार नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावके आश्रय होनेवाले अतिचारोंका मन, वचन, काय और कृत, कारित, अनुमोदनासे संशोधन करना सो नामस्थापनादिक प्रतिक्रमण है। अयोग्य नामस्थापनाका मन, वचन, काय और कृत, कारित, अनुमोदनासे त्याग करना नामस्थापनाप्रत्याख्यान है। पापबंधके कारणभूत द्रव्य चाहे निर्दोष भी हो तो भी उसका त्याग करना द्रव्यप्रत्याख्यान है। असंयमके कारण भूत क्षेत्रका त्याग करना क्षेत्रप्रत्याख्यान है। असंयमके हेतुभूत कालका त्याग करना कालप्रत्याख्यान है। मिथ्यात्व असंयम कषायोंका मन, वचन, काय, कृत, कारित, अनुमोदनासे त्याग करना भावप्रत्याख्यान है। कठिन और असुहावने शब्दोंके द्वारा लगनेवाले अतिचारोंका कायोत्सर्गके द्वारा संशोधन करना नामकायोत्सर्ग है। स्थापनाके द्वारा आये हुए अतिचारोंको संशोधन करनेके लिये कायोत्सर्ग करना स्थापना कायोत्सर्ग है। सावद्य द्रव्योंके सेवन करनेसे उत्पन्न हुए अतिचारोंको दूर करनेके लिये कायोत्सर्ग करना द्रव्यकायोत्सर्ग है। सावद्य क्षेत्रसे लगे हुए अतिचारोंको दूर करनेके लिये कायोत्सर्ग करना क्षेत्रकायोत्सर्ग है। सावद्य कालके द्वारा आये हुए अतिचारोंको दूर करनेके लिये कायोत्सर्ग करना

कालकायोत्सर्ग है और मिथ्यात्व आदिके अतिचारोंको संशोधन करनेके लिये किये हुए कायोत्सर्गको भावकायोत्सर्ग कहते है ॥ २४-२५ ॥

आगे नामस्थापनादिकका उदाहरण दिखलाते हैं ।

यथा निश्चेतनाश्चिन्तामणिकल्पमहीरुहाः ।
कृतपुण्यानुसारेण तदभीष्टफलप्रदाः ॥ २६ ॥
तथाऽर्हदादयश्चास्तरागद्वेषप्रवृत्तयः ।
भक्तभक्त्यनुसारेण स्वर्गमोक्षफलप्रदाः ॥ २७ ॥ युग्मम् ।

जिसप्रकार चिंतामणि रत्न अचेतन होता है तथा कल्पवृक्ष सब अचेतन होते हैं और वे सब अपने २ पुण्यके अनुसार अभीष्ट फल देनेवाले होते है उसीप्रकार रागद्वेष तथा सब प्रकारकी प्रवृत्तियोंसे रहित अरहंतादिक भी अपने भक्त पुरुषोंकी भक्तिके अनुसार स्वर्ग और मोक्षफलके देने-वाले होते हैं ॥ २६-२७ ॥

गरापहारिणी मुद्रा गरुडस्य यथा तथा ।
जिनस्याऽप्येनसो हंत्री दुरितारातिपातिनः ॥ २८ ॥

जिसप्रकार गरुडकी मुद्रा विषको दूर करनेवाली होती है । उसीप्रकार पापरूपी समस्त शत्रुओंको नाश करनेवाले भगवान् जिनेंद्र देवकी मूर्ति भी समस्त पापोंको नाश करनेवाली होती है ।

सुमनःसंगमादंगतीह सूत्रं पवित्रताम् ।
पिष्टः प्रकृष्टमाधुर्यं प्रकृष्टेक्षुरसाद्यथा ॥ २९ ॥
चंपापावादिनिर्वाणक्षेत्रादीनि पवित्रताम् ।
वंद्यतां च व्रजंत्येव वंद्यसंगमतस्तथा ॥ ३० ॥ युग्मम् ।

जिसप्रकार इस लोकमें फूलोंके समागमसे सूत्र भी पवित्रताको प्राप्त होजाता है । तथा

जिसप्रकार उत्तम ईखके रसके संयोगसे आटा भी उत्तम मधुरताको प्राप्त होजाता है । उसीप्रकार इंद्रादिक देवोंके द्वारा वंदनीय ऐसे भगवान् जिनेंद्रदेवके संबंधसे चंपापुर, पावापुर, गिरनार आदि निर्वाणक्षेत्र भी तथा आदि शब्दसे उनके कल्याणकोंका समय भी वंदनीय होजाता है ॥ २९–३० ॥

मत्वेति जिनगेहादि त्रिःपरीत्य कृतांजलिः ।
प्रकुर्वंस्तच्चतुर्दिक्षु सत्र्यावर्त्तां शिरोनतिम् ॥ ३१ ॥
घोरसंसारगंभीरवारिराशौ निमज्जताम् ।
दत्तहस्तावलंबस्य जिनस्येक्षार्थमाविशेत् ॥ ३२ ॥ युग्मम् ।

यही समझकर भगवान् जिनेन्द्रदेवके चैत्यालय आदिकी तीन प्रदक्षिणा देकर तथा हाथ जोडकर प्रत्येक दिशामें तीन २ आवर्तके हिसावसे चारों दिशाओंमें आवर्त करके तथा चारों दिशाओंमें शिरोनति करके घोर संसाररूपी गंभीर समुद्रमें डूबते हुए प्राणियोंको हस्तावलंबन देनेवाले भगवान् जिनेंद्रदेवके दर्शन करनेके लिये उस चैत्यालयमें वा जिनालयमें प्रवेश करना चाहिये ॥ ३१–३२ ॥

जिनेशतारकाधीशपादसंपादितोत्सवः ।
श्रीलीलामन्दिरस्वीयलोचनेन्दीवरः पुनः ॥ ३३ ॥
ईर्याऽऽगःशुद्धये व्युत्सर्गं कृत्वाऽऽसीनोऽनुकंपया ।
आलोच्य समतां वर्यां कुर्यादात्मेच्छयाऽन्यदा ॥ ३४ ॥ युग्मम् ।

भगवान् जिनेंद्रदेवरूपी चन्द्रमाके चरणकमलोंको देखकर जिसको अत्यंत आनंद प्राप्त हुआ है तथा जिसने अपने नेत्ररूपी चन्द्रविकासी कमलोंको लक्ष्मीकी लीलाका स्थान बना लिया है ऐसे उन मुनिराजोंको दयापूर्वक बैठकर ईर्यापथशुद्धि करनेके लिये कायोत्सर्ग करना चाहिये तथा आलोचना करनी चाहिये । फिर किसी दूसरे समय अपनी इच्छानुसार उत्तम समता धारण करनी चाहिये ॥ ३३–३४ ॥

लक्षणं समतादीनां पुरोक्तं किन्तु वर्ण्यते ।
व्युत्सर्गावसरोच्छ्वाससंख्यानामादि साम्प्रतम् ॥ ३५ ॥

इनमेंसे समता, वंदना आदिका लक्षण तो पहले कह ही चुके हैं । अब कायोत्सर्ग, कायोत्सर्गका समय, कायोत्सर्ग करनेके लिये श्वासोच्छ्वासोंकी संख्या तथा नाम आदिको कहते है ।

क्रियायामस्यां व्युत्सर्गं भक्तेरस्याः करोम्यहम् ।
विज्ञाप्येति समुत्थाय गुरुस्तवनपूर्वकम् ॥ ३६ ॥
कृत्वा करसरोजातमुकुलालंकृतं निजम् ।
भाललीलासरः कुर्यात् त्र्यावर्त्ता शिरसो नतिम् ॥ ३७ ॥ युग्मम् ।

कायोत्सर्ग करनेके पहले मुनिराजको सूचित करना चाहिये कि " मैं इस क्रियामें इस भक्तिका कायोत्सर्ग करता हूं । ,, यह सूचित कर फिर उठकर गुरुस्तवन करना चाहिये । फिर अपने ललाटरूपी क्रीडा करनेके सरोवरको दोनों हाथरूपी कमलोंमे मुकुलित कर अर्थात् दोनों हाथोंको जोडकर उनसे सुशोभित करना चाहिये । फिर तीन आवर्त कर शिरोनति करनी चाहिये ।

आद्यस्य दंडकस्यादौ मंगलादेरयं क्रमः ।
तदन्तेऽप्यंगव्युसर्गः कार्योऽतस्तदनन्तरम् ॥३८॥
कुर्यात्तथैव ' थोस्सामी ' त्याद्यार्याद्यंतयोरपि ।
इत्यस्मिन् द्वादशावर्त्ताः शिरोनतिचतुष्टयम् ॥ ३९ ॥ युग्मम् ।

पहले दंडकके प्रारभमें मगलादिक करनेका यह क्रम है । फिर उस दंडकके अतमें कायोत्सर्ग करना चाहिये । उसके अतमे थोस्सामी आदि आर्याको लेकर अंततक पाठ करना चाहिये । इसके आदि अतमें कायोत्सर्ग करना चाहिये । इस कायोत्सर्गमें बारह आवर्त और चार शिरोनति करनी चाहिये ॥ ३८—३९ ॥

॥२३६॥

ग्रंथारंभे समाप्तौ च स्वाध्याये स्तवनादिषु ।
सप्तविंशतिरुच्छ्वासा व्युत्सर्गे दुर्मनस्यपि ॥ ४० ॥

ग्रंथके प्रारंभमें, ग्रंथकी समाप्तिमें, स्वाध्यायमें, स्तुतिमें और मनमें किसी प्रकारकी दुष्टता उत्पन्न होनेपर सत्ताईस श्वासोच्छ्वाससे कायोत्सर्ग करना चाहिये ॥ ४० ॥

व्रतेष्वन्यतमस्याऽतिचारशुद्धेर्दिनस्य च ।
स्यात्प्रतिक्रमणेऽष्टाग्रशतं रात्र्यास्तु तद्दलम् ॥ ४१ ॥

व्रतोंमेंसे किसी भी व्रतमें अतिचार लगनेपर उसकी शुद्धिके लिये जो कायोत्सर्ग किया जाता है वह एकसौ आठ श्वासोच्छ्वास किया जाता है । इसीप्रकार दिनके प्रतिक्रमणके कायोत्सर्गमें भी एकसौ आठ श्वासोच्छ्वास होते हैं । तथा रात्रिके प्रतिक्रमणमें उससे आधे अर्थात् चौअन श्वासोच्छ्वास कायोत्सर्ग करना चाहिये ॥ ४१ ॥

पाक्षिके त्रिशतं चातुर्मासिके स्याच्चतुःशतम् ।
शतानि पंच संवत्सरस्य षट्सुक्रियान्तगे ॥ ॥ ४२ ॥
पंचविंशतिरुच्छ्वासा गोचरेर्यातिचारयोः ।
जिनसाधुनिषद्यानां विण्मूत्रोत्सर्जनेनासि ॥ ४२ ॥

पाक्षिक प्रतिक्रमणमें तीनसौ श्वासोच्छ्वाससे कायोत्सर्ग करना चाहिये । चातुर्मासिक प्रतिक्रमणमें चारसौ श्वासोच्छ्वाससे कायोत्सर्ग करना चाहिये । वार्षिक प्रतिक्रमणमें पांचसौ श्वासोच्छ्वाससे कायोत्सर्ग करना चाहिये । इसीप्रकार छह आवश्यक क्रियाओंके अंतमें पच्चीस श्वासोच्छ्वाससे कायोत्सर्ग करना चाहिये । आहारके लिये जो चर्या की जाती है उसमें तथा ईर्यापथ शुद्धिपूर्वक किसी दूसरे गांवसे आनेके बाद उसमें लगे हुए अतिचारोंको शुद्ध करनेके लिये पच्चीस श्वासोच्छ्वाससे कायोत्सर्ग करना चाहिये । समवसरण वा कल्याणकोंके स्थानोंमें प्राप्त होनेपर वा

वा मुनियोंकी निषिधिका स्थानमें पहुंचनेपर तथा मलमूत्र करलेनेपर पच्चीस २ उच्छ्वासमे कायोत्सर्ग करना चाहिये ॥ ४२-४३ ॥

देवतास्तवने भक्ती चैत्यपंचगुरूभयोः ।
चतुर्दश्यां तयोर्मध्ये श्रुतभक्तिर्विधीयते ॥ ४४ ॥

देवताका स्तवन करनेमें अर्थात् जिनवंदना करनेमें चैत्यभक्ति और पचगुरुभक्ति की जाती है । तथा चतुर्दशीके दिन पहले चैत्यभक्ति फिर श्रुतभक्ति और अतमे पचगुरुभक्ति करनी चाहिये ॥ ४५ ॥

स्यात्सिद्धश्रुतचारित्रशान्तिभक्तिचतुष्टयम् ।
अष्टम्यां श्रुतभक्त्योनमेतत्तीर्थेशजन्मनि ॥ ४५ ॥

अष्टमीके दिन सिद्धभक्ति, श्रुतभक्ति, चारित्रभक्ति और शांतिभक्ति ये चार भक्तियां पढनी चाहिये । तथा तीर्थकरोंके गर्भ, जन्म कल्याणकोंके समयमें सिद्धभक्ति, चारित्रभक्ति और शांतिभक्ति करनी चाहिये ॥ ४५ ॥

पाक्षिके जिनचैत्ये च यद्यष्टम्यादिकर्मणाम् ।
संयोगो देवतापूजादर्शनस्तवनैः सह ॥ ४६ ॥
प्राक् शांतिभक्तितस्तेषु चैत्यपंचगुरूभयोः ।
भक्ती स्तः सिद्धभक्तिः स्यात्सिद्धप्रतिकृतिस्तुतौ ॥ ४७ युग्मम् ।

पाक्षिक प्रतिक्रमण करते समय अथवा जिनचैत्यवदना करते समय यदि अष्टमी वा चतुर्दशीके कार्योंका संयोग मिल जाय अर्थात् उस दिन यदि अष्टमी वा चतुर्दशीका भी कार्य करना पडे और पाक्षिक प्रतिक्रमण वा चैत्यवदना भी करना पडे तो देवपूजन, दर्शन तथा स्तवनके साथ चैत्यभक्ति, पंचगुरुभक्ति और शांतिभक्ति करनी चाहिये । तथा सिद्धप्रतिमाकी स्तुति करते समय

॥२३८॥

सिद्धभक्ति करनी चाहिये ॥ ४६-४७ ॥

चतुर्दशीदिने कर्त्तुं क्रियां न लभते यदि ।
धर्मकार्यादिनाऽष्टम्याः क्रिया कार्या तु पाक्षिके ॥ ४८ ॥

यदि रथयात्रा वा निर्वाणक्षेत्रके लिये गमन करना आदि धार्मिक कार्यके कारण चतुर्दशीके दिन उस दिनकी पूर्ण क्रिया न हो सके तो पौर्णमासी वा अमावस्याके दिन अष्टमीकी क्रिया करनी चाहिये अर्थात् सिद्ध, श्रुत, चारित्र और शांतिभक्ति करना चाहिये ॥ ४८ ॥

नन्दीश्वरक्रियायां स्तः सिद्धनन्दीश्वरोभयोः ।
भक्ती पंचगुरूणां च शान्तिभक्तिस्तदन्तगा ॥ ४९ ॥

नंदीश्वर पर्वके दिन सिद्धभक्ति और नंदीश्वरभक्ति करनी चाहिये । तदनंतर अर्थात् सिद्धभक्ति और नंदीश्वरभक्तिके बाद पंचगुरुभक्ति और शांतिभक्ति करनी चाहिये ॥ ४९ ॥

स्यात्सिद्धचैत्ययोः पंचगुरूणां स्नपनस्तवे ।
भक्तिः सशान्तिभक्तिस्तु हीनमध्याद्विभक्त्यदः ॥ ५० ॥
स्थिरेतरप्रतिष्ठायां चतुर्थस्नपने पुनः ।
चलचैत्यप्रतिष्ठायाः पूर्वोक्तस्नपनाक्रिया ॥ ५१ ॥ युग्मम् ।

अभिषेकवंदनाकी क्रियामें सिद्धभक्ति, चैत्यभक्ति, पंचगुरुभक्ति और शांतिभक्ति पढनी चाहिये। स्थिर वा मूल नायक बिंबप्रतिष्ठामें तथा चलबिंबप्रतिष्ठाकी क्रियामें इन भक्तियोंमेंसे मध्यकी दो भक्तियां छोडकर और केवल सिद्धभक्ति और शांतिभक्ति करनी चाहिये । चल जिनबिंबके चतुर्थ अभिषेकमें अभिषेकवंदनाकी क्रिया करनी चाहिये अर्थात् सिद्धभक्ति, चैत्यभक्ति पंचगुरुभक्ति और शांतिभक्ति पढनी चाहिये ॥ ५०-५१ ॥

स्थिरप्रतिष्ठास्नानेऽस्मिन्नेषैवाऽऽलोचनान्विता ।
चारित्रभक्तिः स्यात्किन्तु सिद्धभक्तेरनन्तरम् ॥ ५२ ॥

स्थिर जिनबिंबप्रतिष्ठाके चौथे दिनके अभिषेकमें आलोचना करनी चाहिये और सिद्धभक्तिके अनंतर चारित्रभक्ति करनी चाहिये । अर्थात् सिद्धभक्ति, चारित्रभक्ति, बडी आलोचना और शांतिभक्ति पढनी चाहिये ॥ ५२ ।

सिद्धभक्तिर्मुनौ ज्येष्ठे सिद्धान्तविदि सा युता ।
श्रुतभक्त्याऽऽचार्यभक्त्या तु गणिन्येतत्त्रयं पुनः ॥ ५३ ॥
सूरौ सैद्धान्तिकेऽल्पेऽपि प्रतिमायोगसंस्थिते ।
सिद्धभक्तिर्भवेद्योगशान्तिभक्ती च संयते ॥ ५४ ॥ युग्मम् ।

बडे मुनियोंकी वंदना सिद्धभक्ति पढकर करनी चाहिये । यदि वे मुनि सिद्धांतके जानकार हों तो सिद्धभक्ति और श्रुतभक्ति पढकर वंदना करनी चाहिये । आचार्यकी वंदना सिद्धभक्ति और आचार्यभक्ति पढकर करनी चाहिये । यदि आचार्य सिद्धांतके जानकार हो तो सिद्धभक्ति, श्रुतभक्ति और आचार्यभक्ति पढकर उनकी वंदना करनी चाहिये । जो मुनि थोडे दिनके दीक्षित हैं वे भी यदि प्रतिमायोग धारण करें तो अन्य समस्त मुनियोंको सिद्धभक्ति, योगिभक्ति और शांतिभक्ति पढकर उनकी वंदना करनी चाहिये ॥ ५३–५४ ॥

अत्र चरित्रभक्तिश्चैत्सिद्धभक्तेरनन्तरम् ।
योगभक्त्या परीतिश्च परिनिष्क्रमणाक्रिया ॥ ५५ ॥

दीक्षाकल्याणककी क्रियामें सिद्धभक्ति, चारित्रभक्ति, योगिभक्ति और शांतिभक्ति पढनी चाहिये । योगिभक्ति पढते हुए प्रदाक्षिणा देनी चाहिये ॥ ५५ ॥

ज्ञानोत्पत्तौ क्रियैषैव सिद्धभक्तेरनन्तरम् ।
श्रुतभक्तिश्च स्यात्किन्तु जिननिर्वाणभूष्वपि ॥ ५६ ॥
परिनिर्वाणभक्तिस्तु योगभक्तेरनन्तरम् ।
परिनिर्वाणभक्त्या तु त्रिःपरीत्य क्रिया भवेत् ॥ ५७ ॥ युग्मम् ।

केवलज्ञान कल्याणककी क्रिया करते समय सिद्धभक्ति, श्रुतभक्ति, चारित्रभक्ति, योगभक्ति और शांतिभक्ति पढनी चाहिये । निर्वाणकल्याणककी क्रियाओंके समय सिद्धभक्ति, श्रुतभक्ति चारित्र-भक्ति योगभक्ति, निर्वाणभक्ति और शांतिभक्ति पढनी चाहिये । निर्वाणभक्ति पढते समय तीन प्रद-क्षिणा देनी चाहिये ॥ ५६–५७ ॥

सिद्धनिर्वाणयोः पंच गुरूणां भक्तिरप्यतः ।
स्याच्छान्तिभक्तिः श्रीवर्द्धमाननिर्वाणवासरे ॥ ५८ ॥

भगवान् श्रीवर्द्धमान स्वामीके निर्वाणके दिन सिद्धभक्ति, निर्वाणभक्ति, पचगुरुभक्ति और शांति-भक्ति पढनी चाहिये ॥ ५८ ॥

समाधिविधिना सम्यक् सामान्ये संयते मृते ।
सिद्धभक्तिर्भवेद्योगशान्तिभक्तिद्वयं ततः ॥ ५९ ॥

यदि समाधिमरणपूर्वक सामान्य मुनिका स्वर्गवास हुआ हो तो सिद्धभक्ति, योगभक्ति और शांतिभक्ति पढनी चाहिये ॥ ५९ ॥

यद्यत्र श्रुतभक्तिः स्यात्सिद्धभक्तेरनन्तरम् ।
कृतिकर्मेति निर्दिष्टं साधौ सिद्धान्तवेदिनि ॥ ६० ॥

यदि वे मुनि सिद्धांतके जानकार हों तो उनके समाधिमरण होनेपर सिद्धभक्ति, श्रुत-भक्ति, योगभक्ति और शांतिभक्ति पढनी चाहिये ॥ ६० ॥

सामान्यमुनिकमैंव व्रतिन्युत्तरयोगिनि ।
स्यात्तु चारित्रभक्तिश्च सिद्धभक्तेरनन्तरम् ॥ ६१ ॥

जो मुनि उत्तर गुणोंको धारण करनेवाले हों तो उनके समाधिमरण होनेपर सिद्धभक्ति, चारित्रभक्ति, योगभक्ति और शांतिभक्ति पढनी चाहिये ॥ ६१ ॥

स्यात्सिद्धश्रुतचारित्रयोगभक्तिचतुष्टयम् ।
शान्तिभक्तिश्च सिद्धान्तवेदिन्युत्तरयोगिनि ॥ ६२ ॥

यदि वे मुनि उत्तर गुणोंको धारण करनेवाले हों और सिद्धांतके भी जानकार हों तो सिद्धभक्ति, श्रुतभक्ति, चारित्रभक्ति, योगभक्ति और शांतिभक्ति पढनी चाहिये ॥ ६२ ॥

आचार्येषु चतुर्थेषु योगभक्तेरनन्तरम् ।
सूरिभक्तिर्भवेदष्टौ निषद्यादेहयोरिमाः ॥ ६३ ॥

आचार्यके समाधिमरण होनेपर सिद्धभक्ति, योगभक्ति, आचार्यभक्ति, शांतिभक्ति पढनी चाहिये । सिद्धांतवेत्ता आचार्यके समाधिमरण होनेपर सिद्धभक्ति, श्रुतभक्ति, योगभक्ति, आचार्यभक्ति और शांतिभक्ति पढनी चाहिये । उत्तर गुणोंको धारण करनेवाले आचार्योंके समाधिमरण होनेपर सिद्धभक्ति, चारित्रभक्ति, योगभक्ति, आचार्यभक्ति, शांतिभक्ति पढनी चाहिये । उत्तर गुणोंको धारण करनेवाले और सिद्धांतके जानकार आचार्योंके समाधिमरण होनेपर सिद्धभक्ति, श्रुतभक्ति योगभक्ति, आचार्यभक्ति और शांतिभक्ति पढनी चाहिये । मुनि और आचार्यके समाधिमरणमें पढी जानेवाली भक्तियां उनके शरीर और निषद्यास्थानकी क्रिया करते समय पढनी चाहिये । तथा वंदनाके समय भी पढनी चाहिये ॥ ६३ ॥

सिद्धश्रुतयोर्भक्ती श्रुतपंचम्यां तु वाचना ।
स्वाध्यायः शान्तिभक्त्यन्तमस्य निष्ठापनं ततः ॥ ६४ ॥

श्रुतपंचमीके दिन सिद्धभक्ति और श्रुतभक्ति करनी चाहिये । फिर श्रुतस्कंधकी स्थापना करनी चाहिये तदनंतर बृहत् वाचना स्वीकार करनी चाहिये । श्रुतभक्ति आचार्यभक्ति पढकर स्वाध्याय करना चाहिये । श्रुतभक्ति पढकर स्वाध्याय पूर्ण करना चाहिये । अंतमें शांतिभक्ति पढकर श्रुत पंचमीकी क्रिया पूर्ण करनी चाहिये ॥ ६४ ॥

एतत्संन्यासप्रारंभे शांतिभक्तिर्न हीह तु ।
श्रुतपंचमीक्रिया स्यादस्य निष्ठापने पुनः ॥ ६५ ॥
महत्यो भक्तयः स्वाध्यायेषु संन्यासगे मुनौ ।
योगभक्तिर्विधातव्या योगग्रहणमोक्षयोः ॥ ६६ ॥ युग्मम् ।

श्रुतपंचमीके दिन जो क्रियाए की जाती हैं वे सब क्रियाए सन्यासके प्रारंभमें भी करनी चाहिये उनमेंसे केवल शांतिभक्ति छोड देनी चाहिये । जैसे श्रुतपंचमीकी क्रियामें श्रुतपचमीकी स्थापना की जाती है उसीप्रकार सन्यासकी स्थापना करनी चाहिये । सन्यासकी स्थापनाके प्रारंभमें सिद्धभक्ति, श्रुतभक्ति पढनी चाहिये । सन्यासकी स्थापनाके दूसरे दिन स्वाध्यायकी स्थापना बडी श्रुतभक्ति और बडी आचार्यभक्ति पढकर करनी चाहिये । सन्यासस्थित मुनिके स्वर्गवासके एक दिन पहले बडी श्रुतभक्ति पढकर स्वाध्यायकी समाप्ति करनी चाहिये । उन मुनिके स्वर्गवासके बाद शांतिभक्ति पढनी चाहिये । (जिसने स्वाध्याय प्रारंभ किया है उसको वहीं सोना चाहिये) योगभक्ति पढकर रात्रियोग धारण करना चाहिये तथा योगभक्ति पढकर ही रात्रियोगका त्याग करना चाहिये ॥ ६५–६६ ॥

सिद्धप्रतिक्रमणनिष्ठितकरणभक्तयः ।
चतुर्विंशतितीर्थेशभक्तिश्च नियमे यतेः ॥ ६७ ॥

सिद्धभक्ति, प्रतिक्रमण, वीरस्तुति और चतुर्विंशति तीर्थंकरभक्ति ये भक्तियां मुनियोंके नियममें

ही आजाती हैं अर्थात् प्रतिक्रमणमें करनी पडती है ॥ ६७ ॥

पाक्षिकचातुर्मासिकसांवत्सरिककर्मसु ।
प्रतिक्रमणसंज्ञेषु नियमोक्तक्रियैव तु ॥ ६८ ॥
पश्चाच्चारित्रभक्तिः स्यात्सिद्धभक्तेः क्रियान्तगाः ।
चारित्रबृहदालोचनाध्वाचार्यत्रिभक्तयः ॥ ६९ ॥
चारित्रबृहदालोचगुरुभक्तिद्वयं विना ।
शेषाः शेषेषु कर्त्तव्याः स्युः प्रतिक्रमणेषु ताः ॥ ६९ ॥

पाक्षिक प्रतिक्रमण, चातुर्मासिक प्रतिक्रमण और सांवत्सरिक प्रतिक्रमणमें प्रतिदिनके नियममें कही हुई क्रियाए करनी चाहिये । तदनंतर सिद्धभक्तिके अनंतर चारित्रभक्ति, चारित्रकी बडी आलोचना, और लघु आचार्यभक्ति पढनी चाहिये । अभिप्राय यह है कि पाक्षिक, चातुर्मासिक और वार्षिक प्रतिक्रमणोंमें सिद्धभक्ति, चारित्रभक्ति, प्रतिक्रमण, वीरस्तुति, चतुर्विंशति तीर्थंकरभक्ति, चारित्रालोचना, गुरुभक्ति, बृहदालोचना, गुरुभक्ति, लघु आचार्यभक्ति करनी चाहिये । पाक्षिक, चातुर्मासिक और वार्षिक प्रतिक्रमणोंको छोडकर शेष प्रतिक्रमणोंमें चारित्रकी बडी आलोचना और गुरुभक्तिको छोडकर शेष सब भक्तियां पढनी चाहिये ॥ ६८–७० ॥

प्राक् सिद्धयोगभक्ती स्तो दीक्षाग्रहणलुंचने ।
तल्लुंचनावसाने तु सिद्धभक्तिर्विधीयते ॥ ७१ ॥

दीक्षा ग्रहण करते समय और लोच करते समय सिद्धभक्ति और योगभक्ति पढनी चाहिये । दीक्षाके अंतमें तथा केशलोचके अंतमें सिद्धभक्ति पढनी चाहिये ॥ ७१ ॥

स्तः सिद्धयोगभक्ती द्वे प्रत्याख्याने तदन्तगा ।
सूरिभक्तिर्भवेत्सिद्धभक्तिर्निष्ठापनेऽस्य तु ॥ ७२ ॥

आचार्यके समीप प्रत्याख्यान करना हो अर्थात् आहारके बाद उपवासकी प्रतिज्ञा लेनी हो तो सिद्धभक्ति और योगभक्ति पढकर लेनी चाहिये। साथमें आचार्यभक्ति पढकर उनकी वंदना भी करनी चाहिये। तथा सिद्धभक्ति पढकर उसको पूर्ण करना चाहिये। अर्थात् आचार्यसे चर्याकी आज्ञा लेते समय सिद्धभक्ति पढनी चाहिये। इसीको प्रत्याख्यानका त्याग कहते हैं ॥ ७२ ॥

ताः स्युर्मंगलगोचारप्रत्याख्याने तु भक्तयः।
महत्यः शान्तिभक्तिश्च सूरिभक्तेरनन्तरम् ॥ ७३ ॥

मंगलगोचर प्रत्याख्यानमें ऊपर लिखी भक्ति करनी पडती है अतर केवल इतना है कि आचार्यभक्तिके बाद बडी शांतिभक्ति करनी चाहिये। अर्थात् महासिद्धभक्ति और महायोगभक्ति पढकर प्रत्याख्यान ग्रहण करना चाहिये फिर महाआचार्य और महाशांतिभक्ति करनी चाहिये ॥ ७३ ॥

श्रुतसूरिभक्तिपूर्वं स्वाध्यायं प्रविधाय तु।
निष्ठापयेदमुं काले श्रुतभक्त्या यथोदिते ॥ ७४ ॥

श्रुतभक्ति और आचार्यभक्ति पढकर स्वाध्यायका प्रारंभ करना चाहिये और श्रुतभक्ति पढकर स्वाध्यायकी समाप्ति करनी चाहिये ॥ ७४ ॥

भवेन्मंगलगोचारमध्यान्हे स्नपनस्तवः।
सवर्षाकालयोगस्याऽदाननिष्ठापनेऽपि तु ॥ ७५ ॥
योगभक्तिर्भवेदत्र सिद्धभक्तेरनन्तरम्।
सिद्धान्तवाचनायाः श्रुतपंचम्याः क्रियोदिताः ॥ ७६ ॥ युग्मम्।

वर्षाकालके प्रारंभमें और अंतमें जो क्रिया की जाती है उसको "मंगलगोचर" कहते हैं। जेसे मंगलगोचर प्रत्याख्यान वा मंगलगोचर अभिषेक। वर्षाकालके योगके प्रारंभमे और अंतमें अभिषेक और वंदना की जाती है उस समय सिद्धभक्ति और योगभक्ति पढनी चाहिये। जो क्रियाएं

श्रुतपंचमीके दिन बतलाई हैं वे सब क्रियाएं सिद्धांतकी वाचनामें करनी चाहिये ॥ ७५-७६ ॥

सिद्धान्तार्थाधिकाराणामादावन्ते च भक्तयः ।
तिस्रः सिद्धश्रुताऽऽचार्यसंश्रिताः परिकीर्त्तिताः ॥ ७७ ॥

सिद्धांतशास्त्रोंके स्वाध्यायमें किसी अधिकारके प्रारंभ होते समय अथवा अंत होते समय सिद्धभक्ति, श्रुतभक्ति और आचार्यभक्तिके साथ २ तीन भक्तियां बतलाई हैं ॥ ७७ ॥

कुर्याद् व्युत्सर्गमेकैकं समाप्तौ भक्तिपूर्वकम् ।
सिद्धान्तार्थाधिकाराणां विद्याविद्याफलाप्तये ॥ ७८ ॥

विद्या और विद्याके फलको प्राप्त करनेके लिए सिद्धांतशास्त्रोंके अधिकार समाप्त होते समय भक्तिपूर्वक एक २ कायोत्सर्ग करना चाहिये ॥ ७८ ॥

आगे आचार्यपद ग्रहण करते समय क्या करना चाहिये सो कहते हैं ।

ज्ञानविज्ञानसंपन्नः स्थविरः प्रश्रयाश्रयः ।
गुरूणां सन्निधौ सिद्धसूरिभक्ती विधाय तु ॥ ७९ ॥
गुर्वाज्ञया समादाय गणेशपदवीं ततः ।
शांतिभक्तिं यतिः कुर्याद्गुर्वादीनामपि स्तवम् ॥ ८० ॥ युग्मम् ।

जो मुनि ज्ञान और विज्ञान दोनोंसे सुशोभित हैं, जो स्थविर वा वृद्ध हैं, और जो अत्यंत विनयवान् हैं ऐसे मुनिको आचार्यपद दिया जाता है । सबसे पहले वे मुनि आचार्य वा गुरुके समीप बैठकर सिद्धभक्ति तथा आचार्यभक्ति करते हैं । फिर गुरुकी आज्ञासे आचार्यपदको स्वीकार करते हैं (गुरु समस्त संघके सन्मुख उनसे कहते हैं कि " आजसे तुम प्रायश्चित्तशास्त्रका अध्ययन और दीक्षा देने आदिका आचार्यपदका कार्य कर सकते हो आजसे तुम्हें ये कार्य करने चाहिये " इसप्रकार कहकर वे गुरु उनको पीछी समर्पण करते हैं वे साधु उस पीछीको सादर

स्वीकार करते हैं इसीको आचार्यपदका ग्रहण कहते हैं। यह कार्य किसी शुभ मुहूर्तमें किया जाता है।) तदनंतर वे नवीन आचार्य शांतिभक्ति करते हैं और गुरुओंकी स्तुति करते हैं।

आगे कायोत्सर्गकी विधि कहते हैं।

ऋज्वंगस्थाने व्युत्सर्गे लीलाऽऽलंबितदोर्युगे।
समांगुलीचतुष्कान्तरस्थपादेऽप्यकंपिते ॥ ८१ ॥
कुड्याश्रितं लतावक्रं स्तंभावष्टंभकुंचिते।
स्तनेक्षाकाकदृक्शीर्षकंपितं युगकन्धरम् ॥ ८२ ॥
भ्रूक्षेपोत्तारितोन्मत्तापिशाचाष्टदिशेक्षणम्।
ग्रीवाऽवनमनं मूकसंज्ञा चांगुलिचालनम् ॥ ८३ ॥
निष्ठीवनं खलिनितं शवरीगुह्यगूहनम्।
कपित्थमुष्टिग्रीवोन्नमनं शृंखलिताव्हयम् ॥ ८४ ॥
मालिकोद्वहनं स्वांगस्पर्शनं घोटकांघ्रि च।
स्थानं द्वात्रिंशादित्येते त्याज्या दोषास्तथा परे ॥ ८५ ॥ पंचकम् ॥

कायोत्सर्ग करते समय शरीरके स्थान सब सरल होने चाहिये। दोनों भुजाएं लीलापूर्वक नीचेकी ओर लटकती हुई रहनी चाहिये। पैरोंकी उंगलियां सब समान रहनी चाहिये। ऊंची नीची न हों दोनों पैरोंमें चार अंगुलका अंतर होना चाहिये तथा दोनों पैर निश्चल होने चाहिये। इसप्रकार कायोत्सर्ग किया जाता है। वह कायोत्सर्ग बत्तीस दोषोंको टालकर किया जाता है।

आगे उन्हीं दोषोंके नाम गिनाते हैं—

१. किसी दीवालके सहारे खडा होना कुड्याश्रित नामका दोष है। २. वायुके द्वारा हिलती

हुई लताके समान शरीरको हिलाते रहना लतावक्र नामका दोष है। ३. किसी खंभेके सहारे खडे होना अथवा खंभेके समान खडे होना स्तभावष्टंभ नामका दोष है। ४. शरीरके अवयवोंको संकोच कर खडे होना कुंचित नामका दोष है। ५. अपनी छातीको आगे निकालकर इसप्रकार खडे होना जिससे छाती दिखाई दे, इसको स्तनेक्षा दोष कहते हैं। ६. कौएके समान इधर उधर देखते रहना काकदृक् नामका दोष है। ७ शिरको हिलाते जाना शीर्षकंपित नामका दोष है। ८. जिस बैलपर जूआ रक्खा जाता है वह जिसप्रकार अपनी गर्दन आगेको लंबी कर देता है उसीप्रकार जो गर्दनको आगेकी ओर लंबी कर खडा हो तो वह युगकंधर नामका दोष है। ९ कायोत्सर्गमें भ्रकुटियोंका चल जाना भ्रूक्षेप नामका दोष है। १०. मस्तकको ऊपर उठाकर कायोत्सर्ग करना उत्तारित नामका दोष है। ११- कायोत्सर्गमें उन्मत्तके समान शरीरका घुमाते रहना उन्मत्त नामका दोष है। १२. पिशाचके समान कपते रहना पिशाचनामका दोष है। १३. पूर्व दिशाकी ओर देखना, १४. आग्नेय दिशाकी ओर देखना। १५. दक्षिण दिशाकी ओर देखना, १६. नैऋत दिशाकी ओर देखना १७. पश्चिम दिशाकी ओर देखना, १८. वायव्य दिशाकी ओर देखना १९. उत्तर दिशाकी ओर देखना, २०. ईशान दिशाकी ओर देखना, इसप्रकार आठों दिशाओंके ओर देखना आठ दोष कहे जाते हैं। २१ गर्दनको नीचा कर खडे होना ग्रीवावमन नामका दोष है, २२. गूंगे मनुष्यके समान मुख और नासिकाके विकारोंसे इशारा करना मूकसंज्ञा नामका दोष है, २३. उंगलियोंके द्वारा गिनना अंगुलिचालननामका दोष है, २४. थूकना निष्ठीवननामका दोष है, २५. लगाम लगाये हुए घोडेके समान दांतोंको घिसना शिरको हिलाना आदिको खलीनित दोष कहते हैं, २६. भीलिनीके समान हाथोंसे गुह्य स्थानोंको ढककर खडे होना शवरीगुह्यगूहन नामका दोष है,

१- अन्य ग्रंथोंमें दिशाओंके अवलोकनको एक ही दोष माना है तथा उसके बदले वयोपेक्षा अधिक आयु हो जानेसे कायोत्सर्ग न करना, कालापेक्षा, कालकी संकीर्णतासे कायोत्सर्ग न करना, व्याक्षेपासन—मूढता लोभाकुलित पापकर्मार्जित आदि दोष माने हैं।

॥२४८॥

स्वीकार करते हैं इसीको आचार्यपदका ग्रहण कहते हैं । यह कार्य किसी शुभ मुहूर्तमें किया जाता है ।) तदनंतर वे नवीन आचार्य शांतिभक्ति करते हैं और गुरुओंकी स्तुति करते हैं ।

आगे कायोत्सर्गकी विधि कहते हैं ।

ऋज्वंगस्थाने व्युत्सर्गे लीलाऽऽलंबितदोर्युगे ।
समांगुलीचतुष्कान्तरस्थपादेऽप्यकंपिते ॥ ८१ ॥
कुड्याश्रितं लतावक्रं स्तंभावष्टंभकुंचिते ।
स्तनेक्षकाकदृक्शीर्षकंपितं युगकन्धरम् ॥ ८२ ॥
भ्रूक्षेपोत्तरितोन्मत्तापिशाचाष्टदिशेक्षणम् ।
ग्रीवाऽवनमनं मूकसंज्ञा चांगुलिचालनम् ॥ ८३ ॥
निष्ठीवनं खलिनितं शबरीगुह्यगूहनम् ।
कपित्थमुष्टिग्रीवोन्नमनं शृंखलिताव्हयम् ॥ ८४ ॥
मालिकोद्वहनं स्वांगस्पर्शनं घोटकांघ्रि च ।
स्थानं द्वात्रिंशदित्येते त्याज्या दोषास्तथा परे ॥ ८५ ॥ पंचकम् ॥

कायोत्सर्ग करते समय शरीरके स्थान सब सरल होने चाहिये । दोनों भुजाएं लीलापूर्वक नीचेकी ओर लटकती हुई रहनी चाहिये । पैरोंकी उंगलियां सब समान रहनी चाहिये । ऊंची नीची न हों दोनों पैरोंमें चार अंगुलका अंतर होना चाहिये तथा दोनों पैर निश्चल होने चाहिये । इसप्रकार कायोत्सर्ग किया जाता है । वह कायोत्सर्ग बत्तीस दोषोंको टालकर किया जाता है ।

आगे उन्हीं दोषोंके नाम गिनाते हैं—

१. किसी दीवालके सहारे खडा होना कुड्याश्रित नामका दोष है । २. वायुके द्वारा हिलती

हुई लताके समान शरीरको हिलाते रहना लतावक्र नामका दोष है । ३. किसी खभेके सहारे खडे होना अथवा खंभेके समान खडे होना स्तंभावष्टंभ नामका दोष है । ४. शरीरके अवयवोंको संकोच कर खडे होना कुंचित नामका दोष है । ५. अपनी छातीको आगे निकालकर इसप्रकार खडे होना जिसमे छाती दिखाई दे, इसको स्तनेक्षा दोप कहते है । ६. कौएके समान इधर उधर देखते रहना काकदृक् नामका दोष है । ७ शिरको हिलाते जाना शीर्षकंपित नामका दोष है । ८. जिस बैलपर जूआ रक्खा जाता है वह जिसप्रकार अपनी गर्दन आगेको लंबी कर देता है उसीप्रकार जो गर्दनको आगेकी ओर लंबी कर खडा हो तो वह युगकधर नामका दोष है । ९. कायोत्सर्गमें भ्रकुटियोंका चल जाना भ्रूक्षेप नामका दोष है । १०. मस्तकको ऊपर उठाकर कायोत्सर्ग करना उत्तारित नामका दोप है । ११- कायोत्सर्गमें उन्मत्तके समान शरीरका घुमाते रहना उन्मत्त नामका दोष है । १२. पिशाचके समान कपते रहना पिशाचनामका दोष है । १३. पूर्व दिशाकी ओर देखना, १४. आग्नेय दिशाकी ओर देखना । १५. दक्षिण दिशाकी ओर देखना, १६.नैऋत दिशाकी ओर देखना १७. पश्चिम दिशाकी ओर देखना, १८. वायव्य दिशाकी ओर देखना १९. उत्तर दिशाकी ओर देखना, २०. ईशान दिशाकी ओर देखना, इसप्रकार आठों दिशाओंके ओर देखना आठ दोप कहे जाते हैं । २१ गर्दनको नीचा कर खडे होना ग्रीवाधमन नामका दोष है, २२. गूंगे मनुष्यके समान मुख और नासिकाके विकारोंसे इशारा करना मूकसंज्ञा नामका दोप है, २३. उंगलियोंके द्वारा गिनना अंगुलिचालननामका दोप है, २४. थूकना निष्ठीवननामका दोष है, २५. लगाम लगाये हुए घोडेके समान दातोंको घिसना शिरको हिलाना आदिको खलीनित दोष कहते हैं, २६. भीलिनीके समान हाथोंसे गुह्य स्थानोंको ढककर खडे होना शवरीगुह्यगूहन नामका दोष है,

१- अन्य ग्रथोंमें दिशाओंके अवलोकनको एक ही दोष माना है तथा उसके बदले वयोपेक्षा अधिक आयु हो जानेसे कायोत्सर्ग न करना, कालापेक्षा, कालकी संकीर्णतामे कायोत्सर्ग न करना, व्याक्षेपासन—मूढता लोभाकुलित पापकर्मार्जित आदि दोष माने है ।

॥२४८॥

२७. कैथके समान मुट्ठियोंको बांधकर खडे होना कपित्थमुष्टि नामका दोष है, २८. गर्दनको ऊंची कर खडे होना ग्रीवोन्नमन नामका दोष है, २९. अपने पैरोंको सांकलसे बंधे हुएके समान करके खडे होना शृंखलित नामका दोष है, ३०. मस्तकको किसी रस्सी वा माला आदिके सहारे रखकर खडा होना मालिकोद्वहन नामका दोष है, ३१. इधर उधरसे शरीरका स्पर्श करना स्वांग-स्पर्शन नामका दोष है, ३२, घोडेके समान एक पैरको ऊंचा कर खडे होना घोटकांघ्रि नामका दोष है। कायोत्सर्गके ये बत्तीस दोष हैं। तथा इनके सिवाय और भी जो दोष हैं उनको छोडकर कायोत्सर्ग करना चाहिये ॥ ८१-८५ ॥

आगे पल्यंकासनका स्वरूप बतलाते हैं।

वामान्तर्गुल्केऽवामस्य गुल्फो वाह्यः स्थितस्तयोः।
पादयोरूरुमूलस्थं पल्यंके पार्ष्णियुग्मकम् ॥ ८६ ॥
गुल्फस्थोत्तानवामस्योत्तानावामकरः समः।
पल्यंकेऽत्रासने स्याच्चेत्कायोत्सर्गः सुसौष्ठवः ॥ ८७ ॥

कायोत्सर्गमें दो आसन होते हैं- एक खड्गासन और दूसरा पद्मासन। खड्गासनका लक्षण पहले कह चुके है। पद्मासनका लक्षण यह है— एडीके बगलमें जो उठी हुई हड्डी है उसको गुल्फ कहते हैं। और एडीके पिछलभागको पार्ष्णि कहते हैं। प्रत्येक पैरमें दो गुल्फ होते हैं- एक भीतरकी ओर जिसको अंतर्गुल्फ कहते हैं और एक बाहरकी ओर जिसको बाह्यगुल्फ कहते हैं। दोनों पैरोंके गुल्फोंमेंसे बायें पैरका भीतरी गुल्फ तथा दायें पैरका भीतरी गुल्फ अर्थात् दोनों पैरोंके दोनों भीतरी अंतर्गुल्फ जिसमें बाहर निकले हुए दिखाई दे रहे हैं तथा दोनों पैरोंकी दोनों पार्ष्णि वा एडी जघाके मूल भागमें लगी हुई हैं और जिसकी हथेली ऊपरकी ओर है ऐसा बांया हाथ गुल्फोंके ऊपर रक्खा हुआ है तथा उस बांये हाथके ऊपर दायां हाथ भी उसीप्रकार ऊपरकी

ओर हथेली किये हुए रक्खा हुआ है । इसप्रकार बैठनेसे जो आसन बनता है उसको पल्यंकासन कहते हैं । ऐसे पल्यंकासनसे यह कायोत्सर्ग बहुत अच्छी तरहसे होता है ॥ ८६-८७ ॥

त्रिशुद्धो द्वादशावर्त्ते द्विनिषण्णे चतुर्नतो ।
बद्धांजुलो त्यजेद्दोषान् कृतिकर्मव्रजेऽप्यमून् ॥ ८८ ॥

वंदना करनेवालेको मन, वचन, काय तीनों शुद्ध रखना चाहिये, बारह आवर्त करने चाहिये, आदि अतमें दो बार बैठकर नमस्कार करना चाहिये, चारों दिशाओंमें चार नमस्कार करने चाहिये । तथा दोनों हाथ जोडकर वदनाके बत्तीस दोषोंसे रहित होकर वंदना करनी चाहिये ॥ ८८ ॥

आगे वंदनाके बत्तीस दोषोंको कहते हैं ।

स्तब्धः प्रविष्टोऽनालब्धमालब्धं परिपीडितम् ।
दोलायितं मनोदुष्टं मत्स्योद्वर्त्तनभेषितम् ॥ ८९ ॥
हीनाधिकर्द्धिगौरवशोपगौरवघर्घरम् ।
भेष्यत्वं स्तानितं मूकमुन्मस्तकमनाद्रुतम् ॥ ९० ॥
तर्जितं शब्दितं संघकरमोचितं कुंचितम् ।
वेदिकाबद्धक्रोधादिशल्याचार्यादिदर्शनम् ॥ ९१ ॥
प्रत्यनीकं सुललिताद्दष्टे कच्छपरिंगितम् ।
हेलितं त्रिवलितं चेति द्वात्रिंशदमी मताः ॥ ९२ ॥ चतुष्कम् ।

१. किसी मदसे उन्मत्त होजाना स्तब्ध नामका दोष है, २. अरहंतादिकके अत्यंत निकट होकर वंदना करना प्रविष्ट नामका दोष है, ३- उपकरणोंकी आशा रखते हुए आवश्यक करना

॥२५०॥

अनालब्ध नामका दोष है, ४. उपकरणोंके प्राप्त होनेपर आवश्यक करना आलब्ध नामका दोष है, ५. वदना करते समय जंघाओंपर हाथ फेरते जाना परपीडित नामका दोष है, ६. झूलाके समान शरीरको आगे पीछे हिलाते जाना दोलायित नामका दोष है, ७. अपने मनमें आचार्यादिके ऊपर आक्षेप करना मनोदुष्ट नामका दोष है, ८. मछलीके समान कमरको निकालकर वंदनाके लिये बैठना मत्स्योद्वर्तन नामका दोष है, ९. किसी डरसे डरकर वदना करना भेपित नामका दोष है, १०. मात्रासे कम क्रिया करना हीन दोष है, ११. मात्रासे अधिक क्रिया करना अधिक दोष है, १२. ऋपि, मुनि, यति, अनगार चारों प्रकारके मुनियोंका समुदाय मेरा भक्त हो जायगा ऐसा भाव रखकर वदना करना ऋद्धिगौरव दोष है, १३. अपने माहात्म्यकी इच्छा रखकर वा भोजन उपकरण आदिकी इच्छा रखकर वंदना करना गौरव दोष है; १४. अपने शब्दसे दूसरोंके शब्दोंको आच्छादित करना घर्घर नामका दोष है, १५. गुरु आदिसे डरकर वदना करना भेष्यत्व नामका दोष है, १६. गुरु आदिसे छिपाकर वंदना करना स्तेनित नामका दोष है, १७. इशारे करना अथवा वदनाके पाठको मुखके भीतर ही बोलना जिससे सुनाई न पडे वह मूक दोष है, १८. मस्तकको ऊंचा नीचा करना उन्मस्तक नामका दोष है, १९. आदररहित क्रियाएं करना अनादृत दोष है, २०. अपनी तर्जनी उंगली उठाकर शिष्योंको भय उत्पन्न करते हुए वदना करना तर्जित दोष है, २१. वातचीत करते हुए वंदना करना शब्दित दोष है, २२ मुझसे वदनादिक क्रियाएं जबर्दस्ती कराई जाती हैं इसप्रकारके भाव रखना सघकरमोचित दोष है, २३. मस्तकको हाथोंसे स्पर्श करना अथवा मस्तकको जंघाओंके मध्यमें रखना कुंचित नामका दोष है, २४. भुजाओंसे जघाओंका बांध लेना अथवा अपने स्तनोंको हाथोंसे मर्दन करना वेदिकाबद्ध दोष है, २५. दोपी पुरुषोपर क्षमा नहीं करना क्रोधादिशल्य दोष है, २६. आचार्यकी दृष्टि बचाकर वंदना करना आचार्यादिदर्शन दोष है, २७. अपनी प्रतिकूल वृत्ति रखकर गुरुकी आज्ञाका खंडण करना प्रत्यनीक दोष है, २८. गागाकर वंदनाका पाठ बोलना सुललित नामका दोष है, २९. आचार्यादिकके देखते हुए वदनादिक करना दृष्टिदोष है,

॥२५१॥

३० यदि बैठे ही बैठे आगे सरकनेकी क्रिया करता हुआ वंदना करे तो कच्छपरिंगित नामका दोष है, ३१ वंदना करते समय हँसी करना केलित दोष है, ३२ ललाटपर रेखाएं पडजाना अथवा कमर गर्दन आदिमें बल पडजाना त्रिवलित दोष है। इसप्रकार वंदनाके ये बत्तीस दोष हैं ॥८१-९२॥

आगे भगवान् अरहंत देवकी स्तुति करते हैं।

श्रीपादेंदृदयस्यासीदमरीचिकुरोऽम्बरम्।
यस्य स्याद्वादिनो विश्ववेदिनः पातु नो जिनः ॥ ९३ ॥

जो भगवान् अरहंतदेव स्याद्वाद विद्याको प्रकाशित करनेवाले हैं, तीनों लोकोंके समस्त तत्त्वोंको और उनकी समस्त पर्यायोंके जानकार हैं और जो अंतरंग बहिरंग लक्ष्मीकी किरणोंके द्वारा उदय होनेवाले अपूर्व चंद्रमा हैं। तथा जिन अपूर्व चंद्रमारूपी भगवान्का प्रकाश समस्त देवांगनाओंके केशरूपी नीले आकाशमें व्याप्त हो रहा है ऐसे वे श्री अरहंत भगवान हम लोगोंकी रक्षा करें ॥ ९३ ॥

विपक्षक्षयजानंतानंतज्ञानादिसद्गुणः।
दद्यादद्य स नः प्राज्यं वृजिनारिजयं जिनः ॥ ९४ ॥

ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अंतराय कर्मके नाश होनेसे अनंतज्ञान, अनंतदर्शन अनंतसुख और अनंतवीर्यरूप अनतचतुष्टय श्रेष्ठ गुण जिनके प्रगट हो चुके हैं ऐसे वे भगवान् जिनेंद्र देव आज हम लोगोंको पापरूपी महा शत्रुओंका विजय प्रदान करें ॥ ९४ ॥

आगे सिद्धोंकी स्तुति करते हैं।

नष्टदुष्टाष्टकर्माणस्ते पुष्टाष्टगुणर्द्धयः।
त्रिलोकीमस्तकोत्तंसाः सिद्धा नः सन्तु सिद्धिदाः ॥ ९५ ॥

जिनके ज्ञानावरणादिक आठों दुष्ट कर्म नष्ट होगये हैं तथा सम्यक्त्वादिक आठ गुणरूपी ऋद्धियोंसे जो परिपूर्ण हैं और जो तीनों लोकोंके मस्तकपर मुकुटके समान सुशोभित हैं ऐसे वे सिद्ध भगवान् हम लोगोंको सब प्रकारकी सिद्धि देनेवाले हों ॥ ९५ ॥

आगे आचार्यकी स्तुति करते हैं।

निराकृत्यान्तरं ध्वान्तं सूरिसूरः करोत्वरम् ।
सन्मानसांबुजानंदममन्दं वाक्करैर्वरैः ॥ ९६ ॥

इस ससारमें आचार्य सूर्यके समान हैं। जिसप्रकार सूर्य अंधकारको नष्ट कर अपनी किरणोंसे समस्त कमलोंको प्रफुल्लित करता है उसीप्रकार आचार्यरूपी सूर्य अपनी सर्वोत्तम वचनरूपी किरणोंसे अतरंगके पापरूप अधकारको नष्टकर श्रेष्ठ पुरुषोंके मनरूपी कमलको अत्यत आनंदित करो।

आगे उपाध्यायकी स्तुति करते हैं।

कुर्वन्नखर्वदुर्वादिमदद्विरदमर्दनम् ।
स्याद्वादाद्रावुपाध्यायासिन्धुरारिर्विजृंभताम् ॥ ९७ ॥

इस संसारमें उपाध्याय अनेक हाथियोंको नाश करनेवाले सिंहके समान है। जिसप्रकार सिंह अनेक हाथियोंके मानमर्दन कर पर्वतोंपर आनंद किया करता है उसीप्रकार उपाध्यायरूपी सिंह बडे भारी प्रतिवादियोंके मदरूपी हाथियोंको मर्दन करते हुए स्याद्वादरूपी पर्वतपर सदा काल विहार करो ॥ ९७ ॥

आगे साधुओंकी स्तुति करते हैं।

रत्नत्रयामृतांभोधिविधवः साधवः श्रियम् ।
दद्युरात्मर्द्धिनिर्धूतदुरितध्वान्तवृत्तयः ॥ ९८ ॥

जो रत्नत्रयरूपी अमृतके समुद्रको बढानेके लिये चंद्रमाके समान हैं और अपनी ऋद्धियोंसे जिन्होंने पापरूपी- अंधकारकी समस्त प्रवृत्तियोंको उडादिया है ऐसे समस्त साधुजन हम लोगोंको

॥२५३॥

मोक्षरूपी लक्ष्मी दें ॥ ९८ ॥

आगे पंचपरमेष्ठीकी स्तुति करते हैं ।

त्रिजगद्गुरवः सर्वैर्गुणैर्गुरव इत्यमी ।
गुरवः पंच नः पान्तु पापापायनिकायतः ॥ ९९ ॥

जो तीनों जगतके गुरु हैं और जो गुणोंसे भी सबके गुरु वा सबसे बडे हैं ऐसे अरहंत सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, सर्वसाधु पांचों ही परमेष्ठी समस्त पापोंके समूहको नाश कर हम लोगोंकी रक्षा करें ॥ ९९ ॥

आगे रत्नत्रयकी स्तुति करते हैं ।

लोकत्रयेशदत्तार्घ्यमप्यनर्घ्यं महोदयम् ।
रत्नत्रयं पवित्रं नः पुनातु हृदयं सदा ॥ १०० ॥

इन्द्र, नरेंद्रादिक तीनों लोकोंके स्वामी जिसके लिये अर्घ देते हैं, जो अमूल्य है, जिसका महान् उदय है और जो परमपवित्र है ऐसा रत्नत्रय मेरे हृदयको सदा पवित्र करो ॥ १०० ॥

आगे धर्मकी स्तुति करते हैं ।

स्तुत्यः स्तुतिशतैर्धर्मः शर्मदो यो गुणात्मकः ।
गुणिनः सद्गुणाश्चैते भवन्तु मम मंगलम् ॥ १०१ ॥

सैकडों स्तुतियोंसे जिसकी स्तुति की जाती है, जो सबका कल्याण करनेवाला है और अनेक गुणोंसे भरपूर है ऐसा यह धर्म हमारा सदा कल्याण करो इसीप्रकार रत्नत्रयादिक गुण तथा उन गुणोंको धारण करनेवाले ये गुणी पुरुष मेरे लिये मंगल देनेवाले हों ॥ १०१ ॥

आगे भगवान् चंद्रप्रभकी स्तुति करते हैं ।

॥२५४॥

यत्कान्तकान्तिः कुमुदं वितन्वती ।
तनोत्यलं तत्कमलोत्सवं नवम् ॥
निरस्तदोषाऽभ्युदयाक्षयश्रियं ।
क्रियात्स चंद्रप्रभदेववल्लभः ॥ १०२ ॥

जिनके शरीरकी कांति कुमुद अर्थात् पृथ्वीभरको आनदित करती है अथवा कमोदिनियोंको भी प्रफुल्लित करती है, तथा भव्यरूपी अपूर्व कमलोंको भी प्रफुलित करती है, जो समस्त इंद्रादिक देवोंके स्वामी है और जिनकी अतरग और बहिरग लक्ष्मीका उदय समस्त दोषोंको नष्ट करनेवाला है अथवा समस्त रात्रियोंको नष्ट करनेवाला है ऐसे वे श्रीचन्द्रप्रभ भगवान् हम लोगोंको मोक्षरूप अक्षय लक्ष्मीको देनेवाले हों ॥ १०२ ॥

इसप्रकार श्री वीरनदि सिद्धांतचक्रवर्तिविरचित श्रीआचारसार नामके
शास्त्रकी चावली (आगरा) निवासी, देहली प्रवासी 'धर्मरत्न'
लालारामशास्त्रीद्वारा निर्मित सरल हिंदी भाषाटीकामें
आवश्यकोंके स्वरूपको वर्णन करनेवाला यह
नौवां अधिकार समाप्त हुआ ।



॥२५५॥

॥ अथ दशमोऽधिकारः ॥

यद्वाक्यामृतमाजवंजवदवोत्तप्तात्मनामात्मनां
नानैनश्चिततापलोपनपरं श्रीशीतलः शीतलम् ।
यस्यांगस्य मरीचिमंडलमिलानंदेंदिरामन्दिरं
पायात्पार्वणशीतरश्मिरुचिरः सोऽयं जिनाधीश्वरः ॥ १ ॥

दशवां अधिकार.

जिनके वचनरूपी अमृत संसाररूपी दावानल अग्निसे तप्तायमान हुए प्राणियोंके अनेक प्रकारके पापोंके समूहसे उत्पन्न हुए संतापको दूर करनेवाले हैं और जिनके शरीरकी शीतल किरणें पृथ्वीमंडलके आनंदरूपी लक्ष्मीका मंदिर हैं ऐसे पूर्णमासीके चन्द्रमाके समान अत्यंत देदीप्यमान श्रीजिनेंद्रदेव श्रीशीतलनाथभगवान् हम लोगोंकी रक्षा करें ॥ १ ॥

आगे मुनिपदकी प्रशंसा करते हैं ।

दीक्षां पीठिकयोदितेन विधिना शिक्षां गृहीत्वा समा-
चारेणानुमतो गणेन गणिना प्राप्तश्च सत्सूरिताम् ।
षट्त्रिंशद्गुणभूषणो व्यपगतव्यापद्गणं सद्गणं
रक्षन् यः समयं नयत्यतितरां धन्यः स मान्यो मुनिः ॥ २ ॥

जिन्होंने पीठिका वा पहले अध्यायमें कही हुई विधिके अनुसार दीक्षा धारण कर ली है, तथा दूसरे अधिकारमें कही हुई समाचार नीतिके अनुसार जिन्होंने शिक्षा ग्रहण कर ली है, जिनको समस्त संघ और आचार्य मानते हैं, जिन्होंने श्रेष्ठ आचार्यपद धारण किया है, जो आचार्यके

॥२५६॥

छत्तीस गुणोंसे सुशोभित है, जिनकी आपत्तियोंका समस्त समूह नष्ट होगया है और समस्त संघकी रक्षा करनेमें तत्पर हैं। इसप्रकार जो आचार्य अपना दीर्घ काल व्यतीत करते हैं वे आचार्य समस्त संसारमें माननीय होते हुए धन्य गिने जाते हैं ॥ २ ॥

आगे ऐसे मुनियोंको क्या करना चाहिये सो कहते हैं।

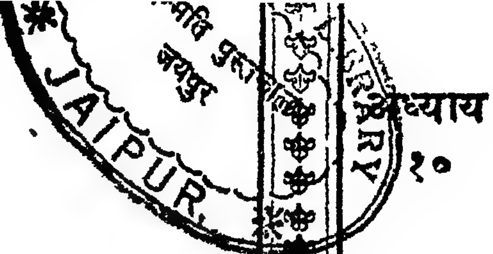
ज्योतिःशास्त्रविनूतजातकमतान्नानानिमित्तक्षणात्
प्रश्नाच्चायचयग्रहावलिवलक्षीणत्वसंप्रेक्षणात्।
प्रश्नस्याक्षरलक्षणेक्षणवशात्कालागमात्स्वायुषो
मानं द्वादशवर्षसंमितमतो हीनं च निश्चित्य सः ॥ ३ ॥
पश्चाच्चारुतरात्मसंस्करणधीर्द्धीरो मुमुक्षुर्गणी
प्रीत्या पालितमात्मनात्मनि महास्नेहानुबंधे महत्।
वृन्दं तुन्दिलबालरोगिसुतपःशैक्षादिभिक्ष्वन्वितं
प्रारोप्यात्मभरं वरं गणधरे सद्वृत्तलक्ष्मीधरे ॥ ४ ॥
रक्षादक्षतमं गणस्य गणिनं सर्वं गणं चादरा-
दाहूय प्रियवाक्चयामृतरसासारेण चेतोगतम्।
तापं तस्य निरस्य दुस्तरतरं जातं वियोगाद्गुरोः
स्वस्यातो नियतं विहारमपरं कुर्वन्मुनीन्द्रोत्तमः ॥ ५ ॥ त्रिकम्।

ऐसे मुनिराजको किसी ज्योतिःशास्त्रसे वा विनूत नामके जातक शास्त्रसे, वा अनेक प्रकारके निमित्तशास्त्रोंसे, वा अनेक प्रकारके प्रश्नोंसे, अपने ग्रहोंके अपचय होनेसे वा ग्रहोंके बलका

॥२५७॥

क्षीण होनेसे, प्रश्नोंके अक्षरोंके लक्षणको देखकर, कालशास्त्रको देखकर अथवा और किसी भी प्रकारसे अपनी आयुका निश्चय करना चाहिये तथा आयुके विषयमें यह निश्चय कर लेना चाहिये कि मेरी आयु बारह वर्ष प्रमाण रह गई है अथवा उससे कम रहगई है। ऐसा निश्चय उन मुनिराजको कर लेना चाहिये। तदनतर अपने सर्वोत्तम संस्कार करनेमें (समाधिमरण धारण करनेमें वा मोक्ष प्राप्त करनेमें) जिनकी बुद्धि लग रही है, जो अत्यंत धीरवीर हैं, मोक्ष प्राप्त करनेकी इच्छा जिनको लग रही है और जो सबके नायक हैं ऐसे उन आचार्यको उचित है कि वे जिसमें बडा भारी समुदाय है, जो पूज्य है, जिसमें कितने ही मुनि थोडी आयुवाले बालक हैं, कितने ही मुनि रोगी हैं, कितने मुनि जलोदर आदि ऐसे रोगोंसे पीडित हैं, जिनके उदर बढ रहे हैं, कोई महा तपस्वी हैं, कोई पढने योग्य हैं ऐसे उन मुनियोंके सघको तथा बडे भारी स्नेहके कारणभूत अपने आत्मामें अपने ही आत्माके द्वारा बडे प्रेमपूर्वक जिसका पालन किया है, जिसमें उन सबकी रक्षाका ध्यान रक्खा जाता है, सबके द्वारा सम्यक्चारित्रके पालन करानेका ध्यान रक्खा जाता है ऐसे उस आचार्यपनेके सर्वोत्तम समस्त भारको किसी ऐसे नवीन आचार्यको सौंप देना चाहिये। जो श्रेष्ठ चारित्ररूपी लक्ष्मीको धारण करनेवाले हों। तदनतर उन पहले आचार्यको उचित है कि वे उस संघकी रक्षा करनेमें अत्यत चतुर ऐसे उन नवीन आचार्यको आदरपूर्वक बुलावें, तथा साथमें उस समस्त सघको भी आदरपूर्वक बुलावें। फिर प्रिय वचनोंके समूहरूपी अमृतके रसकी वर्षासे अर्थात् सुमधुर उपदेश देकर उस नवीन आचार्यके हृदयमें वा समस्त सघके हृदयमें प्राप्त हुए पापोंको दूर करें अथवा गुरुके वियोगसे उत्पन्न हुई कलुषताको दूर करें। इतना सब काम करलेनेके बाद उन उत्तम मुनिराजको अपना दूसरा अनियत विहार करना चाहिये। नियत विहारमें ठहरनेका स्थान निश्चित रहता है परंतु अनियत विहारमें ठहरनेका स्थान कोई निश्चित नहीं रहता ॥ ३-५ ॥

आगे अनियत विहार करनेसे क्या लाभ होता है सो कहते हैं।



प्रेक्ष्यन्ते बहुदेशसंश्रयवशात्संवेगिताद्यात्म-
स्तीर्थाधीश्वरकेवलोद्गममहीनिर्वाणभूम्यादयः ।
स्थैर्यं धैर्यविरागतादिषु गुणेष्वाचार्यवर्येक्षणा-
द्विद्यावित्तसमागमादधिगमो नूत्नार्थसार्थस्य च ॥ ६ ॥

अनियत विहार करनेमें अनेक देशोंका आश्रय लेना पडता है जिससे संवेग, वैराग्य आदि गुणोंको धारण करनेवाले अनेक आप्तजनोंके- पूज्य पुरुषोंके दर्शन होते हैं, तीर्थंकरोंको जहां जहां केवलज्ञान प्रगट हुआ है अथवा जहां जहां निर्वाण प्राप्त हुआ है उन समस्त तीर्थक्षेत्रोंके दर्शन प्राप्त होते हैं । अनेक उत्तमोत्तम आचार्योंके दर्शन करनेसे धीरता, वैराग्य आदि उत्तम गुणोंमें स्थिरता प्राप्त होती है और विद्यारूपी धनकी प्राप्ति होती है । तथा विद्यारूपी धनकी प्राप्ति होनेसे निश्चित अर्थोंके समूहका ज्ञान होता है । ये सब लाभ अनियत विहार करनेसे होते हैं ।

सद्रूपं बहुसूरिभाक्तिकयुतं क्षामादिदोषोज्झितं
क्षेत्रं पात्रमपीक्ष्यते तनुपरित्यागस्य निःसंगता ।
सर्वस्मिन्नपि चेतनेतरबहिःसंगे स्वशिष्यादिके
गर्वस्यापचयः परीषहजयः सल्लेखना चोत्तमा ॥ ७ ॥

तदनंतर उन मुनिराजको सल्लेखना धारण करनेके लिये ऐसा क्षेत्र देखना चाहिये जहांपर राजा उत्तम धार्मिक हो, जहांके लोग सब आचार्यादिकोंकी बहुत भक्ति करनेवाले हों, तथा जहां-पर निर्धन और दरिद्र प्रजा न हो । इसीप्रकार पात्र ऐसे देखने चाहिये जिनके शरीरके त्याग करनेमें भी निर्मोहपना हो, चेतन वा अचेतन आदि समस्त बाह्य परिग्रहोंसे भी निर्मोहपना हो तथा अपने शिष्यादिकोंमें भी अभिमान न हो और जो परिषहोंको अच्छीतरह जीतनेवाले हों ऐसे क्षेत्र और पात्रोंको अच्छीतरह देखकर सल्लेखना धारण करनी चाहिये ॥ ७ ॥

आगे सलेखनाके बारह वर्ष किस प्रकार व्यतीत करने चाहिये सो कहते हैं।

सम्यकायकषायकार्श्यकरणं सल्लेखनाद्या वरै-
र्योगैर्वर्षचतुष्टयं रसपरित्यागैस्तथाब्दद्वयम्।
सौवीरान्नरसोज्झनैराभिषवान्नेनाब्दमेतद्दलं
बाह्यैर्मन्दतपोभिरुग्रनियमैरब्दार्धमंगार्दनम् ॥ ८ ॥

अच्छीतरह काय और कपायको कृश करना घटाना सल्लेखना है इसको बाह्य सल्लेखना कहते हैं। इसके धारण करनेका उपाय यह है कि चार वर्ष तो श्रेष्ठ योग धारण कर अर्थात् उग्रोग्र तप और नियम धारण करते हुय व्यतीत करना चाहिये। चार वर्ष रसोंका त्याग करते हुए पूर्ण करना चाहिये। दो वर्ष सौवीर अन्न अर्थात् कांजी आदि अन्न मात्रका त्याग कर व्यतीत करना चाहिये। एक वर्ष दूध छाछ आदि पतले पौष्टिक पदार्थोंको ग्रहण करते हुय व्यतीत करना चाहिये। फिर छह महिने मदमंद रीतिसे उपवास आदि बाह्य तपश्चरण-कर पूर्ण करने चाहिये। और फिर शेपके छह महीने (मरणसमयके छह महीने) कठिन नियमोंको धारण कर व्यतीत करने चाहिये ॥ ८ ॥

कालं कायबलं च देशमशनं पानं प्रकृत्यादिकं
ज्ञात्वा पित्तकफानिलैर्निजगतेर्न स्याद्यथा विक्रिया।
कर्तव्या विदुषा तथोक्तविधिभिर्बाह्यैस्तपः प्रक्रमै-
राचार्योऽनुमतैः समाधिफलदैरेषांगसल्लेखना ॥ ९ ॥

तदनंतर वर्षाऋतु, ग्रीष्मऋतु, वा शीतऋतु आदि कालको अच्छीतरह देखकर, अपने शरी-रके बलको अच्छीतरह देखकर, देशको देखकर, भोजन पान आदिकी सामग्रीको देखकर, और अपनी वात, पित्त, कफ जनित प्रकृतिको देखकर, तथा वात, पित्त, कफ आदिके दोपोंसे अपनी

वुद्धका किसी प्रकारका विकार प्राप्त न हो इस रीतिसे शास्त्रोंमें लिखी हुई विधिके अनुसार ध्यानरूपी उत्तम फलको देनेवाले और आचार्योंको मान्य ऐसे बाह्य तपश्चरणोंको धारण कर उन विद्वान् मुनियोंको सल्लेखना धारण करनी चाहिये। इस सल्लेखनाको अंग सल्लेखना अथवा शरीरको कृश करना कहते हैं ॥ ९ ॥

आगे कषाय सल्लेखनाका स्वरूप कहते हैं।

सद्ध्यानप्रकरैः कषायविषया सल्लेखना श्रेयसी
स्वेष्टानिष्टवियोगयोगयुगजे बाधानिदानोद्भवे।
इत्यार्त्तस्य चतुर्विधस्य विजयो हिंसामृषास्तेयसं-
रक्षानन्दविभेदतोऽशुभकृतो ध्यानस्य रौद्रस्य च ॥ १० ॥

कषायोंको कृश करना कषायोंको कम करना कषाय सल्लेखना है। वह उत्तम सल्लेखना उत्तम ध्यानके समूहसे होती है अर्थात् श्रेष्ठ ध्यान धारण करनेसे कषायें नष्ट होती है। कषायोंको नष्ट करनेका सबसे अच्छा उपाय आर्तध्यानके और रौद्रध्यानका जीतना है। आर्तध्यानके चार भेद हैं इष्ट पदार्थोंके वियोगसे उत्पन्न होनेवाला पहला आर्तध्यान है, अनिष्ट पदार्थोंके संयोगसे उत्पन्न होनेवाला दूसरा आर्तध्यान हैं। रोग वा पीडासे उत्पन्न होनेवाला तीसरा आर्तध्यान है और निदानसे उत्पन्न होनेवाला चौथा आर्तध्यान है। इसीप्रकार रौद्रध्यानके चार भेद हैं। हिंसामें आनंद मानना पहला रौद्रध्यान है झूठ बोलनेमें आनंद मानना दूसरा रौद्रध्यान है चोरीमें आनंद मानना तीसरा रौद्रध्यान हैं और परिग्रहोंकी रक्षा करनेमें आनंद मानना चौथा रौद्रध्यान है। इसप्रकार चारों आर्तध्यान और चारों रौद्रध्यानोंके जीतनेसे कषायोंको नाश करनेवाली कषाय सल्लेखना होती हैं ॥ १० ॥

आगे ध्यानकी सामग्री बतलाते हैं।

ध्यातृध्यानविचिंत्यचिंतनफलान्यंगानि चत्वारि तैः
स्याद् ध्यानं सदसच्च तत्र भवति ध्यातोत्तमैरन्वितः ।
आद्यैः संहननैस्त्रिभिस्त्रिभिरुपेतोऽन्त्यैः स नाऽस्मिन्पुनः
चिन्तातर्वहिरंगकारणसृणिप्रेर्यो हि कार्यद्विपः ॥ ११ ॥

ध्यानके चार अग हैं ध्यान करनेवाला ध्याता, ध्यान करना, ध्यान करने योग्य पदार्थ, और ध्यानका फल, इन चारोंके संयोग मिलनेसे ध्यान होता है। वह दो प्रकार है। एक श्रेष्ठ ध्यान और दूसरा अशुभ ध्यान । उनमेंसे शुभ वा शुद्ध ध्यान ऐसे उत्तम ध्यान करनेवालोंके होता है जिनके वज्रवृषभनाराच, वज्रनाराच और नाराचये पहले तीन उत्तम संहनन होते हैं । तथा जिनके अर्द्धनाराच, कीलक और असंप्राप्तासृपाटिक ये तीन संहनन होते हैं उनके उत्तम ध्यान नहीं होता। यह चिंतवन वा ध्यान हृदयरूप हाथीका एक कार्य है तथा वह हृदयरूप हाथी अंतरंग बहिरंग कारणरूपी अकुशके आधीन है।

भावार्थ— चिंतवन करना मनका कार्य है वह मन अतरंग और बहिरग कारणोंके आधीन है । अंतरंग और बहिरंग जैसी कारण सामग्री मिलती है वैसाही कार्य वा वैंसाही शुभ अशुभ चिंतवन उस मनसे होता हैं ॥ ११ ॥

आगे ध्यानका लक्षण कहते हैं ।

एकस्मिन्विषयेऽग्रमाननमभूदस्या मतेरित्यसा-
वेकाग्रा विषयोपयोगनिरता चिन्ता निरोधोऽचला-
वस्था स्यान्निजगोचराचलमनो ध्यानं तदंतर्मुहू-
र्तावस्थानमतीवदुर्धरतया नाऽतः परं तिष्ठति ॥ १२ ॥

इस बुद्धिका वा मनके कार्यका किसी एक विषयमें अग्र होना मुखरूप होना एकाग्र कहलाता

॥२६२॥

है । इस विषयके एकाग्ररूपसे किसी विषयमें उपयोगका लीन हो जाना अन्य समस्त चिंतव-नोंको ऐककर उसी एक पदार्थका चिंतवन करना तथा उससमयमें अचल अवस्थाका हो जाना अपने आत्मामें मनका अचल वा निश्चल हो जाना ध्यान है । मनकी इसप्रकार निश्चल अव-स्थाका होना अत्यत कठिन है और इसीलिये वह ध्यान अधिकसे अधिक समयतक हो तो अंतर्मुहूर्त-तक होता है इससे अधिक समयतक कभी नहीं हो सकता ॥ १२ ॥

आगे अशुभ ध्यानकी योग्यता दिखलाते हैं ।

मिथ्यात्वोरुतमास्तिरस्कृतसुदृग्ज्ञानोऽधिकक्रोधवान्
स्तब्धः सत्स्वपि वंचनांचितमतिर्लुब्धः परार्थेष्वपि ।
दुर्लेश्यावशगाशयश्च भवति ध्याताऽशुभध्यानयो-
र्ध्येयं ध्यानविशेषलक्षणविनिर्देशक्षणे लक्ष्यते ॥ १३ ॥

जिसने मिथ्यात्वके उदयरूप घोर अंधकारसे सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानका तिरस्कार कर दिया है अर्थात् जो तीव्र मिथ्यादृष्टी है, क्रोधी है, अभिमानी है, जिसकी बुद्धि श्रेष्ठ पुरुषोंके ठगनेमें ही सदा लगी रहती है जो दूसरोंके धनमें भी तीव्र लोभ करता है। और जिसका हृदय अशुभ लेश्याओंके वशीभूत है ऐसा जीव अशुभ ध्यानको धारण करनेवाला होता है । तथा उस समय वह पुरुष जिस पदार्थका चिंतवन करने लग जाता है वही उसका ध्येय वा ध्यानका विषय पड जाता है। इसप्रकार ध्यानका सामान्य वर्णन किया ॥ १३ ॥

अब आगे अनुक्रमसे चारों आर्तध्यानोंका स्वरूप कहते हैं उसमेंभी

पहले इष्ट वियोगज आर्तध्यानको कहते है ।

जीवाजीवकलत्रपुत्रकनकाऽगारादिकादात्मनः
प्रेमप्रीतिवशात्मसात्कृतबहिःसंगाद्वियोगोद्गमे ।

॥२६३॥

क्लेशेनेष्टवियोगजार्त्तमचलं तच्चिन्तनं मे कथं
न स्यादिष्टवियोग इत्यपि सदा मन्दस्य दुःकर्मणः ||१४||

जीव, अजीव, स्त्री, पुत्र, सोना, चांदी, घर आदि जिन जिन इष्ट पदार्थोंको इस जीवने अपने प्रेम वा प्रीतिके कारण अपने मान रक्खे है ऐसे बाह्य पदार्थोंके वियोग होनेपर दुःख होता है और उस दुःखसे इष्ट वियोग जन्य आर्तध्यान होता है। तथा मेरे यह इष्ट वियोग किसी प्रकार भी मत हो अथवा मेरे इष्टका वियोग किस प्रकार नहीं होगा इसप्रकार जो अज्ञानी और पापी जीवोंके निश्चल चिंतवन होता है वा सदा बना रहता है उसको इष्ट वियोग जन्य आर्तध्यान कहते हैं ॥ १४ ॥

आगे अनिष्ट संयोगज नामके आर्तध्यानको कहते हैं।

क्रूरैर्व्यन्तरचौरवैरिमनुजैर्व्यालैर्मृगैरापदि
प्राप्तायां गरलादिकैश्च महती तन्नाशचिन्ताऽऽपदा ।
संयोगो न भवेत् सदा कथमिति क्लेशातिनुन्नं मनः
चार्त्तध्यानमनिष्टयोगजनितं जातं दुरन्तैनसः ||१५||

अत्यंत क्रूरताको धारण करनेवाले व्यंतर, चोर, वैरी, मनुष्य, सर्प, सिंह और विष आदिके द्वारा किसी भी प्रकारकी आपत्ति आजानेपर उसके नाश होनेकी जो बडीभारी चिंता होती है उसके नाश होनेका जो चिंतवन होता है तथा ऐसी आपत्ति मुझपर कभी न आवे अथवा किस उपायसे मुझपर ऐसी आपत्ति नहीं आसकती इसप्रकारके क्लेशोंसे जो मन सदा दुःखी रहता है वह अनिष्ट संयोगसे उत्पन्न हुआ आर्तध्यान कहलाता है। ऐसा आर्तध्यान बडे भारी पाप कर्मके उदयसे होता है ॥ १६ ॥

आगे पीडा जनित आर्तध्यानको कहते हैं।

रहती है। ऐसे उस दुःखको निगोदादिक दुःख देनेवाला निदान नामका आर्तध्यान कहते है।

भावार्थ– इस लोक संबंधी वा परलोक संबंधी भोगोपभोगोंकी तीव्र लालसाओंका होना निदान नामका आर्तध्यान है।

आगे जिसके आर्तध्यान होता हैं उसके कैसे लक्षण होते हैं सो कहते हैं।

ग्लान्यश्रूद्गमशोकशोषजडतामूर्छांगकंपोत्कता
निःश्वासस्वरभंगकार्ष्ण्यकृशतामौनाऽभिवीक्षामृति–
प्रस्वेदाऽनिमिषेणास्थितिरुजायाञ्चामृषोक्त्यादयः
स्पष्टाः स्वस्यपरस्यवाऽऽर्त्तजनितास्तज्ज्ञापकाः कायिकाः ॥१८॥

हृदयमें ग्लानि उत्पन्न होना, आसुओंका निकलना, शोक होना, शरीरका सूखना, चेष्टा रहित होना, मूर्च्छाका आजाना, शरीरका कंपना कार्यको जल्दी करना, लंबी श्वास लेना, स्वरभंग हो जाना, शरीर और मुखपर कालिमाका आजाना, शरीरका कृश हो जाना, मौन धारण करना, सामने देखते रहना, मरणको प्राप्त हो जाना, पसीना आना, नेत्रोंकी टिमिकारका न लगना, स्थिरताका न होना, रोगी होना, याचना करना, झूट बोलना, आदि शरीरमें उत्पन्न होनेवाले चिन्ह अपनेमें उत्पन्न हो वा कोई इन चिन्होंको किसी दुसरेमें उत्पन्न करे तो समझना चाहिये कि उसके आर्तध्यान है क्योंकि ये सब चिन्ह स्पष्ट रीतिसे आर्तध्यानसे ही उत्पन्न होते है और उसके आर्तध्यानको ही सूचित कहते हैं॥ १८॥

आगे इस आर्तध्यानकी निरुक्ति पूर्वक इसका स्वरूप और इसका फल कहते हैं।

आर्तिर्दुःखमसातजातजनितं स्यादार्त्तमत्तौ भवं
पापाऽऽदाननिदानमार्द्रसिचयं यद्वद्रजःसंश्रयम्।

बाधासंजनितार्त्तमार्तिनिहितं स्वान्तं नितान्तास्थिरं
तीव्राद्धिश्वपरीषहान्मम कदा विश्लेष इत्यंगिनः ।
दीनस्यास्तविशिष्टवस्तुविषयज्ञानस्य न स्यात्कथं
क्लेशाल्या मम जातु संगम इति क्लिष्टं च तत्स्यान्मनः ॥ १६ ॥

'अनेक पीडाओंसे उत्पन्न हुआ दुःख तथा अनेक आंतरिक व्याधियोंसे परिपूर्ण और अत्यत अस्थिर वा डवांडोल मेरा मन इन व्याधियोंसे कब अलग होगा मेरे साथ जो सब प्रकारके ये दुःख लग रहे हैं इनसे मेरा पिंड कब छूटेगा' इसप्रकार जो विशेष विशेष पदार्थोंको न जाननेवाले दीन पुरुषके हृदयमें वार वार चिंतवन होता है अथवा 'मुझे थोडासा क्लेश भी प्राप्त न हों' इसप्रकार उस अज्ञानी जीवके हृदयमें क्लेश उत्पन्न होता है वह पीडा वा रोग जनित तीसरा आर्तध्यान कहलाता है ॥ १६ ॥

आगे निदानसे उत्पन्न होनेवाले आर्तध्यानको कहते हैं ।

नानोपायचयेन नीचचरितैर्भ्रान्त्वा विशालामिला-
माभीलं मकराकरं च बहुशो तुच्छेच्छया प्राप्य यत् ।
प्राप्यं पुण्यवता जनेन कनकं कान्तं च कान्तादिकं
तत्कांक्षाक्षुभिता मतिर्बत निदानार्त्तं महार्तिप्रदम् ॥१७॥

यह जीव अनेक प्रकारके बहुतसे उपायोंसे, वा नीच आचरणोंसे बडे भारी धन वा सुन्दर-स्त्रियोंकी लालसासे भालोंके रहनेतक अर्थात् पृथ्वीके अततक इस विशाल पृथ्वीमें परिभ्रमण करते हैं अनेक वार मगर मच्छोंसे भरे हुए इस महासागरमें परिभ्रमण करते हैं और इसप्रकार अनेक कष्ट सहन करते हुए पुण्यवान मनुष्योंके द्वारा प्राप्त होने योग्य सुवर्णादिक धनको सुदर स्त्री आदिकोंको प्राप्त करते हैं परंतु फिर भी उनकी बुद्धि उन पदार्थोंकी ओर अधिक प्राप्त होनेकी उत्कष्ट लालसासे सदा क्षुभित रहती है। दुखी

मिथ्यादृष्टिगुणादिषड्गुणपदं येन प्रमादास्पदं
दुर्लेश्यात्रयजं सुदुःखजनकं तिर्यग्गतिप्रापकम् ॥१९॥

अर्ति शब्दका अर्थ दुःख है। जो दुःखसे उत्पन्न हो असाता वेदनीय कर्मके उदयसे उत्पन्न हो उसको आर्तध्यान कहते हैं अथवा जो दुःखमें उत्पन्न हो उसको आर्तध्यान कहते हैं। जिसप्रकार गीले कपडेपर धूलिका समूह चिपक जाता है उसीप्रकार यह आर्तध्यान भी अनेक पापरूप कर्मोंको ग्रहण करनेवाला है। इससे अनेक प्रकारके पाप कर्मोंका बंध होता है। यह आर्तध्यान मिथ्यादृष्टि नामके पहले गुणस्थानसे लेकर छठे गुणस्थानतक होता है इसीलिये यह आर्तध्यान प्रमाद उत्पन्न करनेका कारण है। वा प्रमादोंका स्थान है। यह आर्तध्यान कृष्ण नील कापोत, इन तीन अशुभ लेश्याओंसे उत्पन्न होता है अनेक प्रकारके बडे बडे दुःखोंको उत्पन्न करनेवाला है और तिर्यंच गतिमें पहुचानेवाला है अर्थात् तिर्यंच गतिका कारण है ॥ १९ ॥ इसप्रकार आर्तध्यानका स्वरूप कहा।

अब आगे रौद्रध्यानका स्वरूप कहते हैं।

हिंसानन्दमसातकारणगणैर्हिंसारुचिर्देहिनां
भेदच्छेदविदारणासुहरणैरन्यैश्च तैर्दारुणैः।
रोषेर्ष्याद्युदितैरसत्यवचनैरन्यस्य हान्या मृषा–
नंदं रौद्रमसातसन्ततिपदे मिथ्याप्रलापे रुचिः ॥ २० ॥

उसमें भी पहले हिंसानंद और षानंद नामके दो रौद्रध्यानोंका स्वरूप कहते हैं। जीवोंका भेदन करना, छेदन करना, विदारन करना, प्राणोंका हरण करना तथा अन्य ऐसे ही ऐसे भया–नक दुःख देनेवाले अनेक कारणोंसे जीवोंकी हिंसा करनेमें रुचि वा प्रेम होना हिंसानद नामका रौद्रध्यान है। इसीप्रकार क्रोध वा ईर्ष्या आदिसे उत्पन्न होनेवाले असत्य वचनोंसे अथवा अन्य जीवोंको

॥२६७॥

हानि पहुंचाकर दूसरोंको अनेक प्रकारके दुःख पहुंचानेके स्थान ऐसे मिथ्या बोलनेमें, झूठमूठकी बकवाद करनेमें, प्रेम वा रुचिका होना मृषानंद नामका रौद्रध्यान है ॥ २० ॥

आगे स्तेयानंद और परिग्रहानंद नामके रौद्रध्यानका लक्षण कहते है ।

स्तेयानन्दमवाप्य यत्परधनं वंद्यादिनिंद्योहितै-
रानंदित्वमवाप्तुमुत्सुकतरं चेतश्च तैस्तद्भवेत् ।
स्वं संरक्ष्य विपक्षदूरमुदिता तोषोग्रता या तु सं-
रक्षानंदमपि स्ववस्तु निखिलं निर्वैरि कुर्वे इति ॥२१॥

जिस परधनको पाकर वंदीखानेमें रहनेकी निंदनीय वासनाके द्वारा भी आनंदको प्राप्त होनेवाला हृदय उत्सुकरूप होता है ऐसे परधनको पाकर चित्तका उत्सुकरूप होना स्तेयानंद नामका तीसरा रौद्रध्यान है । तथा " मै अपने समस्त पदार्थोंको शत्रुओंसे रहित कर दूंगा " इसप्रकार जो शत्रुओंके दूर हो जानेपर अपने धनकी रक्षामें भारी संतोष उत्पन्न होता है उसको सरक्षानंद नामका चौथा रौद्रध्यान कहते हैं ॥ २१ ॥

आगे रौद्रध्यानके चिन्ह बतलाते हैं ।

अक्षापाटवमाननाऽक्ष्यरुणता दाहश्च देहे महान्
हेत्युत्क्षेपविरूक्षवाग्भृकुटयः शक्तिप्रशंसात्मनः ।
स्वेदस्वाधरनिष्ठुरग्रहकराघातांगकंपादय :
कायांकाः स्वपरावबोधविषयास्तद्रौद्रभावोद्भवाः ॥२२॥

इंद्रियोंके विषयोंमें वेपरवाहीका होना, मुख तथा नेत्रोंका लाल हो जाना, शरीरमें बडे भारी दाहका होना, शस्त्रोंका प्रहार करना, बचन और भृकुटियोंका कुटिल हो जाना, अपनी शक्तिकी प्रशंसा करना, पसीनेका आजाना, होठोंका कठोरतासे डसना, हाथोंका पटकना, और शरीरका कपंना

आदि शरीरमें उत्पन्न होनेवाले चिन्ह उसको भी मालूम पडते हों, वा दूसरोंको मालूम पडते हों तो समझना चाहिये कि उसके रौद्रध्यान है। क्योंकि ये सब शरीरके चिन्ह रौद्रध्यानसे ही उत्पन्न होते हैं ॥ २२ ॥

आगे इस रौद्रध्यानका निरुक्तिपूर्वक स्वरूप कहते हुए
इसका फल बतलाते हैं।

रुद्रः क्रूरतराशयो गतदयो रौद्रं हि रुद्रे भवं
आर्द्रे चर्म यथोरुधूलिनिलयं तद्वत्कुकर्मालयम् ।
पंचस्वादिगुणेषु तीव्रतरतत्कृष्णात्रिलेश्योद्गतं
प्रोद्यत्तीव्रतरार्त्तिनारकगतिप्राप्तेर्निमितं मनम् ॥ २३ ॥

रुद्र शब्दका अर्थ अत्यंत क्रूर हृदयका होना है। ऐसे दयारहित क्रूर हृदयसे जो ध्यान होता है उसको रौद्रध्यान कहते हैं। जिसप्रकार गीले चमडेपर बहुतसी धूलि जम जाती है उसीप्रकार इस रौध्यानसे अनेक प्रकारके तीव्र पापकर्मोंका बंध होता है। यह रौद्रध्यान पहलेसे लेकर पांचवें गुणस्थानतक होता है। अत्यंत तीव्र ऐसी कृष्ण नील कापोत इन तीनों अशुभ लेश्याओंसे यह उत्पन्न होता है। और जिसमें अत्यंत तीव्र ऐसी असह्य वेदनाएं प्राप्त होती रहतीं है इसप्रकार यह नरकगतिके प्राप्त होनेका कारण है। इसप्रकार रौद्रध्यानका स्वरूप कहकर अशुभ ध्यानोंका स्वरूप समाप्त किया ॥ २३ ॥

आगे उत्तमध्यान कहां कराना चाहिये सो बतलाते हैं।

ध्याताऽपेतजनोक्तगीतिवितताऽऽतोद्यादिकोलाहले
स्थाने स्थावरजंगमांगिरहिते पूते नितांतं समे ।

निश्छिद्रे निरुपद्रवे पृथुशिलेलाद्ये सुखस्पर्शिनि
प्रध्यानाभिरतः स्थितो न नियमः स्वभ्यस्तयोगे त्वयम् ॥२४॥

जिस स्थानपर मनुष्योंके गीत, नृत्य, वाजे आदिका कोलाहल न हो, जिसमें त्रस वा स्थावर जीवोंका निवास न हो, जो पवित्र हो, सर्वथा समान हो, छिद्र रहित हो, जिसका स्पर्श कोमल और सुखकर हो, ऐसी किसी वडी शिलापर वा पृथ्वीपर वैटकर ध्यान करनेवाले ध्याताको ध्यानमें लीन होना चाहिये। परंतु जिन मुनिराजको ध्यान करनेका अच्छा अभ्यास है उनकेलिये यह नियम नहीं है वे चाहें जहां वैठकर या खडे होकर ध्यान कर सकते है। २४

आगे ध्यान करनेवाला कैसा होना चाहिये सो कहते हैं।

यानांगावयवप्रचालनवचोजृंभाद्यभावो मुनि-
र्व्युत्सर्गेण समावलंबकशिलास्तंभो निखातो यथा।
पर्यंकेन यथासुखं स्वमनसः शय्यादिभिर्वा स्थितो
निःसंगोऽस्तसमस्तवाह्यविषयव्यापृत्यशेषेन्द्रियः ॥२५॥
प्राणापानावीनिग्रहादतितरां भ्रांतिर्मतेरुच्छ्वस-
न्मन्दं मन्दमतो न नेत्रयुगलं सम्यग्निमीलन्न च।
प्रोन्मीलन्दशनैर्मनाग्दशनपंक्त्यग्राणि विभ्रन्मनः—
शांतिं मूर्त्तिमतीमिवार्त्तिजयिनीं स्वां मूर्त्तिमप्यूर्जिताम् ॥२६॥
सद्दृष्टिर्मृदुताऽऽर्जवादिसहितः श्रेण्योरशेषश्रुतः
स्याद् ध्याता दशपूर्वविच्च नवपूर्वज्ञो परत्राऽपि च

॥२७०॥

आगे शुभध्यानके भेद बतलाते हैं।

धर्म्यं शुक्लमिति द्विभेदमुदितं सद्ध्यानमाद्यं तयो-
राज्ञाऽपायविपाकगाच्च विचयात्संस्थानगात्स्याच्चतु-।
र्भेदं भूरिविकल्पजालकलितं जैनान्नयान्नैगमा—
त्सर्वं सर्वविदो वचो न हि नयापेतं यतो वस्तु च ॥२८॥

इस श्रेष्ठ ध्यानके दो भेद हैं एक धर्म्यध्यान और दूसरा शुक्लध्यान उसमेंसे धर्म्यध्यानके चार भेद है। आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय, और संस्थानविचय। यदि भगवान् जिनेंद्रदेव के कहे हुए नैगमनयसे देखा जाय तो इसी धर्मध्यानके अनेक भेद हैं। और इसका भी कारण यह है कि भगवान् सर्वज्ञदेव के कहे हुए वचन और संसारके समस्त पदार्थ नयोंके ही आधीन है। न तो भगवान् सर्वज्ञदेवका कोई वचन ऐसा है जो नयोंसे रहित हो और न संसारमें कोई पदार्थ भी ऐसा हैं जो नयोंसे रहित हो। नय अनेक हैं और उनके द्वारा पदार्थोंका स्वरूप अनेक प्रकारसे कहा जाता है। उन सबका ध्यान धर्मध्यानमें होता है इसलिये धर्मध्यानके अनेक भेद हो जाते हैं॥ २८॥

आगे आज्ञाविचय नामके धर्मध्यानका स्वरूप कहते हैं।

विज्ञातुं न तु शक्यमावृतियुताध्यक्षानुमानादिना
त्यक्षानंतविवर्तवर्त्तिसकलं वस्त्वस्तदोषार्हताम्।
आज्ञावाग्विचयस्तयोक्तमनृतं नैवेति तद्वस्तुन-
श्चिन्ताज्ञाविचयो विदुर्नयचयः संज्ञानपुण्योदयः ॥२९॥

इससंसारमें बहुतसे पदार्थ अतीन्द्रिय हैं तथा अनंत भेदोंसे अनंत गुण पर्यायोंसे भरपूर हैं। वे सब पदार्थ न तो ज्ञानावरणकर्म सहित इंद्रियोंसे होनेवाले सांव्यवहारिक प्रत्यक्षज्ञानसे

ध्येयन्यस्तमना निरस्तानियमः कालेषु संध्यादिषु
निर्वाणोचितमाद्यसंहननमेवाऽस्मिन्पुनर्ध्यातरि ॥२७॥ (त्रिकम्)

जो गमन न कर रहा हो, शरीरके अवयवोंको चलायमान न कर रहा हो, वचन न बोल रहा हो, जंभाई न ले रहा हो, जिसप्रकार पृथ्वीमें गडी हुई शिला अचल होती है अथवा पृथ्वीमें गडाहुआ स्तंभ अचल होता है उसीप्रकार जो कायोत्सर्ग पूर्वक अचल विराजमान हों, पर्यंकासनसे इस प्रकार विराजमान हों जिसमें कि अपने मनको बहुत अच्छीतरह सुख मिलता रहे अथवा शय्यासनसे वा अन्य किसी आसनसे विराजमान हों अथवा कायोत्सर्गसे खडे हों जो बाह्य अभ्यंतर समस्त परिग्रहसे रहित हों, समस्त इन्द्रियोंसे अलग हों ऐसे मुनि ध्यान करने योग्य होते हैं । ॥ २५ ॥ यदि वे अपने श्वासोच्छ्वासको रोकलें तो बुद्धि अत्यंत भ्रष्ट हो जाती है इसलिये उससमय धीरे धीरे श्वास लेते रहते हैं, अपने दोनों नेत्रोंको न तो अच्छीतरह बन्द करलेते हैं और न अच्छीतरह खोललेते हैं किंतु जिसप्रकार उनकी दृष्टि नासिकापर पडती रहे अन्यत्र न पडे इसप्रकार अधखुले नेत्र रखते हैं । दांतोंके द्वारा दांतोंकी एक मुख्य पंक्ति बना लेते हैं अर्थात् ऊपर नीचेके दांत मिलाकर एक पंक्तिमें कर लेते हैं । मूर्तिमान् शांतिके समान मनकी शांतिको धारण करते हैं और समस्त परीषहोंको जीतने वाली ऐसी अपनी उत्कृष्ट मूर्तिको धारण करते हैं । इसप्रकारके मुनि ध्यान करने योग्य ध्याता कहे जाते हैं। ॥ २६ ॥ 'आगे फिर भी ध्याताकी योग्यता दिखलाते हैं ।' जो सम्यग्दृष्टी हों, मार्दव आर्जव आदि उत्तम गुणोंसे सुशोभित हों, उपशमश्रेणी वा क्षपकश्रेणीमें आरूढ हों, जो पूर्ण श्रुतज्ञानके जानकार हों, जो ग्यारह अंग दशपूर्व अथवा ग्यारह अंग नौ पूर्वके जानकार हों, ध्यान करने योग्य आत्मा वा अन्य समस्त पदार्थोंमें जिन्होंने अपना मन लगाया हो, और संध्या आदि समयमें अर्थात् ध्यानके समयमें जिन्होंने अन्य सब नियम छोड दिये हों ऐसे मुनि ध्यान करने योग्य ध्याता कहे जाते हैं । ऐसे उत्तम ध्यानियोंके निर्वाण प्राप्त करने योग्य ऐसा वज्रवृषभनाराच नामका पहला संह–नन होता हैं ॥ २७॥

॥२७१॥

ध्येयन्यस्तमना निरस्तानियमः कालेषु संध्यादिषु
निर्वाणोचितमाद्यसंहननमेवाऽस्मिन्पुनर्ध्यातरि ॥२७॥ (त्रिकम्)

जो गमन न कर रहा हो, शरीरके अवयवोंको चलायमान न कर रहा हो, वचन न बोल रहा हो, जभाई न ले रहा हो, जिसप्रकार पृथ्वीमें गढी हुई शिला अचल होती है अथवा पृथ्वीमें गढाहुआ स्तंभ अचल होता है उसीप्रकार जो कायोत्सर्ग पूर्वक अचल विराजमान हों, पर्यंकासनसे इस प्रकार विराजमान हों जिससें कि अपने मनको बहुत अच्छीतरह सुख मिलता रहे अथवा शय्यासनसे वा अन्य किसी आसनसे विराजमान हों अथवा कायोत्सर्गसे खडे हों जो बाह्य अभ्यंतर समस्त परिग्रहसे रहित हों, समस्त इन्द्रियोंसे अलग हों ऐसे मुनि ध्यान करनें योग्य होते हैं । ॥ २५ ॥ यदि वे अपनें श्वासोच्छ्वासको रोकलें तो बुद्धि अत्यंत भ्रष्ट हो जाती है इसलिये उससमय धीरे धीरे श्वास लेते रहते हैं, अपनें दोनों नेत्रोंको न तो अच्छीतरह बंद करलेतें हैं और न अच्छीतरह खोललेते हैं किंतु जिसप्रकार उनकी दृष्टि नासिकापर पडती रहे अन्यत्र न पडे इसप्रकार अधखुले नेत्र रखते हैं । दांतोंके द्वारा दांतोंकी एक मुख्य पंक्ति बना लेते हैं अर्थात् ऊपर नीचेके दांत मिलाकर एक पंक्तिमें कर लेते हैं । मूर्तिमान् शांतिके समान मनकी शांतिको धारण करते हैं और समस्त परीषहोंको जीतनें वाली ऐसी अपनी उत्कृष्ट मूर्तिको धारण करते हैं । इसप्रकारके मुनि ध्यान करने योग्य ध्याता कहे जाते हैं। ॥ २६ ॥ 'आगे फिर भी ध्यानाकी योग्यता दिखलाते हैं । ' जो सम्यग्दृष्टी हों, मार्दव आर्जव आदि उत्तम गुणोंसे सुशोभित हों, उपशमश्रेणी वा क्षपकश्रेणीमें आरूढ हो, जो पूर्ण श्रुतज्ञानके जानकार हों, जो ग्यारह अंग दशपूर्व अथवा ग्यारह अंग नौ पूर्वके जानकार हों, ध्यान करने योग्य आत्मा वा अन्य समस्त पदार्थोंमें जिन्होंने अपना मन लगाया हो, और संध्या आदि समयमें अर्थात् ध्यानके समयमें जिन्होंने अन्य सब नियम छोड दिये हों ऐसे मुनि ध्यान करने योग्य ध्याता कहे जाते हैं । ऐसे उत्तम ध्यानियोंके निर्वाण प्राप्त करने योग्य ऐसा वज्रवृषभनाराच नामका पहला संहनन होता हैं ॥ २७॥

आगे शुभध्यानके भेद बतलाते हैं।

धर्म्यं शुक्लमिति द्विभेदमुदितं सद्ध्यानमाद्यं तयो–
राज्ञाऽपायविपाकगाच्च विचयात्संस्थानगात्स्याच्चतु–।
र्भेदं भूरिविकल्पजालकलितं जैनान्नयान्नैगमा—
त्सर्वं सर्वविदो वचो न हि नयापेतं यतो वस्तु च ॥२८॥

इस श्रेष्ठ ध्यानके दो भेद हैं एक धर्म्यध्यान और दूसरा शुक्लध्यान उसमेंसे धर्म्यध्यानके चार भेद है। आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय, और संस्थानविचय। यदि भगवान् जिनेंद्रदेव के कहे हुए नैगमनयसे देखा जाय तो इसी धर्मध्यानके अनेक भेद हैं। और इसका भी कारण यह है कि भगवान् सर्वज्ञदेव के कहे हुए बचन और संसारके समस्त पदार्थ नयोंके ही आधीन है। न तो भगवान् सर्वज्ञदेवका कोई बचन ऐसा है जो नयोंसे रहित हो और न संसारमें कोई पदार्थ भी ऐसा हैं जो नयोंसे रहित हो। नय अनेक हैं और उनके द्वारा पदार्थोंका स्वरूप अनेक प्रकारसे कहा जाता है। उन सबका ध्यान धर्मध्यानमें होता है इसलिये धर्मध्यानके अनेक भेद हो जाते हैं॥ २८॥

आगे आज्ञाविचय नामके धर्मध्यानका स्वरूप कहते हैं।

विज्ञातुं न तु शक्यमावृतियुताध्यक्षानुमानादिना
त्यक्षानंतविवर्तवर्त्तिसकलं वस्त्वस्तदोषार्हताम्।
आज्ञावाग्विचयस्तयोक्तमनृतं नैवेति तद्वस्तुन–
श्चिन्ताज्ञाविचयो विदुर्नयचयः संज्ञानपुण्योदयः ॥२९॥

इससंसारमें बहुतसे पदार्थ अतीन्द्रिय हैं तथा अनंत भेदोंसे अनंत गुण पर्यायोंसे भरपूर हैं। वे सब पदार्थ न तो ज्ञानावरणकर्म सहित इंद्रियोंसे होनेवाले सांव्यवहारिक प्रत्यक्षज्ञानसे

॥२७२॥

जाने जा सकते हैं और न ज्ञानावरणकर्मके साथ साथ होनेवाले अनुमान ज्ञानसे जाने जा सकते हैं। किंतु वे सब पदार्थ अठारह दोषोंसे रहित भगवान् सर्वज्ञ अरहंतदेवके ज्ञान गोचर होते हैं और उन्हींकी आज्ञारूप वचनोंसे कहे जाते हैं। भगवान् अरहंतदेव सर्वज्ञ और वीत-राग हैं इसलिये उनके कहे हुए वचन कभी मिथ्या नहीं होते। इसप्रकार उनके कहे हुए पदार्थोंका चिंतवन करना, उनकी आज्ञाका प्रसार करना, आज्ञाविचय नामका पहला धर्म्यध्यान है। यह आज्ञाविचय नामका धर्म्यध्यान मिथ्यानयोंके समूहसे सर्वथा रहित है और इसके साथ साथ ही सम्यग्ज्ञान और श्रेष्ठ पुण्यका उदय खूब होता है।

भावार्थ— सूक्ष्म पदार्थोंका स्वरूप यदि अपने अल्पज्ञानमें न आवे तो उनका श्रद्धान भग-वान् सर्वज्ञदेवके कहे अनुसार कर लेना आज्ञाविचय नामका धर्म्यध्यान है॥ २९॥

आगे अपायविचयधर्मध्यानका स्वरूप कहते हैं।

दुःकर्मात्मदुरीहितैरुपाचितं मिथ्याविरत्यादिभि-
र्व्यापज्जन्मजरामृतिप्रभृतयो वाऽपाय एनःकृताः।
जीवेनादिभवे भवेत्कथमतोऽपायादपायः कदा
कस्मिन्केन ममेत्यपायविचयः सत्कारणादीक्षणम् ॥३०॥

अपने आत्माका अहित करनेवाले जो मिथ्यात्व अविरत कषाय प्रमाद हैं उनके द्वारा जो पापरूप कर्म इकठे होते हैं वा इकठे हुए हैं उनको अपाय कहते हैं। अपाय शब्दका अर्थ नाश है। ये पापरूप कर्म भी आत्माका नाश करनेवाले हैं आत्माके शुद्ध स्वरूपको नाश कर नरकादिकमें डाल देते हैं इसलिये इन पापरूप कर्मोंको अपाय कहते हैं। अथवा पाप कर्मोंके उदयसे उत्पन्न होनेवाले अनेक प्रकारकी आपत्तियां, जन्म, मरण, बुढापा आदि दोषोंको भी अपाय कहते है। यह मेरा जीव इन अपायोंके कारण अनादिकालसे इस संसारमें

परिभ्रमण कर रहा है। सो अब यह मेरा जीव इन अपायोंसे ससारमें परिभ्रमण करनेवाले पापरूप कर्मोंसे अथवा जन्ममरणोंसे कब अलग होगा ? कब छूटेगा ? किस क्षेत्रमें छूटेगा ? और किन उपायोंसे छूटेगा ! इस प्रकार उन कारणोंको कर्मासे छूटनेके उपायोंको अच्छीतरह देखना, विचारना, चिंतवन करना, अपाय विचय नामका धर्मध्यान है। ३० ॥

आगे विपाकविचय नामके धर्मध्यानका स्वरूप कहते हैं।

गत्यादौ परिणामतस्तनुभृतां प्राप्तोदयोदीरणं
क्लेशाश्लेषकरं सुखोत्करकरं कर्माशुभं तच्छुभम् ।
शक्त्या युक्तमसंख्यलोकमितषट्स्थानान्वितस्थानया
इत्येवं विचयो विपाकविचयः प्रत्यस्तदोषोच्चयः ॥३१॥

ये जीव अपने परिणामोंसे शुभ अथवा अशुभ कर्मोंका बंध करते हैं उनका उदय उन जीवोंके प्रत्येक गतिमें प्राप्त होता है। उनमेंसे जो शुभकर्मोंका उदय होता है वह अनेक प्रकारका सुख देनेवाला होता है और अशुभकर्मका उदय सब प्रकारके दुःखोंको देनेवाला होता है। कोई कर्म अपनी स्थिति पूरी होनेपर उदयमें आता है और कोई कर्म स्थिति पूरी हुये बिना ही उदयमें आजाता है॥ उन समस्त कर्मोंमें असंख्यात लोक प्रमाण छहों स्थानोंमें होनेवाली हानि वा वृद्धिकी शक्ति होती है अनतभागवृद्धि असंख्यातभागवृद्धि संख्यातभागवृद्धि संख्यातगुणवृद्धि असंख्यातगुणवृद्धि और अनंतगुणवृद्धि इस प्रकार छह प्रकारसे वृद्धि होती है और अनतगुणहानि असंख्यातगुणहानि सख्यातगुणहानि संख्यातभागहानि असंख्यातभागहानि अनंतभागहानि इसप्रकार छह रूपसे हानि होती है। इसप्रकार असंख्यातलोकप्रमाण हानिवृद्धि होनेकी शक्ति उन कर्मोंमें रहती है। इसप्रकार कर्मोंके उदय उदीरणाका विचार करना चिंतवन करना विपाक विचय नामका तीसरा धर्मध्यान है। यह तीसरा धर्मध्यान समस्त दोषोंसे रहित है। इसके चिंतवन करनेसे समस्त दोष नष्ट हो जाते हैं अर्थात् रागद्वेषादिक समस्त बिकार दूर हो जाते है।

॥२७४॥

आगे संस्थानविचयका स्वरूप कहते हैं।

संस्थानं यदानित्यताऽशरणता संसार एकाकिता–
ऽन्यत्वं चाशुचिताऽऽस्रवः सुनयतः स्यात्संवरो निर्जरा।
लोको बोध्यतिदुर्लभत्वमपरो धर्मस्तादित्यन्वितं
भेदैः स्वैर्विचयोऽस्य चिंतनमनुप्रेक्षा स्मृतं द्वादश ॥३२॥

अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचि, आश्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधिदुर्लभ और धर्म ये बारह अनुप्रेक्षाएं कहलातीं हैं। श्रेष्ठ नयोंके अनुसार इन बारह अनुप्रेक्षांओंका चिंतवन करना तथा प्रत्येक अनुप्रेक्षाके होनेवाले अनेक भेदोंके साथ उनका चिंतवन करना संस्थानविचय नामका धर्मध्यान कहलाता है ॥ ३२ ॥

आगे अनुक्रमसे उन्हीं बारह अनुप्रेक्षांओंका वर्णन करते हैं।

उत्पत्तिः प्रलयश्च पर्ययवशाद्द्रव्यात्मना नित्यता
वस्तूनां निचये प्रतिक्षणमिहाज्ञानाज्जनो मन्यते।
नित्यत्वं द्रवदंबुदीपकालिकास्थैर्यं यथार्थादिके
नष्टे नष्टधृतिः करोति बत शोकार्तो वृथाऽऽत्मीयके ॥३३॥

उसमें भी पहले आनित्यानुप्रेक्षा का स्वरूप कहते हैं। संसारके पुत्र स्त्री धन धान्य आदि चेतन वा अचेतनरूप समस्त पदार्थ पर्यायकी अपेक्षासे प्रतिक्षण उत्पन्न होते रहते हैं और प्रतिक्षण नष्ट होते रहते हैं। तथा द्रव्यकी अपेक्षासे सदा नित्य बने रहते हैं। परंतु ये संसारी जीव अपनी अज्ञानताके कारण उनको सदा नित्य मानते रहते हैं। परंतु उन पदार्थोंको सर्वथा नित्य मानना ऐसा है जैसे बूंद बूंद पडते हुए जलका नित्य और स्थिर मानना अथवा दीपककी शिखाको नित्य और स्थिर मानना। जिसप्रकार दीपककी शिखा

॥२७५॥

और बूंद बूंद पडता जल नित्य और स्थिर नहीं है उसीप्रकार पर्यायार्थिकनयसे संसारके कोई भी पदार्थ नित्य नहीं हैं। इसीलिये वे पदार्थ स्वाभाविक रीतिसे नष्ट होते हैं और जिनसे अपना संबंध है ऐसे अपने पुत्र स्त्री धन धान्य आदिके नष्ट होनेपर धैर्य रहित यह जीव व्यर्थ ही शोक और दुःख करता है यह बडे दुःखकी बात है। इसप्रकार वार बार चिंतवन करना अनित्यानुप्रेक्षा है। इसके चिंतवन करनेसे इष्ट वियोग होनेपर भी इस जीव को कभी क्लेश और आर्तध्यान नहीं होता है॥ ३३ ॥

आगे अशरणानुप्रेक्षाका स्वरूप कहते हैं।

मंत्रास्तंत्रतातिस्तदन्वितकृतिर्दुर्गा द्विषद्दुर्गमा
भृत्याः किं न भृताः सुहृत्ततिरपीत्येतेषु सत्स्वप्यगुः।
सर्वे पूर्वमहीभृतः क्षतिमतः कस्यापि कालत्रये
त्राताऽत्रास्ति न नाशमीयुषि पुरा पुण्यार्जिते वाऽऽयुषि ॥३४॥

पहले अनेक चक्रवर्ती राजाओंने अनेक मंत्र किये, अनेक तत्र किये, अनेक मंत्र-तंत्रोंका आराधन किया अनेक औषधियां प्राप्त कीं, शत्रुओंके द्वारा अजेय ऐसे गढ वा किले वनवाये सेना आदिरूपसे अनेक सेवक पाले और अनेक मित्र वनाये परतु इन सबके रहते हुए भी पहलेके वे सब राजा मरणको प्राप्त हुए।

इससे सिद्ध होता है कि पहले जन्ममें पुण्यरूप कार्योंके द्वारा जितनी आयुका बंध किया है उस आयुके पूर्ण होनेपर तीनों कालोंमें भी इससंसारमें कोई किसीका रक्षक नहीं होता। इसप्रकार चिंतवन करना अशरणानुप्रेक्षा है। इसप्रकारके चिंतवन करनेसे किसीके मरणादिक होनेपर भी अथवा अपना मरण होनेपर भी परिणामोंमें संक्लेशता नहीं होती है ॥३४॥

आगे संसारानुप्रेक्षाका स्वरूप कहते हैं।

॥२७६॥

वृत्त्या जातिगतिष्ववाप्तकरणोऽनंतांगहारः सदा
प्रोद्भूतिप्रलयो नरामरमृगाद्याहार्यपर्यायवान् ।
हित्वा सात्त्विकभावजातामितरैर्भावैः स्वकर्मोद्भवै-
र्जीवोऽयं नटवद्भ्रमत्यभिनवः सर्वत्र लोकत्रये ॥ ३५ ॥

जिसप्रकार नट अपने स्वाभाविकरूपको छोडकर अपने कार्योंसे उत्पन्न हुए अन्य अनेक रूपोंको धारण कर परिभ्रमण किया करता है । उसीप्रकार यह जीव अपने आत्माके निजस्वभावको छोडकर अपने कर्मोंसे उत्पन्न हुए तथा अपने स्वभावसे भिन्न ऐसे औदयिक वा क्षायोपशमिक आदि भावोंसे नये नये रूप धारण करता हुआ तीनों लोकोंमें सर्वत्र परिभ्रमण करता है । जिसप्रकार नट नृत्य करता हुआ पारिभ्रमण करता है उसीप्रकार यह जीव भी पंच परावर्तन पूर्ण करता हुवा परिभ्रमण करता है । जिसप्रकार नट अनेक प्रकारके रूप वा स्वांग धारण करता हुवा पारिभ्रमण करता है उसी प्रकार यह जीव भी अनेक प्रकारकी जातियां और अनेक प्रकारकी गतियोंको धारण करता हुआ पारिभ्रमण करता है जिसप्रकार नट अपने हाथपैरोंके संयोगसे भ्रमण करता है । उसीप्रकार यह जीव भी इंद्रियोंके संयोगको पाकर परिभ्रमण करता है जिसप्रकार नट शरीरके अनंत विकारोंको धारण करता हुआ भ्रमण करता है उसीप्रकार वह जीव भी अनंत शरीरोंको प्राप्त और नाश करता हुआ पारिभ्रमण करता है जिसप्रकार नट अनेक रूप बदलता है उसी प्रकार यह जीव भी सदा उत्पन्न होता रहता है और सदा मरणको प्राप्त होता रहता है । नट जिसप्रकार कभी किसी का रूप धारण करता है और कभी किसीका रूप धारण करता है उसी प्रकार यह जीव भी कभी मनुष्य पर्याय धारण करता है, कभी देव पर्याय धारण करता है, कभी पशु पर्याय धारण करता है और कभी नारकपर्याय धारण करता है । इसप्रकार नटकेसमान यह जीव अपने स्वभावको छोडकर अन्य अनेक पर्यायें धारण करता हुआ तीनों लोकोंमें सर्वत्र परिभ्रमण किया करता है । इसप्रकार चिंतवन करना संसारानुप्रेक्षा है । इसके चिंतवन कर-

॥२७७॥

नेसे इस जीवको संवेग और वैराग्य बढता है ॥ ३५ ॥

आगे एकत्व भावनाका स्वरूप कहते हैं ।

कोऽप्याप्तः स्वजनोऽनुगोऽस्ति न परो वा याति जन्मांतरं
जीवे जन्मनि वाऽत्र मित्रनिकरैः किं नाशितं वा हृतम् ।
चित्रं गात्ररुजादिजं हृदयजं वाऽसातमेकस्ततो
मृत्यूत्पत्तिनिवृत्तिषु प्रणयिनोऽन्येऽर्थेष्वनर्थो निजः ॥३६॥

यह जीव जब मरकर दूसरा जन्म धारण करने के लिये जाता है तब इस संसारमें कोई भी ऐसा अपना कुटुंबी अथवा कोई दूसरा मनुष्य नहीं है जो साथ जाने-के लिये तैयार हो। इस जन्ममें इस जीवको शरीरके रोगोंसे उत्पन्न होनेवाले अनेक दुःख होते हैं और अनेक मानसिक दुःख होते हैं परंतु उन दुःखोंको आजतक क्या किसी भी मित्रोंके समूहने नाश कर दिखलाया है ? अथवा उन दुःखोंको आजतक किसीने भी दूर किया है ?

भावार्थ— कोई किसीका दुःख वा शोक दूर नहीं करसकता इस लिये कहना चाहिये जन्ममरण धारण करनेमें वा मोक्ष प्राप्त करनेमें यह जीव अकेला ही है। अकेला ही जन्म लेता है, अकेला ही मरता है, अकेला ही दुःख भोगता है और अकेला ही मुक्त होता है। मित्र कुटुंबी आदि सब केवल धनके साथी है अतएव धन कमानेके लिये परिश्रम करना व्यर्थ है। आश्चर्य है कि यह जीव फिर भी धन कमानेमें लगा रहता है. ऐसा चिंतवन करना एक-त्वानुप्रेक्षा हैं। इसके चिंतवन करनेसे ममत्वबुद्धि छूट जाती है ॥ ३६ ॥

आगे अन्यत्वानुप्रेक्षाका स्वरूप कहते हैं ।

॥२७८॥

चैतन्यं जडतैकताऽवयाविसंदोहोदिताऽनेकता
नित्यत्वं क्षयिता च मूर्त्तिवियातिर्मूर्तत्वमित्यादिभिः ।
भेदं देहिशरीरयोरागणयन् किं नेक्षते वृद्धिम-
द्देहं खेदिनि देहिनि स्थितमतिक्रांतेऽत्र दुर्मित्रवत् ॥३७॥

आत्मा और शरीरको भिन्न भिन्न मानना अन्यत्वानुप्रेक्षा है। यह आत्मा चैतस्वरूप है, और शरीर जड है, आत्मा नित्य है, शरीर विनाशीक हैं, आत्मा अमूर्त्त है, शरीर मूर्त्त है। इसप्रकार आत्मा और शरीरमें प्रत्यक्ष अतर है तथापि आत्मा और शरीरको एक मानता हुआ उन दोनों में किसी भी प्रकारकी भिन्नता को न समजता हुआ अज्ञानी जीव यह भी नहीं देखता कि यह आत्मा तो मरनेपर अत्यंत दुखी होता हुआ परलोक को चला जाता है और कुमित्रके समान यह शरीर वृद्धिको प्राप्त होता हुआ भी यहा ही पडा रहता है।

भावार्थ— इसप्रकार समजकर आत्माको शरीरसे भिन्न मानना और भिन्न ही चिंतवन करना अन्यत्वानुप्रेक्षा हैं इसके चिंतवन करनेसे मरनेपर भी दुःख नहीं होता हैं ॥ ३७ ॥

आगे अशुचित्वानुप्रेक्षाका स्वरूप कहते हैं।

रेतः शोणितजातिधातुनिचितं प्रच्छादितं चर्मणा
सान्द्रोद्रिक्तगलन्मलं वहुविलैरंगं जुगुप्सानुगाम् ।
भीतिं किं न तनोत्यसंस्कृतिवहिश्चर्मात्रगात्रे न चेत्
स्प्रष्टुं द्रष्टुमपि क्षमोऽस्ति किमिदं त्रातुं पतत्र्यादितः ॥३८॥

यह शरीर रुधिर वीर्यसे बना हुआ है, मांसादिक सप्त धातुओंसे भरा हुआ है, चमडेसे ढका हुआ है नाक, कान, आख, मुह आदि अनेक छिद्रोंसे वहुतसा मल इसमेंसे सदा निकलता रहता है, तथा घृणाका स्थान है। ऐसा यह शरीर यदि वस्त्रादि भूषणोंसे अच्छा न रक्खा

जाय, नहा धोकर ठीक न रक्खा जाय तो किसको भय उत्पन्न नहीं करता है अर्थात् यदि यह शरीर संभालकर न रक्खा जाय तो भयानक दिखाई पडता है। यदि इस शरीरपर चमडा न लपेटा होता तो फिर क्या इस शरीरको कोई देख भी सकता है! अथवा पक्षियोंसे वा पशुओंसे इसकी कोई रक्षा भी कर सकता है।

भावार्थ— यदि ऊपरसे चमडा न लपेटा हो तो मांसमय इस शरीरको कोई देख भी नहीं सकता और न चील गीद आदि पक्षियोंसे तथा कुत्ता गीदड आदि पशुओंसे इसकी कोई रक्षा कर सकता है। इसप्रकार चिंतवन करना अशुचित्वानुप्रेक्षा है। इसका चिंतवन करनेसे वैराग्य बढता है, शरीरसे ममत्व छूटता है ॥ ३८ ॥

आगे आस्रवानुप्रेक्षाका स्वरूप कहते हैं।

देहे स्नेहयुते लगत्यविरतं रेणोर्गणोऽयं यथा
मिथ्यावृत्तकषाययोगकलुषेऽजस्रं सजंत्यांगीनि।
तद्वत् स्वैकशरीरगाः सुमिलिताऽनंताणवो वर्गणा
विश्वात्मावयवेष्वनंतगणना नो कर्मणां कर्मणाम् ॥३९॥

जिसप्रकार चिकने शरीरपर धूलिका समूह निरंतर लगा करता है उसीप्रकार मिथात्व, अविरत, कषाय, प्रमाद, योग आदिके द्वारा कलुषताको प्राप्त हुए आत्मामें तथा आत्माके समस्त अवयवोंमें, प्रदेशोंमें, ज्ञानावरणादिक आठों कर्मोंके अनंतानंत वर्गणाए प्रति समय आकर मिलती रहती हैं तथा औदारिक, वैक्रियिक, आहारक इन तीन शरीर और छह पर्याप्तियोंके योग्य नो कर्मोंकी अनंतानंत वर्गणाए प्रतिसमयमें आकर इस अपने शरीरमें मिलती रहती हैं। इसप्रकार चिंतवन करना आस्रवानुप्रेक्षा है। इसके चिंतवन करनेसे आस्रवके रोकनेमें प्रवृत्ति होती है ॥ ३९ ॥

आगे संवरानुप्रेक्षाका स्वरूप कहते हैं।

दष्टे दुष्टविषाहिनांऽगीनि यथा नष्टप्रचेष्टे विषं
पुष्यज्जांगुलिकेन मंत्रबलिना संस्तंभितं तिष्ठति ।
सम्यक्त्वव्रतनिष्कषायपरिणामाऽयोगताभिस्तथा
मिथ्यात्वादिचतुःस्वहेतुविगमान्नूत्नैनसां नागमः ॥ ४० ॥

जैसे किसी प्राणीको दुष्ट विषवाला सर्प काटले और उस विषसे यह प्राणी मूर्च्छित हो जाय तथा वह विष चढने लगे तो मंत्र तंत्रके बलको धारण करनेवाला कोई गारुडी वा सपेरा वा मंत्रवादी अथवा विषवैद्य उस विषको स्तंभित कर देता है चढनेसे रोक देता है उससमय वह विष वहीं ठहर जाता है आगे नहीं बढता। उसीतरह सम्यग्दर्शन, व्रत, कषाय रहित परिणाम होनेसे और मन वचन कायकी क्रियारूप योगोंका अभाव होनेसे कर्मोंके आनेके कारण मिथ्यात्वादिक सब नष्ट हो जाते हैं, अर्थात् सम्यग्दर्शनके होनेसे मिथ्यात्व नष्ट हो जाता है, व्रत धारण करनेसे अविरत नष्ट हो जाते हैं कषाय रहित परिणाम होनेसे कषायें नष्ट हो जातीं हैं और मन वचन कायकी क्रियाओंका अभाव होनेसे योग नष्ट हो जाते हैं इसप्रकार सम्यग्दर्शन, व्रत, निष्कषाय, और अयोगोंके होनेसे कर्मोंके कारणभूत मिथ्यात्वादिक सब नष्ट हो जाते हैं। तथा कर्मोंके आनेके कारणभूत मिथ्यात्वादिकके नष्ट होनेसे नवीन पापरूप कर्मोंका आस्रव नहीं होता अर्थात् आते हुए सब कर्मरुक जाते हैं। कर्मोंका रुकजाना, अर्थात् आस्रवका अभाव हो जाना ही संवर है। यही आत्माको सुखका कारण है। इसप्रकार चिंतवन करना संवरानुप्रेक्षा है। इसके चिंतवन करनेसे संवरमें प्रवृत्ति होती है ॥४०॥

आगे निर्जरानुप्रेक्षाका स्वरूप कहते हैं।

संश्लिष्टात्मबलस्य निर्गलनतो निःशेषविश्लेषत–
श्रान्तबाह्यचतुः स्वहेतुवशतः स्वर्णोपले स्वर्णता ।

॥२८१॥

यद्वद्धेहिनि कर्मणोऽशगलनान्निःशेषविश्लेषतः
सम्यक्त्वग्रहणाद्यनेककरणैस्तद्वाद्विशुद्धात्मता ॥ ४१ ॥

जिसप्रकार मिट्टीसे मिले हुए स्वर्णपाषाणमेंसे थोडा थोडा मैल गलने लगे तथा अग्निमें गलाना, ताडना, घिसना, छेदना आदि अंतरंग बाह्य चारों कारणोंसे उस सुवर्णपाषाणमेंसे समस्त मैल मिट्टी छूट जाय अलग हो जाय तो वह सुवर्ण पाषाण शुद्ध सुवर्णरूप हों जाता है। उसीप्रकार यदि कर्मसहित इस आत्मासे थोडे थोडे कर्मोंके अंश नष्ट होते जायं तथा सम्यग्दर्शनका ग्रहण करना आदि करणरूप लब्धियोंसे वा व्रत तप परीषहजय आदि कारणोंसे अथवा रत्नत्रय और उत्तम क्षमादिक दशलक्षणिक कारणोंसे कर्मों के अंश सब छूटते जायं और समस्त कर्मोंका नाश हो जाय तो आत्माकी पूर्ण शुद्धता प्रगट हो जाती है।

भावार्थ– कर्मों की निर्जरा होते होते समस्त कर्मोंका नाश हो जानेसे आत्माकी परम शुद्धता प्रगट हो जाती है। इस प्रकार चिंतवन करना निर्जरानुप्रेक्षा है। इसके चिंतवन करनेसे कर्मोंकी अधिक निर्जरा करनेमें प्रवृत्ति होती है। ॥४१॥

आगे लोकानुप्रेक्षाका स्वरूप कहते हैं।

मध्यांशः परितोऽप्यनंतवियतो लोकस्त्रिवाताऽऽवृतः
पंचद्रव्यचितः प्रकर्तृरहितो नित्यः सदाऽवस्थितः।
संस्थानेन तु सुप्रतिष्ठकसमोऽसंख्यप्रदेशप्रमो
मध्यस्थत्रसनालिरत्र भाविना स्पष्टं न दृष्टं पदम् ॥४२॥

यह लोकाकाश चारों ओर फैले हुए अनंत आकाशके मध्यभाग में स्थित है, घनवात अम्बुवात और तनुवात इन तीन प्रकार वायुसे वेष्टित है, अर्थात् तीनों प्रकार महावायुओंके सहारे टिका हुवा है। वह वायु आकाश में निराधार है तथा वह वायु यदि किसी पदार्थके चारों ओर

॥२८२॥

हो और चारों ओरसे उस पदार्थपर वायुका दवाव पडता हो तो वह पदार्थ ज्यों का त्यों उसी स्थानपर टिका रहेगा चारों ओरसे समान दवाव पडनेपर वह पदार्थ इधर उधर नहीं हिल सकेगा, जिसप्रकार अरवों खरवों मन पानीसे भरे हुए वादल साधारणवायुके सहारे टिके रहते हैं उसी प्रकार यह लोकाकाश महावायुके सहारे टिका हुवा है। जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, और काल इन पांचो द्रव्यों-से भरा हुवा है, अथवा यों कहना चाहिये कि जितने आकाशमें ये पांचो द्रव्य रहते हैं उसीको लोक कहते हैं, यह लोक किसीका बनाया हुवा नहीं है अनादि कालसे वरावर ज्योंका त्यों चला आ रहा है और अनंत कालतक ज्यों का त्यों बना रहेगा, कभी इसका नाश नहीं होगा, यह लोक नित्य है, सदाकाल ज्यों का त्यों रहनेवाला है, इसका आकार सुप्रतिष्ठ अर्थात् ठोणाके समान है, नीचे चौडा है क्रमसे कम होते होते मध्यमें वहुत कम चौडा रह गया है, ऊपर फिर चौडा होता गया है और तीन चौथाई भागसे फिर कम होते होते ऊपरका भाग मध्यके भागके वरावर होगया है। इसप्रकार इसका आकार है, इस लोकाकाशके असंख्यात प्रदेश हैं, इसके मध्यमें एक त्रसनाली है जिसमें त्रस जीव रहते हैं। इसी त्रसनालीमें सबसे ऊपर परम सिद्धस्थान है जो इस संसारी जीवने आजतक न देखा है और न स्पर्श किया है। इसप्रकार चिंतवन करना लोकानुप्रेक्षा है। इसके चिंतवन करनेसे संसारसें भयभीतपना प्रगट होता है और मोक्षके प्राप्त करनेकी तीव्र इच्छा होती है ॥ ४२ ॥

आगे वोधिदुर्लभानुप्रेक्षाका स्वरूप कहते हैं।

नैकाक्षैर्विकलाक्षपंचकरणासंज्ञव्रजैर्जातु या
लब्धा बोधिरगण्यपुण्यवशतः संपूर्णपर्याप्तिभिः।
भव्यैः संज्ञिभिराप्तलब्धिविधिभिः कै त्कदाचित् क्वचित्
प्राप्या सा रमतां मदीयहृदये स्वर्गापवर्गप्रदा ॥ ४३ ॥

रत्नत्रयकी प्राप्तिको वोधि कहते हैं, यह वोधि वा रत्नत्रयकी प्राप्ति न तो एकेन्द्रिय

॥२८३॥

जीवोंको होती है न द्वीन्द्रिय, त्रींद्रिय, चतुरिंद्रिय जीवोंको होती है और न असैनी पंचेंद्रिय जीवोंको होती है। इन जीवोंको रत्नत्रयकी प्राप्ति कभी नहीं होती है। जिन जीवोंके पुण्य कर्मका उदय महान होता है, जिनको पूर्ण पर्याप्तियां प्राप्त हो जाती हैं, जो सैनी पंचेन्द्रिय होते हैं, भव्य होते हैं, और जिनको करणादि पांचोंलब्धियां प्राप्त हो जातीं है ऐसे कितने ही जीवोंको किसी समयमें किसी क्षेत्रमें उस रत्नत्रयकी प्राप्ति होती है। वह रत्नत्रयकी प्राप्ति स्वर्ग मोक्षकी देनेवाली है। अतएव प्राप्त होनेपर वह रत्नत्रयकी प्राप्ति मेरे हृदयमें सदा विराजमान रहो सदा देदीप्यमान रहो॥ ४३ ॥

आगे धर्मानुप्रेक्षाका स्वरूप कहते हैं।

दाताऽभीष्टविशिष्टवस्तुनिचयस्याकांक्षिणेऽपि क्षणा-
द्धर्त्तार्त्तेर्नरनारकादिभवसंभूतेः स्मृतेर्भीकृतेः।
हंताऽऽक्रान्तजगत्त्रयांतकरिपोर्यः स्वान्तगः संस्तुत-
स्त्राताऽत्राणशरीरिणां न हि परो धर्मात्सुशर्मप्रदात् ॥ ४४ ॥

यह अहिंसारूप धर्म आकांक्षा करनेवाले जीवोंको इच्छानुसार विशेष पदार्थोंके समूहको क्षणमात्रमें देनेवाला हैं तथा जिनका स्मरण करनेमात्रसे अत्यंत भय उत्पन्न होता है ऐसे मनुष्य तिर्यंच और नरकादि अनंत भवोंमें उत्पन्न होनेवाले दुःखोंको क्षणमात्र में नष्ट करनेवाला है तीनों लोकों को आक्रांत करनेवाले तीनों लोकों को अपने वश में करनेवाले कालरूपी शत्रुको नष्ट करनेवाला है और सबकेद्वारा स्तुति करने योग्य है अथवा सब इसकी स्तुति करते है ऐसा यह धर्म सर्वोत्तम मोक्षसुखको देनेवाला है तथा जिनका रक्षक कोई नहीं है ऐसे संसारी जीवोंकी स्वयं रक्षा करनेवाला यही धर्म है। इस धर्मके सिवाय और कोई भी इन संसारी जीवोंकी रक्षा करनेवाला नहीं है। इसप्रकार चिंतवन करना धर्मानुप्रेक्षा है। इसके चिंतवन करनेसे धर्ममें प्रेम बढता है

सम्यग्दर्शनकी वृद्धि और शुद्धि होती है ॥ ४४ ॥

आगे इस धर्मध्यानके चिन्ह वा लक्षण बतलाते हैं ।

श्रद्धानं सदशंकितादिसदनं तत्त्वार्थसंचिन्तनं
संवेगः प्रशमो दयेन्द्रियदमः प्राज्योद्यमः संयमः ।
वैराग्यं वरगुप्तिताऽतिमृदुता निर्मायिताऽसंगता
धर्मस्येति समस्तवस्तुपरमोपेक्षा च लक्ष्मोदितम् ॥ ४५ ॥

श्रेष्ठ निःशांकित, निःकांक्षित आदि आठों अगोंका घर ऐसे विशुद्ध सम्यग्दर्शनका होना, जीव अजीव आदि समस्त पदार्थोंका चिंतवन करना, संसारसे भय उत्पन्न होना, अथवा धर्म वा धर्म के फलमें रुचि वा प्रेमका होना, परिणामोंका अत्यत शांत होना, दयारूप परिणामोंका होना, इन्द्रियोंको दमन करना, कर्मोंके नाश करने के लिये श्रेष्ठ उद्यम करना, संयमका पालन करना, वैराग्य धारण करना, श्रेष्ठ गुप्तियोका पालन करना अर्थात् मन वचन कायको वशमें करना, अत्यंत कोमल परिणामोंका होना, मायाचारीका सर्वथा त्याग कर देना, परिग्रहोंका सर्वथा त्याग कर देना, और संसारके इष्ट अनिष्ट समस्त पदार्थों से ऊदासीनता धारण करना और सबसे राग द्वेपका त्याग कर देना इस धर्मध्यान के लक्षण हैं चिन्ह हैं । जिनके ये चिन्ह हों उन के धर्मध्यान समझना चाहिये । अथवा जिसके धर्मध्यान होता है उस के ये चिन्ह अवश्य होते हैं ।

आंगे धर्मध्यानका निरुक्तिपूर्वक अर्थ और उसका फल आदि बतलाते हैं ।

धर्म्यं स्यान्निखिलार्थसार्थनिहितं चित्तं समं संस्थितं
सम्यग्दृष्टचयतादिसप्तमगुणांतेषु प्रवृद्धं क्रमात्
साक्षात्संवरनिर्जरादिकरणं नानात्मनां कर्मणां
सलेश्यात्रयजं च नाकसुखदं प्राग्रं क्रमात्सिद्धिदम् ॥४६॥

॥२८५॥

समस्त पदार्थों के धर्ममें समस्त पदार्थों के यथार्थ स्वरूप में लगा हुवा जो हृदय है उसको धर्म्य कहते हैं अथवा समता परिणामोंमें लगे हुये हृदयको धर्म्य कहते हैं ऐसे हृदयसे चिंतवन किया जो ध्यान है उसको धर्मध्यान कहते हैं। यह धर्मध्यान अविरत सम्यग्दृष्टी नामके चौथे गुणस्थानसे प्रारंभ होता है और अनुक्रमसे बढता हुवा सातवें गुणस्थानके अंततक जाता है। यह धर्मध्यान ज्ञानावरणादिक अनेक प्रकारके कर्मोंका संवर करने के लिये साक्षात् कारण है। इससे अनेक प्रकार के कर्मोंका सवर और निर्जरा होती है। यह धर्मध्यान पीत पद्म शुक्ल इन तीन शुभ लेश्याओं से उत्पन्न होता है, स्वर्ग के सुख प्रदान करता है, अर्थात् स्वर्गका कारण है अत्यत उत्तम है तथा अनुक्रमसे मोक्षपदको देनेवाला है। इसप्रकार धर्मध्यानका स्वरूप कहा ॥४६॥

अब आगे शुक्लध्यानका स्वरूप कहते हैं उसमें भी पहले शुक्ल ध्यानके भेद कहते हैं।

शुक्लध्यानमतश्चतुर्विधमिदं प्रोक्तं वितर्कौ पृथ–
क्त्वैकत्वानुगतावुभावपि सवीचारेतरौ स्तः क्रमात्।
कार्यस्यातिशयेन जातपरमाह्वानं तु सूक्ष्मक्रियं
ध्यानं ह्यप्रतिपाति तादृशसमुच्छिन्नाक्रियं चेत्यपि ॥४७॥

शुक्लध्यानके चार भेद है। इनमें पहला शुक्लध्यान वितर्क सहित हैं पृथक्त्व सहित है और विचार सहित है। दूसरा शुक्लध्यान वितर्क सहित है एकत्व सहित है और वीचार सहित है, अर्थात् शुक्लध्यानका पहला भेद पृथक्त्ववितर्क सवीचार है और दूसरा भेद एकत्ववितर्क अवीचार है। श्रुतज्ञानको वितर्क कहते हैं सब योगोंसे होनेवालेको पृथक्त्व कहते हैं और संक्रमणको वीचार कहते हैं जो सब योगोंसे हो श्रुतज्ञान सहित हो और जिसमें अर्थ व्यंजन योगोंकी सक्रांति हो उसको पृथक्त्व वितर्क वीचार कहते हैं। जो किसी एक योगसे हो श्रुतज्ञान सहित हो और अर्थ व्यंजन योगोंकी संक्रांतिसे रहित हो उसको एकत्व वितर्क अविचार कहते हैं। इसप्रकार

एकत्वेन न पर्ययान्तरतया जातो वितर्कस्य य–
द्यो वीचार इहैकवस्तुनि वचस्येकत्र योगेऽपि च ।
नार्थव्यंजनयोगजालचलनं तत्सार्थनामेत्यदो
ध्यानं घातिविघातजातपरमार्हन्त्यं द्वितीयं मतम् ॥४९॥

दूसरे शुक्लध्यानका नाम एकत्ववितर्क अवीचार है। यह ध्यान एकत्वरूप से अथवा पर्यायांतर रूपसे उत्पन्न होता है किसी एकही गुण वा पर्याय वा द्रव्यका चिंतवन करता है इसलिये इसका नाम एकत्व है। तथा श्रुतज्ञानीके होता है इसलिये इसको वितर्क सहित कहते हैं। यह शुक्लध्यान एक ही पदार्थ में होता है एक ही वचनमें होता है और एक ही योगसे होता है। समें अर्थ, व्यंजन और योग संचार नहीं होता इसलिये इसको अवीचार कहते हैं अतएव इसका जो एकत्ववितर्कअवीचार नाम है वह सार्थक है। इस ध्यान के कारण घातिया कर्मोंका नाश होजाता है और घातिया कर्मों के नाश होनेसे अरहत अवस्थाकी अनंत चतुष्टय, गंधकुटी, समवसरण आदि अंतरंग बहिरंग अनेक विभूतियां प्राप्त हो जाती हैं। इसप्रकार यह दूसरा शुक्लध्यान सर्वोत्कृष्ट ध्यान है। ॥४९॥

आगे इन दोनों ध्यानोंका विशेष वर्णन करते हैं।

शुक्लेऽभ्यन्तरबाह्यकारणगणो न्यक्षं च तल्लक्षणं
धर्म्ये वा प्रथमं क्षयोपशमयोर्मोहस्य हेतुर्द्वयोः ।
श्रेण्योर्मोक्षविनाकदं विलयकृद्घातित्रयस्यापरं
वर्यं क्षीणकषाय एव यमलं तच्छुक्ललेश्योद्भवम् ॥५०॥

इस पहले शुक्लध्यानमें अंतरंग और बाह्य कारण सामग्रीका समूह इन्द्रियातीत है। जिसप्रकार धर्म्यध्यानके लक्षण कहे गये हैं उसीप्रकार इस शुक्लध्यानका लक्षण भी उपशमश्रेणी

शुक्लध्यानके दो तो ये भेद हैं । शुक्लध्यानके तीसरे भेदका नाम सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति है । जिस में अत्यत सूक्ष्म क्रिया हो और छूटनेवाला न हो उसको सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति कहते हैं । यह ध्यान अतिशय कार्यको करता है इस लिये इस ध्यानका नाम परम वा सर्वोत्कृष्ट हैं । तथा इसी प्रकार शुक्लध्यानके चौथे भेदकी संज्ञा भी सर्वोत्कृष्ट है वह समस्त कर्मोंकी नाश करनेरूप सर्वोत्तम अतिशय कार्य को करती है इस लिये इसकी परमोत्तम संज्ञा है इस में सूक्ष्म क्रिया भी नहीं होती केवल शुद्ध आत्मा शुद्धात्मस्वरूपमें तन्मय हो जाता है इस लिये इस चौथे शुक्लध्यानका नाम समुच्छिन्नक्रियाप्रतिपाति है । इसप्रकार पृथक्त्ववितर्कवीचार, एकत्ववितर्कावीचार, सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति और समुच्छिन्न क्रियाप्रतिपाति ये चार शुक्लध्यानके भेद हैं ॥४७॥

आगे पहले शुक्लध्यानका स्वरूप व्युत्पत्तिपूर्वक कहते हैं ।

आद्यं शुक्लमनेकधा स्वविषये वृत्त्या पृथक्त्वेन यत्
सर्वद्रव्यगतश्रुतस्य परमस्यास्मिन् वितर्कस्य यः ।
संचारोऽर्थवचस्त्रियोगगहने वीचार एषो भवे-
द्ध्यानं सार्थकनामधाम तदिदं स्यादिष्टसंपत्प्रदम् ॥४८॥

यह पहला शुक्लध्यान अपने ध्यान करने योग्य विषयों में पृथक् पृथक् रूपसे परिवर्तन करता रहता है इसलिये यह अनेक प्रकार का कहा जाता है। यह शुक्लध्यान समस्त द्रव्योंको जाननेवाले श्रुतज्ञानीके होता है। इस लिये यह सवितर्क कहलाता है। तथा इसमें अर्थ वचन और योगोंका संचार होता रहता है इसलिये यह सवीचार कहलाता है । इसप्रकार पृथक्त्ववितर्क और वीचार सहित होनेसे इसको पृथक्त्ववितर्कवीचार शुक्लध्यान कहते हैं। इसका यह नाम ऊपर लिखे अनुसार सार्थक है । यह शुक्लध्यान अनेक इष्ट संपदाओंको देनेवाला है ॥४८॥

आगे दूसरे शुक्लध्यानका स्वरूप कहते हैं ।

॥२८७॥

अथवा क्षपकश्रेणी इन दोनों श्रेणियोंमें मोहनीय कर्मका उपशम करना वा क्षय करना है। उपशम श्रेणीमें मोहनीय कर्मका उपशम करता जाता है और क्षपकश्रेणीमें मोहनीय कर्मका क्षय करता जाता है। यह पहला शुक्लध्यान मोक्षका परंपरा कारण है और स्वर्गका साक्षात् कारण है। दूसरा शुक्लध्यान उससे उत्तम है और ज्ञानावरण दर्शनावरण तथा अतराय इन तीनों घातिया कर्मोंके नाश करनेका कारण है। यह दूसरा शुक्लध्यान क्षीण कपायवाले वारहवें गुणस्थानवर्ती मुनियोंके ही होता हैं। पहला तथा दूसरा ये दोनों ही शुक्लध्यान शुक्ल लेश्यासे उत्पन्न होते हैं ॥५०॥

ध्यानं चिन्तनमेकवस्तुनि कियत्कालं मतं तच्छ्रुत–
ज्ञानं स्वावरणक्षयोपशमजं ध्यानोपचारस्ततः।
शश्वद्विश्वनिरन्तरावृतिहातिप्रत्यक्षवोधेऽर्हति
कर्मास्थित्यनुभागघातगलनाद्यर्थस्य तत्रेक्षणात् ॥ ५१ ॥

यह दूसरा शुक्लध्यान किसी एक ही पदार्थका चिंतवन करता है। इसका चिंतवन अंतर्मुहूर्त-तक ही होता है। श्रुतज्ञानावरणकर्मके क्षयोपशमसे उत्पन्न हुआ जो श्रुतज्ञान है, तद्रूप यह शुक्लध्यान होता है। तीसरा शुक्लध्यान उपचारसे ध्यान कहलाता है। उसमें कुछ चिंतवन नहीं है। ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्मके अत्यंत क्षय हो जानेके कारण जिनके पूर्ण और सकल प्रत्यक्ष केवलज्ञान हो गया है ऐसे अरहंत भगवान्के यह तीसरा शुक्लध्यान होता है। उन अरहंत भगवानके कर्मोंकी स्थिति और अनुभाग नष्ट होता है यह सब ध्यानका कार्य प्रत्यक्ष दिखाई देता है इसलिये अनुमानसे यह सिद्ध हो जाता है कि उनके ध्यान है और वह तीसरा शुक्लध्यान है। क्योंकि ध्यानकेविना कर्म नष्ट होते ही नही है और अरहंतके कर्म नष्ट होते है इसलिये उनके ध्यान उपचारसे मानना पडता है ॥५१॥

आगे इसी सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति नामके तीसरे शुक्लध्यानका स्वरूप कहते हैं।

॥२८९॥

सूक्ष्मा क्वाष्टिगता क्रियेति तनुगो योगोऽत्र सूक्ष्मक्रियं
ध्यानं ह्यप्रतिपात्यनश्वरमिदं नामाऽस्य तत्सार्थकम् ।
तन्नात्युद्यतराघघातनसमुद्धातक्रियाऽनन्तरं
योगिन्यर्हति जीविते समुदभूदन्तर्मुहूर्ते स्थिते ॥५२॥

इस तीसेर शुक्लध्यानका नाम सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति है। इसमें समस्त क्रियाए अत्यंत सूक्ष्म हो जाती है तथा योग भी अत्यत सूक्ष्म हो जाता है। इसलिये इस ध्यानको सूक्ष्मक्रिय ध्यान कहते हैं। तथा यह ध्यान अविनश्वर है नष्ट नहीं होता इसलिये इस ध्यानको अप्रतिपाति कहते है। इसप्रकार सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति यह इस ध्यानका नाम सार्थक है। यह शुक्लध्यान सयोगी नाम के तेरहवें गुणस्थानमें होता है। जब भगवान् अरहंत देवकी आयु अंतर्मुहूर्त रह जाती है तब यह शुक्लधान होता है। अपूर्व और प्रशस्त ऐसे अघा-तिया कर्मोंकी स्थिति अनुभाग आदि यदि आयु कर्मकी स्थिति से अधिक हों तो उस अधिक स्थिति अनुभाग को आयुके समान करने के लिये जो अरहंत भगवान् दंड कपाट प्रतर और पूर्णरूप समुद्धात करते है उस समय यह शुक्लध्यान होता है ॥५२॥

आगे समुच्छिन्नक्रिया नामके चौथे शुक्लध्यानका लक्षण कहते हैं।

योगोऽस्मिन्प्रहतो बभूव हि समुच्छिन्नक्रियं सुस्थितं
ध्यानं ह्यप्रतिपाति तेन तदभूदन्वर्थनामास्पदम् ।
लेश्यातीतमयोगकेवलिजिने शुक्लं चतुर्थं वरं
निर्मूलप्रविलीनसंसृतिगदं स्वात्मोपलब्धिप्रदम् ॥५३॥

चौथा शुक्लध्यान चौदहवें गुणस्थानमें अयोग केवली भगवान्के होता है। इसमें योग सब नष्ट हो जाते हैं इसीलिये इस ध्यानका नाम समुच्छिन्न क्रिया है। यह ध्यान अत्यंत

॥२९०॥

स्थिर रहता है, तथा यह ध्यान नष्ट नहीं होता-अविनश्वर है इसीलिये इसको अप्रतिपाती कहते है, अतएव इसका समुच्छिन्नक्रियाप्रतिपाती नाम सार्थक है। यह चौथा शुक्लध्यान विना किसी लेश्याके होता है। यह ध्यान सर्व श्रेष्ठ है इसमें जन्ममरणरूप ससार रोग मूल सहित नष्ट हो जाता है और आत्माके शुद्धस्वरूपकी प्राप्ति हो जाती हैं। ॥ ५३ ॥ इसप्रकार चारों ध्यानोंका निरूपण किया।

अब आगे आराधनाओंको आराधन करनेवाला कैसा होना चाहिये सो कहते हैं।

संस्कारातिशयः प्रसन्नहृदयस्त्यागी क्षमी प्रोद्यमी
प्रव्यक्तस्वपरास्थितिः शुभवचोरत्नावलीराजितः
शूरः शीलपरो गुणास्थिररुचिर्भव्योऽभिमानी परं
साध्वीं साधयाति स्वभावसुभगामाराधनां नायिकाम् ॥५४॥

जो भव्य हो, जिसके संस्कारोंका अतिशय प्राप्त हो, जिसका हृदय पवित्र हो, जो समस्त परिग्रहोंका त्यागी हो, क्षमा धारण करनेवाला हो, अच्छा उद्यमी हो, अपनी तथा अन्य सबकी परिस्थितिको प्रत्यक्ष जाननेवाला हो, जिसके बचन सुदर हों, जो रत्नत्रयसे सुशोभित हो, जो शूरवीर हो, शील पालन करनेमें तत्पर हो, मूलगुण और उत्तर गुणोंमें निश्चल रुचि वा श्रद्धा करनेवाला हो और जो अपनी प्रतिज्ञाओंका अभिमान रखता हो, की हुई प्रतिज्ञाओंसे कभी चलायमान न हो, ऐसे उत्तम मुनि स्वभावसे ही सुंदर सर्वश्रेष्ठ और सबमें मुख्य ऐसी उत्तम आराधनाओंको आराधन करते हैं॥ ५४

आगे आराधनाकी विधि बतलाते हैं।

शेषेऽल्पे निजजीवने जनहितं देशं महीशान्वितं
नानाजैनजनास्पदं सुखपदं सत्संगिनां योगिनाम्।

॥२९१॥

संप्राप्यात्ममनोगतं बहुमतं सम्यङ्निवेद्य स्थितः
सूरिभ्यः सकलैश्च तैः सुविदितः संघान्वितैः स्वीकृतः ॥५५॥

जब अपनी आयु थोडी रह जाय तब उस आराधना करनेवालेको किसी ऐसे देशमें पहुंचना चाहिये जिसमें सब लोगोंका कल्याण हो सकता हो, जिसमें श्रेष्ठ राजा शासन करता हो, जिसमें जैनधर्म धारण करनेवाले अनेक जन निवास करते हों जो उत्तम संघको साथ रखनेवाले मुनियोंके लिये सुख देनेवाला हो। ऐसे किसी देशमें जाकर किसी संघमें पहुंचना चाहिये। उस संघके नायक आचार्यके समीप बैठकर उनसे सबको मान्य ऐसा अपने मनका अभिप्राय प्रगट करना चाहिये। उस संघमें रहनेवाले समस्त लोगोंको मालूम हो जाना चाहिये और संघकी स्वीकारता मिल जानी चाहिये। इतनी सामग्री मिलनेपर वह आराधक आराधना करता है ॥ ५५ ॥

आगे इसकी और भी विधि कहते हैं।

आचार्यैः परिचर्ययाऽऽहिताहितैः सद्व्यूनपंचाशता
द्वाभ्यां वाऽतिजघन्यतः परिवृतः प्रीत्योत्तमार्थार्थ्यतः।
आलोच्याऽऽत्मकृतं कृती त्रिकरणैर्दोषं विशुद्धाशयः
श्रुत्वातः प्रवरं प्रतिक्रमणमप्यारुह्य सत्संस्तरम् ॥५६॥
प्राज्ञोऽसौ क्रमशोऽशनं परिहरन्नेकैकमास्वाद्य तत्
सम्यग्दर्शितमिष्टमिष्टमसकृत्कांक्षाक्षयार्थं बुधैः।
हित्वाऽतास्त्रिविधाशनं धृतिकरं किं स्तोकमेतन्मया
भुक्तात्पूर्वमनेकमेरुमहतो मे तृप्तिकस्येत्यतः ॥५७॥

त्यक्त्वाऽतः कुशलः क्रमेण विविधं धीरःसमाध्याप्तये
पानं सिक्थयुतं विलेपि सरसं निःस्नेहमच्छं पयः ।
किं तृप्तिर्भवतीयतो भवभवे पीतादजातेत्यतो
नानानीरधिनीरतोऽतिमहतो मे कर्मघर्मार्त्तिनः ॥ ५८ ॥
ज्ञाताऽऽस्वादसमस्तवस्तुभिरलं बाह्यैरसारैः परं
जैनेन्द्रं वचनामृतं जननमृत्यातंकनाशीति तत् ।
धृत्वा पंचगुरून्मनस्यविचलं तन्मंत्रमुच्चारयन्
धर्म्यं शुक्लमपि प्रकृष्टफलदं ध्यायंस्तनुं व्युत्सजेत् ॥ ५९ ॥
(चतुष्कम्)

जो आचार्य दूसरोंकी सेवा, परिचर्या, वैयावृत्य आदि करनेमें ही अपना हित समझते हैं ऐसे अधिकसे अधिक अडतालीस आचार्य हों अथवा कमसे कम दो आचार्य (निर्यापकाचार्य—आराधना करानेमें तत्पर रहनेवाले) हों, उनके आधीन रहकर बडे प्रेमसे उत्तम सन्यासरूप आराधनाको धारण करनेकी इच्छा रखते हुए उन कृती मुनिराजको शुद्ध हृदयसे मन, वचन, काय इन तीनों योगोंके द्वारा अपने किये हुए समस्त दोषोंकी—समस्त पापोंकी आलोचना करनी चाहिये अर्थात् आचार्यसे अपने समस्त दोष निवेदन करने चाहिये । फिर उत्तम प्रतिक्रमण सुनना चाहिये और फिर उन आराधना करनेवाले मुनिराजको उत्तम सांथरेपर विराजमान होना चाहिये । फिर उन बुद्धिमान् आराधकको अनुक्रमसे भोजनका त्याग करना चाहिये । उसके त्याग करनेकी विधि यह है कि भोजन करनेमें उसकी वार वार इच्छा न हो इसके लिये जो जो इष्ट भोजन हैं वे सब उसको दिखाने चाहिये और उसकी इच्छा हो तो खानेके लिये भी कहना चाहिये तथा साथमें उसको समझना भी चाहिये । उसको समझलेना भी चाहिये कि मैंने पहले अनंत जन्मोंमें मेरुपर्वतसे भी

अधिक अनेक भोजन किये हैं परतु मुझे कभी तृप्ति नहीं हुई फिर क्या इस थोडेसे भोजनसे मुझे तृप्ति हो सकती है? अर्थात् कभी नहीं। इसप्रकार विद्वानों के द्वारा समझ लेनेपर उसे पीने योग्य पेय पदार्थोंको छोडकर वाकीके तीनों प्रकार के भोजनोंका त्याग कर देना चाहिये तदनंतर उस धीर, वीर ओर बुद्धिमान् आराधक को समाधिमरण धारण करने के लिये अनुक्रमसे मांड, लेप करने योग्य चासनी आदि रस, चिकनाई रहित पतले पदार्थ और स्वच्छ जल इन अनेक प्रकार के पेय पदार्थोंका भी त्याग कर देना चाहिये। उनके त्याग करते समय विचार करना चाहिये कि मैं कर्मरूपी उष्णतासे अत्यंत दुःखी हू उस कर्मरूपी उष्णताको दूर करने के लिये मैंने प्रत्येक भवमे अनेक समुद्रोंके जलसे भी अधिक और बहुत अधिक जल पीया तथापि मुझे तृप्ति नहीं हुई- मेरी वह कर्म जनित वेदना नष्ट नहीं हुई, फिर क्या इन थोडेसे पेय पदार्थोंसे मुझे तृप्ति हो सकती है? कभी नहीं। ऐसा समझकर उस आराधकको समस्त पेय पदार्थोंका त्याग कर देना चाहिये। तदनंतर उसे चिंतवन करना चाहिये। कि मैंने इन समस्त पदार्थोंका स्वाद जान लिया है। ये संसारके समस्त बाह्य पदार्थ असार हैं इनमें कुछ सार नहीं है अतएव इनसे मुझे कुछ प्रयोजन नहीं हैं इनको तो दूरसे ही छोड देना अच्छा है। संसारमें एक जिनेंद्र देवके ही वचनरूपी अमृत ऐसे हैं जो जन्म मरणरूपी रोगको नाश करनेवाले हैं यही चिंतवन कर उस आराधकको अपने हृदयमें पंच परमेष्ठियोंको निश्चल रीतिसे स्थापन करना चाहिये। पंच परमेष्ठियोंके वाचक " णमो अरहताणं " इत्यादि णमोकार मंत्रका उच्चारण करना चाहिये और सर्वोत्तम फल देनेवाले धर्म्यध्यान वा शुक्लध्यानको धारण करना चाहिये। इसप्रकार पच परमेष्ठियोंको स्मरण करते हुये और णमोकार मत्रका उच्चारण करते हुए और धर्म्यध्यान वा शुक्लध्यान धारण करते हुये अपने शरीरको त्याग कर देना चाहिये ॥ ५६-५९ ॥

देवैस्तिर्यगचेतनैश्च मनुजैः प्राप्तोपसर्गस्तदा
त्यक्त्वाऽऽहारशरीरसंगमखिलं वाधाऽविरामावधि ।

सावद्यं सकलं च निर्मलमना ध्याने प्रशस्ते स्थित-
स्तिष्ठेत्पंचगुरूनभिमतफलप्राप्त्यभ्युपायानपि ॥६०॥

यदि किसी मुनिके ऊपर देव वा तिर्यंच द्वारा किया हुआ उपसर्ग आजाय वा विजली मेघ आदि अचेतन पदार्थोंके द्वारा किया हुआ उपसर्ग आजाय अथवा मनुष्योंके द्वारा किया हुआ उपसर्ग आजाय तो उससमय जबतक वह उपसर्ग दूर न हो तबतक के लिये उनको सब प्रकारके आहारका त्याग कर देना चाहिये, सब प्रकारके परिग्रहोंका त्याग कर देना चाहिये, शरीरसे ममत्वका त्याग कर देना चाहिये और समस्त पापोंका त्याग कर देना चाहिये। इन सबका त्याग कर उन्हें अपना हृदय शुद्ध बनालेना चाहिये, धर्मध्यान वा शुक्लध्यान इन प्रशस्त ध्यानोंमें लीन हो जाना चाहिये और अपनी इच्छानुसार फल देनेवाले—मोक्षफलकी प्राप्ति करानेवाले ऐसे पच परमेष्ठियोंका स्मरण करते हुए विराजमान रहना चाहिये। ॥६०॥

आगे समाधिमरणके भेद और उनका स्वरूप बतलाते हैं।

इंगिन्यां चान्यसंपादितहितविरतौ वर्णितो योऽत्र भक्त-
प्रत्याख्याने क्रमोऽसौ निरतिशयमृतौ स्वोपकारप्रवृत्तौ।
ज्ञेयः प्रायोपगत्यां स्वपराहितकृत्यक्तवांच्छाप्रवृत्तौ
ताभिः ससाष्टजन्मस्वगतदुरिता मोक्षलक्ष्मीं लभन्ते ॥६१॥

समाधिमरण तीन प्रकार है। इंगिनीमरण, भक्तप्रत्याख्यानमरण, और प्रायोपगमनसन्यास। इंगिनीसन्यासमें अन्यके द्वारा की हुई वैयाव्रतिसे विरक्त रहता है अर्थात् अन्य किसीसे वैयावृत्य वा सेवा शुश्रूषा नहीं कराता। अतिशय रहित भक्तप्रत्याख्यान मरणमें अपनी वैयावृत्य अपने आपभी करता है और अन्य लोगोंसे भी कराता है। दोनो प्रकारके वैयावृत्यमें उसकी प्रवृति होती है। तथा तीसरे प्रायोपगमन संन्यासमें न तो स्वयं अपने आप वैयावृत्य करता है और न

दूसरेसे कराता है। उसके वैयावृत्य करने कराने मात्रकी इच्छाका भी त्याग हो जाता है। इस— प्रकार जो इन तीनों प्रकार के संन्यासोंमेंसे कोई भी एक संन्यास धारण करते हैं वे सात आठ भवमें समस्त पापोंसे रहित ऐसी मोक्षलमीको अवश्य प्राप्त होते हैं ॥६१॥

दीक्षामादाय शिक्षामथ गणधरतां रक्षणार्थं गणस्य
संस्कारं स्वस्य भावैः शमदमविभैवयोंऽत्र सल्लेखनां च।
क्रोधादीनां विधाय प्रथितपृथुयशाः साधयेदुत्तमार्थं
सः स्यात्सद्भव्यसस्योत्पलनिकरमुदे मेघचन्द्रो मुनीन्द्रः॥६२॥

जो मुनि श्रीजैनेश्वरी दीक्षा धारण कर समाचारनीति के द्वारा समस्त शिक्षाओंको ग्रहण करते हैं, फिर सधकी रक्षा करने के लिये गणधरपद वा आचार्य पद को स्वीकार करते हैं, अपने शुद्ध परिणामों से आत्माका शुद्ध संस्कार करते हैं, शांत परिणामोंको धारण करना तथा इंद्रियोंको दमन करना आदि आत्म जन्य विभूतियों से क्रोधादिक समस्त कषायोंकी सल्लेखना करते हैं समस्त कषा— योंको कृप करते हैं और इसप्रकार अपने वडे भारी यशको संसारभरमें फैलाकर मोक्षरूप सर्वोत्तम पुरुषार्थ को सिद्ध कर लेते हैं वे श्रेष्ठ भव्यरूपी धान्य और कमलों के समूहको प्रफुल्लित कर— ने के लिये मुनिराज मेघचन्द्र के समान सुशोभित होते हैं। जिसप्रकार मेघोंकी वर्षासे धान्य वढते हैं और चन्द्रमाके उदयसे रात्रि विकासी कमल खिलते हैं उसी प्रकार सल्लेखना वा समाधि— मरण धारण करनेवाले मुनिराजोंसे भी इस संसारके समस्त भव्य जीव वढते हैं और प्रफुल्लित होते हैं। इस आचारसारनामके महाग्रन्थके मूलकर्ता श्री आचार्य वीरनंदि सिद्धांतचक्रवर्ती हैं। उनके गुरु वा पिताका नाम श्री आचार्य मेघचन्द्र है। आचार्य ने अपने गुरुका स्मरण करने वा उनकी महिमा प्रगट करने के लिए ही इस श्लोकमें ऐसा श्लेषालंकारसे परिपूर्ण उपमालंकार दिया है जिससे उपमा भी ठीक वैठ जाय और अपने गुरुका नाम भी आजाय। इससे यह भी

॥२९६॥

सिद्ध होता है कि जिसप्रकार गुरुराज मेघचद्रने समाधिमरण धारणकर भव्य जीवोंको आल्हादित किया है उसीप्रकार समाधिमरण धारण करनेवाले मुनिराज भव्य जीवोंको सदा आल्हादित करते रहते हैं। ॥ ६२ ॥

आगे अध्यायके अंतमें श्री श्रेयांसनाथकी स्तुति करते हैं।

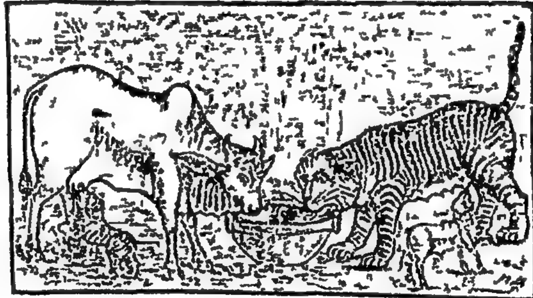
श्रेयोनाथ ! सरस्वतीश्वरतया रत्नाकरत्वेन तु
गांभीर्येण वरेण निर्मलतया वार्द्धिः समोस्तु त्वया ।
किं वंद्या जलधेः सदा प्रमुदितत्रैलोक्यसंसेव्यता
लक्ष्मीश्चाक्षयसंगमाऽस्ति परमा मूर्तिर्मनोहारिता ॥ ६२ ॥

हे भगवान् श्रेयांसनाथ ! यद्यपि आपभी सरस्वतीके स्वामी है दिव्यध्वनिरूपी सरस्वतीके नायक हैं और समुद्र भी सरस्वती—नदीका स्वामी है। आपभी सम्यग्दर्शन आदि अनेक रत्नोंकी खानि हो— अनेक रत्न आपमें भरे हुए है उसीप्रकार समुद्र भी अनेक रत्नोंकी खानि है— उसमें भी बहुतसे रत्न भरे हैं, आपभी गंभीर है, समुद्र भी गंभीर है, आपभी उत्तम हैं समुद्र भी उत्तम है, तथा आपभी अत्यंत निर्मल वा शुद्ध है समुद्र भी अत्यंत निर्मल और शुद्ध है। इन साधारण बातोंमें यद्यपि समुद्र आपकी समानता धारण करता है। तथापि सबके द्वारा वंदना करने योग्य, सदा प्रसन्न रहनेवाली, तीनों लोकोंके द्वारा सेवा करने योग्य और सदा अक्षय रहनेवाली ऐसी मोक्षरूपी अपूर्व लक्ष्मी क्या समुद्रके है ? अथवा आपके समान परम मनोहरता और आपके समान परम शांत मूर्ति समुद्रके है ? अर्थात् नहीं।

भावार्थ—— यद्यपि कुछ अंशोंमें समुद्र आपकी समानता रखता है तथापि आपके समान मनोहरता, परम शांत मूर्ति और मोक्षरूप अक्षय लक्ष्मी समुद्रके न है और न हो सकती है। अतएव समुद्र किसी भी प्रकारसे आपके समान नहीं हो सकता। ऐसे हे श्रेयांसनाथ ! मैं आपकी सदा स्तुति करता हूं। ॥ ६२ ॥

॥२९७॥

इसप्रकार श्री वीरनंदि सिद्धातचक्रवर्ति विरचित
श्री आचारसार नामके शास्त्रकी, चावली [आगरा]
निवासी देहली प्रवासी 'धर्मरत्न' पं. लालाराम
शास्त्री द्वारा निर्मित सरल हिंदी भाषा
टीकामें ध्यानके स्वरूपका वर्णन कर-
नेवाला यह दशवा अधिकार
समाप्त हुवा.



अथैकादशोऽधिकारः ॥११॥

श्रियं ममैनास्तिमिरक्षयोज्ज्वलां
सन्मार्गगः श्रीविमलः क्रियात्सदा ।
जिनो निजानंतवरैर्गुणोत्करै-
र्विराजमानो जनताब्जभास्करः ॥ १ ॥

॥२९८॥

ग्यारहवां अधिकार.

जो भगवान् श्री विमलनाथ स्वामी सूर्यके समान हैं । जिसप्रकार सूर्य कमलोंको प्रफुल्लित करता है उसी प्रकार जो मनुष्यके समूहरूपी कमलोंको प्रफुल्लित करते हैं, जिसप्रकार सूर्य अनेक किरणों से सुशोभित है उसी प्रकार जो भगवान् अपने अनंत उत्तम गुणोंके समूहसे सुशोभित हैं, सूर्य जिसप्रकार श्रेष्ठ आकाश मार्गसे गमन करता है उसी प्रकार जो भगवान् श्रेष्ठ मोक्षमार्गमें गमन करते है और सूर्य जिसप्रकार निर्मल है उसप्रकार जो भगवान् समस्त दोषोंसे रहित निर्मल हैं । इसप्रकार सूर्य के समान भगवान् विमलनाथ तेरहवें तीर्थंकर मुझे पापरूपी अंधकारके नाश होनेसे प्राप्त होनेवाली सर्वोत्तम मोक्षरूपी लक्ष्मीको सदा प्रदान करते रहें ॥१॥

जीवस्य कर्मणो भेदवेदनायेदमुच्यते ।
संक्षेपेणाज्ञसंज्ञप्त्यै जीवकर्मप्ररूपणम् ॥ २ ॥

आगे जीव और कर्मों के भेदोंको जानने के लिये अजानकार जीवोंको अत्यंत संक्षेपसे जीव और कर्मोंके संबधको कहनेवाला जीवकर्म प्ररूपणनामका अधिकार कहते हैं ॥२॥

जीवो गुणोऽस्य पर्याप्तिः प्राणः संज्ञा तु मार्गणाः ।
चतुर्दशोपयोगश्चेत्याद्यं विंशतिभेदगम् ॥ ३ ॥

जीवसमास, गुणस्थान, पर्याप्ति, प्राण, संज्ञा, चौदह मार्गणा, और उपयोगके भेदसे वीस प्ररूपणा कही जाती हैं ॥३॥

आगे क्रमसे इन्हीं वीस प्ररूपणाओंका वर्णन करते हैं । उसमें भी
सबसे पहले जीवसमास बतलाते हैं ।

त्रसादीनां चतुर्युग्मेष्वविरुद्धोदयान्वितान् ।
जातिकर्मोदयाज्जीवसमासाः स्युश्चतुर्दश ॥ ४ ॥

॥२९९॥

त्रस स्थावर, बादर सूक्ष्म, पर्याप्तक अपर्याप्तक और प्रत्येक साधारण ये चार युग्म त्र। चार जोडे कहलाते हैं। इन त्रसादिकों के चारों जोडोंमें से अविरुद्ध उदय होनेके साथ एकेंद्रिय आदि जाति कर्मोंके उदय होनेसे चौदह जीवसमास हो जाते हैं।

भावार्थ— एकेंद्रिय, दो इंद्रिय तेइन्द्रिय चौइन्द्रिय पंचेन्द्रिय जीवोंके ही बादर, सूक्ष्म, पर्याप्तक अपर्याप्तक, सैनी असैनी और त्रस, स्थावर के अविरुद्धताके साथ उदय होनेसे चौदह भेद हो जाते हैं।

आगे उन्हीं चौदह भेदोंको दिखलाते हैं।

त एते स्थूलसूक्ष्मैकाक्षद्वित्रिचतुरिन्द्रियाः।
संज्ञ्यसंज्ञ्यंगिपंचाक्षपर्याप्तेतरसंज्ञकाः ॥ ५ ॥
संग्रहीतविशेषद्विसामान्यत्वादितीरिताः।
नैगमाश्रयणादेवमन्यत्रापि निरूपयेत् ॥ ६ ॥ (युग्मम्)

एकेन्द्रियसूक्ष्म, एकेन्द्रियस्थूल, दोइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चौइन्द्रिय, असैनीपंचेन्द्रिय, और सैनी पंचेन्द्रिय ये सात भेद होते हैं ये सातोंही पर्याप्तक होते हैं और सातोंही अपर्याप्तक होते है। इसप्रकार चौदह भेद होजाते है। उनके क्रमसे नाम ये हैं। एकेन्द्रियसूक्ष्मअपर्याप्तक १ एकेन्द्रियसूक्ष्मपर्याप्तक, २ एकेन्द्रियस्थूलअपर्याप्तक, ३ एकेन्द्रियस्थूलपर्याप्तक, ४ दोइन्द्रिय, अपर्याप्तक ५ दोइन्द्रियपर्याप्तक, ६ तेइन्द्रियअपर्याप्तक, ७ तेइन्द्रियपर्याप्तक, ८ चौ इन्द्रिय अपर्याप्तक ९ चौइन्द्रियपर्याप्तक, १० असैनी पंचेन्द्रिय अपर्याप्तक ११ असैनी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक १२ सैनीपंचेन्द्रियअपर्याप्तक १३ और सैनी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक १४ ऐसे चौदह भेद होते है ॥५॥

ये जो ऊपर चौदह भेद बतलाये हैं सो तिर्यक्सामान्य और ऊर्ध्वता सामान्यके विशेष भेदोंको लेकर ही वर्णन किये हैं। यदि नैगम नयके आश्रयसे इनके भेद किये जायं तो और

॥३००॥

भी अनेक भेद होते हैं उन सबका यथायोग्य रीतिसे निरूपण कर लेना चाहिये। जैसे ५७ वा ९८ जीवसामास होते है ॥६॥

आगे योनियोंके भेद कहते हैं।

सचित्ताऽचित्तमिश्रोष्णा शीता मिश्रा च संवृता।
विवृतेत्यंगिनामष्टौ स्युः सन्मूर्च्छनयोनयः ॥७॥

सम्मूर्च्छन जीवोंकी सचित्त, अचित्त, सचित्ताचित्त, उष्ण, शीत, शीतोष्ण, संवृत, विवृत ये आठ योनियां हैं। इन आठ प्रकारकी योनियोंसे सम्मूर्च्छन जीव उत्पन्न होते हैं ॥ ७ ॥

सचित्ताचितयोर्मिश्रा संवृततेतरयोरपि।
शीतोष्णमिश्राः पंचैवं जीवानां गर्भयोनयः ॥८॥

गर्भज जीव सचित्ताचित्त, संवृतविवृत, शीत, उष्ण और शीतोष्ण इन पांचप्रकारकी योनियोंसे उत्पन्न होते हैं ॥ ८ ॥

उपपादयोनयः स्युः शीतोष्णाचित्तसंवृताः।
संवृतैकेन्द्रियेऽन्येषु विवृतोष्णा त्वग्निकायिके ॥९॥

औपपादिक जीव अर्थात् देव और नारकी जीव शीत, उष्ण, आचित्त और संवृत इन चार योनियोंसे उत्पन्न होते हैं। एकेन्द्रिय जीवोंकी संवृत योनि है, दोइन्द्रिय तेइन्द्रिय चौइन्द्रिय और पचेन्द्रिय सम्मूर्च्छन जीवोंके विवृत योनि हैं अग्निकायिक जीवोंके उष्ण योनि है ॥ ९ ॥

जराय्वंडजपोताः स्युर्गर्भेऽप्येवोपपादिकाः।
नाकिनो नारकाश्चान्ये स्युः सम्मूर्च्छनयोनयः ॥ १०॥

जरायुज, अंडज, और पोत जीव गर्भसे ही उत्पन्न होते हैं। जिनके ऊपर जरा आती है उनको जरायुज कहते हैं। अंडोंसे उत्पन्न होनेवाले अंडज है और जिनपर जरा न हो तथा जो

॥३०१॥

पैदा होते ही भाग निकलें ऐसे हरिण सिंह आदि पोत कहलाते हैं। ये सब गर्भसे ही उत्पन्न होते हैं। देव नारकी उपपाद जन्मसे उत्पन्न होते हैं। देव और नारकियोंके उत्पन्न होनेका स्थान विशेष होता है वहीं पर की पुद्गल वर्गणाएं शरीररूप परिणत हो जाती हैं। इसको उपपाद जन्म कहते हैं। गर्भसे उत्पन्न होनेवाले और उपपादसे उत्पन्न होनेवाले जीवोंको छोडकर बाकीके समस्त जीव सम्मूर्च्छनसे उत्पन्न होते हैं। जहां कहीं शरीरकी सामग्री प्राप्त होनेपर चारों ओरसे शरीर बन जाय उसको सम्मूर्च्छन कहते हैं ॥ १० ॥

आगे योनियोंके चौरासी लाख भेद बतलाते हैं।

सप्त सप्त निगोदद्वयोर्वीतोयाग्निवायुषु।
प्रत्येके दश योनीनां षडपिंडाद्विकलेन्द्रिये ॥११॥
पंचाक्षे नारके देवे चत्वारि तु चतुर्दश।
नरे चतुरशीतिः स्युर्लक्षाण्येवं विशेषतः ॥१२॥

नित्य निगोदकी सात लाख योनियां हैं, इतर निगोदकी सात लाख योनियां है, पृथ्वी कायिकजीवोंकी सात लाख हैं, अग्निकायिक जीवोंकी सात लाख हैं, जलकायिक जीवोंकी सात लाख हैं वायु कायिक जीवोंकी सात लाख हैं। प्रत्येकवनस्पतिकायिक जीवोंकी दश लाख हैं। दोइन्द्रिय जीवोंकी दो लाख, तेइन्द्रिय जीवोंकी दो लाख, चौइन्द्रिय जीवोंकी दो लाख, पंचेन्द्रिय पशुओंकी चार लाख, नारकियोंकी चार लाख, देवोंके चार लाख, और मनुष्योंकी चौदह लाख योनियां है। इसप्रकार समस्त जीवोंकी मिलकर सब चौरासी लाख योनियां है ॥ ११—१२ ॥

आगें और भी योनियोंके भेद बतलाते हैं।

न जन्म शंखावर्त्तायां तीर्थेशाश्चक्रिणो बलाः।
कूर्मोन्नतायां स्युश्चान्ये वंशपत्राकृतौ परे ॥१३॥

योनियां तीन प्रकार हैं शंखावर्त योनि, कूर्मोन्नत योनि और वंशपत्र योनि । इनमेंसे शंखावर्त योनिमें गर्भ धारण होता ही नहीं है। तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलभद्र आदि कूर्मोन्नत योनिसे उत्पन्न होते हैं तथा अन्य सब जीव वंशपत्र योनिसे उत्पन्न होते हैं ॥ १३ ॥

आगे नारकियोंकी अवगाहना बतलाते हैं।

आदीन्द्रके त्रिहस्ताः स्युराद्युर्व्यामन्तिमेन्द्रके।
सप्तचापास्त्रिहस्ताश्च षडंगुल्यस्तनूच्छ्रयः ॥१४॥
द्वितीयाद्युर्वरान्तेन्द्रकेषु स्याद्विगुणः क्रमात्।
नारकाणामयं हानिवृद्धी स्यातां परेषु तु ॥१५॥

नरककी सात पृथिवी हैं उसमें पहली पृथिवीके पहले पटलमें इन्द्रक विमानमें जो नारकी हैं उनकी उंचाई तीन हाथ है । तथा उसी पहली पृथ्वीके अतिम पटलके इन्द्रक विमानमें जो नारकी हैं उनके शरीरकी उंचाई सात धनुष तीन हाथ छह अंगुल है । दूसरी पृथिवीके अतिम पटलके नारकियोंकी उंचाई इससे दूनी है और इसीप्रकार सातवीं पृथ्वीतक बराबर दूनी दूनी चली गई है अंतके नरकमें शरीरकी उंचाई पांचसौ धनुप है । इसप्रकार सब नरकोंमें शरीरकी उंचाई न्यूनाधिक है ॥ १४-१५ ॥

भावार्थ— पहली पृथ्वीमें १३ पटल हैं तीस लाख बिल हैं शरीरकी उंचाई सात धनुप तीन हाथ छह अंगुल है उत्कृष्ट आयु १ सागर जघन्य दश हजार वर्ष है दूसरी पृथ्वीमें ११ पटल हैं २५ लाख बिल हैं, शरीरकी उंचाई १५ धनुप, २ हाथ १२ अंगुल है । उत्कृष्ट आयु ३ सागर जघन्य १ सागर है। तीसरी पृथ्वीमें ९ पटल हैं १५ लाख बिल हैं, शरीरकी उंचाई ३१ धनुष १ हाथ है । उत्कृष्ट आयु ७ सागर जघन्य ३ सागर है। चौथी पृथ्वीमें ७ पटल हैं १० लाख बिल हैं, शरीरकी उंचाई ६२ धनुष २ हाथ है, उत्कृष्ट आयु १० जघन्य ७ सागर है। पांचवी पृथ्वीमें ५ पटल हैं

॥३०३॥

३ लाख विल हैं शरीरकी उंचाई १२५ धनुप है, उत्कृष्ट आयु १७ सागर जघन्य १० सागर है। छठी पृथ्वीमें ३ पटल हैं ९९९९५ विल है। शरीरकी उंचाई २५० धनुष है, उत्कृष्ट आयु २२ सागर जघन्य १७ सागर हैं। सातवीं पृथ्वीमें एक पटल है ५ विल हैं शरीरकी उंचाई ५०० धनुप है उत्कृष्ट आयु ३३ सागर जघन्य २२ सागर है।

आगे शरीरकी अवगाहना कहते हैं।

ऋज्व्या गत्या समुत्पन्नस्तृतीयसमयेऽवरः।
देहः सूक्ष्मनिगोदस्य लब्ध्यपर्याप्तकस्य च ॥१६॥

जो जीव ऋजुगातिसे उत्पन्न हुआ है ऐसे सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीवके तिसरे समयमें शरीरकी अवगाहना घनांगुलके पल्यका असख्यातवां भाग प्रमाण होती है। यही सबसे जघन्य अवगाहना है। इसका कारण यह है कि उसका आकार पहले समयमें लंबाई लिये हुए चौकोर रहता है दूसरे समयमें सम चौकोर रहता है और तीसरे समयमें गोल हो जाता है। गोल होनेसे ही वह सबसे जघन्य वा छोटा हो जाता है॥ १६॥

पल्याऽसंख्येयभागेन विभक्तं स्याद्ध नांगुलम्।
चतुर्वृद्धियुतोऽप्यस्मादालापादीदृशो मतः ॥ १७ ॥

उस तीसरे समयकी अवगाहनाका प्रमाण पल्यके असंख्यातवें भागमें विभक्त घनांगुल प्रमाण है यद्यपि इसमें चारों प्रकार संख्यातभागवृद्धि, सख्यातगुणवृद्धि, असंख्यातभागवृद्धि, असंख्यातगुणवृद्धि ये चारों प्रकारकी वृद्धि होती हैं। तथापि आलाप वा कथनकी अपेक्षा वह जीव घनांगुलके असंख्यातवें भाग प्रमाण ही कहलाता हैं॥ १७॥

लब्धिनिर्वृत्यपर्याप्तपर्याप्तेष्ववरो वरः
निर्वृत्यपूर्णपूर्णेषु विशेषः केषुचिद्यथा ॥ १८ ॥

लब्ध्यपर्याप्तक, निर्वृत्यपर्याप्तक, और पर्याप्तक इन सबमें क्रमसे जघन्य उत्कृष्ट अवगाहना समझनी चाहिये । किंतु इन तीनोंमें जो कोई विशेष हैं वह इसप्रकार है ॥ १८ ॥

घनांगुलस्य संख्येयभागः स्यादवरः क्रमात् ।
पूर्णद्वित्रिचतुःपंचाक्षाणां संख्यातसंगुणम् ॥१९॥

घनांगुलके संख्यातवें भाग तो द्वीन्द्रिय पर्याप्तककी जघन्य अवगाहना है। और वही जघन्य अवगाहना अनुक्रमसे तेइन्द्रिय चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीवोंके संख्यात संख्यातगुणी है ॥१९॥

अब आगे इनके स्वामी बतलाते हैं ।

तज्जघन्यमणुंधर्यां कुंथावप्यवगाहनम् ।
स्यात्काणमाक्षिकायां च सिक्थमत्स्ये यथाक्रमम् ॥२०॥

द्वीन्द्रिय जीवोंमें अणुंधरीमें, तेइन्द्रिय जीवोंमें कुंथुमें, चोइन्द्रिय जीवोंमें काणमक्षिकामें और पंचेन्द्रिय जीवोंमें सिक्थमत्स्यमें क्रमसे जघन्य अवगाहना होती है ॥ २० ॥

वरं त्रिचतुर्द्व्यक्षा प्रतिष्ठितेंगमपूर्णके ।
पंचाक्षे च ततः पूर्णेऽमीषां संख्यातसंगुणम् ॥ २१ ॥

तेइन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, दोइन्द्रिय, प्रतिष्ठितप्रत्येकवनस्पति और पंचेन्द्रियपर्याप्तक इन सब जीवोंमें उत्कृष्ट अवगाहना संख्यातगुणी है । कमलकी अवगाहना कुछ अधिक एक हजार योजन है और वह केवल लंबाईकी अपेक्षासे हैं । द्वीन्द्रियकी बारह योजन, तेइन्द्रियकी तीन कोस, चतुरिन्द्रियकी एक योजन, और पंचेन्द्रिय महामत्स्यकी अवगाहना एक हजार योजन है । यहांपर इतना और समझलेना चाहिये कि कमलकी लंबाईकी अपेक्षासे हैं और पंचेन्द्रिय पर्याप्तक महामत्स्यकी अवगाहना घन क्षेत्रकी अपेक्षासे हैं । इसलिये कमलकी अवगाहनासे महामत्स्यकी अवगाहना बडी है २१

आगे द्वीप समुद्रोंका वर्णन करते हैं ।

॥३०५॥

जंबूद्वीपः सुवृत्तोऽसौ मध्यलोकाऽतिमध्यगः ।
लक्षयोजनविस्तारस्ततः स्याल्लवणार्णवः ॥२२॥
धातकीखंडद्वीपोऽतः स्यात्कालोदकवारिधिः ।
स्तः पुष्करवरौ द्वीपसागरौ वारुणीवरौ ॥२३॥
तथा क्षीरघृतक्षौद्रवरनन्दीश्वरादयः ।
मध्ये प्रशस्तनामानोऽसंख्येयाः समनामकाः ॥२४॥

मध्यलोकमें असख्यात द्वीप और असख्यात समुद्र हैं। सबके मध्यमें जबूद्वीप है, वह जम्बू–
द्वीप गोल है, मध्यलोकके अत्यंत मध्यमें है और एक लाख योजन चौडा है। उसके चारों ओर
लवण समुद्र है उसको घेरे हुए धातकीद्वीप है। उसके चारों ओर कालोदधि समुद्र है। उसको
घेरे हुए पुष्करवर द्वीप है। उसके चारों ओर पुष्करवर समुद्र है। उसके बाद वारुणीवर द्वीप है।
फिर वारुणीवर समुद्र है। उसको घेरे हुए क्षीरवर द्वीप है फिर क्षीरवर सागर है। तदनंतर घृतवर
द्वीप है, घृतवर समुद्र है। उसको घेरे हुए क्षौद्रवर द्वीप है, उसके चारों ओर क्षौद्रवर समुद्र है।
फिर नंदीश्वर द्वीप है, नदीश्वर समुद्र है। इसप्रकार द्वीप और समुद्रोंके एकसे नाम है और इस
मध्यलोकमें असंख्यात द्वीप हैं और असंख्यात समुद्र हैं॥ २२–२४ ॥

स्वयंभूरमणद्वीपसागरावन्तसंस्थितौ ।
सर्वे सार्द्धद्विकोद्धारसागरोपमसम्मिताः ॥२५॥

इन सब द्वीपसमुद्रोंके अंतमें जो द्वीप है उसका नाम स्वयभूरमण द्वीप है और उसको घेरे
हुए जो सबसे अंतिम समुद्र है उसका नाम स्वयंभूरमण समुद्र है। ढाई उद्धार सागरमें जितने रोमोंकी
संख्या होती है उतनी संख्या इन द्वीप समुद्रोंकी है॥ २५ ॥

॥३०६॥

जंबूद्वीपात्तु विष्कंभा द्विगुणाद्विगुणाः क्रमात् ।
पूर्वं पूर्वं परिक्षिप्ता वलयाकृतयोऽखिलाः ॥२६॥

पहले जंबूद्वीपकी चौडाई एक लाख योजन बता चुके हैं । इससे दूनी लवण समुद्रकी चौडाई है । उससे दूनी धातकीद्वीपकी है इसप्रकार सब द्वीप समुद्रोंकी चौडाई पहले पहलेसे दूनी दूनी चली गई है । ये सब द्वीप समुद्र एक दूसरेको घेरे हुए हैं और सब कंकणके आकारके हैं ॥ २६॥

स्वस्वनामरसास्वादा लवणो वारुणीवरः ।
वार्द्धी क्षीरघृतवरौ चत्वार इति कीर्त्तिताः ॥२७॥
कालोदपुष्करवरस्वयंभूरमणार्णवाः ।
जलास्वादास्त्रयः क्षौद्ररसाः शेपास्तु सागराः ॥२८॥

लवण समुद्रका स्वाद लवणके समान है, वारुणीवर समुद्रका स्वाद वारुणी अर्थात् मद्यके समान है, क्षीरसागरका स्वाद दूधके समान है और घृतवर समुद्रका स्वाद घीके समान है । इसप्रकार इन चार समुद्रोंके जलका स्वाद तो अपने अपने नामके अनुसार हैं । तथा कालोदक समुद्र, पुष्करवर समुद्र और स्वयंभूरमण समुद्रके जलका स्वाद साधारण जलके समान है । और बाकीके समस्त समुद्रोंके जलका स्वाद क्षौद्रके (शहतके) रसके समान मीठा समझना चाहिये ॥ २७-२८ ॥

आमानुषोत्तरान्मर्त्या यतः सोन्वर्थसंज्ञकः ।
पुष्करद्वीपमध्यस्थः स गिरिर्वलयाकृतिः ॥२९॥

तीसरे पुष्कर द्वीपके मध्यभागमें एक ककणके आकारका पर्वत है जिसका नाम मानुषोत्तर पर्वत है । मनुष्योंका निवास वा रहन सहन जाना आना आदि सब मानुपोत्तर पर्वततक ही है आगे नहीं है । इसीलिये इस पर्वतका मानुपोत्तर नाम सार्थक है । जो मनुष्योंके क्षेत्रसे आगे हो उसको मानुषोत्तर कहते है ॥ २९ ॥

॥२०७॥

स्वयंभूरमणद्वीपमध्यस्थाद्वलयाकृतेः
स्वयंप्रभाचलात्सर्वा कर्मभूमिर्बहिः स्थिता ॥३०॥

जिसप्रकार पुष्कर द्वीपके मध्यभागमें मानुषोत्तर पर्वत है उसीप्रकार अंतके स्वयंभूरमण द्वीपके मध्यभागमें भी एक स्वयप्रभ नामका पर्वत है। यह पर्वत भी उस द्वीपके मध्यमें रों ओर कंकणके आकारका पडा हुआ है। उस पर्वतसे आगे आधे स्वयंभूरमण द्वीपमें और समस्त स्वयंभूरमण समुद्रमें कर्मभूमि समझनी चाहिये ॥ ३० ॥

स्वयंप्रभाचलादारात्परतो मानुषोत्तरात्।
मध्या भूरन्तरद्वीपा जघन्या भोगभूमयः ॥३१॥

मानुषोत्तर पर्वतसे आगे स्वयंप्रभ पर्वततक जितने असख्यात द्वीप समुद्र है उन सबमें मध्यम भोगभूमिका समय रहता है। तथा छ्यानवे अंतर्द्वीप हैं उन सबमें जघन्य भोगभूमि समझनी चाहिये ॥ ३१ ॥

क्रोशोनं योजनं दैर्घ्यमेकं द्वादश साधिकम्।
सहस्रयोजनं गोम्यां भृंगे शंखेऽम्बुजे वरम् ॥३२॥

तेइन्द्रिय लाल वीछूका सबसे बडा शरीर तीन कोश लंवा होता है। चौइन्द्रिय भौरेका शरीर एक योजनका होता है। दोइन्द्रिय शंखका शरीर कुछ अधिक बारह योजनका होता है और कमलका सबसे बडा शरीर एक हजार योजनका होता है ॥ ३२ ॥

सम्मूर्च्छनजपर्याप्ते स्वयंभूरमणांबुधौ।
सहस्रयोजनं मत्स्ये सरित्संगेऽस्य तद्दलम् ॥३३॥

स्वयंभूरमण समुद्रमें एक पर्याप्तक मत्स्य (महामत्स्य) होता है उसका शरीर एक हजार योजनका होता है। वह महामत्स्य सम्मूर्च्छनजन्मसे उत्पन्न होता है। तथा उसी स्वयभूरमण समुद्रमें

नदियोंके संगमपर पांचसौ योजनका मत्स्य होता है॥ ३३ ॥

लवणाब्धौ सरित्संगमेस्याष्टादशतद्दलम् ।
कालोदकाब्धौ तत्सिंधुसंगे च द्विगुणं ततः ॥३४॥

लवणसमुद्रमें अठारह योजनका मत्स्य होता है तथा लवणसमुद्रमें नदियोंके संगमपर नौ योजनका मत्स्य होता है और कालोदसमुद्रमें छत्तीस योजनका मत्स्य होता है और इसी कालोद-समुद्रमें नदियोंके संगमपर इससे आधा अर्थात् अठारह योजनका मत्स्य होता है ॥ ३४ ॥

जलस्थलखगापूर्णे खगपूर्णे च गर्भजे ।
सम्मूर्च्छनस्थलखगे पूर्णे चाप पृथक्त्वगः ॥३५॥

गर्भसे उत्पन्न होनेवाले अपर्याप्तक जलचर, अपर्याप्तक स्थलचर, अपर्याप्तक नभचर, पर्याप्तक नभचर, तथा सम्मूर्च्छनसे उत्पन्न होनेवाले पर्याप्तक स्थलचर और पर्याप्तक नभचरके शरीरकी अव—गाहना पृथक्त्व धनुष है तीनसे ऊपर और नौसे नीची संख्याको पृथक्त्व कहते है । अर्थात् इन जीवोंकी शरीरकी अवगाहना तीन धनुषसे लेकर नौ धनुषतक है ॥ ३५ ॥

जलस्थलखगापूर्णे स्यात्सम्मूर्च्छनजन्मानि ।
वरो वितस्तिर्देहोल्पः कुंथुमात्रः पयश्चरे ॥३६॥

सम्मूर्च्छनजन्मसे उत्पन्न होनेवाले अपर्याप्तक जलचर, अपर्याप्तक स्थलचर और अपर्याप्तक नभ-चर जीवोंकी उत्कृष्ट अवगाहना एक वितास्ति (आधा हाथ वा एक विलस्त) है । तथा जलचर जीवोंमें कुंथु जातिके जीवोंकी जघन्य अवगाहना एक विलस्त है ॥ ३६ ॥

जलगे गर्भजे पूर्णे स्यात्पंचशतयोजनम् ।
स्थलगे गर्भजे पूर्णे त्रिक्रोशं तिर्यगांगिनि ॥३७॥

जो जीव गर्भसे उत्पन्न होनेवाले पर्याप्तक जलचर है उनकी उत्कृष्ट अवगाहना पांचसौ

योजन है। तथा गर्भसे उत्पन्न होनेवाले पर्याप्तक स्थलचर तिर्यंचोंकी उत्कृष्ट अवगाहना तीन कोश है ॥ ३७ ॥

त्रिभोगभूजे त्रिद्व्येकक्रोशाः स्युः कर्मभूमिजे ।
चापाः पंचशतं पंचविंशातिश्च नरे वरन् ॥३८॥

मनुष्योंके शरीरकी अवगाहना उत्तम भोगभूमिमें तीन कोश हैं, मध्यम भोगभूमिमें दो कोश है, जघन्य भोगभूमिमें एक कोश है। इसीप्रकार कर्मभूमिके मनुष्योंकी उत्कृष्ट अवगाहना पांचसौ पचीस धनुष है ॥ ३८ ॥

आगे देवोंके शरीरकी अवगाहना बतलाते हैं।

चापाः स्युरसुरे पंचविंशातिः शेषभावने ।
व्यन्तरेषु दशोत्सेधो ज्योतिष्के सप्तदेहगः ॥३९॥

असुरकुमार देवोंके शरीरकी अवगाहना पचीस धनुष है, असुरकुमार देवोंको छोडकर बाकीके भवनवासी देवोंकी तथा व्यंतरदेवोंके शरीरकी अवगाहना दश धनुष हैं और ज्योतिषी देवोंके शरीरकी अवगाहना सात धनुष है ॥ ३९ ॥

कल्पेषु द्विद्विचतुर्षु स्युश्चतुर्षु द्वयोर्द्वयोः ।
सप्त षट् पंच चत्वारस्त्रयः सार्द्धाः करास्त्रयः ॥४०॥

सौधर्म ऐशान स्वर्गमें देवोंके शरीरकी आवगाहना सात हाथ है, सानत्कुमा माहेन्द्र स्वर्गमें देवोंके शरीरकी अवगाहना छह हाथ हैं। ब्रह्म, ब्रह्मोत्तर, लांतव, कापिष्ट इन चार स्वर्गोंमें देवोंके शरीरकी अवगाहना पांच हाथ है। शुक्र, महाशुक्र, सतार, सहस्रार इन चार स्वर्गोंमें शरीरकी अवगाहना चार हाथ है। आनत प्राणत इन दो स्वर्गोंके देवोंकी अवगाहना साडे तीन हाथ है। आरण अच्युत स्वर्गोंमें शरीरकी अवगाहना तीन हाथ है। इसप्रकार सोलह स्वर्गोंमें शरीरकी उंचाईका प्रमाण समझना चाहिये ॥ ४० ॥

त्रित्रित्रिग्रैवेयकेष्वनुदिशानुत्तरेष्वतः ।
स्युः सार्द्धद्विद्विद्व्यर्द्धैककराः काये दिवौकसाम् ॥ ४१ ॥

तीन अधोग्रैवेयकों में ढाई हाथका शरीर है । तीन मध्यम ग्रैवेयकोंमें दो हाथका शरीर है, तीन उपरिम ग्रैवेयकों में डेड हाथका शरीर है। नौ अनुदिशोंमें तथा विजय वैजयंत जयंत अपराजित सर्वार्थसिद्धि इन पांचों अनुत्तर विमानों में एक हाथका शरीर है ४१ इसप्रकार शरीरकी अवगाहनाएं बतलाईं।

अब आगे जीवों के कुलकोडि बतलाते हैं ।

कुलानां कोटिलक्षाणि स्युर्भूतोयाग्निवायुषु ।
द्व्युत्तरा विंशतिः सप्त त्रीणि सप्त यथाक्रमम् ॥ ४२ ॥
अष्टाविंशतिः सप्ताष्टौ नवार्द्धानत्रयोदश ।
वनस्पतौ द्व्यक्षे त्र्यक्षे चतुरक्षे पयश्चरे ॥ ४३ ॥
नव दश द्वादशोरःपारिसर्पे चतुष्पदे ।
विहंगे द्वादश नरे नारके पंचविंशतिः ॥ ४४ ॥
देवे षड्विंशतिस्तेषां कोटिलक्षाणि पिंडतः ।
सार्द्धसप्तनवत्यग्रशतमात्राणि देहिनाम् ॥ ४५ ॥

कुलोंकी करोडों संख्याको कुलकोडि कहते हैं। पृथ्वीकायिक जीवों के वाईस लाख कुल-कोडि है। जलकायिक जीवों के सात लाख कुलकोडि है। अग्निकायिक जीवों के तीन लाख कुल-कोडि है। वनस्पतिकायिक जीवों के अट्ठाईस लाख कुलकोडि हैं । दो इन्द्रिय जीवों के सात लाख कुलकोडि हैं । ते इन्द्रिय जीवों के आठ लाख कुलकोडि हैं । चौइन्द्रिय जीवों के नौ लाख कुलकोडि है जल नर जीवों के साडेबारह लाख कुलकोडि है । सरीसर्पजीवों के नौ लाख कुलकोडि है । चतुष्पद जीवो के दश लाख कुलकोडि है। पक्षियों के बारह लाख कुलकोडि हैं। मनुष्य के बारह लाख कुल-

कोडि हैं और नारकियों के पच्चीस लाख कुलकोडि है। इसप्रकार देवों के छवीस लाख कुलकोडि हैं। इन सब जीवों के एकसौ साडे सत्तानवे लाख कुलकोडि हैं।

आगे सब जीवों की आयु बतलाते हैं।

भौमभावनयोरायुर्जघन्यं चादिमेन्द्रके।
दशाब्दनां सहस्राणि घर्मायां नवतिर्वरम् ॥ ४६ ॥
लक्षाणां नवतिः पूर्वकोट्योऽसंख्या दशांशकः।
रत्नाकरोपमस्यास्यां द्वितीयादीन्द्रकत्रये ॥ ४७ ॥
एकत्रिसप्ताद्युपमा दश सप्तदश क्रमात्।
द्वाविंशतिस्त्रयस्त्रिंशदाद्युर्व्योघान्तिमेन्द्रके ॥ ४८ ॥

भवनवासी देवोंकी, व्यंतरदेवोंकी तथा पहले नारक के पहले पटलके इन्द्रक नरक में नारकियों की जघन्य आयु दश हजार वर्ष हैं। तथा पहले नरक के पहले पटल के नारकियों की उत्कृष्ट आयु नव्वे हजार वर्षकी जाननी चाहिये। पहली पृथ्वीके दूसरे पटल के इन्द्रक नरक में नव्वे लाख पूर्वकी आयु है। तीसरे पटलमें असंख्यात करोड पूर्वकी आयु है। चौथे पटलमें एक सागरका दशवां भाग है। पहली पृथ्वी के अंतिम पटलके इन्द्रक नरकमे उत्कृष्ट आयु एक सागर है। दूसरी पृथ्वीके अंतिम पटलके अंतिम इन्द्रकमें उत्कृष्ट आयु तीन सागर है। तीसरी पृथ्वीके अंतिम पटलके इन्द्रक नरकमें उत्कृष्ट सात सागर है। चौथी पृथ्वीके आतिम पटलके आतिम इन्द्रकमे दश सागर है। पांचवी पृथ्वीके अंतिम पटलके इन्द्रक नरकमें उत्कृष्ट सत्रह सागर है। छठी पृथ्वीके अंतिम पटलके इन्द्रक नरकमें उत्कृष्ट आयु बाईस सागर है। और सातवीं पृथ्वीके पटलके इन्द्रकमें नारकियोंकी उत्कृष्ट आयु तेतीस सागर है॥ ४६—४८ ॥

प्रथमादिवरायुष्यं समयोत्तरमीरितम् ।
द्वितीयादिजघन्यायुरिति कल्पेष्वयं क्रमः ॥ ४९ ॥

पहली आदि पृथ्वीके नारकीयोंकी जो उत्कृष्ट आयु है एक समय अधिक वह दूसरी आदि पृथ्वीके नारकियोंकी जघन्य आयु समझलेना चाहिये । यही क्रम कल्पवासी देवों में समझलेना चाहिये ॥ ४९॥

आगे तिर्यंचोंकी आयु बतलाते हैं ।

आयुरन्तर्मुहूर्त्तः स्यादेषोऽप्यष्टादशांशकः ।
तदुछ्वासस्य जघन्यं नृतिरश्चां लब्ध्यपूर्णके ॥ ५० ॥

लब्ध्यपर्याप्तक मनुष्य और तिर्यंचोंकी आयु उत्कृष्ट अंतर्मुहूर्त है और जघन्य एक उछ्वासका अठारहवां भाग है ॥ ५० ॥

शुद्धोर्व्यायुः सहस्राणि द्वादश द्व्यग्रविंशतिः ।
खरोर्व्यां सप्त वर्षाणां तोयेऽग्नौ स्याद्दिनत्रयम् ॥ ५१ ॥

शुद्ध पृथ्वीकायिक जीवोंकी उत्कृष्ट आयु बारह हजार वर्ष है । कठोर पृथ्वीकायिक जीवोंकी आयु बाईस हजार वर्ष है। जलकायिक जीवोंकी उत्कृष्ट सात वर्ष है । अग्निकायिक जीवोंकी उत्कृष्ट आयु तीन दिन है ॥ ५१ ॥

त्रीण्यब्दानां सहस्राणि वायुजीवे वनस्पतौ ।
सहस्राणि दश द्व्यक्षे द्वादशाब्दानि केवलम् ॥ ५२ ॥

वायुकायिक जीवोंकी उत्कृष्ट आयु तीन हजार वर्ष है । वनस्पतिकायिक जीवोंकी उत्कृष्ट आयु दश हजार वर्ष हैं । दो इन्द्रिय जीवोंकी आयु बारह वर्ष है ॥ ५२ ॥

दिनान्येकोनपंचाशत् त्र्यक्ष्ये स्युश्चतुरिन्द्रिये ।
मासाः षड्विहगेऽब्दानां सहस्राणि द्विसप्ततिः ॥ ५३ ॥

॥३१३॥

ते इन्द्रिय जीवोंकी उत्कृष्ट आयु उनंच्वास दिन है। चौ इन्द्रिय जीवोंकी उत्कृष्ट आयु छह महीना है। पंचेन्द्रियोंमें पक्षियोंकी उत्कृष्ट आयु बहत्तर हजार वर्ष है ॥ ५३ ॥

द्विचत्वारिंशदब्दानां सहस्राणि भुजंगमे ।
नवोऽरःपरिसर्पाणां पूर्वांगानि वरायुषि ॥ ५४ ॥

सर्पोंकी आयु ब्यालीस हजार वर्ष है। तथा छाती से सरकनेवाले सरीसृप आदि जीवोंकी उत्कृष्ट आयु नौ पूर्वांग है ॥ ५४ ॥

पूर्वकोट्यवरे संज्ञिन्यप्येतौ भोगभूमिषु ।
त्रसाः सम्मूर्च्छिनो ये च न भवन्ति स्वभावतः ॥ ५५ ॥

सेनी जलचर जीवोंकी उत्कृष्ट आयु एक करोड पूर्वकी है। भोगभूमिमें सम्मूर्च्छन त्रस जीव स्वभावसे ही नहीं होते हैं ॥ ५५ ॥

जघन्यमध्यमोत्कृष्टभोगभूमिष्ववस्थितम् ।
स्यादेकद्वित्रिपल्यायुर्नित्यास्वन्यासु तद्वरम् ॥ ५६ ॥
पूर्वकोट्येकपल्यं च पल्यद्वयमिति त्रयम् ।
समयेनाधिकं तासु नृतिर्यक्ष्ववरं क्रमात् ॥ ५७ ॥

भोगभूमियां दो प्रकार हैं। एक नित्य भोगभूमि और दूसरी अनित्यभोगभूमि। हैमवत–क्षेत्र, हरि क्षेत्र और देवकुरुके समान जिनमें सदा भोगभूमि रहती है उनको नित्य भोगभूमि कहते हैं। तथा ऐरावतके समान जिनमें कालके अनुसार कभी भोगभूमि आजाय और कभी कर्म–भूमि आजाय ऐसी भोगभूमिको अनित्य भोगभूमि कहते हैं। नित्यभोगभूमियोंकी जघन्य भोगभूमियोंमें जीवोंकी (मनुष्य तिर्यंचोंकी) आयु एक पल्य है। मध्यम भोगभूमिमें दो पल्य है और उत्कृष्ट भोगभूमियोंमें तीन पल्य है। अनित्य भोगभूमियोंमें यह उत्कृष्ट आयु समझना चाहिये। पहले कालमें

॥३१४॥

उत्कृष्ट तीन पल्य, जघन्य एक समय आधिक दो पल्य। दूसरे कालमें उत्कृष्ट दो पल्य, जघन्य एक समय अधिक एक पल्य, तसिरे कालमें उत्कृष्ट एक पल्य, जघन्य एक समय अधिक एक करोड पूर्वकी समझना चाहिये ॥ ५६—५७ ॥

कर्मभूमिषु सर्वासु पूर्वकोटी मता स्थितिः ।
वरार्यम्लेच्छखंडोत्थवियच्चरनरेषु तु ॥ ५८ ॥

कर्मभूमियों में आर्यखंड, म्लेच्छखडोमें उत्पन्न होनेवाले और विद्याधर मनुष्य तिर्यंचोंकी उत्कृष्ट आयु एक करोड पूर्वकी होती है ॥ ५८ ॥

पूर्वकोटी वरं कर्मभूष्वायुस्तुर्यकालवत् ।
आनित्यकर्मभूषु स्यान्म्लेच्छविद्याधरक्षितौ ॥ ५९ ॥

अनित्य कर्मभूमियों में जो म्लेच्छखड हैं और विद्याधरोंकी भूमियां हैं उन में चौथे काल-के समान कर्मभूमि बनी रहती है और उत्कृष्ट आयु एक करोड पूर्व की होती है ॥ ५९ ॥

असुरेऽर्णवोपमः स्यान्नागे पल्यत्रयं क्रमात् ।
सुपर्णद्वीपशेषेषु भौमे चार्द्धार्द्धहीनकम् ॥ ६० ॥

असुरकुमार देवोंकी उत्कृष्ट आयु एक सागर है। नागकुमार देवोंकी तीन पल्य है। सुपर्ण-कुमार जाकके देवोंकी उत्कृष्ट आयु ढाई पल्य है। द्वीपकुमार देवोंकी दो पल्य हैं और विद्युत्कु-मार, अग्निकुमार, वातकुमार, स्तनितकुमार, उदधिकुमार और दिक्कुमार देवोंकी डेड डेड पल्यकी उत्कृष्ट आयु है ॥ ६० ॥

लक्षसहस्रशताब्दैर्युक्तं पल्यं विधाविने ।
शुक्रे क्रमाद्गुरौ पल्यं ग्रहेष्वन्येषु तद्दलम् ॥ ६१ ॥

चंद्रमाकी उत्कृष्ट आयु एक पल्य एक लाख वर्ष है। सूर्य देवकी आयु एक पल्य एक

॥३१५॥

हजार वर्ष है। शुक्रकी आयु एक पल्य सौ वर्ष है। बृहस्पतिकी आयु एक पल्य है। अन्य सब ग्रहोंकी आयु आधा आधा पल्य समझना चाहिये ॥ ६१ ॥

परा पल्यचतुर्भागः स्थितिस्तारासु तद्दलम् ।
जघन्या पल्यमेकं स्यात्सौधर्मैशानकल्पयोः ॥ ६२ ॥

तारोंकी आयु चौथाई पल्य है। ताराओंकी जघन्य आयु चौथाई पल्यकी भी आधी अर्थात् एक अष्टमांश पल्य या पल्यका आठवां भाग है। सौधर्म ऐशान स्वर्गों में देवोंकी जघन्य आयु एक पल्य है ॥ ६२ ॥

देवेषु द्वौ वरा सप्त स्थितिर्दश चतुर्दश ।
कल्पे द्वाविंशतिर्यावत् द्व्युत्तराः सागरोपमाः ॥ ६३ ॥

स्वर्गों में देवोंकी उत्कृष्ट आयु पहले दूसरे स्वर्ग मे कुछ अधिक दो सागर है। सानत-कुमार माहेन्द्र नामके तीसरे चौथे स्वर्ग में देवोंकी उत्कृष्ट आयु कुछ अधिक सात सागर है। ब्रह्म ब्रह्मोत्तर नामके पांचवे छठे स्वर्ग में कुछ अधिक दश सागर है। लांतव कापिष्ट नामके सांतवें आठवें स्वर्य में कुछ अधिक चौदह सागर है। शुक्र महाशुक्र नाम के नौवें दशवें स्वर्गमें देवोंकी उत्कृष्ट आयु कुछ अधिक सोलह सागर है। सतार सहस्रार नाम के ग्यारहवें बारहवें स्वर्ग मे कुछ अधिक अठारह सागर है। आनत प्राणत नाम के तेरहवें चौदहवें स्वर्ग में देवोंकी उत्कृष्ट आयु वीस सागर है। 'आरण अच्युत नाम के पद्रहवें सोलहवें स्वर्ग में उत्कृष्ट आयु बाईस सागर है ॥ ६३ ॥

उपर्येकोत्तरस्तावत्स्युस्त्रयस्त्रिंशदान्तिमे ।
सौधर्मैशानजा एव देव्यः स्युः स्वस्वकल्पगाः ॥ ६४ ॥

आगे नौ ग्रैवेयक अनुदिश और अनुत्तर विमानों में एक एक सागर अधिक आयु बढती

॥३१६॥

गई है। अधोग्रैवेयक के प्रथम ग्रैवेयक मे तेईस सागर है। दूसरे ग्रैवेयक मे चौवीस सागर है। तीसरे ग्रैवेयक में पच्चीस सागर है। मध्यम ग्रैवेयक के पहले ग्रैवेयक में छव्वीस सागर है। मध्यम ग्रैवेयक के दूसरे ग्रैवेयक में सत्ताईस सागर है। मध्यम ग्रैवेयक के तीसरे ग्रैवेयक में अठाईस सागर है। उपरिम ग्रैवेयक के प्रथम ग्रैवेयक मे उन्तीस सागर है। उपरिम ग्रैवेयक के द्वितीय ग्रैवेयक मे तीस सागर है। उपरिम ग्रैवेयक के तृतीय ग्रैवेयक मे इकतीस सागर है। नव अनुदिशों में अहमिंद्रोंकी उत्कृष्ट आयु बत्तीस सागर है। विजय वैजयंत जयंत अपराजित और सर्वार्थसिद्धि इन पांचों अनुत्तर विमानों में अहमिंद्रोकी उत्कृष्ट आयु तेतीस सागर है। देवियां सब सौधर्म और ऐशान स्वर्ग-मे ही उत्पन्न होतीं है। और स्वर्गों मे उत्पन्न नहीं होतीं। वहींसे सोलह स्वर्गके देव अपनी अपनी नियोगिनियों को ले जाते है ॥ ६४ ॥

अल्पं कल्पद्वये पल्यं साधिकं जीवनं वरम् ।
सौधर्मे पंच पल्यानि तानीशानादिषु क्रमात् ॥ ६५ ॥
एकादशसु कल्पेषु द्व्याधिकानि तु चतुर्ष्वतः ।
सप्तोत्तराणि देवीनामहमिन्द्रस्ततः परम् ॥ ६६ ॥

सौधर्म ऐशान स्वर्ग में देवांगनाओंकी जघन्य आयु कुछ आधिक एक पल्य है। सौधर्म में देवियोंकी उत्कृष्ट आयु पांच पल्य है। फिर ग्यारह स्वर्गतक दो दो पल्य बढते गये है। और अंतके चार स्वर्गों में सात सात पल्य बढते गये है। अर्थात् दूसरे स्वर्ग मे सात पल्य, तीसरे सानत्कुमार स्वर्ग में देवियोंकी उत्कृष्ट आयु नौ पल्य, चौथे माहेन्द्र स्वर्ग में ग्यारह पल्य, पांचवें ब्रह्म स्वर्ग में तेरह पल्य, छठे ब्रह्मोत्तर स्वर्ग मे पंद्रह पल्य, सातवें लांतव स्वर्ग मे सत्रह पल्य, आठवें कापिष्ट स्वर्ग मे उनईस पल्य, नौवें शुक्र स्वर्ग में इकईस पल्य, दशवे महाशुक्र स्वर्ग में तेईस पल्य, ग्यारहवें सतार स्वर्ग मे पच्चीस पल्य, बारहवें सहस्रार स्वर्गमें सत्ताईस पल्य. तेरहवें

आनतस्वर्ग में चौंतीस पल्य, चौदहवें प्राणत स्वर्गमें इकतालीस पल्य, पंद्रहवें आरण स्वर्गमें अडतालीस पल्य और सोलहवें अच्युत स्वर्गमे पचवन पल्यकी देवांगनाओंकी उत्कृष्ट आयु है। सोलह स्वर्ग से आगे अहमिंद्र हैं। वहांपर देवांगनाओंका सर्वथा अभाव है ॥ ६५—६६ ॥

यत्किल्विषिकसन्मोहा लान्तवान्तं भवन्ति ते ।
अच्युतावधि कंदर्पा आभियोग्यसुरा अपि ॥ ६७ ॥

१ किल्विषक जातिके देव और २ सम्मोह जातिके देव सातवें लांतव स्वर्गतक ही होते है । तथा ३ कंदर्प जातिके देव और ४ आभियोग्य जातिके देव सोलहवें अच्युत स्वर्गतक ही होते हैं ॥६७॥

सारस्वतादयो ब्रह्मलोके लौकान्तिकामराः ।
तेषामष्टावरिष्टे तु नवायुः सागरोपमाः ॥ ६८ ॥

पांचवें ब्रह्मस्वर्ग के अंतिम पटल में जो देव होते हैं उनको लौकांतिक देव कहते हैं । उन लौकांतिकोंके सारस्वत, आदित्य, आदि अनेक भेद हैं। उन सब लौकांतिक देवोंकी उत्कृष्ट और जघन्य आयु आठ सागर है। तथा अरिष्ट जातिके लौकांतिक देवों की नौ सागर है ॥ ६८ ॥

---

१ जो मनुष्य पर्याय में गीत नृत्य वादित्रसे अपनी जीविका करते हैं ऐसे जीव शुभ परिणामोंसे यदि देव हों तो किल्विषक जाति के होते हैं। २ जो मनुष्यपर्याय में रत्नत्रयके विरुद्ध पापरूप उपदेश देतें है और स्वयं स्वपरज्ञान रहित होते हैं वे मरकर यदि देव हों तो सम्मोह जातिके देव होते हैं।

३ जो मनुष्यपर्याय में सदा काम सेवन के परिणाम रखते हैं व्यभिचार सेवनके लिये स्त्री पुरुषों को मिला दिया करते हैं अर्थात् विटपना करते है ऐसे मनुष्य यदि शुभ परिणामोंसे देव हों तो कंदर्प जाति के देव होते हैं। ४, जो मनुष्यपर्यायमें दासपने का काम करते है वे यदि शुभ परिणामोंसे देव हों तो आभियोग्य जातिके देव होते हैं ।

आगे देवोंका आहार स्वासोच्छ्वास बतलाते हैं।

आहारस्मृतिरुच्छ्वासः सागरोपमसंख्यकैः।
समासहस्रैः पक्षैश्च यथासंख्यं सुरायुषि ॥ ६९ ॥

देवोंकी आयु जितने सागरकी होती है उतने ही हजार वर्ष बाद उन देवोंके आहारका स्मरण हो जाता है। तथा जितने सागरकी आयु होती है उतने पक्ष बीतनेपर वे स्वासोछ्वास लेते हैं। इसप्रकार उनके आहार और स्वासोछ्वासका क्रम समझना चाहिये ॥ ६९ ॥ इसप्रकार जीवसमासका निरूपण किया।

अब आगे गुणस्थानों के नाम कहते हैं।

मिथ्यादृष्टिः सासादनो मिश्रः सुदृगसंयतः।
देशव्रती प्रमत्तः स्यादप्रमत्तश्च संयतः ॥ ७० ॥
स्यातामपूर्वकरणानिवृत्तिकरणौ ततः।
स्युः सूक्ष्मसांपरायोपशान्तक्षीणकषायकाः ॥ ७१ ॥
जिनः सयोगोऽयोगः स्युश्चतुर्दश गुणा इति।
मोहयोगसमुद्भूताः सिद्धास्तद्गुणनिर्गताः ॥ ७२ ॥ (त्रिकम्)

मिथ्यादृष्टी, सासादन, मिश्र, असंयतसम्यग्दृष्टी, देशविरत, प्रमत्त, अप्रमत्तसंयत, अपूर्वकरण, आनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मसांपराय, उपशांतमोह, क्षिणमोह, सयोगिकेवली और अयागकेवली ये चौदह गुणस्थान है। ये चौदह गुणस्थान मोह और योगसे उत्पन्न होते हैं। पहला गुणस्थान दर्शनमोहके उदयसे, दूसरा तीसरा चौथा दर्शनमोहके अनुदयसे, पांचवा छठा सातवा चारित्रमोहके क्षयोपशमसे, आठवा नवमा दशवा मोहनीके उपशम वा क्षयसे, ग्यारहवा मोहनीके उपशमसे, बारहवा मोहनीके क्षयसे हाता है। तेरहवां गुणस्थान काययोगसे और चौदहवां गुणस्थान अयोगसे होता है। भगवान सिद्धपरमेष्ठि

॥३१९॥

इन चौदहों गुणस्थानोंसे पारंगत हो जानेपर होते हैं, अर्थात् चौदह गुणस्थानोंसे रहित होते हैं ॥ ७०-७२ ॥

आगे छह पर्याप्तियोंको कहते हैं।

स्युराहारशरीराक्षोच्छ्वासभाषामनास्त्विमाः।
पर्याप्तयः समन्तादात्मस्थशक्तिसमृद्धयः ॥ ७३ ॥

चारों ओरसे प्रगट होनेवाली आत्माकी शक्तियोंकी ऋद्धियोंका नाम पर्याप्ति है अर्थात् आत्माकी शक्तियों के प्रगट होनेकी सामर्थ्य जो आत्मामें चारों ओरसे प्रगट होती है उनको पर्याप्ति कहते है। ऐसी पर्याप्तियां छह हैं। आहारपर्याप्ति, शरीरपर्याप्ति, इन्द्रियपर्याप्ति, श्वासोच्छ्वासपर्याप्ति, भाषा-पर्याप्ति और मनःपर्याप्ति ॥ ७३ ॥

सादिदेहोदयादासां प्रारंभोऽक्रमतः क्रमात्।
अन्तर्मुहूर्ते निष्पत्तिरपर्याप्तिस्त्वपूर्णता ॥ ७४ ॥

औदारिक वैक्रियिक वा आहारक शरीरनामकर्म के उदयसे इन पर्याप्तियोंका प्रारंभ तो विना किसी क्रमके एक साथ होता है। तथा अनुक्रमसे एक एक अंतर्मुहूर्त में इनकी पूर्णता हो जाती है। इसप्रकार इन छहोंकी पूर्णता भी अंतर्मुहूर्त में ही हो जाती है। इन पर्याप्तियोंकी पूर्णता न होना अपर्याप्ति है। इन पर्याप्तियों में से जबतक शरीरपर्याप्ति पूर्ण नहीं होती तबतक अपर्याप्तक कहलाता है और शरीर पर्याप्ति के पूर्ण होनेपर पर्याप्तक कहलाता है ॥ ७४ ॥

एकाक्षे विकलाक्षेषु चासंज्ञिनि संज्ञिनि।
चतस्रः पंच पंचैताः षड् भवन्ति यथाक्रमम् ॥ ७५ ॥

एकेन्द्रिय जीवों के चार पर्याप्तियां होती है (भाषा और मन पर्याप्ति नहीं होती) दो इन्द्रिय तेइन्द्रिय चौइन्द्रिय और असैनीपंचेन्द्रिय जीवों के मन के विना पांच पर्याप्तियां होती है। तथा सैनी पंचेन्द्रिय जीवों के छह पर्याप्तियां होती है ॥ ७५ ॥

॥३२०॥

नारकाणां खरः कायोऽत्यशुभाभिन्नाविक्रियः ।
करालः कालो दुर्गन्धो धातूनोन्तर्मूहूर्त्ततः ॥ ७६ ॥

नारकियोंका शरीर अत्यंत कठोर होता है, अत्यत अशुभ होता है, उनके शरीरकी विक्रि-या अभिन्न होती है अर्थात् वे अपने शरीरकी विक्रिया अलग वा पृथक् नहीं कर सकते। दूसरा किसी प्रकारका शरीर नही वना सकते। अपनेही शरीरको अशुभ रूप परिणत कर सकते हैं ॥ इसप्रकार उनका शरीर विकराल होता है, अत्यत दुर्गंधमय होता है, धातु उपधातुओं से रहित होता है और अतर्मुहूर्त में उत्पन्न हो जाता है ॥ ७६ ॥

अणिमादिगुणं सप्तधात्वपेतं मनोहरम् ।
जायतेऽन्तर्मुहूर्तेन देवांगे नवयौवनम् ॥ ७७ ॥

देवोंके शरीरमे आणिमा- छोटेसे छोटा शरीर वना लेना, महिमा वडा शरीर बना लेना, गरि-मा भारी शरीर वना लेना, लाघिमा- हलका शरीर वना लेना, प्राप्ति- चाहे जहां प्राप्त हो जाना, प्राकाम्य- इच्छानुसार कार्य कर लेना, ईशित्व- सबके स्वामीपणा प्रगट करना, वशित्व- सबको वशमे कर लेना, ये आठ ऋद्धियां होती हैं, देवोंका शरीर सात धातु उपधातुओं से रहित होता है, अत्यत मनोहर होता है और अतर्मुहूर्त में ही नवयौवन अवस्थाको प्राप्त हो जाता है। इसप्रकार पर्याप्तियों-का वर्णन किया ॥ ७७ ॥

आगे प्राणोंका वर्णन कहते हैं ।

पंचाक्षायुर्मनोवाक्कायाऽनापाना दशांगिनः ।
प्राणंत्यैभिरिति प्राणा बाह्यैरन्नादिभिर्यथा ॥ ७८ ॥

स्पर्शन, रसना, घ्राण चक्षु और श्रोत्र ये पांच इन्द्रियां कहलाती है। मन वचन काय ये तीन बल कहलाते हैं। पांच इन्द्रियां, तीन बल, आयु और स्वासोछ्वास ये दश प्राण कहलाते

॥३२१॥

लाते है। जिसप्रकार ये संमारी जीव अन्न जलादि बाह्य पदार्थों से जीवित रहते हैं। उसीप्रकार ये संसारिजीव इन दश प्राणों से जीवित रहते हैं इसलिये इनको प्राण कहते हैं ॥ ७८ ॥

संज्ञादौ स्युर्दशैकैकहीनास्तेन्त्ये द्विवर्जिताः ।
पूर्णे त्वपूर्णके सप्त सप्तैकैकविहीनकाः ॥ ७९ ॥

सेनी पचेन्द्रियके ये दश प्राण होते हैं। असेनी पंचेन्द्रिय जीवों के मनको छोडकर बाकी के नौ प्राण होते है। चतुरिन्द्रिय जीवोंके मन और कर्ण इद्रियको छोडकर बाकी आठ होते हैं। तेइन्द्रिय जीवों के मन कर्ण और चक्षु इन्द्रिय के बिना सात प्राण होते हैं, दोइन्द्रिय जीवें के मन, कर्ण, चक्षु और नासिका इन्द्रियके विना बाकीके छह प्राण होते हैं। एकेन्द्रिय जीवों के स्पर्शनइन्द्रिय, काय,बल आयु और स्वासोछ्वास ये चार प्राग होते हैं। ये प्राण पर्याप्त के जीवों के समझना चाहिये। अपर्याप्तक जीवों के स्वासोछ्वास भाषा, मन नहीं होता इसलिये अपर्याप्तक एकेन्द्रियके तीन, दोइन्द्रियके चार, तेइन्द्रियके पांच, चौइन्द्रियके छह, तथा सनी असेनी पचेन्द्रियके सात प्राण होते है ॥ ७९ ॥

आगे संज्ञा बतलाते हैं।

संज्ञा वाञ्छाश्चतस्रः स्युरत्राऽमुत्र च दुःखदा ।
आहारे भयतो मैथुनेंऽगिनां ताः परिग्रहे ॥ ८० ॥

इच्छकानाम सज्ञा है। सज्ञाए चार हैं। आहारकी इच्छा आहारसज्ञा है, भयसे डरनेकी इच्छा होना भयसंज्ञा है, मैथुनकी इच्छा होना मैथुनसज्ञा है और परिग्रहकी इच्छा होना परिग्रहसंज्ञा है। ये चारों ही संज्ञाए इसलोकमें तथा परलोकमें दोनों लोकमें अनंत दुःख देनेवाली हैं ॥ ८० ॥

आगे चौदह मार्गणाओंको कहते हैं।

॥३२२

ते गताविन्द्रिये काये योगे वेदकषाययोः ।
संयमे दर्शने ज्ञाने लेश्याभव्यत्वयोरपि ॥ ८१ ॥
सम्यक्त्वसंज्ञित्वाऽऽहारे गुणिनो मार्गणा इति ।
मृग्यन्ते एभिरिति वा स्वकर्मभ्यश्चतुर्दश ॥ ८२ ॥ (युग्मम्)

गति, इंन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, सयम, दर्शन, लेश्या, भव्यत्व, संज्ञी और आहार ये चौदह मार्गणाएं हैं। चौदह गुणस्थानों में रहनवाले जीव इन ऊपर लिखी चौदह मार्गणाओं मे रहते हैं अथवा इन चौदह मार्गणाओं के द्वारा अन्वेषण किये जाते हैं अर्थात् जाने जाते हैं। इसलिये इनको मार्गणाएं कहते हैं मार्गणा शब्दका अर्थ अन्वेषण करना वा जानना है। ये चौदह मार्गणाएं अपने अपने कर्मके उदयसे होतीं हैं ॥ ८१-८२ ॥

आगे गतिमार्गणा के भेद बतलाते हैं।

गतयो नारकातिर्यङ्मनुष्यामरपर्ययाः ।
चतस्रोगतिकर्माणि तत्तन्निर्मापकानि वा ॥८३॥

गतियां चार है। नरकगति, तिर्यंचगति, मनुष्यगति और देवगति। इन गतियोंको उत्पन्न करनेवाले चार ही कर्म है। नरकगतिनामकर्म के उदयसे नरकगति होती है। तिर्यंच गति नामकर्म के उदयसे तिर्यंचगति होती है। मनुष्यगतिनामकर्म के उदयसे मनुष्यगति होती है और देवगतिनामकर्म के उदयसे देवगति होती है ॥८३।

आगे इन्द्रियमार्गणा के भेद कहते हैं ।

स्पर्शनादीन्द्रियैर्युक्ता रसनाद्येकवृद्धिभिः ।
एकद्वित्रिचतुःपंचाक्षांगिनः स्वोक्तकर्मभिः ॥ ८४ ॥

इन्द्रियां पांच हैं। स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण इनमें से एकेन्द्रिय नामकर्म के उदय से स्पर्शन इन्द्रियको धारण करनेवाले एकेन्द्रिय जीव कहे जाते हैं। दोइन्द्रियनामकर्म के उदयसे स्पर्शन और रसना इन दोइन्द्रियोंको धारण करनेवाले दोइन्द्रिय जीव कहलाते हैं। तेइन्द्रिय नामकर्म के उदयसे स्पर्शन रसना और घ्राण इन तीन इन्द्रियोंको धारण करनेवाले तेइन्द्रिय जीव कहलाते हैं। चौइन्द्रिय नामकर्मके उदय से स्पर्शन, रसना, घ्राण और चक्षु इन चार इन्द्रियोंको धारण करनेवाले चौइन्द्रिय जीव कहलाते हैं। पंचेन्द्रिय नामकर्म के उदयसे स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण इन पांचों इन्द्रियोंको धारण करनेवाले पचेन्द्रिय जीव कहलाते हैं ॥८४॥

भूवारिवह्निवातांगा ये वनस्पतिकायिकाः ।
स्थूलाः सूक्ष्माश्च ते सर्वे भवंत्येकेन्द्रियांगिनः ॥ ८५ ॥

पृथ्वीकायिक जीव, जलकायिक जीव, अग्निकायिक जीव, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक ये पांच प्रकारके स्थावर हैं। ये पांचों प्रकारके स्थावर जीव सूक्ष्म भी होते हैं और स्थूल भी होते हैं ये सब एकेन्द्रिय जीव होते हैं ॥८५॥

शंखशुक्तिनखक्षुल्लकक्षोदिककपर्दिकाः ।
गंडूपदोदरकृम्याद्याश्च ते द्वीन्द्रियांगिनः ॥ ८६ ॥

शंख, सीप, नख जातीके जीव, क्षुल्लक जाति के जीव, कौडी, कपर्दी, गिडीरे, गिंजाई, पेटमेंसे निकलनेवाली लट आदि सब दोइन्द्रिय जीव हैं।८६॥

गोभीन्द्रगोपवृश्चिकयूकालिक्षापिपीलिकाः ।
कुन्थुस्त्रीमत्कुणाद्याश्च जिनेन्द्रैस्त्रीन्द्रियाः स्मृताः ॥ ८७ ॥

गोमी जातिके बीछू, इन्द्रगोप (बरसातमें होनेवाला लाल कीडा) बीछू, जू, लीख, चींटी, कुंथु, खटमल आदि सब सर्वज्ञजिनेन्द्रदेवने तेइन्द्रिय जीव बतलाये हैं।८७॥

भृंगः पतंगः कीटश्च दंशो मशकमाक्षिके ।
मधुगोमाक्षिकाद्याश्च देहिनश्चतुरीन्द्रियाः ॥ ८८ ॥

भौंरा, पतंग, दीपपर आनेवाले छोटे छोटे कीडे, डांस, मच्छर, माक्खियां, मधुमक्खियां, टीडी आदि सब जीव चौइन्द्रिय जीव कहलाते हैं ॥८८॥

जलस्थलखगास्ते ये मीननागशुकादय ।
ज्ञेयाः पंचेंद्रियाः सर्वे नारकाश्च नराः सुराः ॥ ८९ ॥

मगर, मत्स्य, मछली, मेडक, जलचर जीव, हाथी, घोडे, आदि स्थलचर जीव, तोते कबूतर आदि नभचर जीव, नारकी, मनुष्य और, देव सब पंचेन्द्रिय जीव समझने चाहिये । इसप्रकार इन्द्रियमार्गणाका निरूपण किया ॥८९॥

अब आगे कायमार्गणा कहते हैं ।

पृथ्विव्यप्तेजोवायुवनस्पतित्रसकायिकाः ।
जीवाः षडिति पृथ्व्यादिनामकर्मविशेषजाः ॥ ९० ॥

पृथ्विकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक और त्रसकायिक ये छह कायके जीव कहलाते हैं । ये सब अपने अपने नामकर्मके उदयसे होते है । पृथ्वीकायिक स्थावरनामकर्मके उदयसे पृथ्वीकायिक जीव होते है । जलकायिक स्थावरनामकर्मके उदयसे जलकायिक, आग्निकायिक स्थावरनामकर्म के उदयसे अग्निकायिक, वायुकायिक स्थावरनामकर्म क उदयसे वायुकायिक और वनस्पतिकायिक स्थावरनामकर्म के उदयसे पनस्पतिकायिक होते हैं । त्रसनामकर्म के उदयसे त्रसकायिक होते हैं ॥९०॥

॥३२५॥

मसूरिकापयोविन्दुसूचिवृन्दध्वजोपमाः ।
कायाश्चतुर्षु पृथ्व्यादिष्वन्त्ययोर्विविधाः स्मृताः ॥९१॥

पृथ्वीकायिकजीवोंका आकार मसूर के समान है। जलकायिकजीवोंका आकार जलकी बूंदों के समान है। अग्निकायिक जीवोंका आकार सुइयों के समूहके समान है वायुकायिक जीवोंका आकार ध्वजाओं के समान है और वनस्पतिकायिक तथा त्रसकायिक जीवोंका आकार अनेक प्रकार है ॥ ९१ ॥

समचतुरस्रं न्यग्रोधस्वाती द्वे च वामनम् ॥
कुब्जं हुंडामिति प्रोक्तं संस्थानं षड्विधं जिनैः ॥९२॥

समचतुरस्रसंस्थान, न्यग्रोधपरिमंडलसंस्थान, स्वास्तिकसंस्थान, वामनसंस्थान, कुब्जकसंस्थान और हुंडकसंस्थान इसप्रकार भगवान अरहंतदेवने छह संस्थान बतलाये हैं ॥९२॥

हुंडं पुनारकैकाक्षाद्यसंज्ञ्यंतेषु सामरे ।
भोगभूजे भवेदाद्यं सर्वाण्यन्येषु देहिषु ॥९३॥

नारकी, जीवों के, एकेन्द्रिय दोइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चौइन्द्रिय और असेनी पंचेन्द्रिय जीवों के हुंडकसंस्थान होता है। भोगभूमिया और देवों के समचतुस्र संस्थान होता है। इनको छोड कर बाकीके जीवोंके सब संस्थान होते हैं ।९३।

रसरत्नशिलालोहवालुकागैरिकादयः ।
मृदश्च पृथ्वीतत्कायाः पृथ्विवीकायिकांगिनः ॥ ९४ ॥

पारा, रत्न, शिला, लोहा, बालू रेत, गेरू, और मिट्टी आदि जितनी पृथ्वीमय पदार्थ है वे सब पृथ्वीकायिक जीव समझना चाहिये ॥ ९४ ॥

नदीनदसमुद्रादिजलवर्षाम्बुसीकराः ।
स्युः प्रालेयादयश्चापस्तदप्कायाः स्वकायिकाः ॥९५ ॥

नदी नद समुद्र आदि के पानी में वरसने के पानी में वरफ ओले पाला आदि जितनी जलमय चीजें है वे सब जलकायिक जीव कहलाते हैं ॥९५॥

स्युरंगाराः स्फुलिंगाश्च ज्वालाश्चाप्यन्यवन्हयः ।
तेजांसि तच्छरीरा ये ते तेजस्कायिकाः स्मृताः ॥९६॥

अंगार फुलिंग लों वाली अग्नि, आदि जितनी अग्निरूप वा तेजरूप पदार्थ हैं वे सब अग्निकायिक हैं ॥९६॥

वातो वात्या महावाता व्यजनादिभवाश्च ये ।
ते वातास्तच्छरीराः स्युरंगिनो वातकायिकाः ॥९७॥

साधारण वायु, महावायु वा पंखा आदिसे प्रगट होनेवाली जितनी प्रकारकी वायु हैं वे सब जीव वायुकायिक हैं ॥९७॥

ते वनस्पतयो वृक्षक्षुपवल्लीतृणादय. ।
उद्वेजनक्रियाभाजस्त्रसाः स्युर्द्वीन्द्रियादयः ॥९८॥

वृक्ष वेल छोटे पौधे आदि जितनी वनस्पतियां है वे सब वनस्पतिकायिक जीव हैं ॥ जिनमें उद्वेजनरूप क्रिया होती है वे सब दोइन्द्रिय तेइन्द्रिय चौइन्द्रिय पचेन्द्रिय त्रसकायिक जीव है ॥ ९८ ॥

आगे योग मार्गणाको कहते हैं ।

कर्मादाननिमित्तात्मप्रयत्नो योग इष्यते ।
देहनामैनसः पाकात्प्रदेशस्पंदलक्षण ः॥९९ ॥

॥३२७॥

मनोयोगः स वाग्योगः काययोग इति त्रिधा ।
मनोवचनपर्याप्तिकायवत्सु क्रमेण नु. ॥ १०० ॥

पापकर्मों के उदयसे प्राणियों के आत्माके प्रदेशोंका परिस्पद होना योग है अथवा कर्मों के ग्रहण करने के लिये कारणभूत जो आत्माका प्रयत्न है उसको योग कहते हैं । उस योग के तीन भेद हैं मनोयोग वचनयोग और काययोग ये तीनों योग क्रमसे मनःपर्याप्ति वचनपर्याप्ति कायवान् में अनुक्रमसे होते हैं ॥ ९९–१०० ॥

आगे वेदमार्गणाको कहते हैं ।

स्त्री पुमान् षण्ढ इत्येवं भावा वेदास्त्रयोऽङ्गिषु ।
ते स्त्रीपुंषण्ढवेदैनः प्रदेशोदयसंभवाः ॥१०१॥

भाववेद तीन हैं स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद । स्त्रीवेद नाम के पापकर्म के उदयसे स्त्रीवेद होता है । पुरुषवेद नामक पापकर्म के उदयसे पुरुष वेद होता है और नंपुसक वेद नाम के पापकर्म के उदयसे नपुंसक वेद होता है ॥ १०१ ॥

स्त्रीपुंवेदाः सुरा भोगभूमिजाताश्च नारकाः ।
षण्ढाः सम्मूर्च्छिनश्चान्ये नृतिर्यश्चस्त्रिवेदिनः ॥ १०२ ॥

समस्त देवपर्याय में तथा भोगभूमियों में स्त्रीवेद और पुरुषवेद दो ही वेद होते हैं । नारकी और सम्मूर्च्छन से उत्पन्न होनेवाले समस्त जीव नपुंसक ही होते हैं । तथा अन्य समस्त मनुष्य तिर्यंचों के स्त्रीवेद पुरुषवेद और नपुंसक तीनों वेद होते हैं ॥१०२॥

ईशानान्ते प्रवीचारः स्याद्द्वयोस्त्रिचतुर्ष्वतः ।
शरीरे स्पर्शे रूपे च शब्दे चित्ते ततो न सः ॥१०३॥

भवनवासी व्यतर ज्योतिष्क और सौधर्म ईशान स्वर्गमें मनुष्यों के समान शरीर से प्रवीचार (मैथुन सेवन) होता है। सानत्कुमार माहेन्द्र नाम के तीसरे चौथे स्वर्गमें अपनी देवांगनाओंको स्पर्श करने के मात्रसे प्रवीचार होता है। पांचवें छठे सातवें आठवें स्वर्गमें अपनी देवांगनाओंका रूप देखकर तृप्ति होती है। नववें दशवें ग्यारहवें बारहवें स्वर्ग में अपनी देवागनाओंके शब्द सुननेमात्र से तृप्ति होती है। और तेरहवें चौदहवें पद्रहवें सोलहवें स्वर्ग के देवों के अपनी देवांगनाओं के स्मरण करने मात्र से सतोष होता है। इसप्रकार सोलह स्वर्गतक देवोंका प्रवीचार बतलाया। आगे नवग्रैवेयक अनुदिश और पचोतरों में कामका विकारही नहीं है। इसलिये वे परमसुखी हैं ॥१०३॥

आगे कषाय मार्गणाको कहते हैं।

चतुःकषायाः क्रुन्मानमायालोभा विपाकजाः।
चतुःकषायाः सामान्यक्रोधादिद्रव्यकर्मणः ॥१०४॥

कषाय चार हैं क्रोध, मान, माया और लोभ। सामान्य क्रोधकषायके उदयसे क्रोध होता है। सामान्य मान कषायके उपयसे मान होता है। सामान्य मायाकषायके उदयसे माया होती है और सामान्य लोभ कषायके उदयसे लोभ होता है ॥१०४॥

आगे ज्ञान और संयम मार्गणाको कहते है।

ज्ञानमष्टविधं ज्ञातं पुरा स्युः सप्त संयमाः।
चारित्रपंचकं देशसंयमासंयमान्वितम् ॥१०५॥
प्रत्याख्यानकषायोदयेन स्याद्देशसंयमः।
विविधासंयमो भावोऽप्रत्याख्यानकषायतः ॥१०६॥

ज्ञानके आठ भेद हैं इनका विशेष वर्णन पहले कह चुके हैं। संयमके सात भेद हैं, सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसांपराय और यथाख्यात ये पांच तो चारित्र, तथा देशसंयम और असंयम इसप्रकार सात संयम कहलाते हैं। पांचो चारित्रोंका वर्णन पहले कह चुके हैं। प्रत्याख्यानावरण कषायके उदयसे देशसंयम होता है और अप्रत्याख्यानावरण कषायके उदयसे अनेक प्रकारका असंयम होता है ॥१०५–१०६॥

आगे दर्शनमार्गणाको कहते हैं।

दर्शनं ग्रहणं सामान्यात्मनस्तच्चतुर्विधम् ।
अचक्षुश्चक्षुरवधिः केवलं चेति वर्णितम् ॥१०७॥

आत्माके जो सामान्य रीतिमें जो पदार्थोंका दर्शन होता है उसको दर्शन कहते है। उस दर्शनके चार भेद हैं। अचक्षु दर्शन, चक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन। ऐसा भगवान जिनेन्द्र देवने कहा है ॥१०७॥

चक्षु शेषेन्द्रियज्ञानहेतू चक्षुरचक्षुषी ।
विभंगावधिहेतुः स्यादेकं त्ववधिदर्शनम् ॥१०८॥

चक्षुदर्शन चक्षुज्ञानका और अचक्षुदर्शन बाकीकी समस्त इन्द्रियोंसे होनेवाले ज्ञानका कारण है और विभंगावधिका कारण है। और अवधिदर्शन एक अवधिज्ञानका कारण है ॥१०८॥

चक्षुरचक्षुरवधिदर्शनावरणैनसाम् ।
क्षयोपशमतश्चक्षुर्दर्शनादित्रयं भवेत् ॥१०९॥

चक्षुदर्शनावरण कर्मके क्षयोपशमसे चक्षुदर्शन होता है। अचक्षुदर्शनावरणकर्मके क्षयोपशमसे अचक्षुदर्शन होता है और अवधिदर्शनावरणकर्मके क्षयोपशमसे अवधि दर्शन होता है ॥१०९॥

समं केवलबोधेन केवलं दर्शनं भवेत्।
निजावरणानि शेषक्षयात्क्षायिकमक्रमात् ॥११०॥

केवलदर्शनावरण कर्मके वा दर्शनावरण कर्मके अत्यंत क्षय होनेसे केवलज्ञानके साथ जो दर्शन होता है वह केवलदर्शन है। यह दर्शन क्षायिक भाव है और विना किसी क्रम के समस्त पदार्थों को और उसकी भूत भविष्यत समस्त पर्यायों को एकसाथ देखता है ॥११०॥

आगे लेश्या मार्गणाको कहते हैं।

कृष्णनीलकपोताख्या लेश्यास्तिस्रोऽशुभाः शुभाः।
स्युस्तेजःपद्मशुक्लाख्याः कषायोन्मिश्रयोगजाः ॥१११॥

कषायो मे मिलेहुए आत्माके परिणामो को लेश्या कहते हैं। कृष्ण, नील और कापोत ये तीन लेश्याएं तो अशुभ लेश्याए कहलाती हैं। तथा पीत, पद्म, शुक्ल ये तीन लेश्याए शुभ कहलाती हैं ॥१११॥

आगे भव्यत्व मार्गणाको कहते हैं।

निर्वाणयोग्यता भव्यताऽन्याऽनिर्वाणयोग्यता।
अष्टकर्मोदयाज्जाते अप्येते पारिणामिकौ ॥११२॥

जिस जीव में निर्वाण प्राप्त होनेकी योग्यता प्रगट हो उसको भव्य कहते है और जिस जीवमें निर्वाण प्राप्त होनेकी योग्यता कभी प्रगट न हो उसको अभव्य कहते है। ये दोनों भाव यद्यपि किसी भी विशेष कर्म के उदयसे नहीं होते समुदाय रूपसे आठों कर्मों के उदयसे होते हैं तथापि इनको पारिणामिक भाव कहते हैं ॥ ११२॥

आगे सम्यक्त्व मार्गणाको कहते हैं।

॥३२१॥

षद् सम्यक्त्वानि पूर्वोक्तवेदकादिरुचित्रयम् ।
मिथ्यात्वसम्याङ्मिथ्यात्वसासादनगुणैः सह ॥११३॥

पहले कहे हुए देव शास्त्र गुरुका श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। उसके तीन भेद है। औपशमिक सम्यग्दर्शन क्षायिक सम्यग्दर्शन और क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन इसप्रकार सम्यग्दर्शन के तीन भेद तो ये होते हैं। तथा मिथ्यात्व सम्यमिथ्यात्व और सासादन ये तीन सम्यक्त्व मार्गणा के और भेद हैं। इसप्रकार सम्यक्त्व मार्गणा के सब छह भेद हैं ॥११३॥

मिथ्यात्वंकर्मणः पाकान्मिथ्यात्वं मिश्रताभवेत् ।
सम्याङ्मिथ्यात्वकर्मोदयात्तु श्रद्धानघातिनः ॥११४॥

इनमें से सम्यग्दर्शनके तीन भेद तो पहले अच्छी तरह वता चुके हैं। मिथ्यात्व कर्म के उदयसे मिथ्यात्व होता है। सम्यग्मिथ्यात्वप्रकृति के उदयसे सम्याग्मिथ्यात्व होता है। यह सम्यग्मिथ्यात्व भी यथार्थ श्रद्धानका घात करनेवाला होता है ॥११४॥

दृङ्मोहस्योदयादिभ्यो यन्न सासादनो गुणः ।
जात औदायिकोऽपि स्यात्तदयं पारिणामिकः ॥११५॥

सासादनरूप परिणाम यद्यपि अनन्तानुबंधी कर्म के उदयसे होते हैं तथापि दर्शनमोहनीय कर्मके उदयसे वा, उपशमसे वा क्षयसे वा क्षयोपशमसे नहीं होते अतएव इन सासादन परिणामों को पारिणामिक कहते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि पहले के चार गुणस्थान दर्शन मोहनी के संबंधसे होते हैं सासादन गुणस्थान दर्शनमोहनीयके संबंधसे नहीं होता किंतु अनंतानुबंधीके उदयसे होता है। अतएव दर्शनमोहनीका संबंध न होने से इसको पारिणामिक कहा है ॥ ११५ ॥

आगे संज्ञी मार्गणाको कहते हैं।

संज्ञित्वं समनस्कत्वं शिक्षाऽऽदानादियोग्यता ।
भवेदसंज्ञिता संज्ञिलक्षणलक्षितत्वतः ॥११६॥

जिसके मन हो उसको संज्ञी वा सैनी कहते हैं तथा मन उसीके समझना चाहिये जो शिक्षा ग्रहण कर सके वा इशारे समझ सके। जिसमें ऐसी योग्यता न हो अर्थात् शिक्षा आदिको ग्रहण करनेवाला मन न हो, उसको असंज्ञी वा असैनी समझना चाहिये ॥११६॥

आगे आहार मार्गणाको कहते हैं।

नोकर्माऽऽदानमाहारः सादिदेहत्रयोदयात् ।
नोकर्माऽऽहरणाभावस्त्वनाहारः प्ररूपितः ॥ ११७ ॥

औदारिक वैक्रियिक आहारक नामा नामकर्मके उदयसे जो इन्हीं तीन शरीरों के योग्य पुद्गलों का ग्रहण करना है उसको आहार कहते हैं। तथा जहांपर ऊपर लिखे हुए तीन शरीरोंके योग्य पुद्गलों का ग्रहण नहीं होता उसको अनाहार कहते हैं।११७॥ इसप्रकार चौदह मार्गणाओंका निरूपण किया

आगे उपयोगका स्वरूप कहते हैं।

साकार उपयोगः स्यादुपयोगोऽष्टबोधजः ।
अनाकारश्चतुर्दर्शनोत्थस्तौ जीवलक्षणम् ॥११८॥

उपयोग के दो भेद हैं एक साकार और दूसरा अनाकार, आठ प्रकार ज्ञानसे उत्पन्न होनेवाला उपयोग साकार उपयोग हैं और चार प्रकार के दर्शनसे उत्पन्न होनेवाला उपयोग अनाकार उपयोग है। ये दोनों ही उपयोग जीवके लक्षण कहे जाते हैं ॥११८॥ इसप्रकार वीस प्ररूपणाओंका निरूपण किया।

आगे किन किन जीवोंकी उत्पत्ति कहां कहांसे होती है सो दिखलाते हैं।

॥३३३

नृतिर्यक्संज्ञिपर्याप्तकर्मभूगर्भजे जनिः ।
सुराणां नारकाणां च सप्तम्याः स्यात्तिरश्चि तु ॥११९॥

सामान्य रीतिसे देव अपनी आयु पूरी कर मनुष्य तथा तिर्यंचों में ही उत्पन्न होते हैं और कर्मभूमि में सैनी पर्याप्तक गर्भज ही होते हैं। सातवें नरक से निकलकर यह जीव तिर्यंच ही होता है ॥११९॥

तीर्थेशाश्चरमांगाश्च संयता देशसंयताः ।
तुर्यादिसप्तम्यंताभ्यश्च्युता नो नारकाः क्रमात् ॥१२०॥

चौथे नरकसे निकलकर तीर्थंकर नहीं होते। तीसरे नरकमे निकलकर तीर्थंकर हो सकते हैं। पांचवें नरकमे निकलकर चरमशरीरी नहीं होते। छटे नरकसे निकलकर संयमी नहीं होते और सातवे नरकसे निकलकर देशसंयमी नहीं होते ।१२०॥

नारकोऽनन्तरं न स्याच्चक्रेशः केशवो बल ।
शलाकपुरुषा नैव नृतिर्यग्-वनत्रयम् ॥१२१॥

नरकसे निकलकर चक्रवर्ती नारायण और बलभद्र नहीं होते। तथा मनुष्य, तिर्यंच, भवनवासी व्यंतर और ज्योतिषी देवोंमे आकर शलाका पुरुष नहीं होते ॥१२१॥

च्युतो न केशवोऽनुदिशानुत्तरविमानतः ।
संज्ञिपूर्णेषु जायन्ते आसहस्रारतश्च्युताः ॥१२२॥

अनुदिश और अनुत्तर विमानसे चयकर नारायण नहीं होते। सहस्रार स्वर्गतकसे चयकर सैनी पर्याप्तक ही होते हैं ॥१२२॥

भवन्त्यनन्तरं देवा ये आ ईशानतश्च्युताः ।
अप्रतिष्ठितप्रत्येकस्थूलभूतोयपूर्णगाः ॥१२३॥

ईशानतक स्वर्ग से चयकर देव अप्रतिष्ठित प्रत्येक स्थूल पृथ्वीकायिक और अप्रतिष्ठित प्रत्येक पर्याप्तक स्थूल जलकायिक जीव होते हैं ॥ १२३ ॥

तिर्यक्षु मर्त्यातिर्यंचस्ते तेजोवायुवर्जिताः ।
नृषु पंचेन्द्रियाः पूर्णा नारकेष्वमरेष्वपि ॥१२४॥

मनुष्य और तिर्यंच मरकर अग्निकायिक और वायुकायिक जीवोंको छोडकर बाकीके तिर्यंचों में उत्पन्न होते हैं तथा तीर्थंकरों को छोडकर पंचेंद्रिय पर्याप्तक मनुष्यों में उत्पन्न होते हैं ॥ और नरक तथा देवों में भी उत्पन्न होते हैं ॥ १२४ ॥

अष्टवाराद्द्विवारान्तं घर्मोर्व्यादिष्वसंज्ञिनः ।
सरीसृपाः खगाः सर्पाः सिंहाः कान्ता नराप्चराः ॥१२५॥

यादि असैनी जीव पहले नरक में एकवार दोवार तीनवार आदि कईवार जायं तो अधिक से अधिक आठवारतक जाते हैं। सरीसृप अर्थात् विषमरा ऐसे जीव दूसरे नरकमें वरावर जाय तो आधिकसे अधिक सातवारतक जाते हैं। पक्षीगण यदि तीसरे नरकमें वरावर जायं तो अधिकसे अधिक छह वारतक जाते हैं। सर्प यदि चौथे नरक में वरावर जायं तो अधिकसे अधिक पांचवारतक जाते हैं। सिंह यदि पांचवें नरक में वरावर जाय तो आधिकसे अधिक चारवारतक जाता है। स्त्री यदि छठे नरक में वरावर जाय तो अधिकसे अधिक तीनवारतक जाती है। मनुष्य तथा मत्स्यादिक जलचर जीव यदि सातवें नरकमें वरावर जायं तो दोवारतक जाते है। (कोई मनुष्य सातवें नरक में जाकर फिर तिर्यंच पर्याय धारण कर सातवें नरकमें जाना दोवार जाना कहलाता है)। ये ऊपर लिखे जीव इसनिरकतक जा सकते हैं आगे नहीं जाते। असैनी पहलेतक, सरीसृप दूसरेतक, पक्षी तीसरेतक, सर्प चौथेतक, सिंह पांचवेंतक, स्त्री छठेतक, और मनुष्य मत्स्य सातवेंतक जाते हैं। इससे आगे नहीं जाते ॥१२५॥

॥३२५॥

भौमभावनयोः पूर्णो असंज्ञी भोगभूमिजाः ।
तापसप्रवराश्चापि जायन्ते भुवनत्रये ॥१२६॥

पर्यासक असैनी भोगभूमिया जीव मरकर भवनवासी और व्यंतरों में उत्पन्न होते हैं। तथा मिथ्यादृष्टि श्रेष्ठ तपस्वी भी मरकर भवनवासी व्यंतर और ज्योतिषी देवों में उत्पन्न होते हैं ॥१२६॥

सद्दृष्टिभोगभूजाताः सौधर्मैशानकल्पयोः ।
पर्याप्ताः कर्मभूसंज्ञिमानवा भोगभूमिषु ॥१२७॥

सम्यग्दृष्टी भोगभूमियां जीव मरकर सौधर्म और ईशान स्वर्ग में उत्पन्न होते हैं। तथा कर्मभूमिमें उत्पन्न हुए सैनी पर्यासक मनुष्य भोगभूमियों में उत्पन्न होते हैं ॥१२७॥

परिव्राट् ब्रह्मकल्पान्तं यात्युग्राचारवानपि ।
आजीवकः सहस्रारकल्पान्तं दर्शनोज्झितः ॥१२८॥

मिथ्यादृष्टी परिव्राजक मरकर पांचवें स्वर्गतक जाते हैं तथा उग्र आचरणों को धारण करनेवाले आजीवक वा परमहंस मिथ्यादृष्टी जीव बारहवें सहश्रार स्वर्गतक जाते हैं ॥१२८॥

यान्त्यच्युतान्तमुत्कर्षात्तिर्यंचो मानवा अपि ।
सम्यग्दर्शनसंपन्नाऽसंयता देशसंयताः ॥१२९॥

सम्यग्दर्शनसे सुशोभित होनेवाले संयमी मनुष्य, सम्यग्दृष्टी देशसंयमी मनुष्य वा तिर्यंच सम्यग्दृष्टी असंयत मनुष्य वा तिर्यंच अधिकसे अधिक सोलहवें अच्युत स्वर्गतक उत्पन्न होते हैं ॥ १२९ ॥

मर्त्यासंयतसद्दृष्टिदेशव्रातिकुदृष्टयः ।
येन्त्यग्रैवेयकान्तं ते यान्ति सद्द्रव्यसंयमात् ॥१३०॥

॥३३६॥

चत्वारि पंच सर्वाणि चत्वारि नरकादिषु ।
पंचेन्द्रिये त्रसे सर्वाण्याद्यं त्वन्याक्षकाययोः ॥१३५॥

नरक में नारकियोंके पहले चार गुणस्थान होते हैं। तिर्यंचों के पांच गुणस्थान होते है। मनुष्योंके सब गुणस्थान होते हैं देवों के भी पहले चार गुणस्थान होते हैं। इन्द्रिय मार्गणामें पंचेन्द्रियों के सब गुणस्थान होते हैं। एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय, तेइन्द्रिय चौइन्द्रिय जीवों के एक मिथ्यात्व गुणस्थान होता है कायमार्गणामें त्रसकायिक जीवों के सब गुणस्थान होते हैं। स्थावर कायिक जीवों के एक मिथ्यात्व गुणस्थान होता है ॥१३५॥

संज्ञ्याद्याः क्षीणमोहान्ताः संयोगान्ताश्च ते क्रमात् ।
मोषोभयमनोवाक्षु मनोवाक्वपरेष्वपि ॥१३६॥

संज्ञीसे आदि लेकर बारहवें गुणस्थानतक असत्यमनयोग, उभयमनोयोग, असत्यवचनयोग उभयवचनयोग होते हैं तथा संज्ञीसे आदि लेकर तेरहवें गुणस्थानतक ये दोनों योग भी होते हैं और बाकी के अर्थात् सत्य और अनुभय मन वचन योग भी होते हैं ॥१३६॥

पर्याप्तद्वीन्द्रिया आदिस्तुरीयवचने पुनः ।
स्थावरादिसयोगान्ताः पूर्णा औदारिके मताः ॥१३७॥

पर्याप्तक द्वीन्द्रिय आदि चतुर्थ वचन अर्थात् अनुभय वचन में होते हैं उनके अनुभय वचन होता है। पर्याप्तक स्थावर आदि से लेकर सयोगीपर्यंत औदारिक काययोग में होते हैं इनके औदारिक काययोग होता है ॥१३७॥

कुदृक्सासादनोऽपूर्णः सुदृक् पुंवेद्यसंयतः ।
कवाटयोगी तन्मिश्रे मर्त्यातिर्यक्षु तद्द्वयम् ॥१३८॥

असयत सम्यग्दृष्टी मनुष्य, देशव्रती सम्यग्दृष्टी मनुष्य और मिथ्यादृष्टी जीव द्रव्य संयमको श्रेष्ठ रीतिसे पालन करनेके कारण मरकर अंतिम ग्रैवेयकतक उत्पन्न होते हैं ॥१३०।

यान्ति सर्वार्थसिध्यंतं नराः संयमिनश्च्युताः ।
सर्वार्थसिद्धिजा मोक्षगाः स्युर्लौकान्तिका अपि ॥१३१॥

सयमी मनुष्य स्वर्गों में सर्वार्थसिद्धितक जाते हैं तथा सर्वार्थसिद्धि के अहमिंद्र और लौकांतिक देव वहांसे चयकर मनुष्य होकर अवश्य ही मोक्ष जाते हैं ॥१३१॥

सलोकपालाः शक्रादिदक्षिणेन्द्रा दिवश्च्युताः ।
शक्राग्रमाहिषीयुक्ता नृषु निर्वांत्यनन्तरम् ॥१३२॥

दक्षिण दिशा के स्वर्गोंके इन्द्र, लोकपाल और उनकी मुख्य इन्द्राणी वहांसे चयकर मनुष्य होकर मोक्ष ही जाते हैं ॥१३२॥

यस्यां जातिजरामृत्युक्लेशाश्लेषो न विद्यते ।
सोक्ता सिद्धगतिर्यांति तां मर्त्या गुणभूषणाः ॥१३३॥

जिसमें जन्ममरण और बुढापे आदिके दुःखोंका सर्वथा संबध न हो, उसको सिद्ध गति वा मोक्ष कहते हैं। जो मनुष्य रत्नत्रयसे सुशोभित होते हैं। रत्नत्रयको पूर्ण रीतिसे पालन करते हैं वे जीव उस सिद्ध गति वा मोक्षमें जाते हैं ॥१३३।

आगे इन प्ररूपणाओं को गुणस्थानोंके साथ संबंध मिलानेके लिये कहते हैं ।

प्ररूपणानामन्योन्ययोजनक्रमबुद्धये ।
गुणस्थानानि योज्यन्ते मार्गणादिषु केषुचित् ॥१३४॥

इन प्ररूपणाओं को परस्पर एक दूसरे के साथ संबंध मिलाने के लिये मार्गणाओंमें गुणस्थान मिलाते हैं अर्थात् किस किस मार्गणामें कौन कौन गुणस्थान होते है सो दिखलाते हैं ॥१३४॥

मिथ्यादृष्टी, सासादनसम्यग्दृष्टी, अपर्याप्तकसम्यग्दृष्टी, पुरुषवेदीअसंयमी और कपाट समुद्घातको धारण करनेवाले सयोगकेवलीके औदारिक मिश्र काययोग होता है। तथा मनुष्य और तिर्यंचों के औदारिक और औदारिकमिश्र दोनों काययोग होते हैं ॥१३८॥

पूर्णे वैक्रेयिकोऽपूर्णे तन्मिश्रः सुरनारके।
मिश्रे न मिश्रः सासादनोत्पत्तिर्नरकेषु न ॥१३९॥

पर्याप्तक देव व नारकियों के वैक्रियिक काययोग है। अपर्याप्तक देव नारकियों के वैक्रियिकमिश्र काययोग है वैक्रियिक काययोगमें पहले चार गुणस्थान हैं। तथा वैक्रियिक मिश्र काययोग में मिश्र गुणस्थान नहीं है पहला दूसरा व चौथा गुणस्थान है। नारकियों के सासादन गुणस्थान नहीं है ॥१३९॥

आहारदेहपर्याप्त्या पूर्णापूर्णप्रमत्तयोः।
अन्तर्मुहूर्तकालौ तु आहाराऽऽहारमिश्रकौ ॥१४०॥

आहारपर्याप्तक और आहारक अपर्याप्तक जीव छठे गुणस्थानमें होते हैं इनका दोनोंका काल अंतर्मुहूर्त होता है। अतएव आहारक काययोग और आहारक मिश्रकाययोग दोनोंका काल अंतर्मुहूर्त समझना चाहिये ॥१४०॥

कुदृक्सासादनसुदृक्चतुर्गतिगविग्रहे।
कार्मणस्तु सयोगस्य प्रतरे लोकपूरणे ॥१४१॥

मिथ्यादृष्टी सासादनसम्यग्दृष्टी और सम्यग्दृष्टी जीवों के चारों गतियोंकी विग्रहगतिमें कार्मणकाययोग है। तेरहवें गुणस्थान में रहनेवाले सयोगीकेवलीके प्रतर और लोकपूर्ण समुद्घात करतेसमय कार्मण काययोग होता है ॥१४१॥

आगे वेदोंमें गुणस्थान बतलाते हैं।

स्थावरादिस्ववेदाऽनिवृत्यंताः स्युर्नपुंसके ।
असंज्ञ्यादिस्ववेदानिवृत्यंताः शेषवेदयोः ॥१४२॥

नपुंसक वेदमें स्थावर आदि मिथ्यात्व गुणस्थान से लेकर नौवें अनिवृत्तिकरण गुणस्थानके अवेदभागतक गुणस्थान समझना चाहिये। बाकीके स्त्रीवेद और पुरुषवेद में असैनी पंचेन्द्रिय मिथ्यादृष्टी से लेकर अनिवृत्तिकरण नामके नैवें गुणस्थानके अवेदभागतक गुणस्थान होते हैं ॥१४२॥

कुदृगाद्यनिवृत्तिद्वित्रिचतुर्भागगा गुणाः ।
क्रोधत्रये क्रमाल्लोभे सूक्ष्मलोभान्तिका दश ॥१४३॥

क्रोध, कषाय मिथ्यादृष्टी गुणस्थानसे लेकर अनिवृत्ति करण गुणस्थान के दूसरे भागतक होता है। मानकषाय में मिथ्यादृष्टी गुणस्थानसे लेकर अनिवृत्ति करण के तीनभागतक गुणस्थान होते हैं। माया कषायमें मिथ्यादृष्टी गुणस्थानसे लेकर अनिवृत्तिकरणके चार भागतक गुणस्थान होते हैं। तथा लोभ कषायमे पहले मिथ्यात्वगुणस्थान से लेकर दशवें सूक्ष्मसांपरायतक गुणस्थान होते हैं ॥१४३॥

आगे ज्ञान में गुणस्थान लगाते हैं।

एकेन्द्रियादिपर्याप्तसंज्ञ्याद्याद्यगुणद्वये ।
स्यातां मतिश्रुताज्ञाने विभंगोऽपि यथाक्रमम् ॥१४४॥
चतुर्थषष्ठप्रभृतिक्षीणमोहान्तगाः क्रमात् ।
ज्ञानत्रये मनःपर्यये‍ऽर्हत्सिद्धेषु केवलम् ॥१४५॥

कुमतिज्ञान कुश्रुतज्ञान एकेन्द्रिय जीवों से लेकर पर्याप्तक सैनी पंचेन्द्रिय तक जीवों के पहले दूसरे गुणस्थान में होते हैं। तथा विभंगावधिज्ञान भी पहले दूसरे गुणस्थानमें ही होता है। सम्यक्मतिज्ञान सम्यक्श्रुतज्ञान और सम्यक अवधिज्ञान ये तीनों सम्यक्ज्ञान चौथे गुणस्थानसे

लेकर बारहवें क्षीणमोह गुणस्थानतक होते हैं। तथा मनःपर्यय ज्ञान छठे गुणस्थानसे बारहवें गुणस्थानतक होता है। भगवान् अरहंत देवके अर्थात् तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान में तथा गुणस्थानों से रहित सिद्ध भगवान् के केवलज्ञान होता है ॥ १४४-१४५ ॥

आगे संयम में गुणस्थान बतलाते हैं।

असंयमे चतुर्थान्ताः पंचमो देशसंयमे।
प्रमत्ताद्यानिर्वृत्यंता यमे सामायिकद्वये ॥१४६॥
परिहारर्द्धौ प्रमत्ताप्रमत्तौ सूक्ष्मलोभकः।
स्यात्सूक्ष्मसांपरायेऽन्ये यथाख्यातेऽतनौ न सः ॥१४७॥

असंयममें पहले चार गुणस्थान होते हैं। देशसंयम में पांचवां गुणस्थान होता है। सामायिक और छेदोपस्थापना नाम के संयममे छठे गुणस्थान से लेकर नौवें गुणस्थानतक सात गुणस्थान होते हैं। परिहारविशुद्धि नामके चारित्र में छठा और सातवां गुणस्थान होते हैं। सूक्ष्मसांपराय नाम के संयम मे दशवां गुणस्थान होता है। यथाख्यात संयममें ग्यारहवां बारहवां तेरहवां चौदहवां गुणस्थान है और शरीररहित सिद्धों के कोई संयम नहीं है ॥ १४६-४७ ॥

आगे दर्शन में गुणस्थान बतलाते हैं।

चतुरक्षैकाक्षायतराद्दृष्ट्याद्यास्तु दर्शने।
छद्मस्थान्ताः स्मृताश्चक्षुष्यचक्षुष्यवधौ क्रमात् ॥१४८॥

चक्षुदर्शनवाले जीव चौइन्द्रिय जीवों से लेकर [पहले गुणस्थानसे] बारहवें गुणस्थानतक होते हैं अचक्षुदर्शनवाले जीव एकेन्द्रिय से आदि लेकर पहले गुणस्थानसे बारहवें गुणस्थानतक होते हैं। अवधिदर्शनवाले जीव चौथे गुणस्थान से लेकर बारहवें गुणस्थानतक होते है ॥ १४८ ॥

आगे केवलदर्शन के गुणस्थान बताकर लेश्याके गुणस्थान कहते है ।

केवले जिनसिद्धाः स्युः स्थावराद्याश्चतुर्गुणाः ।
अप्रशस्तात्रिलेश्यासु प्रमत्तान्ताश्च कीर्तिताः ॥१४९॥

केवलदर्शनवाले जीव केवली भगवान् अर्थात् तेरहवे चौदहवें गुणस्थानवर्ती जीव होते हैं। तथा गुणस्थानसे रहित सिद्ध भगवान् होते है। लेश्याओं में पहलेकी जो कृष्ण, नील कापोत, तीन अशुभ लेश्याएं हैं वे स्थावर जीवों मे आदि लेकर अर्थात् पहले गुणस्थानसे लेकर चौथे गुणस्थानतक होती हैं। तथा पीत लेश्या पहले गुणस्थानसे लेकर छठे गुणस्थानतक होती है ॥ १४९ ॥

शुभलेश्यासु संज्ञ्यादिसप्तमान्तास्ततोऽपरे ।
शुक्लायां स्युः सयोगान्ता लेश्यातीतास्ततः परे । ॥१५०॥

पद्मलेश्या सैनी पचेंद्रियसे लेकर-पहले गुणस्थानसे लेकर सातवे गुणस्थानतक होती है। शुक्ललेश्या पहले गुणस्थानसे लेकर सयोगी नाम के तेरहवें गुणस्थानतक होती है। चौदहवें गुणस्थान में तथा सिद्ध भगवान् के कोई लेश्या नहीं है ॥१५०॥

आगे भव्यत्व मार्गणामें और सम्यक्त्व मार्गणा में गुणस्थान बतलाते हैं।

भव्ये सर्वगुणस्थानान्यभव्ये प्रथमो गुणः ।
मिथ्यात्वादित्रये मिथ्यादृष्ट्याद्याः स्युस्त्रयो गुणाः ॥१५१॥

भव्य जीवोंके चौदह गुणस्थान होते हैं। अभव्य के एक मिथ्यात्व गुणस्थान ही होता है। मिथ्यात्व नामकी सम्यक्त्वमार्गणा में एक मिथ्यात्व गुणस्थान होता है। सासादन नामकी सम्यक्त्वमार्गणामें सासादन गुणस्थान होता है। मिश्र नामकी सम्यक्त्व मार्गणा में मिश्र-गुणस्थान होता है ॥१५१॥

॥३४२॥

वेदकाद्यौपशमयोश्चतुर्थाद्याश्चतुर्गुणाः ।
चतुर्थाद्युपशान्तान्ता द्वितीयोपशमे मताः ॥१५२॥

क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन में तथा औपशमिक सम्यग्दर्शन में चौथा पांचवां छठा सातवां ये चार गुणस्थान होते हैं। द्वितीयोपशम सम्यग्दर्शन में चौथे गुणस्थानसे लेकर ग्यारहवें गुणस्थानतक आठ गुणस्थान होते हैं॥ १५२॥

आगे क्षायिक सम्यक्त्व और संज्ञी मार्गणामें गुणस्थान बतलाते हैं।

सिद्धान्ताः स्युश्चतुर्थाद्याः सम्यक्त्वे क्षायिके वरे।
संज्ञिनि द्वादश गुणा मिथ्यादृष्टिरसंज्ञिनि ॥१५३॥

क्षायिक सम्यग्दर्शन चौथे गुणस्थानसे लेकर चौदहवें गुणास्थानतक होता है तथा सिद्ध भगवान् में भी होता है। सैनी पंचेन्द्रिय जीवों के पहले गुणस्थान से लेकर बारहवें गुणस्थानतक बारह गुणस्थान होते हैं। असैनी के एक पहला ही गुणस्थान होता है ॥१५३॥

आगे आहारक मार्गणाके गुणस्थान बतलाते हैं।

कुदृष्ट्यादिसयोगान्ता आहारे कार्मणे स्थिताः।
अयोगिनश्चानाहारे सिद्धा निर्धूतकार्मणाः ॥१५४॥

आहार मार्गणा में मिथ्यात्व नामके पहले गुणस्थान से लेकर सयोगी केवली नाम के तेरहवें गुणस्थानतक तेरह गुणस्थान हैं। अनाहार मार्गणामें कार्मण काययोग और चौदहवां गुणस्थान हैं समस्त कर्मोंको नाश करनेवाले सिद्ध भगवान् भी अनाहारक ही होते हैं ॥१५४॥

आगे चौदह जीवसमासोंमें गुणस्थान बतलाते हैं।

चतुर्दशसु मिथ्यादृक्पूर्णेऽपूर्णे च संज्ञिनि।
सासादनायतसुदृक्प्रमत्तास्तु गुणास्त्रयः ॥१५५॥

चौदह प्रकार के जीवसमासों में पृथ्वीकाय सूक्ष्मवादर, जलकायिक सूक्ष्मवादर, तेजः कायिक सूक्ष्मवादर, वायुकायिक सूक्ष्मवादर नित्यनिगोद सूक्ष्मवादर इतर निगोद सूक्ष्मवादर, समातिष्ठित अप्रतिष्ठित, विकलत्रय- दोइन्द्रिय तेइन्द्रिय, चौइन्द्रिय, पंचेन्द्रिय असैनी सैनी इनमें मिथ्यात्व गुणस्थान होत है। अपर्याप्तक सैनी में मिथ्यात्व सासादन अव्रतसम्यग्दृष्टी और प्रमत्त ये चार गुणस्थान होते हैं। यहां प्रमत्त गुणस्थान आहारक मिश्रकी अपेक्षा है ॥१५५॥

पूर्णे जीवसमासे स्युः संज्ञिनोऽन्ये जिनौ विना ।
एवं जीवसमासेषु मार्गणा अपि योजयेत् ॥१५६॥

इन्हीं चौदह प्रकारके जीवसमासोंमें जो सैनी पर्याप्तक हैं उनके तेरहवें चौदहवें गुणस्थानको छोडकर बाकी के बारह गुणस्थान होते हैं। इसप्रकार जीवसमासोंमें मार्गणाओं को भी लगालेना चाहिये ॥१५६॥ इसप्रकार मार्गणाओं में गुणस्थान लगाकर बतलाये

अब आगे जीवोंकी संख्याकी न्यूनाधिकता कहते हैं।

सप्तम्याः श्रेण्यसंख्यातभागमात्रास्ततः क्रमात् ।
घर्माया नारका यावदसंख्यातगुणाः स्मृताः ॥१५७॥

सातवें नरकमें नारकियों की संख्या जगतश्रेणीके असंख्यातवें भागमात्र है। इनसे असंख्यात गुणे नारकी छठे नरकमें हैं। छठे नरकके नारकियों से असंख्यात गुणे पांचवें नरकके नारकियोंकी संख्या है। इनसे असंख्यात गुणे चौथे नरकके नारकी हैं। इनसे असंख्यात गुणे तीसरे नरक के नारकी हैं। इनसे असंख्यात गुणे दूसरे नरकके नारकी हैं और इनसे असंख्यात गुणे पहले नरकके नारकी है ॥१५७॥

पंचाक्षाः प्रतराऽसंख्यभागमात्रास्ततोऽधिकाः ।
चतुस्त्रिद्वीन्द्रिया जीवाः क्रमात्ते त्रसकायिकाः ॥१५८॥

पंचेन्द्रिय जीव जगतप्रतर के असंख्यातवें भाग मात्र हैं। उनसे आधिक चतुरिन्द्रिय जीव हैं। उनसे आधिक तेइन्द्रिय हैं और उनसे अधिक दोइन्द्रिय जीव है। इसप्रकार त्रस-कायिक जीवोंकी संख्या समझनी चाहिये ॥१५८॥

असंख्यलोकाः स्युस्तेजस्कायिकाः क्रमशोऽधिकाः।
तदसंख्येयभागेन पृथ्व्यप्पवनकायिकाः ॥१५९॥

तेजस्कायिक जीव असंख्यात लोकप्रमाण हैं। उनसे उनके असंख्यातवें भागप्रमाण अधिक पृथ्वीकायिक है। पृथ्विकायिक जीवोंसे असंख्यातवें भागप्रमाण अधिक जलकायिक हैं और उनसे असंख्यातवें भागप्रमाण अधिक वायुकायिक जीव हैं ॥१५९॥

अनंतानंतसंख्याता निगोदाः क्रमशोऽधिकाः।
वनस्पतय एकाक्षास्तिर्यञ्चश्च यथोचि म ॥१६०॥

निगोदिया जीव अनतानत हैं। एकेन्द्रिय वनस्पती तिर्यंच यथायोग्य रीतिसे क्रमसे इनसे अधिक सख्यावाले समझने चाहिये ॥१६०॥

अन्तरद्वीपकुनराः संख्याता गुणिताः क्रमात्।
संख्यातरूपैः कुरुषु हरिरम्यकवर्षयोः ॥१६१॥
हैमवतभूहैरण्यवतोर्व्योर्भोगभूमिजा।
भरतैरावतक्षेत्रे विदेहे पूर्णमानवाः ॥१६२॥ युग्मं।

अंतर्द्वीप में रहनेवाले कुभोगभूमियां मनुष्य सख्यात हैं। इनसे संख्यागुणे देवकुरु वा उत्तरकुरुओंके मनुष्य हैं। इनसे संख्यातगुणे हरि क्षेत्रके तथा रम्यक्क्षेत्रके मनुष्य हैं और इनसे संख्यातगुणे मनुष्य हैमवत और हैरण्यवत क्षेत्रके मनुष्य हैं। यह भोगभूमिज मनुष्योंकी संख्या है। इन से सख्यातगुणे भरत ऐरावत और विदेह क्षेत्र के पर्याप्तक मनुष्य समझने चाहिये

लब्ध्यपूर्णा जगच्छ्रेण्यसंख्यभागामिता मताः ।
भरतादिषु कर्मावनीषु तेभ्योऽधिका नराः ॥१६३॥

भरतक्षेत्र आदिक जो कर्मभूमियां हैं उनमें रहनेवाले जो लब्ध्यपर्याप्तक मनुष्य हैं वे जगतश्रेणी के असंख्यातवें भागप्रमाण हैं यह संख्या भरतादिक के पर्याप्त मनुष्यों से अधिक समझनी चाहिये ॥ १६३ ॥

असंख्यश्रेणिं वैमानिकेभ्योऽसंख्यगुणाः क्रमात् ।
भावना वाना ज्योतिष्कास्तेभ्यः संख्यातसंगुणाः ॥१६४॥

वैमानिक देव असंख्यात श्रेणी प्रमाण हैं। उनसे संख्यातगुणे भवनवासी हैं उनसे संख्यातगुणे व्यंतर हैं उनसे संख्यातगुणे ज्योतिषी देव हैं ॥ १६४ ॥

मर्त्येभ्योऽसंख्यगुणिता असंख्यश्रेणिनारकाः ।
तेभ्यो देवास्ततः सिद्धाश्चसंख्यानंतसगुणाः ॥१६५॥

मनुष्यों से असंख्यातगुणे नारकी हैं और उनकी संख्या असंख्यातश्रेणी प्रमाण है। नारकियों से देवोंकी संख्या असंख्यातगुणी हैं। तथा देवों से असंख्यात अनंतगुणी सिद्धोंकी संख्या है ॥ १६५ ॥

तिर्यंचोऽनंतगुणितास्तेभ्यः संसारिणोऽधिकाः ।
सिद्धराशिप्रमाणेन सर्वे जीवास्ततोऽधिकाः ॥१६६॥

सिद्धों से अनंत गुणे तिर्यंच हैं। संसारी जीव तिर्यंचों से भी अधिक हैं। तथा सिद्ध और ससारी दोनों की संख्या मिलाकर समस्त जीवोंकी संख्या होती है ॥१६६॥

आधारे बादराः सूक्ष्माः सर्वत्र त्रसनालिगाः ।
त्रसास्तु विकलाक्षाः स्युस्तिर्यग्लोके व्यवस्थिताः ॥१६७॥

बादर वा स्थूलजीव किसी न किसी के आधार रहते हैं। सूक्ष्म जीव समस्त लोकाकाश में भरे हुए हैं। दोइन्द्रिय तेइन्द्रिय चौइन्द्रिय आदि त्रस जीव त्रस नाली में भरे हुए हैं। इसप्रकार तिर्यंच तिर्यग्लोक में भरे हुए हैं ॥१६७॥

आगे यह जीव कर्मोंके आधीन हैं ऐसा दिखलाते हैं।

कर्मायत्तश्चिरं जीवः संसारे पर्यटत्यसौ।
प्रकृत्याऽष्टविधं त्वष्टचत्वारिंशच्छतं च तत् ॥१६८॥

यह जीव कर्मों के आधीन होकर चिरकालसे संसारमें परिभ्रमण कर रहा है। वे कर्म आठ हैं और उनके उत्तरभेद सब एक सौ अडतालीस हैं ॥१६८॥

यत्तत्राष्टविधं ज्ञानदर्शनावरणीयतः।
स्याद्वेदनीयमोहायुर्नामगोत्रान्तरायतः ॥१६९॥

ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अंतराय ये आठ कर्म कहलाते हैं ॥१६९॥

ज्ञानं मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलम्।
आवृणोतीति तज्ज्ञानावरणं पंचभेदगम् ॥१७०॥

ज्ञान पांच हैं उनको आवरण करनेवाले कर्म भी पांच हैं। उनके नाम ये हैं। मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण, मनःपर्ययज्ञानावरण, और केवलज्ञानावरण ॥१७०॥

आगे दर्शनावरणके भेद कहते हैं।

स्त्यानगृद्धिर्निद्रानिद्राप्रचलाप्रचलाद्वयम्।
निद्रा च प्रचला चक्षुरचक्षुर्दर्शनावृती ॥१७१॥

॥३४७॥

अवधेः केलस्यापि दर्शनस्यावृती इति ।
चतुर्विधेऽपि स्वावार्ये दर्शनावृतयो नव ॥१७२॥ युग्मम् ।

चक्षुदर्शनावरण, अचक्षुदर्शनावरण अवधिदर्शनावरण केवलदर्शनावरण, निद्रा, निद्रानिद्रा, प्रचला, प्रचलाप्रचला और स्त्यानगृद्धि । ये नौ दर्शनावरण कर्म के भेद है । इनमेंसे पहले के चार अपने अपने दर्शनोंको ढकते हैं, आवरण करते है । इसलिये इनको दर्शनावरण कहते हैं ॥ १७१-१७२ ॥

आगे वेदनीय मोहनीय और आयु कर्म के भेद कहते हैं ।

सातासातद्वयं वेद्यं मोहोऽष्टाविंशतिर्मतः ।
मिथ्यात्वं सम्यङ्मिथ्यात्वं सम्यक्त्वं दृग्विमोहनम् ॥१७३॥
क्रोधादिभेदानंतानुबन्धी संज्वलनस्तथा ।
प्रत्याख्यानः कषायः स्यादप्रत्याख्यान इत्यमी ॥१७४॥
चारित्रमोहनीयं स्युर्नोकषायाश्च ते नव ।
पुरुषस्त्रीषण्ढवेदत्रयं रत्यरती तथा ॥१७५॥
हास्यशोकौ भयं जुगुप्सायुश्चतुर्विधम् ।
निरयायुस्तिर्यङ्मर्त्यसुरायूंषीति वर्णितम् ॥१७६॥

वेदनीय कर्म के दो भेद है । सातावेदनीय कर्म और असातावेदनीय कर्म । मोहनीय के अट्ठाईस भेद हैं । वे इसप्रकार है । मोहनीय के दो भेद हैं । दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय । दर्शनमोहनीयके तीन भेद है । मिथ्यात्व, सम्याग्मिथ्यात्व और सम्यक्प्रकृतिमिथ्यात्व चारित्रमोहनीय के दो भेद हैं कपायवेदनीय और नोकषायवेदनीय । उसमस कपायवेदनीय के भी सोलह भेद है । अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ । अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया

॥३४८॥

लोभ । संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ ये सोलह कपायवेदनीय के भेद हैं। इसीप्रकार हास्य, रति, अरति, शोक भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुवेद और नपुंसकवेद ये नोकषाय के भेद है। इसप्रकार दर्शनमोहनीय के तनि भेद, चारित्रमोहनीयके सोलह और नौ मिलाकर पच्चीस भेद, दोनों-प्रकारकी मोहनीय के सब भेद अट्ठाईस होते है। आयु कर्म के चार भेद हैं। मनुष्यायु, तिर्यंचायु, नरकायु और देवायु ॥ १७२-१७६ ॥

आगे नामकर्मके तिरानवे भेद बतलाते हैं।

नाम त्रिनवतिभेदैर्गतिस्तत्र चतुर्विधा ।
जातिः पंचविधा पंचभेदभंगं च बन्धनम् ॥१७७॥

नाम कर्म के तिरानवे भेद है। वे इसप्रकार हैं। गति चार- नरकगति तिर्यंचगति मनुष्यगति और देवगति। जाति पांच, एकेन्द्रिय जाति, दोइन्द्रिय जाति, तेइन्द्रिय जाति, चौइन्द्रिय जाति और पंचेन्द्रिय जाति। शरीर नामकर्मके पांच भेद हैं। औदारिक, वैक्रियिक आहारक, तैजस और कार्मण। वंधन पांच हैं। औदारिक वंधन, वैक्रियिक बधन, आहारक वंधन, तैजस वंधन, और कार्मण वंधन। यहांतक उनईस भेद हुए ॥१७७॥

पंचभेदोऽगसंघातः स्युः संस्थानानि षट् तनोः ।
त्रीण्यंगोपांगनामानि देहसंहननानि षट् ॥१७८॥

संघात नामकर्म के पांच भेद हैं। औदारिक संघात, वैक्रियिक संघात, आहारक संघात, तैजससंघात और कार्मण संघात। संस्थान नामकर्म के छह भेद हैं। समचतुरस्रसंस्थान, न्यग्रोध परिमंडलसंस्थान, स्वाति संस्थान, कुब्जक सस्थान, वामन संस्थान और हुंकड संस्थान। अंगोपांगके तनि भेद हैं। औदारिक अंगोपांग, वैक्रियिक अंगोपांग और आहारक अंगोपांग। सहनन नामकर्म के छह भेद है। वज्रवृषभनाराचसंहनन, वज्रनाराचसहनन, नाराचसहनन, अर्द्धनाराचसंहनन, कीलक-

संहनन, असंप्राप्तासृपाटिकसंहनन। यहांतक उन्तालीस भेद हुए ॥१७८॥

वर्णाः पंच द्विगन्धौ स्युः पंच रसाः शाष्टकम्।
आनुपूर्व्यश्चतस्रोऽगुरुलघ्वेकं शरीगरम् ॥१७९॥

वर्णनामकर्म के पांच भेद हैं श्वेत, पीत, हरित, कृष्ण और रक्तवर्ण। गंधके दो भेद हैं सुगध और दुर्गंध। रसके पांच भेद हैं, खट्टा, मीठा, कडवा चरपरा, कषायला। स्पर्शके आठ भेद हैं। मृदु, कर्कश, गुरु, लघु, पीत, उष्ण, स्निग्ध रुक्ष। आनुपूर्व्य कर्मके चार भेद हैं। नरकगत्यानुपूर्वी तिर्यंचगत्यानुपूर्वी, मनुष्यगत्यानुपूर्वी और देवगत्यानुपूर्वी। अगुरुलघु एक है। यहांतक चौसठ भेद हुए १७९॥

अपघातपरघातोच्छ्वासाऽऽतापचतुष्टयम्।
उद्योतमेकं द्विविधं विहायोगतिकर्म यत् ॥१८०॥

उपघातनामकर्म परघातनामकर्म, उच्छ्वासनामकर्म, आताप नामकर्म और उद्योतनामकर्म ये पांच भेद हुए। तथा विहायोगति नामकर्म के दो भेद है प्रशस्तविहायोगति और अप्रशस्तविहायोगति। इसप्रकार इकहत्तर भेद होते हैं ॥१८०॥

त्रसबादरपर्याप्तप्रत्येकं स्यात् स्थिरं शुभम्।
सुभगं सुस्वरादेययशस्कीर्ति च सेतरम् ॥१८१॥
निर्माणमेकं स्यात्तीर्थकरनामप्यनुत्तरं।
उच्चनीचाद्विभेदस्य पात्रं तद्गोत्रकर्म यत् ॥१८२॥

त्रसनामकर्म, स्थावरनामकर्म, वादरनामकर्म, सूक्ष्मनामकर्म, पर्याप्तकनामकर्म, अपर्याप्तकनामकर्म, प्रत्येकनामकर्म, साधारणनामकर्म; स्थिरनामकर्म, अस्थिरनामकर्म, शुभनामकर्म, अशुभनामकर्म सुभगनामकर्म, दुर्भग नामकर्म, सुस्वर नामकर्म, दुःस्वरनामकर्म, आदेयनामकर्म, अनादेयनामकर्म, यशः

॥३५०॥

कीर्तिनामकर्म, अयशःकीर्तिनामकर्म निर्माणनामकर्म और तीर्थंकर नामकर्म। इसप्रकार नामकर्म के सब मिलाकर तिरानवे भेद होते हैं। गोत्रकर्म के दो भेद हैं एक उंच गोत्रका कारण और दूसरा नीचगोत्रका कारण ॥१८१-१८२॥

स्याद्दानलाभभोगोपभोगवीर्यान्तरायतः।
पंचभेदोऽन्तरायोऽयं दानाद्यन्तरमेति यत् ॥१८३॥

अंतराय कर्म के पाच भेद हैं। दानांतराय लाभांतराय भोगांतराय उपभोगांतराय वीर्यांतराय। जो दान लाभ भोग उपभोग और वीर्य में विघ्न कर दें उनको अंतराय कर्म हते हैं इसप्रकार आठों कर्मोंके सब मिलाकर एकसौ अडतालीस भेद है ॥१८३॥

आगे इन कर्मोंकी स्थिति बतलाते हैं।

त्रिंशत्र्याद्यन्तरायेषु कोटीकोट्यः परा स्थितिः।
सप्ततिर्मोहनीयस्य स्युर्विंशतिर्नामगोत्रयोः ॥१८४॥
सागराणां त्रयस्त्रिंशत्स्यादायुष्यपरा स्थितिः।
वेद्ये मुहूर्ताः स्युर्द्वादशाष्टौ ते नामगोत्रयोः ॥१८५॥
शेषेष्वन्तर्मुहूर्त्तः स्यादात्मना सह संस्थितेः।
कालः प्रतिक्षणं बद्धकर्मणां स्थितिरीरिता ॥१८६॥

ज्ञानावरण दर्शनावरण वेदनीय और अंतराय कर्मकी उत्कृष्ट स्थिति तीस कोडाकोडी सागर है। मोहनीयकी सत्तर कोडाकोडी सागर है। नाम गोत्रकी वीस कोडाकोडी सागर है। आयु कर्मकी उत्कृष्ट स्थिति तेतीस सागर है। वेदनीय कर्मकी जघन्य स्थिति वारह मुहूर्त है। नाम गोत्रकी आठ मुहूर्त है और बाकी के पांचों कर्मोंकी जघन्य स्थिति अंतर्मुहूर्त है। इसप्रकार एक प्रत्येक संसारी जीवके साथ प्रत्येक समयमे कर्मोंका वंध होता रहता है।

॥३५१॥

एक समयमें जो कर्मोंका बध होता है उसकी उत्कृष्ट और जघन्य स्थिति ऊपर बतलाई है ॥ १८४--१८६ ॥

कर्मस्वर्शगुणो यस्तु सोऽनुभाग इतीष्यते ।
लतानिंवगुडाद्यात्मनानाभेदैस्त्रिजैर्युतः ॥१८७॥

कर्मका ॰ही जिसका फल है उसको अनुभागवंध कहते है यहांपर कर्मस्पर्शका आभिप्राय कर्मजनित फल है। उस अनुभागवंधके तीन भेद है घातियां कर्मों में तो लता, दारु अर्थात् काष्ठ, आस्थि और पाषाण ये चार भेद क्रमसे उत्तरोत्तर अनुभागवंधके होते हैं। इनमे देशघाती न दारुका कुछभाग प्रकृतियों में लताभाग रहता है और बाकी समस्त घातियों में काष्ठ आस्थि और पाषाण-भाग अर्थात् कठिन कठिन भाग रहता है। अघातिया कर्मों में प्रशस्त प्रकृतियों मे तो गुड, खांड, शर्करा और अमृत ये उत्तरोतर चार भेद हैं। तथा अप्रशस्त प्रकृतियों में निंब, कांजी, विष, हलाहल ये चार भेद है। इसप्रकार सब कर्मों के अनुभाग तीन श्रेणियों में बटे हुए हैं॥ १८७ ॥

संतानापेक्षयाऽनादिः सादिर्नूतनवन्धनात् ।
प्रदेशः कर्मणः स्कन्धः प्रकृत्यादित्रयात्मक ॥१८८॥

संतानकी अपेक्षासे कर्म सब अनादि कालसे इस जीवके साथ लगे हुए हैं। तथा यह जीव प्रत्येक समयमें नये नये कर्मोंका बध करता रहता है इसलिये कर्म सादि भी हैं। प्रत्येक समयमें इस जीवके जो कर्मों के स्कंध आते रहते है और उनमें जो अनतानंत प्रदेश होते हैं उन प्रदेशोंको प्रदेशबंध ते है। वे प्रदेश जो आठों कर्मरूप परिणत हो जाते है उसको प्रकृतिबंध कहते हैं। इनमें आत्माके साथ रहनेकी जो कालकी मर्यादा नियत हो जाती है उसको स्थिति बंध कहते हैं। और उनमें जो फल देनेकी शक्ति हो जाती है उसको अनुभाग बध कहते हैं। इसप्रकार वह प्रदेशबध प्रकृतिबध, स्थितिबंध और अनुभागबधरूप परिणत

॥३५२॥

हो जाता है ॥१८८॥

जीवकर्मस्वरूपज्ञो विज्ञानातिशयान्वितः ।
कर्मनोकर्मनिर्मोक्षादात्मा शुद्धात्मतां व्रजेत् ॥ १८९ ॥

जो आत्मा ऊपर लिखे अनुसार जीव और कर्मों के स्वरूपको जानता है तथा जिसके ज्ञानका अतिशय विद्यमान है जो अतिशय ज्ञानी है जिसके केवलज्ञानादिक प्रगट होगये हैं ऐसा आत्मा ऊपर लिखे हुए आठों कर्मोंको और औदारिक वैक्रियिक आहारक इन तीन शरीर छह पर्याप्ति के योग्य पुद्गल वर्गणारूप नोकर्मोंको नाश कर देता है अर्थात् आठों कर्म और शरीरका नाश कर देता है तब वह आत्मा अत्यंत शुद्ध अवस्थाको प्राप्त होता है ॥ १८९ ॥

आगे अध्यायके अंतमें भगवान् अनंतनाथकी स्तुति करते हैं ।

श्रीमान्नः परमां रमां निरुपमां दद्यादनंतो जिनो
विज्ञानातिशयेन येन दुरितात्मानौ विभिन्नौ कृतौ ।
संपृक्तौ प्रतिपक्षहीनममितं प्राप्तं सदावस्थितं ।
शर्मानक्षजमक्षयं स्वातिशयं शुद्धात्मजातं नुतम् ॥ १९० ॥

जो भगवान् अनंतनाथ स्वामी अनत चतुष्टय आदि अंतरंग लक्ष्मी से और समवसरण आदि वहिरंग लक्ष्मी से सुशोभित हैं, अपने आत्मामें जो पापरूप कर्म अनादि कालसे मिल रहे थे उनको जिन्होंने स्वपर भेदविज्ञानरूप ज्ञानके आतिशयसे सर्वथा अलग अलग कर दिये अर्थात् जिन्हों ने समस्त कर्मोंको नष्ट कर दिया और जिनको कर्मोंके नष्ट होजाने से जो अपने प्रतिपक्षियों से—दुःखादिकसे सर्वथा रहित है जो सदा अनंत कालतक एकसा बना रहता है जो इन्द्रियों से उत्पन्न नहीं होता है किंतु शुद्ध आत्मासे उत्पन्न होता है, जो अक्षय है कभी नाश नहीं होता, जिसका अतिशय अत्यंत श्रेष्ठ है, जिसको सर्व नमस्कार करते हैं और जो अनंत स्वरूप है ऐसे अपने शुद्ध आत्मासे उत्पन्न

॥३५३॥

हुए सुखको जो प्राप्त हो चुके हैं अर्थात् ऐसा मोक्षरूप अनंत सुख जिन्होंने प्राप्त कर लिया है ऐसे चौदहवें तीर्थंकर परमदेव श्री अनंत भगवान् हमलोगोंको उपमारहित और सर्वोत्कृष्ट ऐसी मोक्षरूपी लक्ष्मी प्रदान करें ॥ १९० ॥

इसप्रकार श्री वीरनंदिसिद्धांतचक्रवर्तीविरचित श्रीआचारसार नामके
शास्त्रकी चावली (आगरा) निवासी देहलीप्रवासी "धर्मरत्न"
लालाराम शास्त्री द्वारा निर्मित सरलहिंदी भाषा–
टीकामें जीवकर्मप्ररूपणाके स्वरूपको वर्णन
करनेवाला यह ग्यारहवां अधिकार
समाप्त हुआ.



॥२५४॥

अथ द्वादशोऽधिकारः ॥ १२ ॥

बारहवां अधिकार

आगे अध्यायके आरंभमें भगवान् धर्मनाथकी स्तुति करते हैं।

सद्वंशजः पेशलविश्वशीलैः
श्लिष्टो गुणैर्पुष्टतरैर्विशिष्टैः ।
दुरंतदुःकर्महरः कृतार्थो
धर्मो जिनः स्ताद्विजयश्रिये नः ॥ १ ॥

जो भगवान् धर्मनाथस्वामी श्रेष्ठ वंशमें उत्पन्न हुए हैं, जिन्होंने अपने आत्मामें समस्त अठारह शीलके भेद पुष्ट रीतिसे पालन कर लिये हैं जो अत्यंत पुष्ट और विशेष वा अतिशय सहित ऐसे मूल गुण तथा उत्तर गुणों से सुशोभित हैं, जिनका अंत अत्यंत दुःख दायी है अर्थात् जो अंतमें अत्यंत दुःख देते हैं ऐसे ज्ञानावरणादिक पापकर्मोंको जिन्होंने सर्वथा नाश कर दिया है और कृतकृत्य होचुके हैं मोक्षरूप परम पुरुषार्थको सिद्ध कर चुके हैं ऐसे भगवान् धर्मनाथ स्वामी हमलोगों के कर्मों को नाश होने से प्राप्त होनेवाली मोक्षरूपी लक्ष्मी प्रदान करें ॥ १ ॥

आगे शीलके अठारह हजार भेद कहते हैं।

धर्मैर्गुप्तिभिः करणसंज्ञाऽक्षप्राणसंयमैः ।
अष्टादशसहस्राणि शीलान्यन्योऽन्यसंगुणैः ॥ २ ॥

उत्तम क्षमादिक दश धर्म, मनोगुप्ति, वचनगुप्ति काय गुप्ति ये तीन गुप्तियां, मनोयोग, वचनयोग काययोग इन तीन योगों के त्यागसे होनेवाला संयम, आहार, भय, मैथुन, परिग्रह इन चार संज्ञाओं के त्यागसे होनेवाला संयम, स्पर्शनादिक पांचों इन्द्रियों के त्यागसे होनेवाला संयम और दश प्राणों की दयासे होनेवाला संयम इनको परस्पर गुणा कर देनेसे अठारह हजार होते हैं ये सब शीलके भेद होते हैं। १०×३×३×४×५×१०= १८००० ये अठारह हजार शीलके भेद हैं ॥२॥

आगे दश धर्मों के नाम बतलाते हैं।

सत्क्षान्तिमार्दवार्जवशौचाऽऽकिंचन्यसंयमाः।
ब्रह्मचर्यतपःसत्यत्यागा धर्मा दश स्मृताः ॥ ३ ॥

उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव, उत्तम शौच, उत्तम सत्य, उत्तम संयम, उत्तम तप, उत्तम, त्याग, उत्तम आकिंचन्य, और उत्तम ब्रह्मचर्य ये दश धर्म कहलाते है ॥ ३ ॥

चत्वारः सत्क्षमाद्याः स्युश्चतुःक्रोधादिनिर्जयाः।
परिग्रहपरित्यागस्त्यागः शेषाः पुरोदिताः ॥ ४ ॥

इनमें से क्रोधको जतिना उत्तम क्षमा है। मानको जीतना उतम मार्दव है। मायाको जीतना उतम आर्जव है लोभका त्याग उतम शौच है। तथा परिग्रह का त्याग करना त्याग है। बाकीके सत्य, संयम, तप आकिंचन्य और ब्रह्मचर्यका स्वरूप पहले कह चुके है ॥४॥

मनोवचनकायानां व्यापाराः करणास्त्रयः।
ज्ञातास्त्रिगुप्तयः संज्ञाश्चतस्रोऽक्षाणि पंच च ॥ ५ ॥

मन वचन और कायका कृत कारित और अनुमोदना रूप व्यापार है उसको तीन करण कहते हैं। इनका त्याग इनका संयम है। मनोगुप्ति वचन गुप्ति और कायगुप्ति ये तीन गुप्तियां हैं। आहार–सज्ञा, भयसंज्ञा, मैथुनसंज्ञा और परिग्रहसंज्ञा ये चार संज्ञाएं हैं। इनकी इच्छाका त्याग इनका संयम

है। स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र ये पांच इन्द्रियां हैं। इनके विषयोंका त्याग इनका संयम है ॥ ५ ॥

प्राणा दशोर्वीतोयाग्निमरुत्प्रत्येककायिकाः ।
अनंतकाया स्युर्द्वित्रिचतुःपंचेन्द्रियांगिनः ॥६॥

पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक, प्रत्येकवनस्पति, साधारणवनस्पति, दोइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, और पंचेन्द्रिय ये दश प्रकारके प्राणी हैं इनके प्राणोंकी दया पालन करना प्राणिसंयम है। इसप्रकार उन सबके भेद बतलाये ॥६॥

आगे इन सबकी संख्या और नाम अनुक्रमसे जाननेके लिये आलाप कहते हैं।

क्षमायुक्ते मनोगुप्ते सुमनस्यशनास्पृहे ।
स्पर्शनोर्वीयमे शीलमाद्यमेवं पराण्यपि ॥७॥

पहले इन सबको अलग अलग कोठोंमें नीचे लिखे अनुसार लिखना चाहिये। यथा—पहला आलाप— क्षमायुक्त, मनोगुप्ति पूर्वक, मनयुक्त आहारकी वांछारहित, स्पर्शनेन्द्रियके त्यागपूर्वक, पृथ्वीकायिक जीवोंकी रक्षापूर्वक शील पालन करना पहला भंग है। इसीप्रकार अलग अलग अठारह हजार भेद हो जाते हैं। उनके अलग अलग नाम निकालनेकी विधि आगे बतलाई है। वहांसे जानलेना चाहिये ॥ ७ ॥

आगे चौरासी लाख उत्तरगुणों के भेद कहते हैं।

एकविंशत्यहिंसाद्या अनतिक्रमणादयः ।
चत्वारः स्युः शतं प्राणप्राणिघातविवर्जनम् ॥८॥
प्रायश्चित्तानि शीलानामाराधनगुणा दश ।
आलोचनगुणाश्चैते गुणास्त्वन्योन्यसंगुणाः ॥९॥

॥३५७॥

शीलके १८००० भेदों को कहनेवाला नष्टोद्दिष्ट यंत्र

उत्तम क्षमा १	उत्तम मार्दव २	उत्तम आर्जव ३	उतम शौच ४	उ. सत्य ५	उ. संयम ६	तप ७	त्याग ८	आकिंचन्य ९	ब्रह्मचर्य १०
मनोगुप्ति ०	वचनगुप्ति १०	कायगुप्ति २०							
कृत त्याग म. ०	कारित त्याग व. ३०	अनुमो. त्याग का. ६०							
आहार त्याग ०	भयत्याग ९०	मैथुनत्याग १८०	परिग्रहत्याग २७०						
स्पर्शनत्याग ०	रसनात्याग ३६०	घ्राणत्याग ७२०	चक्षुत्याग १०८०	श्रोत्रत्याग १४४०					
पृथ्वीत्याग ०	जलत्याग १८००	अग्नित्याग ३६००	पवनत्याग ५४००	प्रत्येकत्याग ७२००	साधारणत्याग ९०००	दोइन्द्रियत्याग १०८००	तेइन्द्रित्याग १२६००	चोइन्द्रियत्या. १४४००	पंचेन्द्रियत्या. १६२००

अहिंसादिक के इकईस भेद हैं अनतिक्रमणादिक चार हैं। इनको परस्पर गुणा करनेसे चौरासी होते हैं। दशप्रकारके प्राणी होते हैं, तथा प्राण दश होते हैं॥ दशप्रकारके प्राणियों-के दश दश के हिसाबसे सौ प्राण होते हैं। इनसे गुणा करनेसे चौरासी सौ भेद होते हैं। इनको दश प्रायश्चितके भेदोंसे गुणा करना चाहिये। दश शीलके भेदों से गुणा करना चाहिये और, दश आलोचनाके भेदों से गुणा करना चाहिये। इसप्रकार इन सबसे परस्पर गुणा करनेसे चौरासी लाख उत्तर गुण हो जाते हैं॥ ८-९॥

आगे इन सब भेदोंको अलग अलग बतलाते हैं।

व्रतान्यक्षनिरोधश्च मार्दवादिचतुष्टयम्।
भीरत्यरतिजुगुप्साऽज्ञानपैशून्यवर्जनम् ॥१०॥
सम्यक्त्वमप्रमादश्च मनोवाक्कायगुप्तयः।
एकविंशतिरित्येवमहिंसादिगुणाः स्मृताः ॥११॥

अहिंसा महाव्रत, सत्य महाव्रत, अचौर्य महाव्रत, ब्रह्मचर्य महाव्रत, परिग्रहत्याग महाव्रत, ये पांच तो महा व्रत, पांचों इन्द्रियोंका निरोध एक, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य ये चार मिल-कर दश होते हैं। भयकात्याग, रतिकात्याग, अरतिकात्याग, जुगुप्साकात्याग, अज्ञानकात्याग और पैशून्यका [चुगलखोरीका] त्याग इसप्रकार छह ये होते हैं। ये सब सोलह होते हैं। सम्यग्दर्शन एक, प्रमादका त्याग एक, मनोगुप्ति वचनगुप्ति कायगुप्ति, इसप्रकार पांच ये होते हैं। इसप्रकार ये अहिंसादिक इकईस भेद होते है ॥१०-११॥

आतिक्रमणव्यातिक्रमानाचारातिचारगाः
त्यागा अनतिक्रमणचतुष्टयमितीरितम् ॥१२॥

आतिक्रम, व्यातिक्रम, आतिचार और अनाचार इनका सर्वथा त्याग कर देना सो अनतिक्रम-णादिक चार कहलाते हैं। इनसे गुणा करनेसे चौरासी होते हैं ॥१२॥

दशप्राणैर्दशप्राणिष्वेकैकस्य वधाच्छतम् ।
प्राणप्राणिवधास्तेषां त्यागाः शतगुणा मताः ॥१३॥

पहले शीलोंके भेदोंमें दश प्रकारके प्राणी बतलाये हैं। तथा प्राणोंके दश भेद है। प्रत्येक प्राणी के दश दश भेदरूप प्राणोंके घातका त्याग करनेसे सौ प्रकारके प्राणों के घातका त्याग हो जाता है। इन से गुणा कर देनेसे चौरासीसौ भेद हो जाते ह ॥१३॥

आगे शीलोंके दोषोंके त्यागके दश भेद कहते हैं।

स्त्रीसंगोऽर्थार्जनं स्वांगमंडनं वृष्यभोजनम् ।
गीतं वाद्यं स्रगादिश्च शयनाशनभूषणम् ॥१४॥
रात्रिसंचरणं राजसेवा कुत्सितसंगमः ।
इत्यमीषां परित्यागा दश शीलप्रसाधकाः ॥१५॥

स्त्रीकेसाथ अत्यंत स्नेह करना १ सुवर्णादिक अर्थ वा धनका इकठा करना २ अपने शरीरको सुशोभित करना ३ पौष्टिक भोजन करना ४ गाना बजाना नृत्य करना आदि ५ पुष्पमाला अतर आदि सुगंधित पदार्थोंका लगाना ६ कोमल बिछौना गद्दी तकिया वा आभूषण आदि का लगाना ७ विना कामके रात्रिमें इधर उधर फिरना ८ राजाकी सेवा करना ९ और चोर व्यभिचारी आदि नीच मनुष्योंकी संगति रखना १० इन दश दोषोंका त्याग करना सो शीलको पालन करनेवाले हैं। इन दशसे गुणा कर देनेसे चौरासी हजार भेद होते हैं ॥१४—१५॥

दशाऽत्र पूर्वमुक्तानि प्रायश्चित्तानि विस्तरात् ।
आलोचनागास्त्यागाः स्युरालोचनगुणा दश ॥१६॥

प्रायश्चित्तके दश भेद विस्तार के साथ पहले कह चुके है। तथा आलोचनाके दश दोषों के

त्यागका वर्णन भी पहले कह चुके हैं। इसप्रकार इन दोनों दश दशोंसे गुणा करनेसे चौरासी लाख भेद होते हैं ॥१६॥

आगे इन चौरासीलाख उत्तरगुणोंका पहला आलाप कहते हैं।

सदयेऽतिक्रमापेते त्यक्तभूभूमिघातने।
सालोचने व्यपेतस्त्रीसंगे आकंपितोज्झिते ॥१७॥
आद्यो गुणो भवेदेवं शेषान्नुच्चारयेद्गुणान्।
गुणाश्चतुरशीतिः स्युर्लक्षाणीति प्रसिद्धिदाः ॥१८॥

अहिंसासहित, अतिक्रमरहित, पृथ्वीकायिक जीवों के स्पर्शनइन्द्रिय प्राणका त्यागी, स्त्रीस्नेहरहित आलोचनासहित, आकंपित दोष रहित व्रतोंका पालन करना पहला आलाप है। इसीप्रकार सबको क्रमसे बदल बदल कर कहनेसे सब आलाप हो जाते हैं। सोही लिखा है। यह पहला गुण वा उस गुणको कहनेवाला आलाप है। इसीप्रकार अन्य सब गुणों के आला उच्चारण कर लेने चाहिये। इसप्रकार संसार में प्रसिद्ध चौरासी लाख उत्तर गुण होते हैं ॥ १७-१८ ॥

आगे इन अठारह हजार शील और चौरासी लाख उत्तरगुणोंको जोडने वा गिनती करनेका अनुक्रम बतलाते हैं।

गुणादौ पंच संख्यानं प्रस्तारः परिवर्त्तनम्।
नष्टमुद्दिष्टमित्येते गुणनादिक्रमा मताः ॥१९॥

इनकी संख्या लाने के पांच प्रकार है संख्या, प्रस्तार, परिवर्तन, नष्ट, उद्दिष्ट। आगे क्रमसे एकएकका स्वरूप कहते हैं ॥ १९ ॥

पूर्वेपूर्वेऽखिलाः सार्द्धमेकैकैरुत्तरोत्तरैः।
मिलन्तीति क्रमात्तांस्तैर्गुणिते प्रमितिर्मता ॥२०

॥३६१॥

पहले पहले के समस्त गुण आगे आगे के गुणोंसे मिलते है इसलिये ऊपरकी संख्याको नीचे-की सब संख्याओं से गुणा करनेसे संख्या आजाती है। यह संख्या लानेका क्रम है ॥२०॥

आगे प्रस्तारका लक्षण कहते हैं।

निक्षिप्याद्यादिकं पिंडं प्रति पिंडं क्रमात्क्षिपेत ।
एकमेकं द्वितीयादेः समप्रस्तारके गुणे ॥२१॥

पहले पिंडका विरलन करे फिर उस सबके नीचे दूसरी संख्या रक्खे फिर सबको गुणा करे। फिर विरलन कर उसके नीचे नीचेकी संख्या रखकर गुणा करे इसप्रकार जितनी संख्या हो, उन सबके साथ करता जाय। सब संख्या के समाप्त होनेपर प्रस्तार संख्या निकल आती है। जैसे २१×४×१०×१०×१०×१०×१०= ८४०००००० संख्या आजाती है। प्रस्तार लानेका यह क्रम है कि २१ को विरलन करे अर्थात् ११११ इसप्रकार इकईस जगह एक एक रक्खे, उसके नीचे चार चार रक्खे फिर गुणा करे, ८४ होते हैं। इन चौरासीका फिर विरलन देकर नीचेकी संख्या रक्खे फिर गुणा कर विरलन कर नीचेकी संख्या रखकर गुणा करता जाय। इसप्रकार करनेसे भी अंतमें ८४००००० हो जाते हैं। यह प्रथम प्रस्तारक्रम है इसको समप्रस्तार कहते हैं ॥२१॥

आगे विषम प्रस्तारको कहते हैं।

द्वितीयाद्यैर्मितं पिंडं निक्षिप्याद्यादिमत्र तु ।
एकमेकं द्वितीयादेः प्रस्तारे विषमे क्षिपेत् ॥२२॥

पहली जो संख्या है उसको उतनी जगह रक्खो जितनी कि दूसरे पिंडकी संख्या है। फिर परस्पर गुणाकर उस संख्याको उतनी जगह रक्खो कि जितनी संख्या तीसरे पिंडकी है। फिर परस्पर गुणाकर उसको उतनी जगह रक्खो कि जितनी संख्या चौथे पिंडकी है। इसप्रकार सब पिंडरूप संख्या के साथ करनेसे विषम प्रस्तार होता है। इसप्रकार करनेसे भी वही चौरासी लाख

॥३६२॥

संख्या होती है। जैसे पहली संख्या २१ है दूसरे पिंडकी संख्या ४ है अतएव इकईसको चार जगह रक्खो। फिर परस्पर गुणा करनेसे ८४ होते है फिर चौरासीको दस जगह रक्खो क्योंकि तीसरे पिंडकी संख्या १० है फिर गुणा करो ८४० होते हैं। इसप्रकार सब संख्याओं के साथ गुणाकरनेपर ८४००००० लाख संख्या हो जाती है। यह विषम प्रस्तार कहलाता है ॥२२॥

अब आगे इन पिंडोंके परिवर्तन करनेका वा बदलनेका क्रम बतलाते हैं।

अन्तं गत्वाऽऽदिगे आद्ये द्वितीयोऽकः सरत्युभौ।
अन्तं गत्वाऽऽदिसंस्थौ चेत्तृतीयोऽन्येष्वयं क्रमः ॥२३॥

जब पहला स्थान कहते कहते अंततक पहुंच जाय तब फिर वह पहलेपर आजाता है और जब वह पहले स्थानपर आजाता है तो दूसरा स्थान बदल जाता है। इसप्रकार बदलते बदलते जब दूसरा स्थान भी अंततक पहुंच जाता है तब फिर तीसरा स्थान बदलता है। इसीप्रकार सब स्थान समाप्त होनेपर सब आलाप होजाते हैं। जैसे १८००० शीलों में पहला स्थान उत्तम क्षमा, मनोगुप्तिकृतत्याग, आहारत्याग, स्पर्शनत्याग, पृथ्वीकायिकत्याग है। दूसरा स्थान उत्तममार्दव मनोगुप्तिकृतत्याग, आहार त्याग, स्पर्शन त्याग, पृथ्वीकायिक त्याग है। तीसरा स्थान उत्तम आर्जव के साथ बाकीके सब लगानेसे होता है। इसप्रकार जब धर्मों के दश स्थान पूरे होजायंगे तब मनोगुप्ति के स्थानपर वचनगुप्ति बदल जायगी। तथा वचनगुप्ति के दश स्थान पूरे होनेपर कायगुप्ति बदल जायगी और कायगुप्ति के दशस्थान पूरे होनेपर कृतका स्थान बदलकर कारित का होजायगा। इसीप्रकार अनुमोदनाका स्थान समाप्त होनेपर आहार त्याग के स्थानपर भयत्याग हो-जायगा। इस क्रमसे बदलते बदलते अठारह हजार अलग अलग नाम निकल आते हैं ॥२३॥

आगे नष्ट लानेकी विधि बताते हैं।

आद्यसंख्याहते स्वेष्टभाज्ये शुद्धोऽन्तसांस्थितः।
शेषे शेषमितस्थाने संस्थितोऽकस्ततः परम् ॥२४॥

॥३६३॥

लब्धं रूपाधिकं भाज्यं भाज्यशेषेऽन्यथा पुनः ।
लब्धमेव स्वसंख्यायाः क्रियाऽन्या स्यात्पुरोदिता ॥२५॥

किसीने जितनेवां भंग पूछा हो उसका नाम बतलाने के लिये पहले पिंडका भाग देना चाहिये, भाग देनेपर जो बाकी बचे उतनेवीं संख्या पहले पिंडकी समझनी चाहिये, यदि भाग देनेपर कुछ न बचे तो उस पिंडका आंतिम स्थान समझना चाहिये। तथा भाग देनेपर जो लब्धि आवे उसमें एक मिलाकर दूसरे पिंडका भाग देना चाहिये। यह ध्यान रखना चाहिये ां कुछ न बचे उसमें लब्धि एक नहीं मिलाना चाहिये। दूसरे पिंडका भाग देनेपर जो बचे उतनेवां स्थान दूसरे पिंडका समझना चाहिये। यदि कुछ न बचे तो दूसरे पिंडका अतिम स्थान समझना चाहिये। जहां कुछ न बचे वहां लब्धि में एक नहीं जोडना चाहिये। जहां कुछ बचे वहांपर एक जोड-कर अगले पिंडका भाग देना चाहिये। इसप्रकार करनेसे वह भंग निकल आता है। जैसे कि-सीने १८००० शीलों में से ८०० वां भंग पूछा। इसमें पहले धर्मोंकी संख्या १० का भाग देना चाहिये। ८००-१०=८०। इसमें कुछ नहीं बचा इसलिये धर्मों के स्थानमें अतका ब्रह्मचर्यस्थान लेना चाहिये। इसमें कुछ नहीं बचा इसलिये लब्धि में १ नहीं जोडना चाहिये। ८० में ही दूसरे पिंड ३ का भाग देना चाहिये। ८०-३=२६ बाकी २। इसमें २ बचे इसलिये इसमें दूसरा वचनगुप्तिका स्थान लेना चाहिये। फिर २६ में १ मिलाकर तीसरे पिंड ३ का भाग देना चाहिये। २६+१=२७-३=९। इसमें कुछ नहीं बचा इसलिये आतिम अनुमोदनाका स्थान लेना चाहिये। फिर ९ में चौथे पिंड ४ का भाग देना चाहिये। ९-४=२ बाकी१। इसमें १ बचा इसलिये चौथे पिंडका पहलास्थान आहारत्याग लेना चाहिये। फिर २ में १ जोडकर पांच इन्द्रियोंका भाग देना चाहिये। २+१=३-५=० बाकी३ इसमें ३ बचे इसलिये तीसरा स्थान घ्राणेन्द्रिय का त्याग लेना चाहिये। फिर ० में १ मिला-कर जीवोंकी संख्या १० का भाग देना चाहिये। ०×१=१-१०=०बाकी१ इसमें १ बचा इसलिये पहला स्थान लेना चाहिये॥ इसप्रकार आठ सौ वां भंग ब्रह्मचर्य, वचनगुप्ति, अनुमोदनात्याग, आहारत्याग,

॥३६४॥

...त्याग पृथ्वीकायिक त्याग होता है। इसीप्रकार सब भंग निकाले जा सकते हैं ॥२४-२५॥

आगे उद्दिष्ट लानेकी विधि कहते हैं।

ऊर्ध्वमात्मप्रमाणघ्ने रूपे तास्मिन्नधः क्रमात्।
स्वस्वसंख्याहते संख्या सर्वत्राऽनंकितोनितौ ॥२६॥

इसमें उस भंगका नाम दिया जाता है और उसकी संख्या पूंछी जाती है कि यह कौनसा भंग है। उसके लानेका यह क्रम है कि पहले १ स्थापन करे फिर नीचली संख्यासे गुणा करे फिर उसमें से अनंकित स्थानों को घटावे। जो स्थान कहा गया है उससे बाकी बचे स्थान अनंकित स्थान कहलाते हैं। घटानेपर जो संख्या आवे उसको नीचे से दूसरे स्थानको गुणा करे फिर अनंकित स्थान घटावे। इसप्रकार आगेकी सब संख्याओं के साथ कर लेनेपर उसकी संख्या आजाती है। जैसे १८००० शीलोंमें से ब्रह्मचर्य, वचनगुप्ति, अनुमोदनात्यागी, आहारत्याग, घ्राणेन्द्रियत्याग, पृथ्वीकायिकत्याग कौनसा भंग है। इसमें पहले १ स्थापनकर जीवोंकी संख्या १० से गुणा करो १×१० =१० फिर अनंकित ९ स्थान घटाओ क्योंकि पृथ्वीकायिकत्याग पहला स्थान है। १०-९=१ रहा फिर १ में ५ इन्द्रियों से गुणा करो १×५=५ अनंकित स्थान २ घटाओ। ५-२=३ इसको संज्ञाओंकी ४ संख्या से गुणा करो ३×४=१२ इसमें अनंकित स्थान ३ घटाओ १२-३=९। इसको कृतादिककी ३ संख्यासे गुणा करो ९×३=२७ इसमें अनंकित स्थान कोई नहीं है। इसको गुप्तियों के ३ स्थानसे गुणा करो २७×३=८१ इसमें से १ अनंकित स्थान घटाओ ८१-१=८० इसको धर्मों के १० स्थानों से गुणा करो ८०×१०=८०० इसमें अनंकित कोई नहीं है। क्योंकि धर्मका अंतिम स्थान है। इसप्रकार ऊपर लिखा भंग ८०० वां भंग आया। इसप्रकार सब भंगोंकी संख्या निकल सकती है। इसको उद्दिष्ट कहते हैं। इसप्रकार संख्यादिक पांच भेद बतलाये ॥२६॥

ये पालयंति शीलानि गुणांश्च प्रगुणाशयाः।
लभन्ते ते भवच्छेदादनंतसुखसम्पदम् ॥२७॥

अत्यंत उदार हृदयको धारण करनेवाले जो मुनिराज ऊपर लिखे हुए अठारह हजार शीलों-को पालन करते हैं तथा चौरासी लाख उत्तरगुणोंको पालन करते हैं वे इस जन्ममरण संसारको नाश कर अनंत सुखरूपी परम संपदाको प्राप्त होते हैं ॥२७॥

आगे अंतिम मंगल करते हैं।

प्रणतभुवननाथो धर्मतीर्थाधिनाथः।
प्रहतदुरितवर्गः प्रोक्तसन्मुक्तिमार्गः।
प्रशमितजनतार्तिः शुद्धदृग्ज्ञानमूर्तिः।
प्रवरकनककान्तिः श्रेयसे वोऽस्तु शान्तिः ॥२८॥

जिन शांतिनाथ भगवान्‌को तीनों लोकों के समस्त इन्द्र नमस्कार करते हैं, जो धर्मरूपी तीर्थ के स्वामी हैं, जिन्होंने अपने पापों के समस्त समूहको नष्ट कर दिया है जिन्होंने सर्वोत्तम मोक्षमार्गका निरूपण किया है, जिन्होंने धर्मोपदेश देकर असंख्यात जीवों के जन्ममरण का दुःख शांत किया है, जो शुद्ध ज्ञान और शुद्ध सम्यग्दर्शनकी मूर्ति है और जिनके शरीरकी कांति तापे हुए शुद्ध सोने के समान है ऐसे श्री शांतिनाथ भगवान् तुम लोगों का सदा कल्याण करो ॥२८॥

आगे जैन शासनकी प्रशंसा करते हुए उसको आशीर्वाद देते हैं।

मिथ्याभावभवातिदर्पपरतत्त्वःशासनोच्छेदकं।
प्रज्ञाज्ञावशवर्त्तमानजनतासत्सौख्यसम्पादकम्।
नानारूपविशिष्टवस्तुपरमस्याद्वादलक्ष्मीपदं
जेजीयाज्जिनराजशासनमिदं स्वाचारसारप्रदम् ॥२९॥

आम ...वान जिनेंद्रदेवका कहा हुआ यह शासन मिथ्यात्वरूप परिणामों से उत्पन्न हुए अत्यंत ...कांतिक खोटे शासनोंका सर्वथा नाश करनेवाला है, बुद्धि के द्वारा अर्थात्

बुद्धिपूर्वक इस शासनकी आज्ञानुसार चलनेवाले समस्त जीवोंको मोक्षादिकके उत्तम सुख देनेवाला है, अनेक प्रकार के गुण और पर्यायों को धारण करनेवाले समस्त पदार्थोंको सर्वोत्कृष्ट स्याद्वादरूपी लक्ष्मीका स्थान है और सर्वोत्कृष्ट आचरणोंके सारको देनेवाला है। अथवा शुद्ध स्वरूप अपने आत्मासे प्रगट होनेवाले सारभूत पूर्ण सम्यक्चारित्रको देनेवाला है, ऐसा यह भगवान् जिनेन्द्रदेवका कहा हुआ जैनशासन बडे आतिशयके साथ सदा जीवित रहो ॥२९॥

आगे अपने गुरु श्री मेघचन्द्रकी स्तुति करते हैं।

सिद्धान्तार्णवपूर्णतारकपतिस्तर्काम्बुजाहर्पतिः।
शब्दोद्यानवनामृतोरुसरणिर्योगीन्द्रचूडामणिः।
त्रैविद्यापरसार्थनामाविभवः प्रोद्धूतचेतोभवः।
स्थेयादन्यमतावनीभृदशनिः श्रीमेघचन्द्रो मुनिः ॥३०॥

जो आचार्य श्री मेघचन्द्र स्वामी सिद्धांततपरूपी महासागरको पूर्ण करने के लिये चन्द्रमाके समान हैं, तर्कशास्त्ररूपी कमलों को प्रफुल्लित करने के लिये सूर्य के समान हैं, शब्द वा व्याकरणशास्त्ररूपी वगीचों के समूहको वृद्धि करनेके लिये अमृतकी मोटी धाराके समान हैं। जो सिद्धांतशास्त्र, तर्कशास्त्र और व्याकरणशास्त्र इन तीनों विद्याओं में पारंगत होने के कारण त्रिविध देव इस सार्थक नामको धारण करनेवाली परम विभूतिको धारण करनेवाले हैं, जिन्हों ने कामदेवको सर्वथा नष्ट कर दिया है और जो अन्यमतरूपी पर्वतों को चूर चूर करनेके लिये वज्रके समान हैं ऐसे श्री मेघचन्द्र स्वामी सदा जीवित रहें ॥३०॥

यद्वाक्छ्रीरवतंसमंडनमणिर्वैदग्ध्यादिग्धत्विषां।
यच्चारित्रविचित्रता शमभृतां सूत्रं पवित्रात्मनाम्।

॥३६७॥

यत्कीर्त्तिर्धवलप्रसादनधुरं धत्ते धरायोषितः ।
स त्रैविद्यविभूषणं विजयते श्रीमेघचन्द्रो मुनिः ॥३१॥

जो आचार्य श्री मेघचन्द्र मुनि सिद्धांतशास्त्र व्याकरणशास्त्र और तर्कशास्त्र इन तीनों विद्याओं के परम विभूषण हैं। जिनकी वचनरूपी लक्ष्मी कानोंको सुशोभित करनेके लिये कर्णभूषणकी उत्तम मणि के समान है, जिनके चरित्रकी विचित्रता अपनी विद्वत्ताकी पूर्णताकी कांतिको धारण करनेवाले, पूर्णसमताको धारण करनेवाले और अपने आत्मा को अत्यत पवित्र बनानेवाले मुनियो को भी सूत्रोंका काम करती है, अर्थात् अत्यत उत्तम मुनि भी जिनके चरित्रका अनुकरण करते हैं तथा पृथ्वीरूपी स्त्री जिनकी निर्मल श्वेत कीर्तिको अपने शृंगारका सर्वोत्तम पदार्थ समझती है ऐसे श्री मेघचन्द्र मुनि सदा जयशील हों ॥ ३१ ॥

आगे आचार्य श्री वीरनंदी अपना परिचय देते हैं।

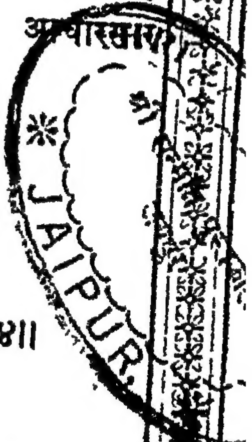
वैदग्ध्यश्रीवधूटीपतिरतुलगुणालंकृतिर्मेघचन्द्र-
स्त्रैविद्यस्यात्मजातो मदनमहिभृतो भेदने वज्रपातः ।
सैद्धांतिव्यूहचूडामणिरनुफलाचिन्तामणिर्भूजनानां
योऽभूत्सौजन्यरुन्द्राश्रियमवति महो वीरनंदी मुनीन्द्रः ॥३२॥

मुनिराज श्री महावीरनंदी आचार्य स्त्रीके समान रहनेवाली चतुरतारूपी लक्ष्मी के स्वामी है, सर्वोत्तम गुणोंसे सुशोभित है, त्रैविद्यदेव श्री मेघचद्रके पुत्र हैं, कामदेवरूपी पर्वतको नाश करनेके लिये वज्रके समान हैं, सिद्धांत शास्त्रों के जानकारों के समूहमे जो चूडामणि रत्नके समान है, और इस समस्त पृथ्वीके लोगोंको चिंतित फल वा इच्छानुसार फल देने के लिये जो चिंतामणि रत्नके समान है ऐसे श्री मुनिराज महावीरनदी आचार्य सज्जनतारूपी सघन लक्ष्मी की सदा रक्षा किया करते हैं ॥३२॥

॥३६८॥

श्रीमेघचन्द्रोज्वलमूर्त्तिकीर्तिः
समस्तसैद्धान्तिकचक्रवर्ती ।
श्रीवीरनन्दी कृतवानुदार-
माचारसारं यतिवृत्तसारम् ॥ ३३ ॥

जिनकी कीर्ति आचार्य श्री मेघचन्द्रकी निर्मल मूर्ति स्वरूप है अर्थात् मेघचन्द्रकी निर्मल मूर्ति ही जिनकी कीर्ति है और जो समस्त सिद्धांतशास्त्रोंको जाननेवालों में चक्रवर्ती के समान हैं ऐसे श्री वीरनंदी आचार्यने मुनियों के आचरणों के सारभूत और परम उदार ऐसे इस आचारसार नाम के ग्रंथको बनाया ॥ ३३ ॥



श्लोकप्रमाणमाह ।

ग्रन्थप्रमाणमाचारसारस्य श्लोकसम्मितम् ।
भवेत्सहस्रं द्विशतं पंचाशच्चांकतस्तथा ॥ १ ॥

इस आचारसार ग्रंथका प्रमाण अनुष्टुप् श्लोकों से एक हजार दो सौ पचास है ॥३४॥

इसप्रकार श्रीमान् आचार्यवर्य श्री मेघचन्द्र त्रैविद्यदेवके चरणकमलों के प्रसादसे ही जिन्हों ने अपना प्रभाव प्रगट किया है तथा उन्हीं त्रैविद्यदेवके चरणकमलों के प्रसाद से जिन्होंने अपनी समस्त विद्याओंका प्रभाव प्रगट किया है और उन्हींके चरणकमलों के प्रसादसे जिन्होंने समस्त दिशाओं में अपनी कीर्ति फैलाई है ऐसे श्रीवीरनंदी सिद्धांतचक्रवर्ती विरचित श्री आचारसार नामके ग्रंथकी चावली (आगरा) निवासी देहली प्रवासी धर्मरत्न लालाराम शास्त्री द्वारा निर्मित सरल हिंदी भाषा टीकामें शील और गुणों के स्वरूप को वर्णन करनेवाला यह बारहवा अधिकार समाप्त हुआ।

॥३६९॥